॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला

त्रयोदशवां पुष्प

गुण-प्रकरण

श्रीमद्भागवत महापुराण—दशम स्कन्ध अध्याय ८५-९०

श्रीमद्वल्लभाचार्य 'महाप्रभु'

प्रकाशक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल (रजि०), जोधपुर [राजस्थान]

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजि०)

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग,
जोधपुर (राजस्थान)

उद्देश्य :—

जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के ग्रन्थों का राष्ट्रभाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद करवाकर जन-साधारण निमित्त प्रकाशन कराना; संगीतकला, चित्रकला एवं अन्य ललितकलाओं से सम्बन्धित उपलब्ध सामग्रियों का शोध करना।

सदस्यता :—

विशिष्ट आजीवन : रु. १०००)०० व इससे अधिक चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता।
आजीवन : रु. १५०)०० से रु ९९९)०० तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता।

संस्था के प्रकाशन :—

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध तथा उसकी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद सहित सदस्यों को भेंट।

सम्पूर्ण दशम स्कन्ध के ९० अध्यायों की सुबोधिनी का राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में सरल-सुबोध अनुवाद के १३ पुष्प (१२ पुस्तकें) हैं-जिसमें से त्रयोदशवां पुष्प प्रस्तुत ग्रंथ है। सब ही पुष्प सचित्र हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस ही अध्याय की लीला के अष्ट-सखा महानुभावों के पदों से सुशोभित एवं मनमोहक हैं।

हिमालय प्रिण्टर्स, कुम्हारिया कुआ, जोधपुर

।। श्री हरिः ।।

श्री सुबोधिनी ग्रंथमाला का त्रयोदशवां पुष्प

गुण प्रकरण

★ सामग्री ★

दो शब्द संस्थाध्यक्ष-गो० श्री व्रजभूषणलालजी महाराज १
विनम्र निवेदन— श्री नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) प्रधान मंत्री २
श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका में से चुनी हुई सौरभपूर्ण कुछ कलियां–सुबोध रत्नाकर प. भ. श्री नानुलालजी ना. गांधी ६
दशम स्कन्ध–सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सम्बन्धित कुछ सम्मतियां ८
श्री भागवतार्थ प्रकरण में से 'गुण प्रकरण' १३
गुण प्रकरण की भूमिका २६

श्री सुबोधन्यानुसार अध्याय	श्री मद्भागवतानुसार अध्याय		शीर्षक	
८२	८५	—	वसुदेवजी को ब्रह्मज्ञान का उपदेश एवं देवकीजी के ६ पुत्र को लोटा लाना	१
८३	८६	—	सुभद्राहरण और भगवान् का मिथिलापुरी में राजा जनक और श्रुतदेव ब्राह्मण के घर एक ही साथ जाना।	५३
८४	८७	—	वेद स्तुति	१०३
८५	८८	—	शिवजी का संकट-मोचन	२३१
८६	८९	—	भृगुजी के द्वारा त्रिदेवों की परीक्षा तथा भगवान् का मरे हुए ब्राह्मण-बालक का वापिस लाना	२६७
८७	९०	—	श्री कृष्ण की लीला विहार का वर्णन	३२१
			अनुक्रमणिका	३७७
			शुद्धि-पत्र	३८० (अ)
			परिशिष्ट	३८१

चित्र सूची

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण श्री सुबोधिनीजी का लेखन कराते हुए १
बालकों को देखकर देवकीजी के हृदय में वात्सल्य स्नेह की बाढ आ गई ४७

मुख्य संरक्षक

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज	नाथद्वारा (राज)
गोस्वामी श्री व्रजरत्नलालजी महाराज	सूरत
गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज	कांकरोली
गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज	कोटा
गोस्वामी श्री गोविन्दरायजी महाराज	पोरबन्दर
गोस्वामी श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज	कोटा
गोस्वामी श्री व्रजरायजी महाराज	राजनगर (अहमदाबाद)
गोस्वामी श्री घनश्यामलालजी महाराज	कामवन
गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज	चौपासनी (जोधपुर), जामनगर

विशिष्ट आजीवन मुख्य सदस्य

गो०वा० श्री नन्दलालजी मानधना	जोधपुर	रु० ५०००)
गो०वा० श्रीमती सौभाग्यवती नन्दलालजी मानधना	जोधपुर	रु० ५०००)
श्री हरिलाल हरिवल्लभदास धर्मादा ट्रस्ट	अहमदाबाद	रु० ५०००)
गो०वा० श्री जमुनादासजी मून्धड़ा व उनके सुपुत्रगण	बीकानेर	रु० ३५००)
प०भ० श्री गिरधरदासजी मून्धड़ा व उनके सुपुत्रगण	बीकानेर	रु० ३५००)
श्री बालाभाई दामोदरदास ट्रस्ट .... रु. १५००) बाई रुकमण पत्नी वकील चिमनलाल कपूरचन्द वैष्णव मण्डाण ट्रस्ट .... रु. ३५००) द्वारा गो०वा० सेठ साकरलाल बालाभाई	अहमदाबाद	रु० ५०००)

विशिष्ट आजीवन सदस्य महानुभाव– प्रत्येक से रु० १००१)०० की सेवा प्राप्त हुई

प.भ. भगवानदासजी अग्रवाल	कलकत्ता
गो.वा. ईश्वरलालजी चिमनलालजी	बड़ौदा
श्री वल्लभदासजी राठी	अमरावती
श्री व्रजमोहनदासजी विजय	शुजालपुर मण्डी
श्रीमती बेला बेन चत्रभुजदासजी	बम्बई
श्रीमती काशी बाई	बम्बई
श्रीमती गङ्गा बेन मजीठिया	बम्बई
श्रीमती रम्भा बाई विट्ठलदासजी	बीकानेर
श्रीमती लक्ष्मी बाई गांधी	बीकानेर
श्रीमती प्रेमा बाई किशनचन्दजी	कानपुर
श्री दादुभाई अमीन	बड़ौदा
श्री विट्ठलदासजी व. काराणी	बम्बई
श्री व्रजदासजी विजिया बेन	इचलकरञ्जो
श्री हरिदासजी देवीदासजी माधोजी	बम्बई

स्व. श्री रामनारायणजी द्वारा उनके सुपुत्र श्री नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) एवं श्री ओंकारलालजी वर्मा प्रभृति	जोधपुर
स्व. श्री मुकन्ददासजी एवं उनके सुपुत्र श्री रामेश्वरदासजी तापड़िया	जोधपुर
प.भ. श्रीमती रामी बाई अग्रवाल	ग्वालियर
श्री सिराज चेरिटेबल ट्रस्ट द्वारा प.भ श्री गुलाबचन्दजी सिराज	बम्बई
गो.वा. हरगोविन्ददासजी अगरचन्दजी भगत वसाई डाबला वालों की स्मृति में उनके सुपुत्र एवं चुन्नी बेन ह.अ.चे ट्रस्ट	बम्बई
श्री कुन्दनलालजी अग्रवाल	कलकत्ता
श्री ग्वालदासजी बल्देवदासजी डागा	कलकत्ता

।। श्री हरि: ।।

दो शब्द

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध के श्री सुबोधिन्यानुसार ८२ से ८७ अध्यायों की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का गुण प्रकरण हिन्दी अनुवाद सहित श्री सुबोधिनो ग्रन्थमाला का यह तेरहवां पुष्प दशम स्कन्ध का समाप्ति ग्रन्थ है ।

वास्तव में निरोध लीला दशम स्कन्ध के ५ वें अध्याय से ८१ वें अध्याय तक तीन प्रकरणों में विभाजित है यथा तामस तथा राजस प्रकरण अट्ठाईस-२ अध्यायों के तथा सात्विक २१ अध्याय का है । इनके अन्त में गुण प्रकरण ६ अध्यायों का निरोध लीला का उपसंहार है जिसमें यह प्रमाणित किया गया है कि इन लीलाओं के कर्त्ता भगवान् श्रीकृष्ण ही धर्मी हैं, जिनमें ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य गुण या धर्म विद्यमान हैं, इन्हीं का विवेचन एक-२ अध्याय में होने से इस प्रकरण में ६ अध्याय हैं और इसीलिए इसे गुण प्रकरण कहते हैं ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी बाल्यवस्था में ११ वर्ष ५२ दिन तक व्रज में बिराजकर तामस भक्तों (ग्रामीण जनता) का अपनी अनुपम अलौकिक अद्भुत लीलाओं से निरोध सिद्ध किया । वे (लीलाएँ) ईश्वरीय उपरोक्त गुणों से ओत प्रोत थीं । भगवान् का प्रथम गुण ऐश्वर्य' है । जिससे वे 'कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं एवं विरुद्ध धर्माश्रयी' हैं । दूसरा गुण 'वीर्य' अर्थात् पराक्रम है, जिसका प्रदर्शन स्थान-२ पर हुआ है । जैसे शैशवकाल में ही पूतना जैसी भयंकर राक्षसी के आपने क्षण मात्र में प्राण सोंख उसे माता की गति दी । तीसरा गुण 'यश' है, जो वेद-स्तुति द्वारा प्रकट किया गया है । चौथा गुण 'श्री' है, जिसका उपभोग अन्य नहीं कर सकता है । जैसे महादेवजी को वरदान देकर संकट भोगना पड़ा और अन्त में भगवान् ने ही उस संकट से उन्हें मुक्त किया । पाँचवां गुण 'ज्ञान' है, इसका उत्तम चिन्ह क्षमा है, जिसका उदाहरण है भृगुजी का भगवान् के उर स्थल पर लात मारना, फिर भी उन पर क्रोध न करके उन्हें विनीत शब्दों में भगवान् का कहना कि आपके कोमल चरणों को मेरे कठोर हृदय से चोट लगी होगी । छठे गुण 'वैराग्य' में आप पूर्ण है । इसलिए कामरसयुक्त आपकी पत्नियां भी आपके सम्बन्ध से पूर्ण वैराग्ययुक्त बन गई । इन छः ही गुणों को पूर्णतया धारण करने वाले धर्मी स्वरूप केवल परब्रह्म परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, जिन्होंने अपने प्रमेय बल से अपने निस्साधन तामस, राजस एवं सात्विक भक्तों का निरोध सिद्ध कर उनका उद्धार किया है । अब भी जो कोई भगवदाश्रय ग्रहण कर इस रसमयी भगवत्कथा का मनन पूर्वक अध्ययन करेंगे, उनका निरोध भगवान् निस्सन्देह सिद्ध करेंगे ।

अन्त में पाठक महानुभावों से मेरा विनम्र कथन है कि सुबोधिनो का ध्यानपूर्वक अध्ययन एवं मनन कर अन्य महानुभावों को सुना-समझाकर इन भावों को उनके अन्तःकरण में स्थापन करें । मैं श्री श्याम मनोहर, मदनमोहन प्रभु को एवं वाक्पति वैश्वानर श्री महाप्रभुजी को प्रार्थना करता हूँ कि इस लावन्यमयी रसपूर्ण कथामृत को रुचिपूर्वक बार-२ पान करने की उत्तरोतर भाववृद्धि हमारे हृदय में करते हुए उनको धारण करने की शक्ति हमें प्रदान करें ।

जिन-२ महानुभावों ने इस महान् कार्य को पूर्ण करने में सहयोग दिया है—सद्भावना सहित उनका मैं अभिनन्दन करता हूँ । किमधिकम् सुज्ञे !

गो. व्रजभूषणलाल

जोधपुर,
श्रीमद्वल्लभ जयन्ती महा-महोत्सव,
वि०सं० २०३२.

॥ श्री हरिः ॥

विनम्र निवेदन

अखंड भूमंडलाचार्य चक्र चूडामणि जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध की संस्कृत टीका (श्री सुबोधिनी) का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन इस ग्रन्थ के साथ पूर्ण होता है। यह स्कन्ध महत्वपूर्ण होने के साथ साथ विशालकाय भगवद्-भक्ति रस से भरपूर अनूठा परिपक्व अमृत फल है, जिसके केवल कथानक के वर्णन करने में अपने-२ भाव एवं विचारों को गद्य और पद्य में अनेक भगवद्-भक्त, रसिक, कवि एवं लेखक व्यक्त कर मानव जाति का महान् उपकार करते हुए रसेश भगवान् श्रीकृष्ण की लीला का ध्यान कर आनन्द विभोर होने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं।

इस प्रकाशन को प्रारम्भ करने का श्रेय गो० वा० परम भगवदीय श्री नन्दलालजी मानधना एवं उनकी गो० वा० पत्नी श्रीमती सौभाग्यवतीजी ने रु० १०,००० की सेवा कर प्राप्त किया, जो रकम अक्षुण्ण है,फिर भी डेढ लाख रुपयों से भी अधिक मूल्य का ग्रन्थ प्रकाशन किस प्रकार हो गया? यह "भक्तेच्छा पूर्वक" श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण ने उस निष्काम भक्त के हृदय कामना को पूर्ण करने की कृपा की है। इसके अतिरिक्त अपने निवास स्थान में ही इस संस्था को कार्यालय के लिए कमरा सन् १९६१ से देते आ रहे हैं वर्तमान स्थान में सन् १९६४ से कमरा दिया, जिसका किराया इस क्षेत्र के हिसाब से रु० ५० भी लगाया जावे तो १० वर्षों में ६००० रु० होता है। उनके गोलोक गमन के पश्चात् उनकी पत्नी श्रीमती शकुन्तलाजी ने पूर्व सुविधा को स्थिर रखते हुए अधिक स्थान को आवश्यकता देख बड़ा कमरा देते हुए कहा कि जो सेवा अपेक्षित हो, वह आप निस्संकोच कहने की कृपा किया करो। इस उदारतापूर्ण व्यवहार के लिए यह संस्था इन देवीजी को अनन्त धन्यवाद देते हुए इनका अभिनन्दन करती है।

प भ. श्री नन्दलालजी सोम्य प्रकृति के वेष्णव थे, इतनी सेवा करके भी वे निरभिमान ही नहीं, उन्हें सेवा से संतोष नहीं हुवा सो कहने लगे कि एक सार्वजनिक पुस्तकालय का निर्माण करो। मैं प्रारम्भ में आपको १००० रु० दूंगा। मैंने १०००० रु० देकर जो कार्यारम्भ उन्होंने कराया उसकी प्रशंसा की तब नेत्र में जल भर कहने लगे कि ब्रह्म सम्बन्ध होने के पश्चात् सम्पूर्ण वस्तु प्रभु की है, उनकी वस्तु उनके ही कार्य के लिए देने में प्रशंसा का पात्र मैं कैसे हूँ ? वे तो सब कुछ प्रभु ही हैं जो कृपा कर अपनी वस्तु का हम जैसे तुच्छ जीवों के द्वारा विनियोग करवा कर हमारी लोक प्रसिद्धि करवा देते हैं। वे कितने महान् हैं कि जीव को प्रतिज्ञा को स्थिर रखने के लिए अपनी प्रतिज्ञा भी छोड़ देते हैं। श्रीमान् नन्दलालजी ने यह परम पवित्र साहित्य सेवा का कार्य प्रारम्भ कर मुझ जैसे पामर जीव को तनुजा सेवा का सौभाग्य प्रदान किया। इस महान् अलौकिक कार्य में जिन भी महानुभावों ने तनुजा या वित्तजा अथवा दोनों प्रकार की सेवा संपादन की है निस्सन्देह वे "अदेय दान दक्ष" महाप्रभुजी के परम कृपा पात्र हैं, अतः उनको अनन्त बधाई है। संस्थाध्यक्ष परमोदार पूज्य पाद श्रीमद् गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज की आज्ञा से उनके शुभ नामों का १२ वें पुष्प के इसी शीर्षक लेख में उल्लेख है। उनमें से ही कुछ महानुभाव ऐसे हैं' जिनकी सेवा

अधिक महत्वपूर्ण है, जिनको आपश्री की आज्ञानुसार पत्र भेजे गये कि वे अपना संक्षिप्त परिचय एवं पासपोर्ट साइज का फोटो भी भेजें जिससे कि उन्हें इस ग्रन्थ में स्थान दिया जा सके। परन्तु जब दो मास का समय व्यतीत होने पर भी उनका कुछ उत्तर नहीं आया तब उनको स्मरण कराया गया तो कुछ महानुभावों के उत्तर आए जिनका सारांश है कि हमने किया हो क्या है ? जो हमारा परिचय एवं फोटो ग्रन्थ में दिये जाएँ, फिर भी महाराज श्री की परमोदारता एवं भक्त वत्सलता है कि हमारे जैसे अकिंचन जीवों को आपश्री ने स्मरण कर पुष्टिमार्ग का अनुग्रह मार्ग होना सिद्ध किया है कि साधारण सेवा का इतना महान् सम्मान ! जिस प्रकार भक्त शिरोमणि सूरदास जी प्रभु के गुण वर्णन करते हैं कि "राई भर जन की सेवा मानत मेरु समान। सकुचि गिनत अपराध समुद्रहि बून्द तुल्य भगवान" । इस महान् कृपा के उत्तर में हमारी सदैन्य साष्टाङ्ग दंडवत प्रणाम हैं। इनकी ऐसी सुन्दर भावना है तो भी संस्था अपना कर्त्तव्य समझती है कि इनको संक्षिप्त परिचय द्वारा सम्मानित किया जावे, जिससे अन्य महानुभावों में निष्काम सेवा भावना उदय हो और जो सेवा कर रहे हैं, उन्हें प्रोत्साहन मिले, अतः अपनी जानकारी के अनुसार उनका संक्षिप्त परिचय परिशिष्ट में दिया जा रहा है।

पूज्यपाद तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज की अनुपम कृपा— श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला के द्वितीय पुष्प के लिए प्रभु की लीलाओं के कुछ ऐसे महत्वपूर्ण चित्र हैं, जिनका देना आवश्यक था परन्तु वे चित्र कहीं भी देखने में नहीं आए— १. नन्द महोत्सव, २. पूतना स्पर्श से पवित्र करने के लिए बालकृष्ण प्रभु पर गाय माता की पूंछ का फिराना, ३. बालकृष्ण व दाऊजी का गाय के बछड़ों के साथ क्रीड़ा कर उनकी पूंछ खेंचना, ४. दामोदर लीला में यमलार्जुन वृक्षों से प्रकट दो सिद्धों की स्तुति। पूज्यपाद तिलकायत महाराज के निजी विद्या-मन्दिर नाथद्वारा में सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत चित्रमय विराजमान है। आपश्री को तार द्वारा निवेदन किया गया कि चित्रकार को आज्ञा प्रदान की जावे कि वह उन चित्रों के दर्शन कर उनके अनुरूप चित्र बनाकर देवे। आपश्री ने तत्क्षण तार द्वारा आज्ञा दी कि चित्रों के दर्शन चित्रकार को कराए जावे। उन चित्रों की लावण्यता तो चित्रकार महोदय नहीं ला सके तब भी चित्र अवश्य बना दिये जो कि द्वितीय पुष्प में दिए गए। इनके ब्लॉक पर काफी खर्च आया था सो भविष्य में अधिक नये ब्लॉक बनवाना स्थगित करना पड़ा।

पूज्यपाद तिलकायत महाराज श्री की अहेतु की कृपा के लिए यह संस्था आपश्री का सादर आभार स्वीकार करते हुए श्रीमानों को साष्टाङ्ग दंडवत निवेदन करती है।

प. भ. गो. वा. श्री चिमनलालजी गोस्वामी, सम्पादक 'कल्याण' गीता प्रेस गोरखपुर की सम्पूर्ण दशम स्कन्ध के चित्र जो 'कल्याण' मासिक पत्र के भागवत विशेषांक में दिए गए थे, वे ही निवेदन करने पर छाप कर हमारे ग्रन्थों के लिए भेजने में जो तत्परता एवं उदारता बताई वह भूली नहीं जाती, क्योंकि चित्रों के ब्लॉक बनवाने व उनको ग्रन्थ छापाखानों में छपवाने पर असीम व्यय होता है और संस्था की सीमित आर्थिक स्थिति के कारण चित्रों के ब्लॉक बनवाने में हम असमर्थ थे। पुस्तकों में चित्रों के होने से उनका रूप निखर गया। इन गोस्वामीजी की सेवा चिर- स्मरणीय रहेगी।

इस संस्था के प्रकाशन कार्य को शीघ्र गति प्रदान करने एवं वैष्णव समाज को प्रेरणा देने के

लिए परमादरणीय प्रवर गोस्वामी आचार्य चरणों ने इस संस्था के सदस्य पद को समलंकृत कर आर्थिक सहायता के साथ आशीर्वाद से हम लोगों पर परम अनुग्रह किया है उसके लिए संस्था आप श्रीमानों की सदैव ऋणी रहेगी।

पू पा. गो० श्री व्रजरत्नलालजी महाराज सूरत पू पा.गो. श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज कोटा
,, ,, श्री वल्लभलालजी ,, राजकोट ,, , श्री गोवर्धनेश जी ,, पोरबन्दर
,, ,, श्री श्यामजी ,, बम्बई , ,, श्री माधवरायजी ,, पोरबन्दर
,, ,, श्री रसिकरायजी ,, पोरबन्दर ,, ,, श्री रसिकरायजो
,, ,, श्री गिरधरलालजी महोदय कामवन के बहुजी पोरबन्दर
,, ,, श्री यदुनाथजी ,, मथुरा ,, ,, श्री व्रजाधीशजो महोदय बम्बई
,, ,, श्री त्रीकमरायजी ,, कोटा ,, ,, श्री प्रभुजी ,, बडोदा
,, गोस्वामिनी श्रीमती शशिप्रभा बहुजी गोकुल पूजनीया श्री इन्दिरा बेटीजी बडोदा
,, गोस्वामिनी श्रीमती चन्द्रप्रभा बहुजी श्री विठ्ठलनाथजी का मन्दिर नाथद्वारा
,, ,, श्रीमती चन्द्रावली बहुजी, मोटा मंदिर, बम्बाई

पू. पा गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज तथा आपश्री के राजकुमार श्री त्रीकमरायजो महोदय ने २५० रु० की अधिक सहायता कर दो पुस्तक संग्रह कलकत्ता के लिए प्राप्त किए तथा वैष्णव महानुभावों को इस संस्था के सदस्य बनने की आज्ञा प्रदान करते रहते हैं। आपकी इस कृपा को संस्था कभी नहीं भूल सकती है।

१२वाँ पुष्प तो अप्रेल १९७५ में ही पूर्ण हो गया था—परन्तु प्रारम्भ के लगभग ३० पृष्ठ रह गए थे, जिन्हें छाप कर पहले दे देने के लिए मुद्रणालय को कहा गया, जिससे उस पुस्तक की जिल्द बंध जावे और सदस्यों को भेज दी जावे; परन्तु उत्तर मिला कि ऐसा करने में उन्हें फोलियो तोड़ने पड़ेंगे—इस असुविधा से बचने के लिए पहले १३वाँ पुष्प पूर्ण कर, फिर उन ३० पृष्ठों को छापने की अनुमति मिली। परन्तु खेद है कि उन ३० पृष्ठों की सामग्री को छापकर देने में दो मास का समय लगा, इससे १२वें पुष्प पर जिल्द न बंध सकी, फिर वर्षा होने से जिल्द-कार्य को कुछ दिनों के लिए स्थगित भी करना पड़ा। इस प्रकार मुद्रणालय के अपने वचन न निभाने से संस्था को कार्यालय सञ्चालन में अधिक धनराशि के व्यय के साथ-साथ असुविधा भी सहन करनी पड़ी, जिसका भी दुःख नहीं जितना कि सदस्यों के सन्मुख समय पर पुस्तकें न भेजकर हमें लज्जित होना पड़ रहा है। आशा है कि हमारी विवशता को दृष्टि में रखते हुए सदस्य महानुभाव हमें क्षमा करेंगे।

प्रत्येक कार्य में अनेक कठिनाईयाँ एवं बाधाएँ उपस्थित होती हैं, परन्तु उनको सही रूप में केवल अनुभवी ही समझ सकते हैं। श्रीमदाचार्यचरण का चित्र सदैववत् छपवाने के लिए चित्र का ब्लॉक बम्बई अप्रेल मास में भेजा गया। वहाँ पर शासन द्वारा विद्युत्-शक्ति उद्योगों को काफी कम कर दी गई। अतः तीन महीनों के बाद ब्लॉक ज्यों का त्यों यहाँ आ गया। आर्ट पेपर का अभाव फिर भी जैसे-तैसे यहाँ मुद्रण करवाया, परन्तु वह लावण्यता न आ सकी।

संस्था के साधारण कार्य-कलापों पर भी प्रसन्न होकर कतिपय प्रवर आदरणीय गोस्वामी

चरण एवं विद्वज्जनों ने प्रकाशन के सम्बंध में अपनी सम्मति प्रदान की हैं, जो अन्यत्र दी गई है, उसके लिए संस्था उन श्रीमानों को अनन्त धन्यवाद देते हुए उनकी प्रोत्साहन कृपा का अभिनन्दन करती है।

इस सम्पूर्ण प्रकाशन में संस्था ने लागत मूल्य पर सदस्यों को **१२ पुस्तकें देते** हुए कतिपय प्रवर गोस्वामी आचार्य वर्य विद्वानों, पुस्तकालयों, सत्सङ्ग मण्डलियों **को लगभग रु ६००० की** लागत के ग्रन्थ निःशुल्क भेंट किए हैं, जिससे सामान्य जनता भी लाभ ले सकें। इस पुस्तक के पूर्ण हो जाने पर यदि परिस्थिति अनुकूल रही, तो संस्था विचार कर रही है कि भारत के प्रमुख नगरों यथा— जोधपुर, जयपुर, दिल्ली, आगरा, प्रयाग, वाराणसी, लखनऊ, पटना, कलकत्ता, मद्रास, हैदराबाद, बम्बई, अहमदाबाद, भोपाल, नागपुर, बड़ौदा इत्यादि की शासकीय सार्वजनिक पुस्तकालयों को भी यह ग्रन्थमाला निःशुल्क भेंट की जावें, जिससे कुल रु. १०,००० के साहित्य से जनता-जनार्दन की सेवा हो सके।

प०भ० श्री नानुलालजी गाँधी एम.ए., एल.एल.बी. ने श्री सुबोधिनीजी के कतिपय भाग का गुजराती अनुवाद किया है तथा सम्पूर्ण सुबोधिनीजी में से महत्त्वपूर्ण पंक्तियों का संग्रह कर 'श्री सुबोध रत्नाकर' ग्रंथ प्रस्तुत किया है। उनकी यह अलौकिक निष्काम साहित्य सेवा महान् प्रशंसनीय है। श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला के विविध पुष्पों में 'श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका में से सौरभपूर्ण चुनी हुई कुछ कलियाँ' हिन्दी अनुवाद सहित देने में उपरोक्त 'श्री सुबोध रत्नाकर' से सहायता ली गई है। अतः श्रीमान् गाँधी महोदय को अनेक धन्यवाद देते हुए यह संस्था उनका आभार स्वीकार करती है।

पाठक महानुभावों को सदैन्य प्रार्थना है कि १२ पुष्पों में जो भी मुद्रणालय अथवा सामग्री में भूल दृष्टि में आवें, तो उसे क्षमा करते हुए इस संस्था को भी सूचित करने का श्रम लेवें जिससे कि भावी प्रकाशन में उन भूलों से बचा जा सके।

सम्पूर्ण ग्रंथ प्रकाशन में अध्यक्ष महोदय पूज्यपाद गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज की पूर्ण कृपा रही है, जिससे ग्रन्थ प्रकाशन में किसी प्रकार की बाह्य अथवा आन्तरिक बाधा उपस्थित नहीं हुई और कार्य सुचारु रूप से सञ्चालन हुआ। श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण की ही कृपा का अवलम्बन ग्रन्थ प्रकाशन में रहा है और दृढ़ विश्वास है कि शेष बचे हुए कुछ अध्यायों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशन में आप श्री उपयुक्त शक्ति एवं उत्साह प्रदान करेंगे, जिससे वैष्णव समाज को उन ग्रन्थों के पठन-पाठन का सौभाग्य प्राप्त हो सके।

जिन महानुभावों ने तनुजा-वित्तजा सेवा की है एवं प्रकाशन में **सहयोग दिया है**, परन्तु मन्द स्मरण शक्ति के कारण उनका शुभ नाम देने में भूल हुई हो, तो उसके लिए वे मुझे अपना एक किङ्कर समझकर क्षमा करेंगे – ऐसा मुझे विश्वास है। समस्त प्रवर आचार्यचरण, विद्वद् समाज एवं वैष्णव महानुभाव आप श्रीमान् साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम स्वीकार करें; क्योंकि यह दास है—

भवदीयचरणरजाभिलाषी :
नन्ददास (रामचन्द्र)

श्री सुबोधिनी पुष्प-वाटिका में से सौरभपूर्ण चुनी हुई कुछ कलियाँ

सुवर्णश्रृङ्खलावत्सात्त्विकमपि गृहमन्धप्रायमेव। १०-८३-४२

गृह सात्विक हो, तो भी वह अन्ध (कूप) होने से सोने की श्रृङ्खला (साँकल) की तरह बन्धन ही करता है ॥

ब्रह्मविदां सर्वे व्यवहारा ब्रह्मपरा एवेति न केनापि कर्मणा तेषां लेपः। १०-८४-१५

ब्रह्मज्ञानियों के सर्व व्यवहार ब्रह्म के परायण ही हैं, इसलिए किसी भी कर्म से वे लिप्त नहीं होते हैं ॥

आनंदार्थमेव जीवस्य प्रवृत्तिः, आनंदश्च भगवत्येवास्ति नान्यत्र .... यत्र जीवानामेवानंदस्तिरोहितः तत्र जडानामानंदगंधोऽपि नास्ति। परं मरीचिकावत् अत्यन्तनिर्जलभूमौ यथा जलप्रतीतिर्भ्रान्तानां एवं स्रक्चंदनादिष्वपि आनंदोऽस्तीति भ्राम्यति लोकः। सर्वो हि स्वस्मिन् विद्यमानं प्रयच्छति, न त्वविद्यमानम्। अतः पंडिता इममर्थं ज्ञात्वा भगवत एवांघ्रिमुपासते आनंदनिधिम्। .... वेदोक्त्यापि भगवच्चरणारविन्दादन्यत्र नानंदः। गुप्तानंदा यतो जीवा निरानंदं जगद्यतः। पूर्णानंदो हरिस्तस्माज्जीवैः सेव्यः सुखार्थिभिः। १०-८४-२०

आनन्द को ढूँढ़ने के लिए ही जीव की प्रवृत्ति है, वह आनन्द तो भगवान् में ही है—दूसरे किसी में नहीं है। जब जीवों में से आनन्द तिरोहित हो गया है, तो जड़ों में उसकी गन्ध भी नहीं है। किन्तु जैसे भ्रांत पुरुषों को मरुभूमि की रेणु (अत्यन्त निर्जल भूमि) में भी जल की प्रतीति होती है वैसे ही पुष्प चन्दनादि में भी आनन्द है—यों मान मनुष्य भ्रमित होते हैं। सर्व मनुष्य अथवा पदार्थ जिसके पास हैं, वही दे सकता है—उसके सिवाय दूसरा कोई भी नहीं दे सकता है। इसलिए इस तत्त्व को जानने वाले पण्डित जानते हैं कि आनन्दनिधि भगवान् हैं, उनसे ही आनन्द मिलेगा। अतः वे भगवान् के चरणों की ही उपासना करते हैं। समस्त वेद भगवान् के चरणों में ही आनन्द कहते हैं। अतः वेद भी चरणों को प्रणाम करते हैं। जीवों का आनन्द तिरोहित हो गया है—जगत् में आनन्द नहीं है, इसलिए जिन जीवों को आनन्द की प्राप्ति की चाहना है, उनको भगवान् की सेवा करनी चाहिए; क्योंकि भगवान् पूर्णानन्द हैं। अतः वे ही आनन्द दान कर सकते हैं ॥

तेषां (बाह्यदेवतानां) अपि सकृदपि सङ्गो भगवद्भजनं नशयति। ....असत्सङ्गो न कर्तव्यो भक्तिमार्गस्य बाधकः। १०-८४-२२

अन्य देवताओं का एक बार का सङ्ग भी भगवत्सेवा को नष्ट कर देता है। असत् का सङ्ग नहीं करना चाहिए; क्योंकि वह भक्तिमार्ग में प्रतिबन्धक (बाधक) है ॥

भगवति प्रमेयबलमेव मुख्यं न प्रमाणबलम् । १०-८४-२३	भगवान् में प्रमेय बल ही मुख्य है न कि प्रमाण बल ।।
भगवत:... ....सेवामात्रेणैव मृत्योर्जयो भवति । ....सर्वस्यापि द्वयमभीष्टं दु:खहानि: सुखावाप्तिश्चेति । तत्र सुखं भगवतैव सिद्धयति नान्यथा । .... दु:खहानिरपि भगवत्सेवयैव नान्यथा । १०-८४-२७	भगवत्सेवक केवल सेवा से ही मृत्यु को जीत लेता है । जगत् में सबको दो बातों की चाहना रहती है—(१) दु:ख न मिले और (२) सुख की प्राप्ति होवे । इनमें से सुख भगवान् ही सिद्ध कर देते हैं और दु:ख भगवत्सेवा से ही दूर हो जाता है—अन्य प्रकार से नहीं होता है ।।
न हि काष्ठे वह्निरस्ति इति शीतनिवृत्त्यर्थं होमार्थं वा काष्ठं सेव्यते । तस्मादप्रकट भगवत्स्वरूपा: सर्वथैव न सेव्या: । १०-८४-३६	काष्ठ में अग्नि है, इसलिए शीत (ठण्ड) को दूर करने के लिए अथवा होम करने के लिए कोई काष्ठ का आश्रय नहीं करता है, अत: जिसमें भगवान् का स्वरूप प्रकट नहीं हो, वह सेवा के योग्य नहीं है ।।
भगवानेव सेव्य एवेति च । एतावानेव श्रुतिगीतार्थ: । १०-८४-४२	श्रुति गीता का यही अर्थ है कि केवल भगवान् श्रीकृष्ण ही सेव्य हैं ।।
भगवद्भजने निपुणा बुद्धिर्नात्यन्तं प्रयोजिका । १०-८६-१८	भगवान् के भजन (सेवा) करने में निपुण बुद्धि का अत्यन्त प्रयोजन नहीं हैं ।।
भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुर्नान्येन केनचित् । स एव मुक्तिदाता च भक्तिस्तत्रैव कारणम् । १०-८६-२०	भक्ति से ही विष्णु प्रसन्न होते हैं—अन्य किसी साधन से प्रसन्न नहीं होते हैं । वे ही मुक्तिदाता हैं और मुक्ति - प्राप्ति के लिए भक्ति ही कारण है ।।
कुतश्चिदपि श्रुतं भगवच्चरित्रं कार्यं साधयत्येव । फलरूपता तु साधारणानामपि भक्तमुखश्रवणादेव । १०-८६-२१	किसी के भी मुख से सुना हुआ भगवच्चरित्र कार्य को सिद्ध करता ही है । साधारणों को भक्त-मुख से ही श्रवण करने पर भी फल-प्राप्ति होती है ।।
कृष्णावतारे य: कश्चन धर्म: मोक्षं दास्यति । १०-८७-४७	कृष्णावतार में प्रत्येक धर्म (राग-द्वेषादि) मोक्ष देगा ।।
मृत्युस्तावदेव धावति यावदक्षरम् । अक्षरपर्यन्तमेव कालनिरूपणात् ॥ १०-८७-५०	अक्षर तक ही काल (मृत्यु) की दौड़ है; क्योंकि अक्षर तक ही काल का निरूपण किया गया है ।।

● 'श्री सुबोध रत्नाकर'

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रंथ माला (दशम स्कन्ध) पर प्राप्त कुछ सम्मतियां एवं विचार

पूज्यपाद गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज, कोटा
सर्व–प्रथम अध्यक्ष, अखिल भारतीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद्, दिल्ली ।

प. भ. श्री नन्ददासजी, शुभाशीर्वादाः । सदा श्रीकृष्णः सेव्यः स्मर्त्तव्यश्च अपरंच, सम्मति पत्र भेजा जा रहा है, जैसी आपकी सेवा करने में भावना है, उसको दिन प्रति दिन बढाते रहो । यह सेवा वैष्णवों तथा श्रीठाकुरजी में सम्बन्ध बढ़ाने वाली है । श्री ठाकुरजी किससे क्या सेवा लेते हैं यह कहा नहीं जा सकता । तुम्हारी इस सेवा से बहुत प्रसन्नता है । अन्य कार्य-कर्त्ताओं को भी शुभाशीर्वाद । अष्टाक्षर, श्रीजी के चरणारविन्दवत् ध्यान करते हुए साथ में गद्य मंत्र के पंचाक्षर को भी जपते रहोगे । यह पुष्टि मार्ग का महा मंत्र है—सेवोपयोगी देह, इन्द्रिय और प्राण का सेवा में सम्बन्ध कराने वाला है ऐसा समझ कर जप करते रहोगे । कुशल पत्र हर महीने भेजते रहोगे ।

सम्मति

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणों ने "शुद्धाद्वैत"–"ब्रह्मवाद" के द्वारा प्रमाण चतुष्टय का समर्थित सिद्धान्त प्रस्तुत करके भारतीय दर्शन की एक वाक्यता एवं समन्वय पद्धति को प्रकाश में लाने का एक मौलिक कार्य किया है । पूर्वाग्रह से मुक्त विद्वानों ने इस बात को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है । "शुद्धाद्वैत" की सत्यता गीता में स्पष्ट देखी जा सकती है । श्री मद्भागवत ने तो 'जन्माद्यस्य यतः" इस प्रथम श्लोक के द्वारा इस सिद्धान्त को अपना प्रतिपाद्य विषय ही स्पष्ट रूप से उद्घोषित कर दिया है । श्रीकृष्ण-चरित्र में सर्वत्र इसी का दर्शन होता है

श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी' टीका—उसमें वर्णित विषयों को कितना स्पष्ट करके प्रस्तुत करती है इससे विज्ञजन सुपरिचित हैं । श्री सुबोधिनी-टीका पुष्टि-भक्तों का सर्वस्व है । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जीवन की सार्थकता का मूलमंत्र ही है, तभी तो श्री हरिराय चरणों ने लिखा है कि 'न च दृष्टा सुबोधिनी, वृथा तज्जन्म भूतले" अर्थात सुबोधिनी को न देखने वाले व्यक्ति का भूतल पर जन्म लेना ही व्यर्थ सा हो जाता है ।

श्री सुबोधिनी टीका संस्कृत में रची गई है, अतः संस्कृत भाषा से अपरिचित भक्तजन उसे पढ़कर लाभान्वित नहीं हो सकते । गुजराती भाषा में इस ग्रन्थ रत्न का अनुवाद प्रकाशित हो गया है । हिन्दी भाषा–भाषी पाठकों को भी सुबोधिनी पढ़ने का लाभ प्राप्त हो, इसकी बहुत समय से माँग थी ।

इस मांग की पूर्ति 'श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल'' के द्वारा हो रही है, यह देख कर प्रसन्नता होती है। दशम स्कन्ध का प्रकाशन हो गया है, शेष कार्य भी शीघ्र पूर्ण हो जायगा ऐसी आशा है।

प्रकाशन के इस महान् कार्य को सम्पन्न करने में प्रमुख सेवा कार्य करने का सौभाग्य हमारे नन्ददासजी को प्राप्त हो रहा है। संस्था के संस्थापक महोदय एवं अन्य सब ही सहयोगी इस परमोपयोगी कार्य को सम्पन्न करके महान् यश के भागी बने हैं। प्रगति करती हुई इस संस्था के द्वारा जीवनोपयोगी साहित्य का प्रकाशन होता रहे ऐसी मेरी शुभ कामना है।

लश्कर (ग्वालियर)
भाद्रपद कृष्णा–११
वि. सं. २०३२

गो. पुरुषोत्तमलाल

पूज्यपाद गोस्वामी श्री गोविन्दरायजी महाराज पोरबन्दर
वर्तमान अध्यक्ष, अखिल भारतीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद्, दिल्ली।

श्री नन्ददासजी, मन्त्री श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल जोधपुर—आपकी संस्था की ओर से 'श्री सुबोधिनीजी' मूल एवं हिन्दी भाषान्तर युक्त प्रकाशित हो रहे हैं, यह नाम-सेवा की प्रवृत्ति अत्यन्त धन्यवादार्ह है।

आपके प्रकाशनों की यह विशिष्टता रही है कि उसमें मूल वाचना सम्मिलित करके और स्थान--२ पर लेखकार योजनाकार के लेखन का स्वारस्य भी साथ में रखा गया है इससे उक्त संस्करण की उपादेयता बढ़ गई है।

साथ में स्कन्धार्थ एवं प्रकरणार्थ भी संक्षिप्ततया उपलब्ध होते हैं, ऐसे महान् ग्रन्थ के प्रणयन करने के लिए भागवत के स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ, अध्यायार्थादि सभी अर्थ अवलोकन करने से ग्रन्थ का पिण्डितार्थ हृदयंगम होता है, और इससे वाचक को जो ज्ञान प्राप्त हो वह कुछ और ही आनन्द प्राप्त कराता है।

श्री सुबोधिनी संलग्न लेखकार, प्रकाशकारादियों के जीवनीय वृत भी दिये गए हैं, जिससे वाचकों को उसका भी परिचय प्राप्त हो सकता है। प्रस्तावना व भूमिका भी अध्ययन-पूर्णरीत्या लिखित होने से ग्रन्थ गरिमा मनोरम बन पायी है।

संस्करण सभी दृष्टियों से साहित्य जगत् को उपादेय प्रतीत हुआ है और एतदर्थ अनुवादक, सम्पादक और मण्डल को सानन्द धन्यवाद और शुभाशिष देता हूं।

श्रीवल्लभ के चरणों में सानुनय प्रार्थना है कि सम्प्रदाय का ये अत्युपकारक सम्पादन-कार्य श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल द्वारा सफलतापूर्वक सम्पूर्ण हो और सम्प्रदाय-प्रेमी एवं साहित्य-प्रेमियों से अनुरोध है कि इसको सम्पूर्ण होने में सभी प्रकार से अपना सहयोग दें।

श्रीमद्वल्लभाचार्य सुबोधिनी सम्मत 'श्रीमद्भागवत मूल पाठ मुद्रित होना, इसी कार्य की पूर्ति मैं मानता हूँ और भागवतार्थ प्रकरण का हिन्दी अनुवाद करना, श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल विचार करें, ऐसा मेरा सूचन है।

भवदीय

पोरबन्दर

गो. गोविन्दराय

दिनांक ५ सितम्बर, १९७५.

पूज्यपाद गोस्वामी श्री माधवरायजी महाराज, मथुरा-पोरबन्दर, अध्यक्ष—श्री द्वारकेश स्मारक समिति, सम्पादक—"श्री अग्निकुमार" त्रैमासिक पत्र

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित ११ पुष्प अद्यावधि प्राप्त हुए, एतदर्थ हार्दिक धन्यवाद। निस्सन्देह सम्प्रदाय-जगत् का यह एक महान कार्य हुआ है। गुजराती के भाषान्तर ता हमारे यहां कई हुए हैं, किन्तु हिन्दी भाषा की दृष्टि से जो यह शृंखला आप के यहां से प्रकाशित हुई है यह वास्तव में अतीव महत्वपूर्ण है। जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाधीश को यह लोकोतर दिव्य वाणी निज पुष्टि जीवों के लिये परम फल-रूपा है। लोग अवश्य ही इन ग्रन्थों से अधिकाधिक लाभ उठावेंगे। शेष १२वां एवं १३वां खण्ड भी शीघ्र ही प्रकाशित हो यह चाहता हुआ आपकी अनुदिन प्रगति का इच्छुक हूं।

भवदीय

पोरबन्दर, दिनांक ९-८-१९७५.

माधव गोस्वामी

नाथद्वारास्थ विद्या विभागाध्यक्ष—पं० श्री आनन्दीलालजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य शुद्धाद्वैत भूषण

श्री सुबोधिनी के पाण्डित्यपूर्ण अनुवाद में साङ्गवेदों का पूर्णज्ञान तदर्थानुष्ठान श्री महाप्रभुजी की कृपा तथा उनके बोलने की शैली से अवगत होना परमावश्यक है।

संप्रति भजनानन्द का अनुभव करने वाले श्री फतहचन्द्रजी शास्त्री ने दशम स्कन्ध के हिन्दी अनुवाद करने में जो श्रम किया है वह अतीव स्तुत्य है।

इसके प्रकाशन में जिन महानुभावों ने सहयोग दिया है वे धन्यवादार्ह हैं।

नाथद्वारा

भवदीय

दिनांक १८ सितम्बर १९७५.

आनन्दीलाल शास्त्री

प. भ. त्रिपाठी श्री नारायणजी रामकृष्णजी शास्त्री, अधीक्षक—विद्या मन्दिर, मोतीमहल नाथद्वारा

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल ने श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध की श्री सुबोधिनी टीका का अनुवाद १३ पुष्पों में प्रकाशित किया है। इस प्रकाशन से सम्प्रदाय की बहुत बड़ी सेवा मण्डल के द्वारा हुई है। यह हिन्दी अनुवाद सरल भाषा में बहुत ही सुन्दर हुआ है। छपाई, जिल्द आदि का सभी कार्य प्रशंसनीय है। गुजराती भाषा में भी पहले अनुवाद हुआ है। इस समय वह भी उपलब्ध नहीं होता। बहुत से हिन्दी भाषी गुजराती से सर्वथा अपरिचित हैं। वे गुजराती अनुवाद नही पढ़ सकते थे इन सब कठिनाईयों को इस हिन्दी अनुवाद ने दूर कर दिया है।

श्री सुबोधिनी टीका की पंक्तियों का भाव इतना गम्भीर है कि उनका तात्पर्य समझना सर्वसाधारण की बुद्धि से तो परे हैं ही किन्तु विद्वानों को बुद्धि भी तात्पर्य के विषय में सशंक रहती है। श्री फतहचन्द्रजी ने यथाशक्ति उन पंक्तियों का तात्पर्य स्पष्ट किया है। अब वास्तविक तात्पर्य क्या है? यह तो स्वयं श्रीमदाचार्यचरण ही जानते हैं, अथवा उनकी जिनपर कृपा होती है वे जान सकते हैं। इति शम्।

भवदीय
त्रिपाठी नारायण रामकृष्णजी शास्त्री

प. भ. जेठालालजी गोवर्धनदास जी शाह—एम. ए.
रिटायर्ड प्रिंसिपल, अहमदाबाद के गुजराती लेख का अनुवाद—

पूज्यपाद गोस्वामि श्री ब्रजभूषणलालजी महाराज की अध्यक्षता में श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल जोधपुर द्वारा प्रारम्भ की गई श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला के अब तक श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के १३ पुष्पों—मूलसंस्कृत, टिप्पणी, प्रकाश, लेख, योजना कारिकार्थ तथा भागवत का हिन्दी भाषा में मुद्रित इन ग्रन्थों का सत्कार करते हुए ऐसा कौनसा पुष्टिमार्गीय वैष्णव है जिसका हृदय आनन्द विभोर नहीं होगा। श्री हरिराय महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि—"न च : दृष्टा सुबोधिनी" जिसने श्री सुबोधिनी के दर्शन नहीं किये तो उसका जीवन ही वृथा है—तथापि यह ग्रन्थ अब सुलभ है तो भी अपने घर में जो कोई इस ग्रन्थ माला को न पधरावे, ऐसे वैष्णव का हृदय अश्मार-भूत (पत्थर का बना हुआ) है ऐसा कहना अधिक उचित है। "श्री सुबोधिनी ग्रन्थ" श्री मद्वल्लभाचार्य चरण के "स्वामिनो स्वरूप" गूढ़ स्त्रीभाव के अनुरूप प्रकट किया हुआ है। श्री मद्वल्लभाचार्य से पूर्व आचार्यों ने परमतत्व ब्रह्म या भगवान् का ज्ञान प्राप्त करने में वेद, श्री मद्भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र को ही प्रमाण स्वीकार किया है। परन्तु श्री मद्वल्लभाधीश ने श्री मद्भागवत को चतुर्थ प्रमाण स्वीकार कर यह बताया है कि भगवान् के आनन्द स्वरूप की प्राप्ति में यही एक वास्तविक प्रमाण है। इस प्रकार निर्भयता से उसको सर्वोतकृष्टता बताई है। इतना ही नहीं किन्तु श्री मद्भागवत एक मूर्धन्य प्रस्थान है। वेद का ज्ञान सम्पूर्ण सन्देह-रहित नहीं है। उसकी कमी श्री मद्भागवद्-गीता से पूरी होती है। यदि श्री मद्भगवद् गीता में सन्देह हो तो उसे ब्रह्मसूत्र द्वारा दूर किया जाता है। उद्दाल को श्वेतकेतु ने जो प्रश्न—'उपनिषद् पृच्छामि'—पूछा था, उसका ज्ञान तो श्री मद्भागवत से ही मिलता है। श्री मद्भागवत के बिना वेदादि से प्राप्त, ज्ञान पर्याप्त नहीं है। श्री मद्भगवत का सहकारी अथवा पूरक ज्ञान नहीं है परन्तु श्रुति प्रतिपादित "रसो वै सः" आनन्दघन रसेश्वर श्री कृष्ण के ज्ञान की पूर्णता तथा अनुभूति कराने वाला है। परमात्मा के स्वरूप, गुण एवं कर्मों (लीलाओं) का ज्ञान विशिष्ट शास्त्र से मिलता है, कि जैसे, स्वरूप का ज्ञान वेद से, गुणों का ज्ञान सांख्यादि शास्त्रों से, और भगवान् के कर्मों (लीलाओं) का ज्ञान भक्ति शास्त्रों से प्राप्त होता है। भक्ति शास्त्रों में श्री मद्भगवद् गीता में जीवात्मा को प्रवृति धर्म में कर्म किस प्रकार से करने यह बताया गया है। परन्तु निवृत्ति धर्म में तो भगवान् के कर्मों (लीलाओं) का ही स्मरण करना चाहिये। इसके लिये श्री मद्भागवत शास्त्र की रचना श्री व्यासजी द्वारा प्रकट की गयी भागवतशास्त्र का प्रयोजन आनन्द और हरिलीला का है, जिस रहस्य को प्रगट करने वाली कोई विवृति नहीं थी। श्रीधरजी ने टीका लिखी है, परन्तु वह आनन्द स्वरूप की लीलाओं का निरूपण करने में अपूर्ण प्रतीत होती है। अतः भगवान् के

वदनावतार भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड श्री वल्लभाधीश ने सुबोधिनी टीका की रचना की। जिससे पूर्व भागवतार्थ तत्वदीप निबंध में शास्त्र स्कन्ध, प्रकरण और अध्याय के अर्थों की रचना की। परन्तु श्री मद्भागवत के मूल श्लोक के शब्द और वर्ण (अक्षर) में रहा हुवा रहस्य (गूढ़) शक्ति को प्रगट करने के लिये श्री सुबोधिनी की रचना की। परन्तु भगवद्इच्छा से १, २. ३, १० और ११वें स्कन्ध के चोथे अध्याय तक टीका लिखने के पश्चात् भक्तिरस की विपुल रसधारा में बहते हुए मग्न हो गये। अब तक मूल संस्कृत में सुबोधिनी सटीक प्राप्त होती थी। गुजराती भाषा में भी उसका अनुवाद हुआ है। जिसके लिये नाथद्वारा विद्याविभाग से तिलकायत गोस्वामी श्री १०८ श्रीगोवरधन लालजी महाराज श्री ने आर्थिक सहायता की और गोलोकवासी प्रो. श्री मगनलालजी शास्त्री, भाई मूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला, धीरजभाई सांकलिया, श्री नानुलाल भाई गांधी, श्री हरिशंकरजी शास्त्री, श्री बाड़ीलाल भाई तथा प. भ, रणछोड़दास, वृन्दावनदास पटवारी का आभार मानना चाहिये परन्तु इस साहित्य का हिन्दी भाषा में प्रसिद्ध होना परम आवश्यक था जिस आवश्यकता को पूरा करने के लिये श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल जोधपुर द्वारा प्रारम्भ की हुई प्रवृति प्रशंसनीय है। इस विषय की मूल प्रेरणा प. भ. गो. वा. नन्दलालजी मानधना को हुई जिसका समर्थन उनकी धर्म पत्नी श्रीमती सौभाग्यवती मानधना ने भी किया और उस कार्य का प्रारम्भ उदारता पूर्वक करने के लिये उन्होने दिल खोलकर वित्तजा सेवा की। परन्तु इसका हिन्दी अनुवाद करने का काम कठिन था तथापि भगवत् कृपा से गो. वा, शास्त्री फतहचन्द्रजी से अनुवाद कार्य प्रारम्भ हुआ। जब मैंने सर्वप्रथम इन शास्त्रीजी के प्रत्यक्ष दर्शन किये तब वास्तव में ये एक सुयोग्य व्यक्ति हैं एसी छाप मेरे हृदय पर पड़ी वे प्राचीन आदर्श वैष्णव की स्मृति कराने वाले व्यक्ति थे। उनके बाह्य सादे भेष के नीचे उनकी निराडम्बरता छुपी हुई थी इसी प्रकार मुझे ऐसा लगा कि उनके ललाट पर आचार्य श्री की गम्भीर और चिन्तनात्मक वाणी का रहस्य उगलते हुए मनके भावों की मेखायें अंकित हुई हैं। आज वह वैष्णव विद्वत्व विभूति विद्यमान नहीं है। मेरी उनको सहस्त्र वंदना हैं। मुझे उनका हिन्दी अनुवाद सरल तथा बिना आडम्बर की सीधी सुगम और सुबोध भाषा में लगता है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रियों को जो मानसिक सेवा इस कार्य के लिये देते हैं उनको धन्यवाद है। इस मण्डल के अध्यक्ष पू. पा. गो श्री व्रजभूषणलालजी महाराज इस कार्य को सांगोपांग पूर्ण करने के लिये अहर्निश चिन्तित रहते थे, आप श्री के मार्ग-दर्शन से ही हम इन १३ पुष्पों की सौरभ प्राप्त कर सके हैं। आप श्री को तथा इस कार्य में रात दिन का जागरण एवं इतनी बड़ी योजना के सफल कर्त्ता प. भ. नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) की तनुजा तथा मानसिक सेवा का जितना उपकार मानें उतना ही कम है। महँगी कीमत के ऊँची जात के ग्लेज़ड (चिकने कागज) का उपयोग सुन्दर बड़े टाइप में सुबोधिनी का मुद्रण १२ भागों में प्रकाशन कराना प्रूफ सुधारना तथा उन्हें चित्रों से सुशोभित करना कितना कठिन है। यह तो वही जान सकता है जिसके सिर कर्त्तव्य का भार हो। प. भ. श्री नन्ददासजी ने इस अवैतनिक सेवा को करके श्री मद्वल्लभाचार्य चरण के प्रति अनन्यता के दर्शन हमें कराए हैं, जिसके लिये उनको जितना भी धन्यवाद दिया जावे उतना ही कम है। श्री वल्लभाधीश की कृपा से ही यह कार्य सफल हुआ है। उपरोक्त संस्था इनके सदस्य तथा इसके आर्थिक सहायक और तनुजा सेवा-भावी विद्वान् एवं पंडित महानुभावों की सेवा में मैं धन्यवाद अर्पण करता हूं।

अहमदावाद
जेठालाल गोवर्धनदास शाह
दिनांक १८ अप्रेल, १९७५

पूज्यपाद गोस्वामि श्री मुरलीधरलालजी महाराज, काशी

स्वस्ति श्री गोस्वामि मुरलीधरलालजी शर्मणां स्वकीयेषु श्री हरि गुरु सेवापरायणान्तःकरणेषु नाम सेवा परायण प. वैं श्री नंददासजी मन्त्री श्री सुबोधिनीजी प्रकाशन मंडल जोधपुर काशी से महाराज श्री के शुभा शीषः थी सुबोधिनी ग्रंथमाला का पञ्चम् पुष्प तामस फल प्रकरण, श्रीमद्भागवत दशम स्कंध अध्याय २६ से ३५ हम को प्राप्त भया है। पुस्तक में कीर्त्तनों का भी अमुक २ स्थान पर लीलाक्रमानुसार समावेश किया गया है इससे सर्व साधारण जन समूह के लिये अत्यंत उपयोगी है। वैसे भाषान्तर भी सरल है-परन्तु है तो-श्री 'सुबोधिनी ग्रथ'—यह सुबोधिनी ग्रंथ श्री मदाचार्य बल्लभ की कृपा से ही सुलभ हो सक्ता है-आकर ग्रंथ है ही, कार्य बहुत सुन्दर है-इसी प्रकार सहर्ष आप सज्जन उक्त कार्य में संलग्न रहें यही प्रभु से विनम्र प्रार्थना है। नाम सेवाही इस वर्तमान युग की माँग रही सो प्रभु कृपासे, क्रम से पूर्ण हो रही है। इतिशम्।

ता २६-७-७१ श्रावण शुक्ला' ७, स. २०२८,

गो० मुरलीधरलाल
श्री जीवनजी महाराज की हवेली, गोपालमन्दिर
'वाराणसी'

ब्रज प्यारा है वैकुण्ठ क्यों जाऊँ ?

लेखक—गो. श्री रणछोड़ाचार्यजी 'प्रथमेश', महाराज, प्रचाराध्यक्ष
अखिल भारतीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद्, दिल्ली

श्रीमद्वल्लभाचार्य मानव जीवन को भगवत्सेवा का एक अमूल्य अवसर बताते हुए सम्पूर्ण जीवन की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं, जीवन आदर्श जीवन की निस्सारता नहीं है, न उनके मत से प्रपंच की आंधी ही में बहका हुवा जीवन, अनाथ की भांति भटकता है, अपनी गौरव गरिमा से सुसज्जित मानव अहंकार का समर्पण कर अपना सम्पूर्ण जीवन आत्म निवेदन के द्वारा प्रभुमय बनाकर जीवन की वास्तविकता को स्थिर बनाता है। उनके मत में जीव अणु होते हुए भी तुच्छ नहीं है, और न वह अकर्मण्य होकर केवल ज्ञान की गाथा ही गाता रहना अपना चरम बिन्दु मानता हैं भक्त मानव एक ऐसा व्यष्टि है जो समर्पण के द्वारा समष्टि को आत्मसात् करता है, अपने प्रियतम और आत्मीय बन्धु की भांति, उस समपण में न स्वार्थ है न परवशता और न ऐसी विवशता ही है जो कभी हीनता उत्पन्न करके अपने अभाव को साकार कर मानव के अन्तर मन को व्यथित करती है जिससे पराभूत होकर मनुष्य दीन हीन दशा में बुराइयों से भी समझौता करके अपने को महान् बनाने की कल्पना करता है।

आचार्य श्री के मत में उस प्रभु को हम आत्मबन्धु के रूप में वरण करते हैं जो कि उसकी वास्तविक स्थिति है। चाहे वह जगत् का स्वामि है, फिर भी अपने स्वामित्व के अभिमान् को लेकर वह जीव के समक्ष उपस्थित नहीं होता। वह तो उसका अपना परमप्रिय आत्मीय बनकर ही उसके पास आता है जिससे साक्षातकार कर हम अपनी हीनता भुला बैठते है।

ब्रज भक्तों की यही विशेषता और भक्ति जो उन्होंने हमें गुरु बनकर कृपा पूर्वक प्रदान की है यही हमारे जीवन की उन्नति का मार्ग दर्शन है। जीवन को स्वाभाविक दिनचर्या भी एक

आराधना का स्वरूप है यह हमें श्री बल्लभाचार्य ने सहज समझा दिया है। जिस जीवन को भाररूप मानकर लौकिक से अलौकिक की ओर साधक अग्रसर हुए और उसे ग्लानि से भरकर मुक्ति मार्ग का अवलम्बन लेना दार्शनिक जगत् के तत्व ज्ञानियों ने श्रेयस्कर समझा, वही सामान्य जीवन सेवा और मानवता से पूर्ण होकर एक ऐसी आराधना का रूप ले लेता है जिसे विधि और निषेध स्पर्श भी नहीं कर सकते। जीवन की सहजता और सरलता उस प्रभु की आराधना बन जायगी और वह दूर देश का ब्रह्म जिसे वेदान्त के चिन्तन करने वाले इतना दुरुह और दुर्गभ बना चुके थे वह ब्रह्म मनुष्य जीवन तो क्या प्राणी मात्र के जीवन में इतना समीप है जैसा कि हमारा दैनिक जीवन। यह अनुभव करने में श्री उद्धव जैसे तत्व ज्ञानी भी संकोच का अनुभव कर रहे थे। वही परम तत्व भगवान् बनकर इतना भक्तों के जीवन में घुलमिल जायगा यह देख कर तत्व निष्ठ बनने की घोषणा करने वाले व्यक्ति को वास्तविकता स्वीकार करने में अहं पर आघात का अनुभव हुवा है। कैसी विडम्बना है! जिसे हमारा अहंभाव समझने की क्षमता भी नहीं रखता और इतने दुरुह को इतना सरल करके जानने का साहस भी वह नहीं जुटा पाता। क्योंकि उसने तो अपना ज्ञान ही दूसरों को अज्ञानी समझ कर आरम्भ किया था। भला वह इतना सरल कैसे बन सकता है। ब्रज-भक्तों की सरलता ने उस पर-ब्रह्म को बड़े निकट से पहचाना और वह परमात्म तत्व उनके लिये श्रीकृष्ण के मधुर स्वरूप में उनसे बातें करने लगा, हँसने लगा उनके साथ और उसके उन्मुक्त हास्य ने सभी के जीवन में आनन्द उर्मि का संचार किया। ईश्वर का बोलना हँसना, खेलना और रोना ज्ञानियों को पसन्द आने वाली बात नहीं थी। इसलिये उन्होने उन्हे गवार, साधनहीन कहकर अपने अहं की पुनः प्रतिष्ठा की।

परन्तु श्री वल्लभाचार्य इस तथ्य से पूर्ण परिचित थे और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया कि ज्ञान मार्ग भ्रान्ति मूलक बन गया है। क्योंकि उसमें केवल विडम्बना मात्र शेष है जिनने मिथ्या चिन्तन करके वस्तु मात्र को भ्रान्त बना दिया है और यही भ्रान्ति और मिथ्या की कल्पना की अपने तर्कों द्वारा सजाकर उस परमतत्व भगवान् के रसमय स्वरूप को भी विकारी देखे बिना उन्हे सन्तोष नहीं हुवा।

भक्त की सहज भावना और निश्छल स्नेह ही भक्ति है। इस सिद्धान्त के आधार पर सम्पूर्ण ब्रन भगवत्सेवा का स्वरूप धारण कर लेता है, दिव्य प्रेम के पावन प्रवाह में विशुद्ध ब्रह्म का आनन्द रस ही निर्भर की भांति भक्तों के अन्तर को रस में सरस बना देता है। श्री कृष्ण के प्रेमी भक्त उन्हे सीधी भाषा में प्यार भरी सीख भी देते हैं। वे कवि श्री दयाराम की भाषा में कहते हैं—

'ब्रज वहालूँ रे वैकुण्ठ नहीं जाऊँ''

मुझे तो ब्रज इतना प्रिय है कि बैकुण्ठ जाना अच्छा नहीं लगता। इतना ही नहीं वह अति प्रेम पूरित शब्दों में प्रभु को भी यही कहता है कि प्यारे कन्हैया अब तुम भी मत जाओ उस बीहड़ स्थान पर दुःख होगा तुम्हे। देख तो सही सारे कर्म मार्गी, ज्ञान मार्गी और योगी क्या भोगी तुझे इतना बड़ा समझ कर सभी स्वार्थ के कारण तेरे पीछे पड़ गए हैं। सभी तो तुझ से कुछ न कुछ मांगते ही हैं। उन्हे कभी भी तेरी कोमलता और तेरे सुख का विचार नहीं आता क्या करेगा भला वहां जाकरं, नहीं नहीं इतनी दूर मत जा देखो उस दिन तुझे मेया भी तो समझा रही थी न।

दूर खेलन जिन जाऊ वहां तो हाऊ बिलाऊ का डर है और देख ये सभी तो हाऊ बिलाऊ से कम नही हैं। जिन्होंने डरा के, भीख मांग के या स्वार्थ के लिये साधना कर के ईश्वर बनने का प्रयास किया है। किसी ने भी यह नहीं सोचा कि हम कुछ अपने प्यारे सुकुमार श्याम सुन्दर को कैसे रिझा सकते हैं उसे कैसे स्नेह से रखें कि वह कहीं और न चला जाय।

अरे देख कन्हैया! वे भगवान् या ब्रह्म और नारायण बनते हैं तो उनको बनने दे। तू तो यहां ही रह के हमारी मिश्री और माखन प्रेम से खाया कर और हम कभी तुझसे कुछ भी नहीं मांगते। क्या रखा है उस ब्रह्म बनने में, नहीं लाला, नहीं ऐसा मतकर नहीं तो 'तू खेत को बिजूका जैसो निकम्मो बन जायगो'। जरा सा भी तूने खेल किया और ये सभी जोर जोर से चिल्लाकर कहेंगे "श्याम सुन्दर तो बिगड़ गयो" जब तेरो थोड़ो सी क्रीड़ा और मन्द हास्य भी इन्हें सहन नहीं होता तो फिर वो तेरी सरस लीलाओं को क्या जान सकेंगे। जिनको दूसरे की खुशी सहन नहीं होती वह भी भला कैसे खुश होंगे तभी तो उन्होंने तुझे निरीह और निराकार बना दिया और अब निष्क्रिय कहकर लुंज-पुंज और पंगु बनाना चाहते हैं। हम तो सदा तुझसे यही कहते हैं कि यदि तुझे छिपना है तो हमारे हृदय में छिप जा और नहीं तो प्यारी की पलकों में समा जा जिससे तुझे इनकी नजर नहीं लग जाय।

अरे! थोड़ा देख और सोच तो सही वे तुझको निरीह और निष्क्रिय निराकार बना कर स्वयम् ही ब्रह्म बनना चाहते हैं। उनको तेरी सत्ता भी दूसरे रूप में अखरती है फिर उनसे नाता रखने से लाभ ही क्या है। यहां देख तू कितना अच्छा लगता है। कैसा हंसता खेलता है। तेरी किलकारियों से सभी स्नेह विभोर हो जाते हैं। इस प्रकार उस सर्वज्ञ को जितनी आत्मीय दृष्टि से भक्त देखता है और उसकी निर्गुण भक्ति जितना उसे अपना सकी है उतना सहज समर्पण कहीं दूसरे स्थान पर प्राप्त नहीं होता। आत्म चिंतन और प्रभु सेवा की सरल प्रणाली का यह दिव्य रहस्य साधारण होते हुए भी इतना मर्म स्पर्शी और असाधारण है जिसके द्वारा प्रतिक्षण ब्रह्म चिंतन और सरस रूप में, उसका सेवन कभी भी कहीं भी सम्भव है। श्री मद् वल्लभाचार्य के प्रेम पूरित गम्भीर 'दर्शन' की यह दिव्य देन है कि जैसे तुम प्रपंच को सोचते हो और लौकिक रिश्तों को सोचकर आत्मसात करके सुख दुःख एवं त्रास का अनुभव करते हो तो क्या उसी मार्ग से अपने आत्मीय प्रभु श्री श्यामसुन्दर को आत्मसात नहीं कर सकते? व्रजांगनाओं ने कितने सहज रूप से उन्हें अपना बना लिया था।

"अक्षण्वतां फलमिदम्" की सुबोधिनी में आचार्य श्री ने व्रजभक्तों के इसी भाव को अभिव्यक्ति दी है। इन्द्रियधारी समस्त जीवों को इससे बढ़कर और क्या फल चाहिए? जहां अगोचर भी गोचर बन गया और अव्यक्त भक्तों की भावमयी वाणी में अभिव्यक्त होकर गोरज, राजल, सामल मेष के मनोहारी स्वरूप में कुन्तलकेशों में अपनी सखा मण्डली के मन को उलझाये थिरकता चला आता है। जीवन की इस भावमयी साधना के समक्ष सभी विरोधाभास समाप्त हो जाते हैं कितना लुभावना सुहावना स्वरूप है कन्हैया का, यही तो विरुद्ध धर्माश्रय ब्रह्म है जिसे हम अपना कह सकते हैं जिससे रूठ सकते हैं जिसे मना सकते हैं और वह हमें भी मना लेता है इससे सरस आत्मस्वीकृति और क्या हो सकती है जिसके लिए साधना का आडम्बर और ज्ञान का दम्भ करना

पड़े। जिसने उसका रचनात्मक स्वरूप नहीं देखा वह विरूप या अरूप को क्या साक्षात करेगा, जिसने स्वरूप की अवहेलना की और अनन्त में चले खोजने।

श्री वल्लभ के 'दर्शन' की यह महत्ता ही हमारे सहज जीवन को साधना बना देती है जिसके द्वारा हम भी उससे हंस-खेल कर जीवन का खेल आनन्द से देखते रहें। जिन्हें यह नहीं भाता उन्हें तो भोली गोपी कह देती हैं:-एक हतो सो गयो श्याम संग, को आराधे ईस, उधो मन न भये दस बीस।

आईये हम अपनी दस बीस की वृत्ति को उसके साथ एक रस प्रीति में एकात्म बना दें तो समस्त चर, अचर, एवं प्राणी मात्र की भेद बुद्धि स्वतः दूर हो जायगी।

परिषद् के मुख-पत्र श्री वल्लभ विज्ञान के १५ वें वर्ष के अंक ६ दिसम्बर, १९७५ की सौजन्यता से प्राप्त

प. भ. श्री प्रेमलालजी गो. मेवचा, सम्पादक महोदय, "श्री वैश्वानर" मासिक पत्र एवं अनेक साम्प्रदायिक गुजराती ग्रन्थों के रचयिता, पोरबन्दर

श्री नन्ददासजी, मंत्री, श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर

श्रीमद्भागवत के मर्मज्ञ परमवन्दनीय गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज की अध्यक्षता में "श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल" द्वारा प्रकाशित पुष्प १ से ११ पर्यन्त प्राप्त हुए। शेष यथा शीघ्र प्राप्त होंगे, ऐसी शुभाशा है।

पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु के वाङ्मयावतार 'श्रीमद्भागवत' की जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी प्रणीत संस्कृत टीका श्री सुबोधिनीजी के मूल सहित अविकल हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन-कार्य मण्डल ने किया है, वह चिरकालीन अभाव की पूर्तिरूप है।

महानुभाव गोस्वामि श्री हरिरायजी का अनुभवपूर्ण कथन है कि—

> "न च दृष्टा सुबोधिनी………वृथा तज्जन्म भूतले"

"जिसने श्री सुबोधिनीजी का दर्शन (अध्ययन) नहीं किया, उसका भूतल पर जन्म लेना व्यर्थ है"।

आपके द्वारा हो रहा श्री सुबोधिनी प्रकाशन का कार्य, सम्प्रदाय-जगत् के लिये तो महा मूल्यवान है ही, अपितु श्रीमद्भागवत के रहस्य जानने-समझाने वालों के लिये भी परोपकारी सिद्ध होगा।

अखण्ड भूमण्डलाचार्यवर्य श्री महाप्रभुजी द्वारा श्रीमद्भागवत् की टीका 'श्री सुबोधिनीजी'-स्कन्ध, १-२-३, १० एवं ११ के चार अध्याय पर्यन्त प्राप्त होती है। आपने उसका प्रकाशन-कार्य भगवान् के हृदय स्थान रूप निरोध लीलात्मक दशम स्कन्ध से ही प्रारम्भ किया है, वास्तव में अच्छा

ही किया है यह कार्य ग्रावकार्य है धन्यवादार्ह है । ग्रब दूपरी ग्राजीवन सदस्य बनाने वालो योजना द्वारा स्कन्ध १, २, ३ ग्रौर ११ के चार ग्रध्यायों के हिन्दो ग्रनुवाद कार्य-प्रकाशन कार्य पूर्ण करके साम्प्रदायिकों को लाभान्वित करेंगे ।

प्रकाशित प्रत्येक ग्रन्थ पुष्प के प्रारम्भ में ग्रापने जो प्रस्ताव भूमिका ग्रादि में तत्तप्रकरण विषयक ग्रध्ययन सामग्री दो है वह पठनीय एवं मूल्यवान है । तदुपरान्त श्री भागवतार्थ प्रकरण (मूल सहित हिन्दी ग्रनुवाद), वन्दनीय ग्राचार्य चरणों के जीवन चरित्र, श्री सुबोधिनो सार सुधा तथा ग्रष्ट सखाग्रों के उपयुक्त पदादि साहित्य तत्तत्स्थान में प्रकाशित करके ग्रन्थ की गौरव वृद्धि को है, वह वास्तव में ग्रतीव श्लाघनीय है ।

लील:-कथानुसार दिये हुए रंगीन ग्रौर सादे चित्र भो दर्शनीय तथा हृदयंगम हैं ।

भागवत मार्ग कहलाने वाले पुष्टि मार्ग में एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ का ग्रभाव है, उसकी भी पूर्ति "श्रीमद्वल्लभाचार्य पंचशताब्धि प्राकट्य महोत्सव" पर्यन्त हो जानी चाहिये । श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण सम्मत श्री सुबोधिनी पाठानुसार श्रोमद्भागवत की मूल वाचना का प्रकाशन होना नितान्त ग्रावश्यक है ।

ग्रापके ग्रन्थों की छपाई, सफाई एवं पक्की जिल्द युक्त प्रकाशनों की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही है । इस महत्वपूर्ण कार्य के लिये मेरी हार्दिक बधाई स्वोकार करेंगे ।

पूज्यपाद ग्रध्यक्ष महोदय के श्रीचरणों में मेरा साष्टाङ्ग दंडवत प्रणाम ।

भवदोय

पोरबन्दर, दिनांक ५ दिसम्बर १९७५ **प्रेमलाल गो. मेवचा के सदैन्य सादर भगवत्स्मरण**

Shree Radhey Shyamjee Rastogi, M.A., L.L.B., Retired Reader, (English) Lucknow University, Lucknow

Shri Subodhini Prakashan Mandal of Jodhpur under the inspiring leadership of its President, His Holiness Shri 108 Shri Goswami Brij Bhushan Lal Ji Maharaj (Jamnagar) has brought out with the help of the learned scholars of Pushtimarg the Hindi translation with explanatory comments on the Tenth Skand of Subodhini of Srimad Bhagwat. The Subodhini written in Sanskrit by Sri Vallabhacharya Ji is generally acknowledged an outstanding commentary on Srimad Bhagwat.

The Hindi translation of Subodhini has been a long-felt want which has now been fulfilled by the untiring efforts of Sri Nand Dass Ji, the Secretary of the Mandal, extending over a decade. He never lost courage in

the face of numerous hardships in the course of translation and printing of a work of such magnitude, but by his persistent efforts, even at the cost of his health, he has succeeded in his mission.

The Vaishnavas, particularly of the Hindi speaking area, are greatly indebted to Sri Nand Dass Ji for this colossal work in which the niceties and subtleties as well as the underlying significance of the most important Skand of Srimad Bhagwat have been brought within their easy reach. All things considered this monumental work should be kept not only in our temple libraries, but also in the libraries of the Universities of this country.

Lucknow, 15th August, 1975 **Radhey Shyam Rastogi**

प. भ. श्री राधेश्यामजी रस्तोगी एम. ए. एल. एल. बी. अवकाश-प्राप्त रीडर लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ के उपरोक्त अंग्रेजी सम्मति का हिन्दी अनुवाद

पू. पा. गो. श्री १०८ श्री ब्रजभूषणलालजी महाराज की अध्यक्षता एवं उत्साहपूर्ण नेतृत्व में श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल जोधपुर ने श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध की श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका का पुष्टिमार्गीय निष्णात् विद्वानों की सहायता से व्याख्या सहित हिन्दी अनुवाद को प्रकाशित किया है। श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका सर्व सम्मति से श्रीमद्भागवत् पर एक अपूर्व सर्वोत्तम विवृत्ति मानी जाती है।

श्री सुबोधिनीजी के हिन्दी अनुवाद की चिरकाल से आवश्यकता प्रतीत होती थी। जिसकी श्री नन्ददासजी मंडल के मंत्री के १० वर्षों के अथक प्रयास से पूर्ति हुई। इस विशालकाय साहित्य के अनुवाद एवं मुद्रण में अनेक बाधाओं एवं कठिनाईयों का सामना करते हुए उन्होंने कदापि साहस नहीं छोड़ा और अपने उत्साहपूर्ण कठिन प्रयास, यहां तक कि स्वास्थ्य के मूल्य पर भी अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल हुए।

श्रीमद्भागवत् के इस सर्वोत्तम एवं महत्वपूर्ण स्कन्ध के मनोहर सूक्ष्म गुप्त रहस्यों का हिन्दी अनुवाद जो इस विशालकाय प्रशस्त ग्रन्थ में है। उनकी सुलभ प्राप्ति के लिये वैष्णव विशेषकर हिन्दी भाषा भाषी श्री नन्ददासजी के अत्यन्त ऋणी हैं।

सर्व प्रकार से विचारणीय है कि इन महान् स्मारक ग्रन्थ से हमारे मन्दिरों के पुस्तकालयों को ही नहीं भारतीय विश्वविद्यालयों के ग्रन्थ-संग्राहलयों को भी समंलकृत किया जावे।

(लखनऊ। १५ अगस्त, १९७५ राधेश्याम रस्तोगी

प. भ. श्री मोहनलालजी शर्मा, अवकाश-प्राप्त कार्य-कर्ता रिर्जव बैंक ऑफ इंडिया, दिल्ली, सर्व-प्रथम प्रचार मंत्री, अखिल भारतीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् दिल्ली

श्री सुबोधिनीजी के दशम स्कन्ध के तामस-प्रकरण की लीलाओं का रहस्य समझने के लिए उसके प्रमाण उप-प्रकारण का अध्ययन करना आवश्यक है, इसके बिना प्रमेय उप-प्रकरण समझ में आना कठिन है। फल-उप-प्रकरण स्वरूपानन्द की लीला है जो कि सम्पूर्ण भागवत में मूर्धन्य है। प्रमेय उप-प्रकरण में सब से अन्तिम अध्याय में वेणु गीत है। श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण महाप्रभुजी ने वेणु गीत की सुबोधिनीजी में ही पुष्टि मार्ग के स्वरूप एवं तत्व को समझाया है। पांचवे श्लोक-"बर्हापीड नटवर वपु" की व्याख्या में पुष्टि मार्ग का तत्व "स्त्रीगूढ भावात्मक"-भगवान् श्री कृष्ण को ही बताया है। 'वाणी' से ही 'वेणु' बनता है, इसलिये श्री ठाकुरजी की जो वाणी है सो ही वेणु गीत है, जो आधिदेविक है, उसे सुनने व समझने का अधिकार केवल व्रज भक्तों को ही है। आसक्ति से पूर्व भगवान् में प्रेस होता है, वह भी तभी होता है जब श्री ठाकुरजी कृपाकर उसका किसी भाग्यवान् को दान करते हैं। विश्वास, प्रम के बिना नहीं होता है। जिन वैष्णवों को श्री ठाकुरजी पर विश्वास नहीं, श्री महाप्रभुजी की वाणी में निष्ठा नहीं, वे प्रमाण चाहते हैं, ऐसे वैष्णवों को, भगवदीयजन कहते हैं कि ये अभी प्रमाण में हैं, पुष्टि में नहीं, क्योंकि प्रमाण चाहने वालों के संशय अभी तक गए नहीं इससे सिद्ध होता है कि वे अभी पुष्टि में आये नहीं। पुष्टि का अर्थ 'पोषण' है जो स्नेह या प्रेम से ही होता है। 'प्रेम' एक शब्द विद्वानों को मिला, उस पर चलने वालों और अनुभव करने वालों ने उस 'प्रेम' एक शब्द के तीन शब्द कर दिये। जो प्रेम छोटों में किया जावे उसे वात्सल्य, जो बड़ों में सिद्ध किया जावे उसे श्रद्धा और जो बराबर वालों से किया जावे उसे 'स्नेह' कहते हैं। वात्सल्य में दया आरूढ है, श्रदा में महात्म्य आरूढ है, स्नेह निष्काम होता है, सकाम नहीं। वैष्णवजन प्रायः जो भी भगवत्सेवा, सत्संग, भजन करते हैं, वे सकामता से ही करते हैं, सकामता गुप्त रूप से ही हृदय में रहती है, इसलिये श्री ठाकुरजी उन्हें उस स्नेह का दान नहीं करते जो उन्होंने व्रज सीमन्तनियों को किया है। वेणु गीत पढने का फल यही है कि स्नेह को समझ लेवें तथा प्रभु से निवेदन करें कि हमें भी उस प्रकार का स्नेह वे दान करें। श्री हरिराय महाप्रभुजी भी मांग रहे हैं कि "अपना आनन्द हमें दान करें। "प्रभु ने उस आनन्द का दान करने के लिये ही शरद की रात्रि में वन में जब वेणुनाद किया तब उसे सुनकर व्रज भक्त शीघ्रता के कारण अस्त-व्यस्त शृंगार करके भी तुरन्त वहां आगई, परन्तु उनके स्नेह की परीक्षा लेने के लिये प्रभु ने उन्हें वापिस लौट जाने को कहा, जब नहीं गई तब उन्हे दुतकारा, फटकारा, फिर भी उन्होंने प्रभु के चरणार्विन्द नहीं छोडे और प्रार्थना करी कि—जो न देहों अधरामृत तो सुनि हो सुन्दर हरि। करि हों यह तन भस्म पावक में जरि करि॥ पुनि पिय पदवी पाय, बहुरि धरि हों सुन्दर अङ्ग। निधरक ह्वै यह अधरामृत पीवौं फिर ह्वै संग॥ अतः गोपीजन के वाक्यों की जीत हुई-'सत्यवाचा जयन्ति हि'-प्रभु ने जब भक्तों की आसक्ति देखी तब प्रसन्न होकर उनके साथ रास किया, जिससे किञ्चित् स्वरूपानन्द का अनुभव होने पर भी उनके हृदय में सौभाग्यमद का उदय हुवा, कि अन्य से हम श्रेष्ठ हैं। बस, फिर क्या था, इस गर्व के प्रकट होते ही वहां से गर्वाहारी प्रभु अन्तर्धान हो गए। उन्हें अपने बीच में न देखकर वे सब व्याकुल हो गईं और उन्हे खोजने लगीं। तीव्र विरह के कारण जड़ चेतन्य का भान न रहा और प्रभु के उधर से पधारने के समाचार अशोक, पीपल, तुलसी आदि

वृक्षों व पोधों से पूछने लगीं। उनसे प्रत्युत्तर न मिलने पर प्रभु की स्तुति करने लगीं, देखना यह हैं कि स्तुति किस प्रकार की थी। रसिक भक्तों की स्तुति है यदि 'गोपी गीत' के स्थान पर उसे "गोपी गोता" भी कह दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। व्रज भक्तों के स्नेह में जो कमी थी उसे प्रभुने विरहका दान देकर पुष्ट की। प्रभु में दृढासक्ति होने पर, महारास का आयोजन सम्पन्न हुवा, जिस से व्रज सीमन्तनियों को प्रभु के स्वरूपानन्द का पूर्णानुभव हुवा।

युगल गीत–इसे इसलिये कहते हैं, कि दो दो श्लोकों का युगल (जोड़ा) है जिससे अर्थ निकलता है। एक श्लोक में लीला का वर्णन है. दूसरे में जिस लीला का आस्वादान किया उसका अर्थ है। इस गीत में १२ युगल हैं, प्रारम्भ एवं अन्त के श्लोक जोड़ने से १३ युगल बनते हैं। बारह महीनों के भाव से बारह तथा पुरुषोत्तम (अधिक) मास के भाव से तेरहवां युगल है। जो स्वरूपानन्द का पूर्णानुभव महारास में हुवा है. उसी को गोपीजन स्मरण कर, युगल गीत के द्वारा कह रही हैं, जिससे वह भाव हृदय में स्थाई हो जावे, बिना कहे रस स्थिर नहीं होता इसलिये कहना पड़ा। उस भाव के स्थिर हो जाने से स्नेह की तीसरी श्रेणी "व्यसनावस्था" को प्राप्त हो गई।

भ्रमरगोत–इन १० श्लोकों के गीत में व्रजभक्तों के निरोध–संसार प्रपञ्च विस्मृति एवं भगवदासक्ति–का वर्णन है। श्री उद्धवजी ने इधर उधर के ज्ञान की वहुतसो बातें कहीं, परन्तु उनने एक भी नहीं सुनी और अपने ही गीत गाती रहीं अन्तमें भगवद् भक्त उद्धवजी को उनके सामने झुकना ही पड़ा और उन रसिक भक्तों की चरण रेणु प्राप्त करने में अपना सौभाग्य माना। भ्रमर गोत में आनन्द का आस्वादनकर निरोध सिद्ध हो चुका है, इसलिये सब धर्मों का त्याग, ज्ञान का भी त्याग बताया गया है, सब शास्त्रों को ठुकरा दिया, कुछ महानुभावों का कथन है कि उद्धव काल का नाम है, कोई आया नहीं बिरह से जो कष्ट हुवा उसे निवारण करने के लिये काल ने उन्ही के हृदय में ज्ञान उत्पन्न कर दिया, परन्तु गोपीजन ने उस आनन्द के पीछे सब ज्ञान को ठुकरा दिया। भक्त के हृदय में ही उस अत्यधिक विरह को शान्त करने के लिये ही ज्ञान उत्पन्न हाता है, उसी का नाम उद्धव है। महाप्रभुजी की "नमामि हृदये शेषे लीला क्षीराब्धि शायिनम्" कारिका से भान होता है कि समस्त लीला श्री महाप्रभुजो के हृदय में हो बिराजमान है, तो उद्धव कहां गोपोजन कहां, सब भावों का ही खेल है, भाव की प्राप्ति ही भगवद् प्राप्ति है—सदातद्भाव भावित—श्री मद्भगवद् गीता में भगवद्वाक्य बिराजमान है। षोडश ग्रन्थ में श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा भी है "कौंडिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरुवः साधनं च तत्। भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्य दीष्यते"। इस सम्बन्ध में श्री सूरदासजी का भी निम्न पद है—

भाव विन माल नफा नहीं लावे। भाव बीज भक्तन को सरवस, भाव-हि निस दिन ध्यावे॥ भाव भक्ति सेवा सुमरिन कर, पुष्टि पथ को पावे। सूरदास प्रभु भाव रूप हैं, "भावहि में हरि आवे" वेणु गीत की सुबोधिनीजी में पंचपर्वा विद्या का वर्णन है। विद्या का दान उसी दिन हो जाता है जिस दिन ब्रह्म सम्बन्ध हुवा। १२ शक्तियों में विद्या भी एक शक्ति है। पंच पर्वा–पर्व' का अर्थ कृतर्थाता से ही है, एक में भी प्रवेश करेंगे तो पवित्र हो जावेंगे। श्री ठाकुरजी की १२ शक्तियाँ हैं जिनमें पूर्ण ज्ञान शक्ति तथा पूर्ण क्रिया शक्ति होगी तो उसे पूर्णावतार कहते हैं। अतः भगवान् श्री कृष्ण पूर्णावतार है श्री रामचन्द्रजी में ज्ञान शक्ति कम है, श्रो परशरामजी में क्रिया शक्ति अधिक है। सब भावों की उत्पत्ति श्रृंगार रस से है। गौ–अनुभाविका है गोप साक्षी

हैं, गोपियाँ अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ हैं। (१ मन की प्रवृत्तियाँ 'कुमारिकाएँ' मानी गई हैं, जिनकी गणना १६००० होती है। (२ 'बुद्धि' की प्रवृत्तियाँ श्रुतिरूपा मानी गई हैं। चित्त की नित्य-सिद्धा और (४) अहंकार की पुलन्दना मानी गई है, इस प्रकार ४ यूथ हैं, इसका अर्थ श्रीमद् प्रभुचरण गुसाईजी ने "नमामि हृदये शेषे" कारिका से मिलाया है। वेणु गीत तो प्रथम आसक्ति है। गोपीगीत द्वितीय आसक्ति है, कुछ आनन्द जो गोपी गीत से पूर्व मिला, फिर प्रभु ने देखा पूर्णानन्द नहीं है, कच्ची अवस्था है, इसलिये अर्न्तधान हो गए। व्रज भक्तों को अत्यधिक विरह हुआ, फिर भी दर्शन न हुए, तब दैन्य होने से रुदन किया तब प्रभु प्रकट हुए। महारास में जो स्वरूपानन्द का पूर्ण अनुभव हुवा उसी का स्मरण व मनन ही युगल गीत है। भ्रमर गीत में निरोध सिद्धि होने से ज्ञान व शास्त्रादि के उपदेशों को भी ठुकरा दिया।

तामस फल उपप्रकरण के सातवें अध्याय में बल्देवजी ने रास किया उसका वर्णन है। बल्देवजी को वेद कहते हैं, वेदों में जो धर्म लिखा हैं वह धर्म सहित रास है वह शुद्ध आनन्द परिपूर्ण रास नहीं है। उसमें विघ्न आ गया शंख चूड़ आया सो रास में से गोपियों को उठा कर ले गया उसे मारा गया, भागवत में लिखा है कि श्री ठाकुरजी ने उसे मारा, श्री सुबोधिनीजी में आज्ञा है कि बल्देवजी (संकर्षण व्यूह) ने मारा। शंख चूड़ उसका नाम क्यों पड़ा। दस शंख की संख्या होती है तो दस शंख संख्या का समूह उसे माना है। अन्तर्गृहगता का घर ही में अन्तर रूप हो गया, श्री ठाकुरजी के पास न जा सकी। भावों की बलिहारी है, उन गोपियों को किसने रोका ? उनके भावों ने ही रोक दिया, सर्वात्मभाव उन्हे सिद्ध नहीं हुवा था, ऐसा श्री गुसाँईजी ने टिप्पणी में समझाया है, वहां पर भी यह बताया है कि इसी प्रकार वैष्णव भी श्री ठाकुरजी के पास जाने में रुकता है।

इन चारों गीतों का पाठ वैष्णव को करना चाहिये पहले भी वैष्णव ये ही पाठ करने थे।

प. भ. श्री गोपेशशरणजी एम. ए., बी. एड., कवि एवं लेखक, प्रधानाध्यापक,
हायर सेकण्डरी स्कूल, गिडानिया (राजस्थान)

पीयूष समुद्र मंथन

श्री मद्भागवत पीयूष-समूद्र है। इससे पूर्व पीयूष-समुद्र की कल्पना भी नहीं की गई थी। पीयूष का कितना महत्व है यह सर्व विदित है ! देवताओं तथा राक्षसों ने मिलकर जब समुद्र का मन्थन किया था तब अमृत का एक कलश निकला था। जिसके वितरणार्थ कितना संघर्ष हुआ था। तैंतीस करोड़ देवताओं में से प्रत्येक को कितना २ पीयूष प्राप्त हुआ होगा इसका अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु अल्प राशि के लिये भी वे कितने प्रयत्नशील हुए और उन्होंने उसका ही कितना महत्व समझा यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं किन्तु जब श्रीमद्भागवत रूपी पीयूष समुद्र प्रगट हुआ तो उसे देखकर सब आश्चर्य चकित रह गये। समुद्र को मथकर पीयूष निकालने की शक्ति तो देवताओं में भी थी। किन्तु पीयूष के इस सागर को देखकर तो वे भी आश्चर्य चकित थे।

पीयूष का कलश हो अथवा सागर, प्रदान तो अमरत्व ही करता है । भक्त अमरत्व तथा मुक्ति से भी विलक्षण किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहते हैं जिसके लिये उन्हे आवश्यकता थी इस पीयूष समुद्र के सार की । ऐसे पुष्टि भक्तों के हित अखण्ड भूमण्डलाचार्य जगद्गुरु श्री मद्वल्लभाचार्य ने इस भूतल पर प्रगट होकर इस पीयूष समुद्र का मंथन किया और उससे निकले हुए रास-स्त्री-भाव का अपने भक्तों को दान किया । वास्तव में पीयूष के इस समुद्र का मंथन करने की शक्ति केवल आपश्री में ही है । यदि आपश्री श्रीमद्भागवत के मर्म को कृपा करके नहीं समझाते तो जीव को कृष्ण-भक्ति रहस्य तथा नित्य लीला का परिचय प्राप्त होना असंभव था श्रीमद्भागवत का मंथन करके उसमें से कैसे-कैसे रत्न निकाले गये हैं, कैसे-२ रहस्यों को स्पष्ट किया गया है तथा रास-स्त्रीयों के भाव को किस प्रकार प्रगट किया गया है, यह तो श्री मद्भागवत को श्रीमद्वल्लभाचार्यजी द्वारा की गई संस्कृत टीका श्रीसुबोधिनी के अवलोकन से ही स्पष्ट हो सकती है । यदि आपश्री इतना परिश्रम नहीं करते तो श्रीमद्भागवत का वास्तविक अर्थ प्रगट होना असम्भव था ।

इस अलौकिक ग्रन्थ सुबोधिनी का घर-२ में प्राप्त होना दुर्लभ था, इसके अतिरिक्त इसके संस्कृत में होने के कारण जन साधारण को इसका रसास्वादन सुलभ नहीं था । पूज्यपाद श्रीमद्गोस्वामी श्री श्री १०८ श्री व्रजभूषणलालजी महाराज श्री की अध्यक्षता तथा मार्गदर्शन में कार्यरत श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल के द्वारा श्री सुबोधिनीजी के हिन्दी अनुवाद का जो आकर्षक एवं श्लाघनीय कार्य हुआ है, उससे आधुनिक दैवीजीवों का उद्धार हुआ है अन्यथा प्रपंच में फंसे हुवे आधुनिक जीवों को तो श्री सुबोधिनीजी के दर्शन भी दुर्लभ थे ।

श्रीयुत् नंददासजी (रामचन्द्रजी) जब इस कार्य के शुभारम्भ से पूर्व आजीवन सदस्य बनाने हेतु भरतपुर पधारे तब यह आशा नहीं थी कि यह इतना वृहत् कार्य इतनी कुशलता से पूर्ण होगा वास्तव में इस संबंध में श्रीनंददासजी की सेवा सराहनीय है । अनुवादकर्त्ता महानुभावों के पाण्डित्य एवं अथक परिश्रम में श्री मदाचार्य चरण की कृपा के दर्शन होते हैं । ग्रन्थों को जिल्द, साज—सज्जा, कागज मुद्रण, अनुवाद, पाद टिप्पणी, पद, लेख तथा चित्रादि को देखकर प्रतीत होता है कि कार्य कितने सुरुचिपूर्ण ढंग से सम्पन्न करने का प्रयास किया गया है । श्री हरिराय महाप्रभु की आज्ञा से प्रेरित होकर श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल ने घर-घर में श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला के पुष्प पहुँचाकर इस भूतल पर दैवी जीवों के जन्म को वृथा सिद्ध होने से बचाने का प्रयास किया है ।

परम भगवदीया कुमारी श्री विमलाजी भाटिया, एम. एस. सी. (जूलाजी), जोधपुर (राज.)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महा प्रभुजी) ने श्री मद्भागवत को भगवान् का स्वरूप तथा उनके बारह स्कन्धों को उनके बारह अंग माने हैं । तृतीय स्कन्ध से लेकर द्वादश स्कन्ध तक में भगवान् की लीलाओं का निरूपण है, इनमें दशम् स्कन्ध की लीला प्रधान है, जो श्री हरि का हृदय है । दशम स्कन्ध में वर्णित लीलाएँ भगवान् ने व्रज भक्तों का निरोध सिद्ध करने के लिए की हैं जिनके श्रवण करने से आज कल भी भक्तों के संसार प्रपंच की निवृत्ति होकर भगवान् में आसक्ति होती है कुछ महानुभावों का ऐसा कथन भी है कि दशम स्कन्ध भगवान् का वक्ष-स्थल है जिसमें रास-

लीला हृदय एवं गोपिका गीत उनके हृदय की धड़कन है। कुछ भी हो, यह सर्व मान्य तथ्य है कि भगवान् के स्वरूप में पांच रास के अध्याय पञ्च प्राणवत् हैं।

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण व्रज भक्तों (गोपीजनों) को ही गुरु मानने के लिए वैष्णवों को आज्ञा करते हैं। उन व्रज भक्तों में निष्काम सेवा भक्ति भावना प्रबल थी, इसलिए उनकी लीलाओं का हमें मनन पूर्वक अध्ययन एवं अनुकरण करना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वरूपानन्द का दान देने के पूर्व गोपीजन के साथ चीर हरण लीला करके उनकी अलौकिक देह बनाते हैं। जीव और ब्रह्म के तादात्म्य के लिए संसार का अभाव करना ही प्रभु की चीर हरण लीला करने का प्रयोजन है। गोपियों के पुराने संस्कार श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार उनके सम्मुख जाने में बाधक हो रहे थे, यद्यपि उन ही श्रीकृष्ण के लिए वे सब कुछ भूल गयी थीं, परन्तु अपने आपको नहीं भूली थी, निस्संदेह वे श्रीकृष्ण ही को चाहती थी, परन्तु उनके संस्कार बीच में एक परदा रखना चाहते थे। 'प्रेम', प्रिया प्रीतम के बीच में एक अणु का परदा भी सहन करने में असमर्थ है। गोपीजन का भगवान् को चाहना, इसके साथ संसार को भी न छोड़ना और पुराने संस्कारों में ही उलझे रह कर माया के परदे को बनाये रखना, बड़ी द्विविधा की दशा है। इसलिए भगवान् यही सिखाते हैं कि संस्कार-शून्य होकर, निरावरण होकर माया का परदा हटा कर ही मेरे पास आओ, परन्तु यह सब कुछ कर लेना जीव की शक्ति के बाहर है अतः भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही कृपा कर गोपियों के वस्त्रों के रूप में उनके समस्त संस्कारों के आवरण अपने हाथों में ले लेते हैं और भगवान् के सम्मुख जाने से पूर्व ये ही वस्त्र जो समर्पण को पूर्णता में बाधक हो रहे थे, वे ही भगवान् की कृपा, स्नेह, सान्निध्य और वरदान से प्रसाद-रूप हो गए।

वेणुनाद करके भगवान् ने गोपीजन का चित्त अपनी ओर आकृष्ट किया जिससे वे, वेणु का स्मरण करती हुई भगवच्चिन्तन करती हैं, जिससे भगवान् में उनकी आसक्ति होती है, यहां से ही प्रभु अपने रस का दान इन व्रज भक्तों को देना आरम्भ करते हैं। शरद रैन में प्रभु उन्हें रस-दान करने का विचार कर, रास में उन्हें वेणुनाद द्वारा आमंत्रित करते हैं, परन्तु वह नाद केवल उन ही को सुनाइ देता है जिनको वह रस प्राप्त करने का अधिकार है, उनमें से भी प्रभु जिनको रस का दान देना चाहते हैं, वे ही वन में श्री ठाकुरजी के सन्मुख पहुँच पाते है। वहां पहुँचने पर रास प्रारम्भ होता है. तब उन व्रज भक्तों को अपने सौभाग्य का मद होता है परन्तु प्रभु अपने भक्तों का अहंकार कभी भी सहन नहीं कर सकते हैं, इसलिये वे अन्तर्धान हो गए, अपने बीच में प्रभु को न देखकर गोपीजन प्रभु-विरह से व्याकुल हो, वृक्ष, पौधे भूमि, नदी आदि से प्रभु उधर से पधारे हों तो उनके समाचार पूछती हैं किसी का उत्तर न मिलने पर, प्रभु की पूर्व में की हुई लीलाओं का स्मरण करती हैं, जब प्रभु उस स्तुति-रूपा गोपिकागीत को सुनकर भी प्रकट नहीं होते हैं तो प्रभु के दर्शनों की लालसा प्रबल होने से सब साधनों का त्याग कर-'रुरुदः स्वसुरं राजन् कृष्ण-दर्शन लालसा"-सुमधुर स्वर से रोने लगीं जब भी भक्त निस्साधन बन कर, प्रभु के विरह का ताप न सहने पर रोने लगता है, तब प्रभु स्वयं प्रकट हो जाते हैं। जब इन व्रज-भक्तों का अहंकार सम्पूर्णतया नष्ट होकर उन्हें दैन्य की प्राप्ति हुई, प्रभु उनके बीच में ही प्रकट हो गये। अहंकार का नाश, दैन्य प्राप्ति, सब साधन करते हुए भी निस्साधन होकर, प्रभु के आश्रित होना ही गोपिका-गीत का रहस्य है। हृदय-रोग की तो यह गीत एक अचूक

परमोषधि ही है, जिसके चमत्कार पूर्ण प्रत्यक्ष प्रमाण आज के इस वैज्ञानिक भौतिक वाद में भी प्राप्त हो रहे हैं। कुछ वर्षों पूर्व श्री मद्भागवत को इष्ट मानने वाले श्रीमान् जुगलकिशोरजी शास्त्री द्वारिका निवासी पर हृदय-रोग का आक्रमण हुवा अतः उनको ओखा से राजकोट उपचारार्थ लाया गया. हृदय रोग विशेषज्ञ ने मशीन द्वारा जाँच कर बताया कि दिल का भयंकर दौरा है अतः इनको यहां एक मास तक इलाज के लिये रखें, क्योंकि इनका थोड़ा गति-शील होना भी इनकी हृदय गति रुकने से देह-त्याग का कारण बन सकता है। शास्त्रीजी इस विचार से सहमत न होकर अपने भगवत्स्वरूप भागवतजी के तुरन्त दर्शन करने को तीव्राभिलाषा से ओखा लौट आए। भागवतजी के दर्शन कर दण्डवत की उनको भयंकर दिल-दौरे के कारण बिस्तर पर लेटा दिया। लेटे २ गोपीका गीत का ही गायन उनका कार्यक्रम बन गया। कुछ ही दिनों में स्वस्थ हो गये। श्री मद्भागवत सप्ताह पारायण निमित्त बम्बई गये, चौथे दिन पुनः दिल घबराने लगा अतः कोई उपचार न करके गोपिका गीत का गायन प्रारम्भ कर दिया। कुछ आराम आने के बाद, इनको हृदय-रोग विशेषज्ञ से जाँच कराने को ले गये। उसने जांच करके कहा कि इनका हृदय इतना सबल है कि इस रोग का पुनः आक्रमण के चिन्ह न होने से किसी उपचार की आवश्यकता नहीं है। मुझे शास्त्रीजी की इस वास्तविकता पर दृढ़ विश्वास हो गया और यहां जोधपुर में ही तीन परिचित व्यक्तियों को, जो हृदय-रोग से पीड़ित होने से शय्या पर थे, उनको मैंने गोपिका-गीत गाकर और उन्हें निरन्तर इस गीत का पाठ करने को कहा, प्रभु-कृपा से वे सब ही स्वस्थ हो गये, जो हम लोगों के आश्चर्य चकित होने का कारण बन गया है कि गोपिका-गीत गायन हृदय-रोग की परमोषधि प्रमाणित हो रही हैं। परन्तु यह तब ही सम्भव है जब गोपिका-गीत गाने व सुनने वाले को इसके दृढ़ विश्वास के साथ उन्हें भगवदाश्रय सिद्ध हो।

गोपिका-गीत द्वारा ही व्रज भक्तों के हृदय में भगवद्-भक्ति पुष्ट होती है, जिसकी परिपक्व स्थिति, युगल गीत गायन द्वारा जानी जाती है, जिसमें गोपीजन निरन्तर महारास में प्राप्त स्वरूपानन्द का चिन्तन करती रहती हैं। भ्रमर गीत के गायन से स्पष्ट है कि उन ही व्रजसीमन्तनियों के हृदय में वह स्वरूपानन्द स्थिर हो गया है।

इन व्रज भक्तों की इन ललित लीलाओं से हमें यही मार्ग--दर्शन प्राप्त होता है कि अपने प्राण प्रेष्ट प्रभु की निष्काम सेवा करनी चाहिये। प्रभु को प्रसन्न करने का एक मात्र साधन दैन्य भाव को अपनाना ही है सब प्रकार के कार्य करते हुए भी साधन में आसक्ति न रख कर प्रभु की कृपा में दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। भावना से ही भाव फलीभूत होता है। भाव के अनुसार ही प्रभु भक्त को रस दान करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही बुद्धि प्रेरक हैं, उनकी कृपा से ही उनकी भक्ति प्राप्त होती है। श्री मद्भागवत, भगवद्-स्वरूप है और इस कलिकाल में भक्ति का ही महत्व है जैसा कि भागवतजी के महात्म्य में भक्ति और नारदजी के प्रसंग से ज्ञात होता है कि भागवतजी की कथा सुन तरुण भक्ति के ज्ञान और वैराग्य वृद्ध अचेतन पुत्र सचेत हो पुष्ट हो गए। श्री महा प्रभुजी भी श्री मद्भागवत का निरन्तर पाठ करने के लिए आज्ञा करते हैं। आप श्री ने हम लोगों पर कृपा कर श्री भागवतजी का रहस्य पूर्ण अर्थ श्री सुबोधिनीजी द्वारा प्रकट किया है जिसे हमें मनन पूर्वक अध्ययन करना चाहिये।

परम हर्ष है कि हमारे जोधपुर निवासी प. भ. श्री नन्दलालजी मानधना व उनकी पूर्व धर्म-

पत्नी श्रीमती सौभाग्यवतीजी मानधना ने महाप्रभुजी की कृपा से रु. १००००) की उदारता पूर्ण आर्थिक सेवा कर पूज्य-पाद श्रीमद् गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज के वरद् हस्त से श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल की १ नवम्बर १९६१ के शुभ दिन स्थापना करवाई तथा दशम स्कन्ध की सुबोधिनी संस्कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद का १२ खण्डों में प्रकाशन करवा कर जन साधारण की अलोकिक सेवा की। गत १५ वर्षों से अपने निवास स्थान में मण्डल के कार्यालय को निःशुल्क स्थान दे रखा है। श्रीमान् नन्दलालजी के गोलोक गमन के पश्चात उनकी वर्तमान धर्मपत्नी श्रीमती शकुन्तलाजी मानधना को कार्यालय के कमरों का किराया लेने को संस्था ने अनुरोध किया परन्तु उनने सदैन्य उत्तर दिया कि श्रीमान्जी ने जिस सेवा का आरम्भ किया है वह चालू ही रहेगी इसके अतिरिक्त जो कुछ अन्य सेवा अपेक्षित हो उसके लिए मुझे आदेश दिया करें। उनकी यह विचार-धारा महाप्रभुजी की कृपा का ही एक लक्षण है, जो सर्वथा सराहनीय एवं अनुकरणीय है। प्रभु से सविनय प्रार्थना है कि श्री नन्दलालजी की एक मात्र दस वर्षीया कन्या राजकुमारी चिरायु होते हुए सम्प्रदाय की सेवा निमित्त अपने माता पिता की तरह प्रेरित हो। प्रकाशन में अनेक कठिनाईयों का सामना कर मण्डल द्वारा जो नाम सेवा बनी है उसके लिए अध्यक्ष महोदय को तो हम साष्टाङ्ग दण्डवत ही कर सकते हैं। अन्य कार्यकर्त्ताओं को सादर धन्यवादार्पण करते हैं तथा आशा करते हैं कि श्री सुबोधिनीजी के अवशेष भाग का हिन्दी अनुवाद प्रकाशन भी संस्था शीघ्र करवाने में प्रयत्नशील होगी।

अब पुष्टि मार्ग के निष्णात् विद्वान कविरत्न श्रीमान् आर. के. भट्ट एम. ए. एल. बी. के अप्रकाशित-कृष्ण-विलसित रहस्यम्—संस्कृत महाकाव्य से एक श्लोक अगले पृष्ट पर उनके लेख में प्रार्थना रूप से एवं उन ही के अप्रकाशित ग्रन्थ—'अग्नि विस्फुलिंग—हिन्दी महाकाव्य से श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण की कवि द्वारा की गई निम्न प्रार्थना कवि महोदय की भगवन्निष्ठा, महाप्रभुजी के प्रति असीम श्रद्धा एवं काव्य-कला के अनूठे सरस सुमधुरा मृत का पान करने की सविनय निवेदन है।

शत-यज्ञों के घनीभूत हे सजग पुन्य ! तुमको वंदन—
और, 'रसो-वै'-वदनाम्बुज की, मूर्त-सुरभि ! तुमको वंदन ॥
रास-गोप-वधु-भाव-सुपूरित-रस-विग्रह ! तुमको वंदन
सहज-सुभग ! हे भूमि भाग्य ! हे महोदार ! तुमको वंदन ॥
शुद्ध-ब्रह्म का रूप दिखाया, हटा आवरण माया का।
विरुद्ध-धर्मों का प्रश्रय जो, उद्गम आतप, छाया का ॥
अग्नि और उसके स्फुलिंग-सम, ब्रह्म-जीव का नाता है।
जड-चेतन में, स्वयं ब्रह्म ही, अविकृत परिणति पाता है ॥
अपनी असीमता को समेटकर, वह 'आनंद' महासागर।
आज, 'परम-आनद' बन गया 'श्रीवल्लभ'-विग्रह पाकर ॥
त्रिभुवन-वल्लभ-श्रीवल्लभ की, एक विलक्षण गाथा है।
जहां स्वयं 'प्रभु' बनकर भी 'विभु' विरुद्ध 'महाप्रभु' पाता है ॥

विमला भाटिया

पुष्टिमार्ग-निर्गुण भक्तिमार्ग

सुदक्षं संस्तुत्ये मद–मथन–नृत्ये फणिपतेः समादिग्धं स्निग्धं पशुपयुवतीनां कुचमदैः ।।
स्वकीयान् गोवत्साननुचरितुमुत्कण्ठितमहो, प्रभोः पद्मासद्मावतु मुदितपद्माङ्घ्रियुगलम् ।।

'भजनम्'–का अर्थ भक्ति है:—

यह भजनानंद, ब्रह्मानंद से, अथवा शास्त्रीय-भक्ति से उत्पन्न आनंद से, कोटि गुणाधिक है–अनिवर्चनीय है–'यो भजनानंदःस तु ब्रह्मानंदतः शास्त्रीयभक्त्याऽनंदतश्च कोटिगुणाधिकः, अनिर्वचनीयश्च' । यही महानंद है–'अयं महाऽनंदः'–सुबो । यह फल, ज्ञान-मार्ग में भी दुर्लभ है 'एतत्फलं ज्ञानमार्गेऽपि दुर्लभम्–' सुबो. ।

सेवा किंवा भक्तियोग:—

'सेवा' इसी भक्तियोग का अपर पर्याय है । केवल, भगवान् श्रीकृष्ण की ही प्रेमपूर्वक सेवा को ही आचार्यश्री ने भक्ति माना है 'भजनं सेवैव, भक्तियोग इति तस्यैव नाम' सुबो, । सेवा, भक्ति का ही पर्याय है-'भज्धातोः प्रकृत्यर्थः स्पष्ट एव हि सेवनम्' । अतः आचार्यश्री ने सर्वत्र 'भजनम्' का अर्थ 'सेवा' ही किया है-'अस्मिन् मार्गे भजनं सेवैव'-सुबो. । इसीलिए आपश्री का पुष्टि मार्ग, सेवा-मार्ग कहलाता है । भक्ति, शास्त्र से सिद्ध होती है, सेवा, अन्तः प्रेमसे-'भक्तिः शास्त्रीया, आन्तर प्रेमसहिता सेवादि'-सुबो. । भक्ति और सेवा का यह मार्मिक-निर्वचन, आचार्यश्री द्वारा प्रतिपादित भक्तितत्त्व के निगूढ-स्वरूप का स्वतः परिचायक है ।

'निर्गुण' भक्तियोग:—

आचार्यश्री ने स्व-प्रतिपादित-भक्ति-संप्रदाय को 'नैर्गुण्य' कहा है--'अस्मत् प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः-'सुबो. । निर्गुण-भक्तियोग का निरूपण भागवत में इस तरह किया गया है–"मद्-गुण--श्रुतिमात्रेण मयि सर्व गुहाशये--मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भामोऽम्बुधौ । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्-अहैतुक्यप्रतिहता सा भक्तिः पुरुषोत्तमे" ।। जिस तरह गंगा-नदी के जल की गति, विना प्रतिबंध, पर्वतों का भी भेदन करके, निरंतर-समुद्र की ओर ही रहती है--उसी तरह, मेरे गुणों के श्रवण मात्रसे, सर्व--प्राणियों के हृदय में स्थित मेरे में, लोक और वेद के बंधनों से अनवरुद्ध-मन की निरन्तर-गति को ही 'निरंतर' भक्तियोग कहते हैं । पुरुषोत्तम प्रति यह भक्ति, काल तथा कम के प्रतिबंध से अनवरुद्ध एवं विना किसी फलकी आकांक्षा के सहज उत्पन्न होती है । एक बार उत्पन्न होनेपर, इसकी, प्रायः, कभी निवृत्ति नहीं होती । श्रीमद्वल्लभ-अभिमत भक्ति का

विविध सकेताभिप्राय—

सुबो.—श्रीमद्वल्लभाचार्य रचित सुबोधिनी । श्री. वि.—श्रीमद्विट्ठलेच प्रभुचरण । भा.—भागवत
सर्वो-स्तो:—सर्वोत्तम स्तोत्र । श्रीहरि म.—श्री हरिराय महाप्रभु । तत्व दी. नि.—तत्वदीप
निबन्ध ।

अर्थ है केवल पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेम-मय-सेवा। फल की अभिलाषा बिना, सेवा के लिये ही आचरित सेवा' 'अहैतुकी' कहलाती है। स्वतः रस-भाव को प्राप्त सेवाही आत्यंतिकी भक्ति है। यही अर्थात् स्वतः-रसभावत्व को प्राप्त 'स्थिति' ही इस भक्तिका फल' है ! ! ! इसके अतिरिक्त, किसी अन्य फल के अङ्गीकरण कराये जाने की इस में व्यवस्था नहीं है--'सैवाऽत्यन्तिकी या स्वतो रसभावं प्राप्ता-सैव नाऽन्यत् फलमङ्गीकारयति'--सुबो। इस स्थिति को प्राप्त भक्त 'सालोक्य-वैकुंठ में निवास, सार्ष्टि-समान-ऐश्वर्य सामीप्य, सारूप्य-भगवान् की चतुर्भुज स्वरूपता, एकत्व आदि मोक्ष के प्रकार, दिये जाने पर भी, उन्हें स्वीकार नहीं करता-'सालोक्यसार्ष्टिसारूप्यसायुज्यैकत्वमप्युत-दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः' भा.। भागवत के इस श्लोक में 'सेवनम्' शब्द का प्रयोग मननीय है। 'एक-व्रज-रज पर चौमुक्ति वारूं रे'—भगवत्पदाङ्कित-व्रज-भूमि की एक रज-कण के आगे चारों मुक्ति का आनंद-इस 'महा-आनंद' से आप्यायित महानुभाव–भक्त के समक्ष निरा तुच्छ है— तत् प्राप्तौ वृथा मोक्षः'-श्री. वि.। इसकी प्राप्ति में, मोक्ष भी व्यर्थ है। ब्रह्मनंद की अपेक्षा सेवा-सुलभ यह 'महा-आनंद' 'भजन' में अर्थात् सेवा' में स्पष्ट प्रतीतिरूप से वर्तमान है—ब्रह्मानंदात् महानंदो भजने वर्तते स्फुटम्' सुबो.। अत्यंत प्रेमोत्पत्ति में यही स्थिति होती है।

'स्वतंत्र' भक्तिः—

यह भक्ति योग स्वतंत्र कहा गया है। क्योंकि भगवान् की तरह यह भी स्वतंत्रतया अपने प्रमेय-बल से स्वतः 'सिद्ध-फल' है। इस भक्तियोग द्वारा भक्त, त्रिगुणातीत होकर भगवद्भाव, भगवदत्व-को प्राप्त करता है—येन भक्ति-योगेन त्रिगुणमतिव्रज्य मद्भावायोपपद्यते-योग्यो भवति' सुबो,। विहिता-भक्ति, जीव साध्य है, स्वतंत्र-भक्ति. भगवद्-साध्य। विहित में, जीव को भगवान् की प्राप्ति होती है। 'स्वतँत्र' में भगवान्, जीव को प्राप्त करते हैं। विहित में, जीव श्रवणादि साधनों द्वारा भगवत्-सान्निध्य को सिद्ध करता है; स्वतंत्र में, भगवान् अपने अनुग्रह द्वारा, साधन-निरपेक्ष जीवके हृदय में स्वयं प्रादुर्भूत होते हैं। प्रथम में सायुज्य की, द्वितीय में सद्योमुक्ति की प्राप्ति कही गयी है।

पुष्टि-भक्तिः—

यही पुष्टि-भक्ति है-स्नेहात्मक-सेवा है-स्वयं फलरूप है 'सेवा च पुष्टि–मार्गे सस्नेहा कृपाफलं चैतत्'–सुबो.। इस स्नेहात्मक-सेवा की उपलब्धि, मात्र प्रभु के अनुग्रह से ही संभव है। पुष्टिका अर्थ ही 'अनुग्रह' है, 'पोषणं तदनुग्रहः'। इस अनुग्रह मार्ग की संस्थापना महाकरुणामय प्रभु ही करते आये है—'स मार्गो भगवता एव स्थाप्यते'-सुबो.। क्योंकि, भगवान् के अनुग्रह-द्वारा ही भगवान् जाने जा सकते हैं। अत एव, इस मार्ग में, भगवद्-अनुग्रह ही साधन हैं, भगवद्-अनुग्रह ही फल है। जिस मार्ग में साधन ही फल माना गया हो वह एक-मात्र 'पुष्टि-मार्ग' ही है 'साधनं च फलं यत्र' सुबो.। अलौकिक-सामर्थ्य-रूपा यह भक्ति, 'प्रभु-वरण-मात्र साध्य है'। भगवान् स्वेच्छा से जिसका वरण करते हैं उसीको भगवान् मिलते हैं–अर्थात् भगवान् 'स्वेच्छित' का अपने आत्मीय-रूप से अङ्गीकरण करते हैं-अन्य का नहीं-'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'। भगवान् के अनुग्रह से ही जीव में प्रीतिका प्रादुर्भाव होता है-अतः आचार्यश्रीने प्रीति की प्राप्ति को अखंड पुण्यों की फल-रूप कहा है-'परमभाग्येनैव-प्रीतिर्जायते'-सुबो.। यही फलात्मक-भक्ति, पुष्टि-भक्ति है-पुष्टि-मार्ग है-जिसमें भगवान् ही साध्य. भगवान् ही साधन, एवं भगवान् ही फल माने गये हैं-'साध्यत्वेन, साधनत्वेन, फलत्वेन भगवन्त मेव जानन्ति'-सुबो.।

पुष्टि–भक्ति में, भगवान् स्वयं भक्त के हृदय में प्रादुर्भुत होकर-वहां ही स्थिति करते हुये, उसके हृदय को, स्वाचरित लीला कृति से सदा के लिये संयोजित कर देते हैं। जिस महानुभाव के हृदय में भगवान्, इस तरह स्थिर हो जाते हैं वह ‘स्वतंत्र’ भक्त कहलाता है-यही स्वतंत्र-भक्ति भी है। जैसे कहा जा चुका है-यह भक्ति, जीव-साध्य किंवा वेद-विहिता, शास्त्रीय भक्ति से भिन्न-अतएव भगवद्-साध्य-अविहिता-भक्ति-कहलाती है। जीव-साध्य-भक्ति में, भक्त को संयोग रसानुभुति कराने के लिये, भगवान्, उसका संयोजन अपने में करते हैं, एवं, पुनः, कभी उसे अपने में से बाहर प्रकट करके, लीला की अनुभुति कराकर पूर्ववत् अपने में ही स्थित कर देते हैं। यही सायुज्य मुक्ति है। भगवत्-विहिता में, भगवान् का प्रादुर्भाव भक्त के हृदय में होता है-बाहर नहीं। ‘मैं भगवान् से विछुड गया हूँ, अब मुझे प्रभु कब मिलेंगें’? इस प्रकार की भगवद्-दर्शन को परमोत्कट-इच्छा वाले एवं भगवद्-विरह की प्रचंडानल से परितः संतप्त भक्त को बाह्य-प्रपंच-संसार की संपूर्ण विस्मृति हो जाती है। विप्रयोग की इस विलक्षण रसात्मक-स्थिति में, रसात्मा भगवान, भक्त के हृदय में स्वतः प्रादुर्भूत होते हैं, आविर्भूत होकर, भक्त के हृदय में, भगवान् त्रैकालिकी-निरंतर-स्थिति करते हुये, उसे अपनी विविध लीलाओं की रसानुभूति कराते हैं। रसानुभूति की यह अनिर्वचनीय स्थिति ‘सद्यो मुक्ति’ भी कहलाती है। व्रजाङ्गनाओं के हृदय की यही स्थिति रही। इसी रसात्मक-स्थिति का वर्णन आचार्यश्री इस तरह करते हैं—‘नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धि-शायिनम्–लक्ष्मी–सहस्र–लीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्-’ यह ‘स्वतंत्र-’ भक्ति या तो रासक्रीडारत-व्रज-वधुओं को ही सिद्ध हुई-अथवा भगवान् के मुख-कमलके अवतार श्रीमद्वल्लभाचार्य को ही। अन्यत्र, श्रीमद् आचार्य द्वारा शरण-मार्ग-प्रपन्न दैवी जीवों को भी-आचार्यश्री के अनुग्रहसे, सिद्ध होती-रहेगी-‘स्वतंत्रभक्तिरधुना व्रजस्त्रीष्वेव दृश्यते-रासास्थासु, तथाऽ–न्यत्र–स्थापिता स्वमुखाऽम्बुजे। तदाश्रयवतॉं नृणां तत्कृपातो भविष्यति’ श्रीहरि. म.।

स्वतंत्र भक्ति की विशेषता:—

वस्तुतः भक्ति का संबंध, भगवान् के चरण कमल से अथवा उनके मुख-कमल से माना गया है। चरण-कमल की भक्ति-वेदविहिता है और वह नारद, लक्ष्मी आदि को सिद्ध हैं। आचार्यश्रीने भगवान् के मुख-कमल को ‘भक्त्यात्मक’ कहा है। ‘मुखं हि भक्त्यात्मकं भवति-’ सुबो.। भगवान् का मुख-कमल ही ‘स्वतंत्र-भक्ति’ है-‘मुखकमलं हि स्वतंत्र-भक्ति-मार्गत्वेन निरूपयन्-आह’ सुबो.। मुख-कमल की यह भक्ति परम-दुर्लभ है। इसी आशय का निर्देश करते हुये आचार्यश्री कहते हैं कि शुद्ध एवं स्वतंत्रभक्ति, दुर्लभ है-‘भक्तिः स्वतंत्रा शुद्धा च दुलभा-’ तत्त्व. दी. नि.। क्योंकि यहां भगवान् के अधरामृत-रस-पान-रूप, फल-सिद्धि-निष्पन्न होती है—‘कृष्णाधरामृतस्वाद-सिद्धिरत्र न सशयः, सर्व. स्तो.। यह परम काष्ठापन्न-विरह की निगूढ-भावात्मकरसानुभूति है एवं जिसकी प्रतीति, भगवान ने अनुग्रह-पूर्वक व्रज-सीमन्तनीयों को कराई-द्वितीया दुर्लभा यस्मादधरामृतसेवनात्-तद्भावभावनारूपा विरहानुभवात्मिका-गोपसीमन्तिनीनां च सा दत्ताहरिणा स्वतः’ श्रीहरि. महा.।

विष्णु और वासना, अन्योन्य विरुद्ध हैं:—

भक्ति तत्व का यह विलक्षण निर्वचन इतना निगूढ, इतना दार्शनिक, इतना मनोरम एवं मनोवैज्ञानिक है कि उत्तम-विद्वान् भी इसके यथार्थ-स्वरूप को अवगत नहीं कर पाते। क्योंकि

वाल्लभ-दर्शन 'मस्तिष्क' की कसोटीरूप होता हुआ भी-वस्तुतः. 'हृदय' का विषय है। मस्तिष्क का विकास अभ्यास से, मनन से, संभव है—'हृदय' का विकास परम-सौभाग्य' पर ही निर्भर है। एकांत विद्वत्ता के साथ 'हृदय' के इस 'किमपि' तत्व से समन्वित महानुभाव ही वाल्लभ दर्शन को अवश्य समझ सकेंगे-किंतु, क्या समझा सकेंगे ? यह समझने और समझाने का विषय-कदापि नहीं है। आचार्य श्री कहते हैं कि इस रसात्मक तत्व की संपूर्ण अनुभूति गुणातीत व्यक्ति ही कर सकता है—और वहभी उतनी ही, जितनी भगवान् अनुग्रह-पूर्वक करवादें—'गुणातीता एव हि जीवास्तदधिकारिणः'-सुबो.। अन्यथा, इस रस से अनभिज्ञ अल्प मेधावाले-इस अलौकिक स्नेह की, लौकिक पर्यालोचना कर बैठते हैं। भक्ति में, प्रथम तो, वासना की गंध मात्र भी नहीं, फिर, 'स्वतंत्र' भक्ति में तो इसकी कल्पना ही कहां ? लौकिक-स्नेह कामशेष, अतएव विकृत एवं हीन है। 'विषय' और 'विष्णु' सर्वथा विरुद्ध-भाव है 'विषयावेशविष्ण्वावेशयोर्विरोधात्' सुबो.। विषय-वासना-के पंक से संपृक्त व्यक्ति में भगवान् का आवेश एक असंभव-कल्पना है। भक्ति में स्नेह का विषय भगवान् है—अतः यह स्नेह मूलतः अलौकिक एवं सर्व से स-विशेष है—'न हि भक्ति मार्गे संबंध एव कर्तव्य इति शास्त्रम्। भक्ति हि नवधा श्रवणादिरूपा प्रेमरूपा च। स्वतंत्र पक्षे तु सुतरां नापेक्षा। स्नेहस्तु भगवद्विषयक-अलौकिकः—स एव सर्वाधिको भवति लौकिकस्तु कामशेषतां प्राप्तो हीन एव भवति'—सुबो.।

परावृत्त मेधा वाले अतएव अपने दौरात्म्य के आधारसे प्रत्येक पदार्थ को हीन रूप में ही समझाते और समझते हैं। ऐसे व्यक्ति, तथ्य से सर्वशः अपरिचित-समाज में भ्रांति फैलाने के कारण उसकी प्रतारणा करने वाले अतएव अपराधी हैं। कदाच् ऐसे ही, व्यक्तियों को लक्ष्य करके इसी संप्रदाय के विद्वान् आचार्यने अपनी एक पुस्तक के मुख पृष्ठ पर यह विज्ञापना की है कि इस रस से अनभिज्ञ वैष्णव भी मेरे 'इस काव्य पर दृष्टिपात न करें'—'एतद्रसानभिज्ञस्तुमाऽद्राक्षीदपि-वैष्णवः'—श्री. वि.।

इस तरह, नितरां शुष्क वेदांत तत्व में, स्नेहात्मक भक्ति के अननुभूत रस की अवतारणा करके आचार्यश्रीने मानों मरुभूमि में मधुरतोया-मंदाकिनी प्रवाहित करदी। निरी दार्शनिकता से परम रसमयता का यह संयोजन, आचार्य श्री की भारतीय वाङ्मयको अपनी निजी मौलिक भेट है। तदुपरांत, स्त्री, भारतीय समाज का एक उपेक्षणीय अंग है इस प्रकारके तथाकथित आक्षेपके विपरीत आचार्यश्रीके संप्रदाय में वह, स-विशेष समादृत मानीगयी है। आचार्यश्रीके मत में स्त्रियां ही एक मात्र भगवत्कृपाकी पात्र हैं 'स्त्रियो हि भगवत्कृपापात्रमिति-तत्र भगवतो नात्यन्तः प्रयासः कालेनैव ताः भगवदीयाः क्रियन्ते-सुबो.'। 'ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी का एकमात्र आत्मोन्नति का साधन आचार्यश्री का ही मार्ग है, 'ताड़न के अधिकारी' को ही भगवान् अपना अनुग्रह प्रदान करते हैं।

दैवी जीवों के उद्धारार्थ अपने वदन कमल की इस विरहात्मक अदेय भक्ति का दान करने के लिये, भगवान्ने अपने ही मुख-कमल श्रीवल्लभको भूतल पर प्रकट किया 'भावाग्निरूपं जगति कृपयाविश्चकार सः श्रीवल्लभाख्यानाचार्यान् विश्वोद्धारकृते यतः" श्रीहरि, महा.। यह 'स्वतंत्र' भक्ति भगवान् का स्वरूप है एवं त्रिभुवन-तरण की एक मात्र तरणी है—'यस्यासोद्रूपमेव त्रिभुवनतरणे भक्तिवच्च स्वतंत्रम्' सुबो. मं. श्लोक।

रसो. वै सः

अखण्ड भूमण्डलाचार्य चक्र चूड़ामणि जगद् गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण ने सनातन धर्मा-चारियों द्वारा स्वीकृत मुख्य तीन प्रमाण वेद, श्रीमद्भगवद् गीता एवं ब्रह्मसूत्र स्वीकार किया है परन्तु आप श्री ने "श्रीकृष्ण वाक्य" जो भगवद्-गीता में हैं उनही को तथा भागवत् को समाधि भाषा को प्रमाण माना है। इतना ही नहीं, श्रीभद्भागवत् की सुबोधिनी संस्कृत टीका द्वारा श्रीमद्भागवत् को सर्वोच्च प्रमाण सिद्ध किया है जिसके द्वारा उपरोक्त तीन प्रस्थानों में उपस्थित शंकाओं का निवारण किया जा सकता है। भगवान् के ज्ञानावतार श्री व्यासजी ने १७ पुराणों की रचना करके भी जब शान्ति प्राप्त नहीं की, तब नारदजी के आदेशानुसार मूर्धन्य महापुराण श्री भद्भागवत् की रचना की, जो वेदरूपी वृक्ष का परिपक्व रसपूर्ण फल है जिसमें न छिलका है और न गुठली और न कोई अन्य पदार्थ है केवल रस ही रस है परन्तु इतना होने पर भी "रसोवैसः" के वे वेदिक सैद्धान्तिक स्वरूप के ही दर्शन करा सके। प्रथम स्कन्ध की श्री सुबोधिनी टीका में महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि जिस प्रकार व्यासजी को श्रीभद्भागवत् की रचना करने के लिये भगवदाज्ञा हूई उसी प्रकार उसके निगूढ रहस्य को प्रकट करने के लिये मुझे आज्ञा हुई है। मैं वैश्वानर हूँ, वाक्पति हूँ, अतः शब्दों का जो वास्तविक अर्थ है वही मैं करूंगा। तदनुसार महा-प्रभुजी ने श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका द्वारा 'रसोवैसः' आनन्दघन के स्वरूपानन्दानुभव का व्यवहारिक जीवन में विश्व को मार्ग दर्शन दिया और साथ साथ उस भाव को स्थाई रखने का उपाय भी बताया जैसा कि निम्न पंदाश से स्पष्ट है—

"श्री भागवत् अमृतदधि मथके, श्रीवल्लभ सर्वोत्तम।
कर आवरण दूर निजजन के हाथ दिये पुरुषोत्तम॥
सेवा साज श्रृंगार सुभग रस श्री वल्लभ प्रगटायो।
वृन्दावन निकुञ्ज की लीला हरि जीवन स्वाद चखायो॥

लोक में जीव को स्वभाव से दुष्ट देखकर महाप्रभुजी को यह चिन्ता हुई कि इनका उद्धार कैसे होगा. ये लोग तो सम्पूर्णतया संसारासक्त हैं। तब भगवान् श्रीकृष्ण ने साक्षात् प्रकट होकर आप श्री को आज्ञा दी कि इनका आत्म-निवेदन (ब्रह्म सम्बन्ध) करावो तदनुसार आप श्री ने दैवो जीवों का ब्रह्म सम्बन्ध करवा कर उन्हें आज्ञा दी, कि तन मन धन से स्नेह पूर्वक केवल श्रीकृष्ण पर ब्रह्म की निष्काम सेवा करो क्यों कि यह सेवा करना जीव मात्र का कर्त्तव्य है। उस सेवा का प्रकार प्रेम लक्षणा निर्गुण भक्ति द्वारा वेदोक्त पूजा पद्धति से पृथक बताते हुए तदनुसार पर ब्रह्म श्रीकृष्ण (श्रीनाथजी) की आज्ञानुसार सेवा स्वयं ने कर अपने सेवक समाज को अपने २ घर में व्यक्तिगत भगवत्सेवा करने का आदेश दिया। इसके साथ साथ अनेक ग्रन्थों की रचना कर, निर्गुण सेवा की रीति समझाई। अब तक जो समाज जगन्मिथ्या के सिद्धान्त से सन्तप्त, निराश व दुःखो था वह श्री मद्वल्लभाधीश की कृपा से उत्साहित हो गया क्यों कि आप श्री ने ब्रह्मवाद की स्थापना कर जगत् को सत्य और ब्रह्म का आदिभौतिक स्वरूप सिद्ध करते हुए संसार अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' को असत्य एवं अनित्य बताया है।

जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों से मानव के हृदय में संसारासक्ति की ग्रंथियाँ इतनी जटिल होती हैं कि उनके निवारण करने की समस्या दीर्घ काल से प्रतीत होने पर भी हल न हो सकी अतः महाप्रभुजी ने सँसार 'मैं और मेरी' भावना को गद्य मंत्र के द्वारा भगवान् के चरणों में समर्पित करवा कर जीव को उनका 'दास' बना दिया जिससे उसकी लौकिक अलौकिक चिन्ता दूर होकर

भगवत्सेवा करने का ही कार्य उसके लिये रहा। 'सेवा' शब्द का अभिप्राय आप श्री ने निजरचित सिद्धान्त मुक्तावली ग्रन्थ में स्पष्ट किया है कि "चेतत्प्रवणं सेवा"-अर्थात् भगवान् में चित्त को पिरो देना ही सेवा है जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति सुई में धागा एकाग्र चित्त हुए बिना नहीं पिरो सक्ता इसी प्रकार भगवत्सेवा एकतान हो करें। इससे आगे आप उस प्रकार की सेवा सिद्ध होने का उपाय बताते हैं—तत्तसिद्धै तनुवित्तजा—उस सेवा की सिद्धि के लिए शरीर व धन दोनों से एकाग्रचित्त होकर सेवा करनी चाहिये।

इस प्रकार सेवा नित्य नियम पूर्वक करने से भगवद्-भाव हृदय में स्थिर होगा। यदा कदा भगवत्स्वरूपानन्द का किञ्चित् अनुभव प्राप्त करने पर भो जब तक हृदय में लौकिक अथवा अलौकिक चिन्ता रहती है, यह भाव स्थिर नहीं होता। भगवत् महात्म्य ज्ञान होने पर भी जीव-स्वभाव से दुष्ट होने के कारण, उसका प्रभु में विश्वास नहीं होता, जिससे निरन्तर चित्त विक्षिप्त (डावां डोल) रहता है जिसकी निवृत्ति के लिये ही श्री महाप्रभुजी ने अनेक स्व-रचित ग्रन्थों में भगवद्-भाव का निरूपण कर नाम सेवा-श्रवण, स्मरण कीर्तन, कथादि-से मन को लौकिक प्रपञ्चों से हटाकर शान्ति प्राप्त कर तदुपरान्त स्वरूप-सेवा द्वारा अनेक लीलाओं का चिन्तवन करते हुए भगवद्-भाव को हृदय में स्थापित कर उसे विवेक, धैर्य एवं आश्रय से सुरक्षित रखने की आज्ञा दी हैं तथा उस भाव की वृद्धि से भगवत् सेवा तथा कीर्तन, स्मरण कथा में आसक्ति उत्पन्न कर व्यवसानावस्था में पहुँच जाने पर अनित्य संसार भावना "मैं और मेरा"-स्वतः छुट जाती है, उसके लिये अलग प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। भगवद्-भाव को हृदय में धारण करने के सम्बन्ध में किसी कवि ने उचित कहा है कि—

नफा मूल में है नहीं, नफा भाव में होय।
यदि भाव आवे नहीं, तो पूंजी बैठे खोय ॥

किसी वस्तु को खरीद कर रख लेने में नफा नहीं है उसका भाव बढ़ने में लाभ है यदि भाव न बढ़ पाया तो जो रकम उसे खरीदने में लगी है वह नष्ट हो जावेगी। इसी प्रकार शरीर धारण करने में लाभ नहीं है, लाभ हृदय में भगवद्-भाव आने से ही होता है, यदि दुर्भाग्यवश वह भाव न आया तो एक दिन देह छूटने से जीव को मनुष्य-जन्म रूपी पूंजी जो मिली थी वह तो नष्ट हो ही जावेगी।

वेद-विहित भगवद्-भक्ति में सकामता रहने से, चाहे वह मुक्ति प्राप्ति ही के लिये क्यों न हो, रसानन्द का अनुभव नहीं हो सकता है। क्योंकि वहां भक्ति साधन है और मुक्ति फल है। इस भाव के विपरीत आचार्य चरण आज्ञा करते हैं जब साधन एवं फल भगवत्सेवा ही मानली जावेगी तब ही स्वरूपानन्द का अनुभव भगवत्कृपा से होगा, अपने साधन से नहीं। क्योंकि यह जीव जिसके रोम रोम में दुष्ट भावनाएँ भरी हैं वह अपने साधन से प्रभु को प्राप्त कर ही कैसे सकता है? अतः व्रज सीमन्तनियों को गुरु मान कर उनकी निष्काम स्नेहपूर्ण सेवाओं का अनुकरण कर, सब लौकिक वेदिक कार्य करते हुए भी उनमें अनासक्त रह, अपने आपको निस्साधन जान केवल भगवद् कृपा का ही अवलम्बन कर जीवन पर्यन्त सदैन्य भगवत्सेवा से देह पवित्र करता रहे। यह भी विचार न करे कि मुझे प्रभु सानुभाव क्यों नहीं होते अथवा वे कब कृपा करेंगे, क्योंकि ऐसा विचार भी प्रभु में अविश्वास का एक लक्षण है। सेवा सम्पादन ही फल रूप है जो प्रभु की कृपा बिना होना सम्भव नहीं हैं। निरन्तर श्री ठाकुरजी का व्रज भक्तों की लीला सहित स्मरण करने से हृदय आनन्दपूर्ण

रहता है और लीला के अतिरिक्त अन्य सब ही क्षणिक भाव हृदय में प्रकट होकर भी विलीन होते रहते हैं। जिनकी यह विचार भावना दृढ़ हो जाती है उनका चित्त चिन्ता रहित हो भगवल्लीलाओं के चिन्तवन में मग्न रहकर भक्त शिरोमणि सूरदासजी के शब्दों में वे कह उठते हैं—

वेन कहि लोनी, पुन चाहि रहत वदन हँस, स्व-भुजबिच लेले कलोलें ।
धाम के काम व्रज बाम सब भूल रही, कान्ह बलराम के संग डोलें ॥
सूर गिरिधरन मधुचरित मधुपानके, और अमृत कुछ आन लागे ।
और सुख रंक की कौन इच्छा करे, मुक्ति हूँ लोन सी खारी लागे ॥

उपरोक्त पद में श्री बालकृष्ण प्रभु किस प्रकार ब्रज भक्तों के मन का निरोध करते हैं उसका वर्णन है। तीन चार-वर्षीय बालकृष्ण का कोई ब्रज भक्त हाथ पकड़ कर बन्दर की तरह नचाती है कोई कहती है लालन ! मुझे वह सोहनी (बुहारी) पकड़ा दो तो कोई कहती है लालन ! मोर कैसे नाचता है ? भ्रमर कैसे गुञ्जार करता है ? प्रभु वैसी ही क्रिया से इन भक्तों को रिझाते हैं। कभी भारी वस्तु लाने को कहा जाता है तो उसके न उठने पर रो पड़ते हैं। तोते शब्दों में सुहावने वचन बोलकर बज भक्तों को ऐसा मोहित कर लेते हैं कि वे इन्हें हृदय से लगाकर इनके संग रहते हुए घर के काम (लौकिक-वेदिक कर्म) भी भूल जाती हैं। सूरदासजी कहते हैं कि गिरराज-धरन के बाल चरित्र मधुपान की तुलना में अन्य सब रस उनको फीके लगते हैं, ऐसी दशा में बिचारे अन्य सुख की वे क्या इच्छा करें जब मुक्ति भी उनको नमक जैसी खारी लगती है। भक्त वर कुम्भनदास जी का निम्न पद आगे की दशा का वर्णन करता है जिसमें भगवान् भक्त के पीछे २ जाते हैं।

माई मेरे श्याम लग्यो सँग डोले । जित जाऊँ तित आडो ही आवे, बिना बुलायो बोले ॥
कहाँ करों मेरे नैना विलोभी, वश कीने बिन मोले । कुम्भनदास श्री गोवर्धन धर हँस हँस घूंघट खोले ॥

उस आनन्दधन रसिक शिरोमणि की रासलीला जैसे रहस्यपूर्ण अवसर में भी भक्तवर नन्ददासजी निपट निकट रहकर उस आनन्दानुभव का वर्णन करते हैं—

श्री राधे, राधे, मुरली में यही रट । नन्ददास गावे तहाँ, निपट निकट ।।

भक्तवर परमानन्ददासजी उस अगणितानन्द का वितरण कैसे हुवा उसका वर्णन निम्न पद से करते हैं—

आनन्द सिन्धु बढ्यो हरि तन में ।
राधा मुख पूरण शशि निरखत, उमग चल्यो ब्रज वृन्दावन में ।।
इत रोक्यो यमुना, उत गोपिन, कछु इक फैल पर्यो-त्रिभुवन में ।
ना परस्यो कर्मठ अरु ज्ञानी, अटक रह्यो रसिकन के मन में ।।
मन्द मन्द अवगाहत बुद्धिबल, भक्त हेत लीला छिन छिन में ।
कछुइक लह्यो नन्दसूनु कृपाते, सो देखियत परमानन्द जनमें ।।

इस प्रकार उस आनन्दार्णव रसेश के स्वरूपानन्द का अनुभव अनेक भक्तों को हुवा जिसके साक्षी ८४ वैष्णव एवं २५२ वैष्णव हैं। श्री कृष्णानन श्री मद्वल्लभाचार्य चरण-महाप्रभुजी-तथा श्री मद्विट्ठलेश प्रभु चरण-श्री गुसाँईजी-अपने भक्तों को केवल अपनी अवतार दशा में ही नहीं आज भी जीवन में उस "रसोवैसः" अगणितानन्द के स्वरूपानन्दानुभव कराने की कृपा करते हैं।

तदीयजन कृपा कांक्षी
नन्ददास (रामचन्द्र)

॥ श्री हरि ॥

भागवतार्थ प्रकरण—दशम स्कन्ध गुण-प्रकरण

अध्याय ८५ से ९० तक

कारिका—हरिणा केवलेनैव धर्मेणैवाखिलं कृतम् ।
इति संशयनाशाय गुणानां प्रक्रियोच्यते ॥४१८॥
निर्धर्मको वा भिन्नो वा निरोधं कुरुते यदि ।
तदा व्यर्थं समस्तं स्यादिति षड्गुणवर्णनम् ॥४१९॥
येनैतावत्कृतं सर्वं स कृष्णो भगवान् परः ।
इति दर्शयितुं षड्भिरध्यायैः षड्गुणान् जगौ ॥४२०॥

कारिकार्थ—यह सर्व निरोध केवल हरि ने किया है, अथवा गुण मात्र से हुआ है? इस संशय के नाशार्थ गुण प्रकरण कहा जाता है ॥ ४१८ ॥

यदि निर्धर्मक ने अथवा उससे भिन्न किसी दूसरे ने निरोध किया है, तो सर्व निरोध लीला व्यर्थ होगी, इसलिए षड् (६) गुणों का वर्णन किया है ॥ ४१९ ॥

जिसने इतना किया है वह ही श्रीकृष्ण भगवान् 'पर' (उत्तम, है यों दिखाने के लिए छः अध्यायों से छः गुणों का वर्णन किया है ।।४२०।

व्याख्या—सात्विक प्रकरण को सम्पूर्ण कर ५१ कारिकाओं से गुण प्रकरण का विचार करते हुए पहले तीन कारिकाओं से इस गुण प्रकरण के कहने का प्रयोजन बताते हैं—धर्मरहित केवल हरि ने यह निरोध किया तो उसमें कौनसा दोष है ? जो ऐसी शङ्का करे तो गुण प्रकरण कहके उसका निवारण किया जाता है। इस पर 'निर्धर्म को……——…वर्णनं' कारिका कही है, जिसमें कहा है, कि यदि निर्धर्मक ने किया है, तो उसका तात्पर्य होगा माया द्वारा हुआ है, यदि माया द्वारा हुआ तो सर्वमायिक होने से उनकी व्यर्थता सिद्ध होगी। यदि भिन्न किसी रूप ने किया है तो भी मुख्य फल की प्राप्ति का अभाव होगा जिसमें सर्व लीला व्यर्थ होगी, इसलिए इन दोनों के निरासार्थ षड़गुणों का वर्णन किया है, यदि यों है तो सधर्मक ने किया, यह किस प्रकार कहा जाता है। ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं कि आरम्भ में अर्थात् जब प्रकरण विभाग किया तब अन्तर्यामी अधिदैवादि इत्यादि से जो कहा उसको स्मरण कराते हुए उस प्रकार को 'येनैतावत् …… जगौ' कारिका से स्पष्ट करते हैं। जिसने इस निरोध लीला को किया है वे श्रीकृष्ण ही सबसे पर (उत्कृष्ट भगवान् हैं। जिससे सब उनके अधीन हैं यों दिखाने के लिये छः अध्यायों से छः गुण वर्णन किये हैं, अतः यह ही सिद्धान्त है, कि जिसमें छः ही ऐश्वर्यादि गुण हैं उस सधर्मा श्रीकृष्ण

ने ही निरोध किया है, इसलिये इस प्रकरण में गुणों का वर्णन श्री शुकदेवजी ने किया है, यों तीन कारिकाओं से प्रयोजन कहकर प्रकरण की आवश्यकता बताई है। ४१८-१९-२०॥

कारिका – **ऐश्वर्येण समग्रेण प्रथमं ज्ञानदो हरिः ।**
पश्चात्पुत्रप्रदश्चापि बाह्याभ्यान्तरभेदतः ।।४२१।।
ज्ञानेनान्तर आनन्दः पुत्रादिभ्यस्तथा बहिः ।
पितृमातृबिभेदेन वैदिकं लौकिक तथा ।।४२२।।
ऐश्वर्यभक्तिसिद्ध्यर्थं प्रकटीकृतवान् हरिः ।
गुरुत्वं देवत्वातं वा न स्वीकृत्य सुतत्वतः ।।४२३।।
तदुक्तमेव निखिलं सर्वं ब्रह्मेति बोधितम् ।

कारिकार्थ—सकल ऐश्वर्य से भगवान् ने भीतर तथा बाहर के भेद से पहले ज्ञान का उपदेश दिया, पश्चात् पुत्र लाकर दिए । ४२१॥

ज्ञान से भितरी आनन्द प्राप्त होता है । पुत्रादि प्राप्ति से बाहर का आनन्द मिलता है । ऐश्वर्य से ही भक्ति की सिद्धि करने के लिए, माता तथा पिता को पृथक्-२ प्रकार से अर्थात् वैदिक एवं लौकिक प्रकार से आनन्द दिया ।

भगवान् ने इस समय अपने में पुत्रत्व स्वीकार किया है इसलिए गुरुत्व वा देवतात्व स्वीकार न कर वसुदेव ने स्तुति के समय कुछ कहा, वह मानकर सर्व ब्रह्म है यों समझाया ।।४२३½।।

व्याख्या—ऊपर की कारिकाओं से प्रयोजन द्वारा प्रकरण की आवश्यकता बताई, अब प्रथम ८२ वें अध्याय का अर्थ ऐश्वर्य है उसका विवेचन 'ऐश्वर्येण' आदि १२½ कारिकाओं से करके बताते हैं। जिसमें पहले वसुदेवजी ने जो स्तुति की है उसके अनन्तर आपने बसुदेवजी को उपदेश दिया उसके बाद देवकीजी ने पुत्र लाने के लिए प्रार्थना की, जिसको स्वीकार कर, पुत्र लाकर देना अन्त में उस प्रसङ्ग में जो बात आई वह कही है, इससे भगवान् के ऐश्वर्य का ज्ञान कैसे होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि, कार्य से (लीला से) उत्पन्न फल द्वारा ऐश्वर्य का ज्ञान होगा (हुआ है) जैसे कि कार्य से—वसुदेव को वैदिक कार्य तथा उपदेश से – भीतर का आनन्द प्राप्त हुआ एवं देवकी को लौकिक कार्य (पुत्र लाकर देने के कार्य) से बाहर का आनन्द मिला, इससे ऐश्वर्य प्रकट होता हैं। इस लीला से अपना गुरुत्व, देवतात्व स्पष्ट कर दिखाया है, जिसमें ऐश्वर्य है; वह ईश्वर है— ऐश्वर्य उसको कहा जाता है जिसमें करने की, न करने की तथा अन्यथा करने की शक्ति हो वह शक्ति जिसमें है वह ईश्वर हरि ही है। उसका विशेष स्पष्टीकरण यह है कि बिना साधन के भी फल दे सके, फल प्राप्ति के योग्य साधन सामग्री होते हुए भी उसको फल में रुकावट कर दे, अथवा जो साधन फल प्राप्ति के विरुद्ध है, जैसे काम आदि उनसे भी फल प्राप्ति करा दे, ऐसा ऐश्वर्य यहां इस अध्याय में प्रकट किया है ।

इस प्रसङ्ग वा प्रकरण में श्री वसुदेवजी ने 'यत्रयेन' इत्यादि से भगवान् (श्रीकृष्ण) का सर्वशक्तिपन, सर्वरूपपन, सर्वकारणपन, सर्वनियामकपन आदि कहे हैं जिनको भगवान ने

स्वीकार किया है, साथ में अपने में सुतपन भी स्थापन कर सबका वैसापन है, यों नानापन होते हुए भी एकपन से जताया है और जैसे एक साधन बिना नाना नहीं बन सकता है, अथवा नानापन की सामग्री की सत्ता में भी उस रूप के विद्यमान होते हुए भी एक सर्व नहीं होता है, और इसी तरह विरुद्ध साधन होने पर सब अविरुद्ध नहीं होता है, इत्यादि साक्षात्कार कराया वह भी फल रूप है जिससे श्री वसुदेव की नानात्व बुद्धि नष्ट हो गई, अर्थात् यह सर्व ब्रह्म है यों समझ में आ गया, इससे समग्र ऐश्वर्य ही ज्ञान रूप कार्य से समझना चाहिये, यों अर्थ (तात्पर्य) है, इसको 'क्वचित' इत्यादि ४½ कारिकाओं से विशद् (स्पष्ट) करते हैं ।।४२३½।।

कारिका—**क्वचित्तु ब्रह्मभावो हि खण्डज्ञानमिहोच्यते ।।४२४।।**
लोकेऽधुना तदेवास्ते जीवेश्वरविभेदतः ।
मायाविनस्तु मन्यन्ते जीवमात्मानमीदृशम् ।।४२५।।
वसुदेवोक्तमखिलं वैष्णवाः पुरुषोत्तमम् ।
वस्तुतो यादृशं सर्वं तत्कृष्णेन निरूप्यते ।।४२६।।

कारिकार्थ—यहां इस कारिका में कहाँ कहाँ खण्डज्ञान को ब्रह्मभाव (ब्रह्मवाद) कहा जाता है अतः लोक में अब जीव और ईश्वर के भेद से वे मत ही चल रहे हैं ।

मायावादी तो जीवात्मा को ब्रह्म मानते हैं, वैष्णव तो वसुदेवजी ने जैसे कहा है वैसे सर्व-पुरुषोत्तम है यों मानते हैं ।।४२४-२५-२६।।

व्याख्या—जैमिनी के उपासना सूत्रों में अथवा वोधायत वृत्ति में खण्डज्ञान को ही ब्रह्मवाद माना गया है, वे सूत्र तथा वृत्ति अब प्रसिद्ध नहीं है उस प्रकार के मतों की सत्ता है अतः तदनुसारि-मतो की प्रसिद्धि को प्रमाण में लाते हैं, जैसे कि रामानुज एवं मध्वाचार्य आदि जीव तथा ईश्वर में भेद मानते हैं। रामानुज कहते हैं कि जीव तथा जड़ अर्थात् चित् (जीव) एवं अचित् (जड़) दोनों ईश्वर के शरीर हैं उनकी आत्मा ईश्वर है, मध्वाचार्य तो इससे भी विशेष भेद मानते हैं, उनका कथन है कि, जीव तथा ईश्वर दोनों पृथक तत्व हैं ।

मायावादी (श्री शंकराचार्य) कहते हैं कि, जीव ब्रह्म ही है, वैष्णव शास्त्र पञ्चरात्र मत वही है जो सिद्धान्त इस अध्याय में वसुदेवजी ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है, अर्थात् यह सर्व-पुरुषोत्तम ही है, वास्तवरूप सर्वं (ब्रह्म) है, श्रीकृष्ण ने भी यों निरूपण किया है ।।४२४-२५-४२६।।

कारिका—**अतिदेशप्रकारेण स्थापितं चाऽपि वैष्णवम् ।**
दृष्टान्तार्थं यतः साधुर्जीवोऽप्येतेन सिद्धयति ।।४२७।।

कारिकार्थ—दृष्टान्त के लिए वैष्णवमत का अन्य मतों से भी समन्वय हो, इसी तरह इस मत (वैष्णवमत) की स्थापना की है, अतः जीव भी साधु (शुद्ध) सिद्ध होता है ।४२७।।

व्याख्या—इससे यों जाना जाता है कि 'उभयव्यपदेश न्याय' से भेदाभेद कहा गया है, इस प्रकार वस्तुस्थिति होने से ब्रह्मस्वरूप निरूपण किया जाता है। विशेष में अतिदेश से ही अर्थात्

दूसरों से भी समन्वित होने के कारण प्रकृति तथा विकृति भाव के भी सत्वन से वैष्णवमत का आधिदैविक रूप भी स्थापित हुआ है। उसका प्रयोजन दृष्टान्त की सिद्धि है, जिस कारण से, इस दृष्टान्त से जीव भी साधु सिद्ध होता है। अर्थात् ईश्वरात्मक (ईश्वर का रूपान्तर) सिद्ध हो जाता है। इससे सर्ववादों को जिसमें अवसर नहीं होते हुए भी अनेक वादों के अनुरोध वाला ब्रह्म अखण्ड ही है, यों भगवन्मत (वैष्णवमत) का स्वरूप है, यों अर्थ (तात्पर्य) है।

कारिका— **एतेन सर्ववेदानामर्थो ज्ञानाधिकारतः ।**
प्रच्युतानामीश्वरत्वबलादेव निरूपितः ॥४२८॥
गुरुपुत्र इवाऽत्रापि कालग्रस्ता विमोचिताः ।
षडेते षड्गुणत्वाय देवकीसुतदेहिनः ॥४२६॥
समानत्वनिवृत्त्यर्थं स्नेहस्तस्यास्तु वर्ण्यते ।
नन्दादिवदिदानीं हि देवक्यपि पुरा स्थिता ॥४३०॥
अतः स्नेहदशायां हि स्तन्यं नित्यं हरिः पपौ ।
पीतशेषमतः प्रोक्तं वैष्णवत्वाय मुक्तये ॥४३१॥
प्राकृतत्वदशायां वा सद्यः पीतं विनिर्गमे ।

कारिकार्थ—इससे जो ज्ञान प्राप्ति के अधिकार से गिरे हुए हैं उनको भी भगवान् ने अपने ईश्वरत्व बल से ही सकल वेदों के अर्थ का ज्ञान कराया ॥४२८॥

जैसे गुरुपुत्र को ले आये थे वैसे ही यहाँ भी जिनको काल ने ग्रस लिया था, उनको काल से भी छुड़ाके लाये। ये देवकी के छः पुत्र षड्गुण रूप थे वे समान नहीं रहे इसलिए उसका (देवकी का) स्नेह वर्णन किया है ॥४२६½॥

देवकी भी इस समय नन्द आदि की तरह निरोधावस्था वाली थी, इस कारण से भगवान् ने स्नेह दशा से ही स्तन्य (दूध) का नित्य पान किया है।

देवकी का दूध भगवान् के पान करने पर भी शेष रह जाता, क्योंकि, उस प्रसादी से वैष्णवत्व की सिद्धि तथा मुक्ति प्राप्त होती।

मथुरा से गोकुल पधारते समय जब भगवान् प्राकृतत्व दशा में थे अर्थात् प्राकृत बालरूप धारण किया था उस समय प्रभु ने शीघ्र ही दूध पान कर लिया ॥४३१½॥

व्याख्या—'एतेन' इत्यादि कारिकाओं से ऐश्वर्य सिद्धि कहते हैं, ज्ञान के अधिकारी वसुदेवजी नहीं थे, तो भी अपने ऐश्वर्य बल से, वसुदेवजी को सकल वेदों के अर्थ का ज्ञान कराया जैसे कहा है कि "तथैव तत्वविज्ञानमस्तुतेमदनुग्रहात्" इस प्रकार से अर्थ (ज्ञान) समझाया इससे प्रभु ने अपने में समग्र ऐश्वर्य सिद्ध कर दिखाया है न केवल वाणी से, किन्तु क्रिया से, ऐश्वर्य सिद्ध किया करते हैं जैसे—गुरुपुत्र की तरह कालग्रस्त देवकी के छः पुत्रों को अपने ऐश्वर्य बल द्वारा काल से ले आये, सब बालकों के आयु की तुल्यता निवृत्त कर दी, अपने स्पर्श मात्र से तथा अपना दर्शन कराके बिना

जन्मान्तर के उनकी ग्रासुर योनि छुड़ा दी, एवं जिससे माता को स्नेह उत्पन्न हो, पहले जैसा रूप सम्पादन कर ले ग्राये, इस लोला से ग्रपना सम्पूर्ण ऐश्वर्य जताया. इन निन्द्य कर्मकर्ताग्रों को योग माया ने गुण रूप होने के लिए ही देवकी के गर्भ में स्थापित किया। ग्रब प्रासङ्गिक का विचार करते हैं, भगवान् एकादश वर्ष की ग्रायु हो जाने पर व्रज से मथुरा ग्राये इतनी बड़ी ग्रायु में तथा प्राकृत बालक ग्रवस्था में भयदशा होने से स्तन-पान ग्रसम्भवसा दीखता है, तो फिर पीत शेषत्व का होना कैसे बनेगा? इस शङ्का परिहारार्थ कहते हैं कि 'नन्दादिवत्' कुरुक्षेत्र में दर्शन होने से जो दशा हुई, जिससे नन्दादि पूर्ण निरुद्ध हुए थे, वैसे ही देवकी भी उस समय ग्रर्थात् पहले निरोधपूर्ण थी जिससे जब भी ग्रर्थात् विरहावस्था में भो स्मरण करती तब स्नेहाधीन प्रभु स्तन्य पान करते थे, इसी तरह सदैव प्रत्येक ग्रायु में स्तन्यपान में रुकावट नहीं होती थो ॥४३१½॥

कारिका—उच्छिष्टभोजिनो मायां तरन्त्येव न संशयः ॥४३२॥
एवमैश्वर्यचरितमेकेन विनिरूपितम् ।

कारिकार्थ—भगवान् के पान से जो उच्छिष्ट स्तन्य (दूध) बचा था उसके पान से देवकी के छः बालक माया को पार कर गये ग्रर्थात् उनकी पूर्व योनि से मुक्ति हो गई, इसी तरह भगवान् के ऐश्वर्य का चरित्र एक ग्रध्याय से निरूपण किया ॥४३२॥

व्याख्या—जन्म समय माता के कहने से ग्रपना चतुर्भुज रूप ग्रतंहित कर प्राकृत बाल रूप धारण कर शीघ्र ही माता के स्तन्य का पान कर लिया, पान से शेष यह भगवदुच्छिष्ट हुग्रा, ग्रतः काल से लाये हुए देवकी के छः पुत्रों ने पान कर ग्रपनी ग्रासुर-योनि को त्यागा एवं मुक्त हुए, इसी तरह भगवान् ने लीला द्वारा ग्रपना ऐश्वर्य इस ग्रध्याय में प्रदर्शित किया है, ग्रतः यह ऐश्वर्य गुणाध्याय है ॥४३२½॥

कारिका—ततो वीर्यकथां प्राह तथैवैकेन सा त्रिधा॥४३३½॥
एतेषां सङ्गतिः षण्णां न परस्परमुच्यते ।
गुणत्वाय कथापक्षः पूर्वमेव निवारितः ॥४३४॥

कारिकार्थ—इसके (ऐश्वर्य के ग्रनन्तर उसी तरह वीर्य की कथा तोन प्रकार से वर्णन की है, इन छः गुणों की परस्पर संगति नहीं कही है, गुणों की सङ्ग त्यर्थ कथा है यह पक्ष पहले ही निवारण कर दिया है ॥४३४॥

व्याख्या—दूसरे वीर्याध्याय की १६ कारिकाग्रों को विचारते हैं, जैसे ग्रागे के (पहले के) ग्रध्याय में ऐश्वर्य दो कथाग्रों से दो प्रकार का कहा, वैसे इस दूसरे ग्रध्याय में वीर्य का वर्णन भी दो प्रकार से कहा हैं तथा ऐश्वर्य की तरह यह वोर्य कथा भी तीन तरह की है, इस कथा में गुणों की परस्पर संगति नहीं कही है, कारण कि, छः गुणों की कथा पृथक-पृथक कही है, जिससे संगति नहीं है। यहाँ राजा के प्रश्न करने पर सुभद्रा का विवाह कहा जाता है इसलिए कथा मात्र कहना ही उचित है न कि वीर्यबोधकपन भी? इस शङ्का के होने पर कहा है कि प्रथम स्कन्ध का विचार करते हुए कथा पक्ष का पहले ही निवारण कर दिया है। ग्रतः वीर्यबोधकत्व कहने से कोई हानि नहीं है,

सारांश यह है कि गुण प्रकरण में गुणों की संगति कहने की इच्छा न होने से केवल गुणों की कथा कही है ॥४३४॥

कारिका— **बुद्धिवीर्यं क्रियावीर्यं क्रिया च द्विविधा मता ।**
सिद्धमात्मानमेकं हि द्विरूपं कुरुते यतः ॥४३५॥
अतर्क्यभावमापन्नस्तथाऽन्येषां च तान्प्रति ।

कारिकार्थ—१ बुद्धि का वीर्य (पराक्रम) २ क्रिया का वीर्य, (पराक्रम), फिर वह क्रिया दो प्रकार की मानी गई है, कारण कि, जो भगवान् अपनी स्थिति को तर्क द्वारा नहीं जनाता है. ऐसा वह भगवान् अपनी एक ही सिद्ध बनी हुई आत्मा को दो रूप वाला बनाता है, वैसे अन्यों को भी उनके प्रति वैसा करते हैं।

व्याख्या—तीन प्रकार कैसे हैं ? यह बुद्धिवीर्य— ……—कारिका से स्पष्ट करते हैं, इस अध्याय में १ बुद्धि वीर्य २ क्रिया वीर्य से भगवान् के दो वीर्य (पराक्रम) दिखाये हैं इनमें क्रिया का वीर्य दो प्रकार का हैं यों करने से तीन तरह का, यद्यपि भगवान् का स्वरूप एक है, तो भी अपना वीर्य प्रदर्शित करने के लिए अपने दो रूप दिखाते हैं, न मात्र इतना किन्तु मुनियों के रूप भी मिथिलावासियों ने दो-दो देखे,इस प्रकार लीला कर वीर्यगुण प्रकट किया है ॥४३५½॥

कारिका—**माया विवाहे भगवान् बुद्धिवीर्यं चकार ह ॥४३६॥**
माया तु त्रिविधा प्रोक्ता शक्तिर्वै वासुदेवगा ।

कारिकार्थ—स्फुट है कि भगवान् ने माया के विवाह में बुद्धिवीर्य दिखाया है, वासुदेव में स्थित शक्ति (माया) तो तीन तरह की कही गई है ।४३६॥

व्याख्या—वासुदेव में स्थित इस माया ने विवाह में अपने तीन रूप प्रकट किये हैं जिनका ज्ञान निम्न कारिका से बताते हैं—

कारिका - **अधिभूता समस्तानां मोहिकैव स्थिता भुवि ।.४३७॥**
मायावति तु कामस्य द्वितीया विनिरूपिता ।
दैविकी त्वियमाख्याता पतिस्तस्याः स्वयं हरिः ॥४३८॥

कारिकार्थ—पृथ्वी पर सबको मोह उत्पन्न करती है वह मोहिका माया आधिभौतिक माया है, दूसरी माया काम की पत्नी मायावती है। तीसरी माया सुभद्रा है जो आधिदैविकी माया है उसका पति हरि ही है ॥४३८॥

व्याख्या—आधिदैविकी माया का स्वामी भगवान् के सिवाय अन्य नहीं हो सकता है, सुभद्रा ही आधिदैविकी माया है अतः इसका स्वामी भगवान् हुआ है ॥४३८॥

कारिका—**ईश्वरत्वात्तु दासी सा कन्यैव भवितुं क्षमा ।**
सा पुनर्देवकीमोहात्तस्यां जाता निजेच्छया ॥४३९॥

कारिकार्थ – उसके   सुभद्रा के) नाथ भगवान् में ईश्वरत्व था अतः वह उनकी दासी होने के कारण कन्या रहने के योग्य थो, तो भी भगवदिच्छा से देवकी के मोह से उसमें से उत्पन्न हुई ।।४३९।।

व्याख्या – जब सुभद्रा आधिदैविकी माया थी तो उसका जन्म कैसे हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् को ऐसी इच्छा थो, कि जिससे देवकी को मोह उत्पन्न हुआ कि मुझे कन्या चाहिये । इस मोह के कारण आधिदैविकी माया कन्या रूप से देवकी में से प्रकट हुई ।।४३९।।

कारिका—**तस्या भोक्ता न वै जीवो भगवान् पुरुषोत्तमः ।**
सम्बन्धान्नेव भोक्ता स्याल्लोकदोषान्न कन्यका ।।४४०।।
सर्वदा स्थातुमुचिता वेदस्तस्या न युज्यते ।

कारिकार्थ—उसका भोग करने वाला जीव नहीं हो सकता है । भगवान् पुरुषोत्तम हो सकता है किन्तु सम्बन्ध होने से भगवान् भी भोक्ता नहीं बन सकता था, यदि जीव एवं भगवान् दोनों उसके भोक्ता नहीं हो सकते, वह कुमारी रहे, तो लोकनिन्दा (दोष) हो, अतः सर्वदा कन्या (कुमारो) होके रहे वह भी अनुचित था, वेद भी इसके विपरीत है ।।४४०½।।

व्याख्या—आधिदैविकी माया का स्वामी पुरुषोत्तम होने से जीव से भोग्या यह हो नहीं सकती, तथा देवकी से उत्पन्न होने के नाते भगवान् की बहिन हुई, जिससे इस अवस्था में भगवान् भी इसके भोक्ता बने, यह अनुचित है, यदि सर्वदा अपरिणीता रहे तो लोक में निन्दा हो, इस कारण से सर्वदा कुमारी भी नहीं रह सकती, वेद भी इसके विपरीत है, जिससे श्रुतिगीता में भगवान् को प्रार्थना की गई है इस माया को नष्ट करो ।।४४०½।।

कारिका—**अतो विवाहः कठिनो लोकोऽप्यत्र न दुष्यति ।।४४१।।**
अत आवेशिनं कृष्णं नरं प्रव्राजिनं तथा ।
वेषात्पाषण्डिनं कृत्वा चौर्येणैतां ददौ हरिः ।।४४२।।

कारिकार्थ—ऊपर कहे हुए कारणों से सुभद्रा का विबाह होना कठिन हो गया, यदि विवाह न होवे तो लोक दूषण लगाये, यों भी नहीं होना चाहिए इसलिए भगवान् ने, श्रीकृष्ण का आवेश जिसमें है, ऐसे भ्रमण करने वाले पाषण्ड वेषधारी सन्यासी अर्जुन को छुपी रीति से चोरो की तरह सुभद्रा दी ।।४४२।।

व्याख्या—लोकदूषण से बचाने के लिए भगवान् ने अपने आवेश वाले अर्जुन को सुभद्रा दी, अर्जुन ने सन्यासीपन का वेष छल से धारण किया था, जिसको भगवान् तो जानते थे, अतः किसी को भी पता न लगे इसी तरह उसको सुभद्रा हरण करने दिया ।।४४२।।

कारिका—**बलस्तु मूलवार्तां हि गृहे गुप्तांशसंयुतः ।**
न जानाति ततः क्रुद्धः कृष्णेन च निवारितः ।।४४३।।

कारिकार्थ—बलराम कृष्ण से मिले नही थे इसलिए सुभद्रा आधिदैविकी माया है, जिसको उसने (बलराम ने) पहचाना नहीं, आधिदैविकी माया होने से ही श्रीकृष्ण ने उसको घर में छिपा

कर रखा था, अर्जुन ने सन्यासी वेष से हरण किया यह देख बलराम को क्रोध हुआ. जिससे अर्जुन को मारने के लिए तैयार हुए जिसको भगवान ने समझा के यों करने से अर्थात् अर्जुन को मारने से रोका ।½

कारिका—एतद्बुद्धिबलं प्रोक्तं येन लोकेऽपि सम्मतिः ।

कारिकार्थ—यह श्रीकृष्ण का बुद्धिबल कहा अर्थात् यों करने से श्रीकृष्ण ने अपना बुद्धिबल प्रदर्शित किया है, जिससे लोक में भी यह विवाह पसन्द हुआ ।

व्याख्या—सुभद्रा का विवाह इस प्रकार निर्विघ्न कराके भगवान् ने अपना बुद्धिबल प्रकट किया अतः लोगों ने भी इस विवाह को उचित माना ॥४४३½।

कारिका—जनकः श्रुतदेवश्च भगवद्वीर्यबोधकौ ॥४४४॥
प्रार्थनां चक्रतुरतो द्विरूपोऽभूत्तदिच्छया ।

कारिकार्थ—भगवान् के वीर्यबल को प्रकट कराके दिखाने वाले वा भगवद्वीर्य को जताने वाले जनक और श्रुतदेव थे जिन्होंने अपने घर पधारने की प्रार्थना की इसलिए उनकी प्रार्थना स्वीकार कर भगवान् ने अपनो इच्छानुकूल दो रूप धारण किये ॥४४४½॥

व्याख्या—जनक और श्रुतदेव दोनों ने भगवान् को अपने घर पधारने के लिए प्रार्थना की, जिसको स्वीकार कर एक ही समय में दोनों के यहां पधारे थे इसलिए अपने दो स्वरूप ऐसे प्रकट किये जैसे उनको उसका ज्ञान न होवे ॥४४४½॥

कारिका—मुनीनां च द्विरूपत्वं तेषां स्मृत्या च सम्मतम् ॥४४५॥
न ते च द्विविधा जाता नाऽपि कृष्णस्तथाऽभवत् ।

कारिकार्थ—मुनियों के दो रूपपन उनकी स्मृति से सम्मत है, वे दो रूप वाले नहीं हुए थे और श्रीकृष्ण भी वैसे नहीं हुए थे ॥४४५½॥

कारिका—किन्तु कृष्णेच्छया जातास्तेषां चाऽप्यत्र विस्मयः ॥४४६॥
अतः क्रियाबलं प्रोक्तं यथा स्वप्ने तथाऽभवत् ।

कारिकार्थ—किन्तु कृष्ण की इच्छा से हुए थे। उनको भी इस विषय में आश्चर्य हो रहा था, इसलिए यह क्रियाबल कहा है जैसे स्वप्न में होता है वैसे यहां भी हुआ ॥४४५॥

व्याख्या—'स्मृति से सम्मत' गौतम और वृद्ध गौतम इत्यादि नामों से प्रसिद्ध यों भासता है, स्वप्न की तरह हुआ, यों कहा है किन्तु इसका भावार्थ यह है कि यह लीला सत्य होते भी स्वप्न जैसी कही है, यह भगवान् की क्रिया वीर्य बोधक लीला जनक, श्रुतदेव तथा मुनि भो समझ न सके, यह लीला भगवान् ने एक ही रूप से एक ही समय में पृथक्-पृथक् स्थान में की थी, इसलिए वीर्य बोधक है ॥४४६½॥

कारिका—**एकत्रावस्थितः कालमन्यत्रैकं दिनं तथा ।।४४७।।**
अग्रे कालद्वयं तुल्यं तेन सर्वस्य विस्मयः ।

कारिकार्थ—एक स्थान पर जैसे बहुत समय रहे दूसरे स्थान पर वैसे एक दिन रहे, आगे दोनों काल समान हो गये, इससे सबको आश्चर्य होने लगा ।४४७½।।

व्याख्या—'कालं' पद का आशय है बहुत दिन वाला काल, जैसे कहते हैं कि 'दिनानि कतिचिद् भ्रमन'। इससे जाना जाता है कि भगवान् जनक के यहां बहुत दिन रहे किन्तु श्रुतदेव के यहां केवल एक दिन रहे, तो भी ये दिवस समान दीखे जिससे सर्व विस्मित हो गये शेष स्पष्ट है ।।४४७½।।

कारिका—**एतदर्थं तु मुनयः सह नीताः स्वपौरुषम् ।।४४८।।**
प्रदर्शिता यतः सर्वे तद्वाक्याद्वीर्य वेदिनः ।

कारिकार्थ—इस तरह की लीला करने के लिए ही भगवान् ने मुनियों को अपने साथ लिया था, वहां अपना पौरुष (वीर्य) दिखाया, जिससे सर्व उनके वचनों से भगवान् के वीर्य को जान सके ।।४४८।।

व्याख्या—मेरी यह बीर्य लीला देखकर, मुनिगण आके सकल जनता को सुनावे—मुनियों को साथ में लेने का आशय भगवान् का यही था ।।४४८½।। यों १५ कारिकाओं से वीर्याध्याय का विचार किया ।

कारिका—**श्रुतिगीता यशः प्राह सर्वसन्देहवारिका ।।४४९।।**

कारिकार्थ—सर्व प्रकार के सन्देहों को मिटाने वाली 'श्रुतिगीता' ने भगवान् के यश का वर्णन किया है ।।४४९।।

व्याख्या—श्रुतिओं ने जिस ग्रन्थ (श्लोकों) में भगवद्विषयक सर्व सन्देहों का निवारण कर यश का गान किया है उसको 'श्रुतिगीता' कहते हैं। वह भागवत के उत्तरार्द्ध में है ।।४४९।।

कारिका—**लौकिकं चेद्युक्तिसिद्धं कर्तृत्वादि भवेद्धरेः ।**
अलौकिकस्य करणाद्यशो जातमलौकिकम् ।।४५०।।

कारिकार्थ—भगवान् का कर्तापन आदि यदि लौकिक युक्तियों से सिद्ध हो सके, तो वह लौकिकवत् हो जाय किन्तु भगवान् का कर्तृत्व आदि अलौकिक है जिससे तर्क से सिद्ध नहीं है इसलिए आपका अलौकिक यश जगत् में गाया जाता है ।।४५०।।

कारिका—**अष्टाविंशतितत्त्वानि यथा रूपे हरीच्छया ।**
तथैव नाम्नि यशसि तावत्यः श्रुतयो मताः ।।४५१।।

तस्मात्सन्देहनिर्धारो मनसश्च निवेशनम् ।
निर्गुणे भगवद्रूपे वेदैरेवेति निश्चयः ।।४५२।।

कारिकार्थ—जैसे भगवान् ने अपने स्वरूप में अपनी ही इच्छा से अष्टावीस (अट्ठाईस) तत्व धारण किये हैं उसी तरह नाम में यश वर्णन करने वाली २८ श्रुतियां मानी गई हैं ।।४५१।।

इसी कारण से भगवान् के निर्गुण स्वरूप में जो सन्देह होता है उसका निर्णय वा निवारण और मन का उसमें प्रवेश भी वैदों से ही होता है, यों निश्चय है ।।४५२।।

कारिका—**श्री शक्तेरग्रिमाध्यायस्तत्रैवं निर्णयः कृतः ।**
हरिरेव स्वयं भुंक्ते श्रियं नाऽन्यस्तु कश्चन ।।४५३।।
यस्तु मोहात्क्वचिद्भुंक्ते तं दुःखे पातयत्यजः ।
भक्तस्य तन्न युक्तं हि तस्मात्तां विनिवारयेत् ।।४५४।।
अन्ये देवाः श्रियं दत्वा तथाऽन्यानपि वै वरान् ।
स्वयं संकटमायान्ति तस्माच्छ्रीनैंव युज्यते ।।४५५।।

कारिकार्थ—इससे आगे का अध्याय 'श्री' शक्ति रूप गुण का है, वहाँ ही निर्णय किया गया है, कि भगवान् ही स्वयं 'श्री' (लक्ष्मी) का भोग करते हैं अन्य कोई नहीं ।।४५३।।

यदि जो कोई दूसरा मोह के कारण उसका उपभोग करता है, तो भगवान् उसको नीचे दुःख में गिराते हैं अतः भक्त को श्री का भोग नहीं करना चाहिए इसलिए उसको अपने से हटा दे—भक्त को भोग से दूर रहना चाहिए । ४५४।।

दूसरे देव 'श्री' तथा अन्य वर देकर स्वयं खुद) संकट में पड़े हैं अतः अन्यों की दी हुई 'श्री' लेने से लाभ नहीं है—इससे लेनी ही नहीं ।।४५५ ।

व्याख्या—इसके अनन्तर 'श्री' गुण का अध्याय है जिसका भी विचार 'श्री शक्ते' से लेकर ३½ कारिकाओं से करते हैं—जिनमें कहा है कि 'श्री' का भोग भगवान् स्वयं ही करते हैं अर्थात् 'श्री' भगवान् के भोग्य योग्य होने से उनके लिये ही है यदि अन्य 'श्री' का भोग मोह से करता है, तो भगवान् उसका दुःख में पतन करते हैं अतः दु.ख में पात न हो इसलिए भक्त को 'श्री' के भोग से दूर रहना चाहिए । यदि दूसरे देव किसी को श्री वा अन्य वर देते हैं तो वे देव भी संकट में पड़ते हैं, तो लेने वाले की क्या दशा होगी ? जिसका विचार करना चाहिए, अतः अन्य देवादि से 'श्री' का कोई भी वर लेना भक्त को उचित नहीं है ।।४५५।।

कारिका—**शाकुनेयकथा प्रोक्ता तदर्थं हरसङ्कटे ।**
ततः परं तु ज्ञानस्य निर्णयो हरिमेधसः ।।४५६।।
क्षमा तस्योत्तमं लिङ्गं कृष्ण एव प्रतिष्ठिता ।
तस्या निर्णयसिद्ध्यर्थं भृगूपाख्यानमुच्यते ।।४५७।।

कारिकार्थ—इसको समझाने के लिए ही वर देकर महादेव को संकट भोगना पड़ा जिस कारण से शकुनि के पुत्र की कथा यहाँ कही है। अनन्तर ही भगवान् में मन स्थिर होने के वास्ते ही ज्ञान का निर्णय कहा है वा किया है, जिसका उत्तम चिन्ह 'क्षमा' श्री कृष्ण में ही प्रतिष्ठित (स्थित) है उस (क्षमा) की स्थिति श्री कृष्ण में ही है, जिसके निर्णयार्थ भृगुऋषि का चरित्र कहा है ।।४५६-४५७।।

कारिका—**तथा ब्राह्मणवार्ताऽपि सर्वयादव सन्निधौ ।**
क्षमा कृष्णे परा प्रोक्ता समर्थे ज्ञानसम्भवे ।।
उपदेशेऽपि नाऽन्यस्य ज्ञानमस्तीति बोधितम् ।
अर्जुनस्य कथा प्रोक्ता सर्वगीतार्थवेदिन: ।।४५८–४५९।।

कारिकार्थ—समस्त यादवों की उपस्थिति मौजूदगी में ब्राह्मण की कही हुई वार्ता भी वैसी ही है, सर्व प्रकार समर्थ और जिसमें पूर्ण ज्ञान विद्यमान मौजूद) है, वैसे श्री कृष्ण में ही पूर्ण क्षमा रहती है यों कहा है ।।४५८।।

यदि अन्य को ज्ञान का उपदेश दिया भी जाय, तो भी उसमें ज्ञान नहीं रहता है, यों समझाने के लिए ही सकल गीता के अर्थ को जानने वाले अर्जुन का चरित्र कहा है ।।४५९।।

व्याख्या—इन कारिकाओं से ज्ञानाध्याय का विचार करते हैं, जिसमें 'ज्ञान' गुण का निर्णय किया गया है, क्षमा उसमें रहती है जो पूर्ण ज्ञानवान एवं सर्व प्रकार समर्थ होता है वैसे तो श्रीकृष्ण ही है, जिसका प्रमाण (सबूत) बताने के लिए भृगु की कथा कही गई है। ब्रह्मा तथा महादेव केवल प्रणामादि न करने से क्रोधित हो गये किन्तु श्री कृष्ण लात मारने पर भी क्रोधित तो न हुवे किन्तु भृगु से कहने लगे, कि मेरी कठोर उर (छाती) से आपके कोमल पाद को चोट लगी होगी इत्यादि शब्दों से अपना क्षमा गुण प्रदर्शित किया जो स्वत: ज्ञानी ही कर सकता है, सहज ज्ञान भगवान् में ही है उपदेश से वैसा ज्ञान नहीं होता है यह बताने के लिए गीतोपदेश सुनने वाले अर्जुन को भी ज्ञान सिद्ध न हुवा, जिससे उन्होंने यादव मात्र को 'राजन्य बन्धु असुंभर' आदि अनुचित शब्द कहे, जब ब्राह्मण ने पुत्र-मरण की वार्ता कही। अत: उसकी कथा कही ।।४५८-४५९।।

कारिका—**अत: परन्तु वैराग्यं कथाऽध्याये निरूप्यते ।**
तेनैव पूर्णतां याति निरोध: सकलोऽपि हि ।।४६० ।
कृष्णो विरक्त: किं वाच्यस्तत्सम्बन्धास्त्रियोऽपि हि ।
कामैकरसपूर्णाश्च विरक्ता: सर्वथा मता: ।।४६१।।
एतावदर्थनिर्धारे कथा यावत्य ईरिता: ।
तासां चाऽत्रोपसंहार: क्रीडया निनिरूप्यत ।।४६२।।
एवं सर्वान् समुध्दृत्य क्रीडत्यस्माकमीश्वर: ।
क्रीडायां प्राप्तसंसार: स्त्रीणामपि निर्वायते ।।४६३।।

कारिकार्थ—इसके अनन्तर तो कथाध्याय में वैराग्य का निरूपण किया जाता है, इससे (वैराग्य से) ही सकल निरोध पूर्ण होता है ।।४६०।।

श्रीकृष्ण वैराग्ययुक्त थे इसमें कहना ही क्या है? जबकि उनके सम्बन्ध से केवल कामरस से ही पूर्ण स्त्रियाँ भी सर्व प्रकार वैराग्य युक्त बन गई है ।।४६१।।

इतने अर्थ का निर्धार (निर्णय) करने के लिए जितनी कथाएँ कही गई हैं, उन सबका यहाँ 'क्रीड़ा' से उपसंहार कहा जाता है ।।४६२।।

इस प्रकार लीला द्वारा सबका उद्धार कर हमारे ईश्वर क्रीड़ा करते हैं क्रीड़ा करते हुए स्त्रियों को जो संसार प्राप्त हुआ वह भी उनका मिटा दिया । ४६३।।

व्याख्या—स्कन्ध की समाप्ति होते हुए वैराग्य का जो निरूपण किया है उसका प्रयोजन 'तेनैव' कारिका से बताते हैं कि जब तक वैराग्य नहीं है, तब तक निरोध की पूर्णता नहीं होती है; क्योंकि भगवान् में चित्त की आसक्ति तब होती है, जब वैराग्य होता है । निरोध के पूर्ण होने में वैराग्य बिना दूसरे किसी की उपेक्षा नहीं है, इसलिए इस कथाध्याय में वैराग्य का निरूपण है ।

भगवान् में वैराग्य है यह कैसे सिद्ध हुआ? अथवा कैसे जाना गया? जिसको समझाने के लिए कहा है कि जब आपकी स्त्रियाँ जो कामरस से पूर्ण थीं वे भी आपसे सम्बन्ध होने के कारण वैराग्य वाली बन गईं तो आप (श्रीकृष्ण) वैराग्य गुणयुक्त अर्थात् विरक्त हों, इसमें कहना ही क्या है?

यहाँ जब वैराग्य का निरूपण करना है तो क्रीड़ा के निरूपण का कौनसा प्रयोजन था ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए 'एतावदर्थं' कारिका कही है—जिसका आशय है कि, भगवान् अपने भक्तों का जो तीन (१- करणात्मक २- व्यापारात्मक और ३- फलात्मक) प्रकार का निरोध करते हैं इसलिए जितनी कथाएँ कही हैं वे सर्व क्रीड़ा द्वारा ही की है । उनका परिकर सहित निर्णय कर विषय का उपसंहार किया जाता है वा किया गया है ।

इसी तरह ही हमारे प्रभु सबों का उद्धार करने के लिए अपने में चित्त आसक्त करने के हेतु ही इस प्रकार की क्रीड़ा करते हैं जिस क्रीड़ा से उनकी स्त्रियों ने कामरसपूर्ण होने से संसार को प्राप्त किया, तो भी, उनका संसार निवृत्त कर उनको भी वैराग्य युक्त कर दिया है । यह सकल उक्ति निरोध का उपसंहार समझाने के लिए है ।।४६०-४६३।।

कारिका— **कुरर्यादिदशार्थास्तु निर्गुणेन युता गुणाः ।**
महिषी हृदयापन्नाः सन्देह वारयन्ति हि ।।४६४।।
मनसा तु तिरोधानाद्विह्वलास्ता निरूपिताः ।
तेन कृष्णार्थता प्रोक्ता तासां सर्वक्रियासु हि ।।४६५।।
स्कन्धार्थस्तु निरोधो हि ततस्तेनोपसंहृतिः ।
अग्रेऽपि ये भविष्यन्ति कीर्तनात्तेऽपि तादृशाः ।।४६६।।

कारिकार्थ—कुररी (टिटहरी) आदि दश पदार्थों को जब भगवान् से सम्बन्ध हुआ तो वे भी वैसे निर्गुण हो गये, महाराणियों के हृदय में प्रविष्ट होकर सन्देह को मिटाते हैं ।।४६४।।

महाराणियों के मन में से भगवान् तिरोहित होते ही वे विह्वल हो गईं, जिससे उनकी सर्व क्रियाएँ कृष्ण के लिए ही होने लगी ।।४६५।।

स्कन्ध का अर्थ निरोध है, इस कारण से उस (निरोध) से ही इसकी समाप्ति की गई है, आगे भी जो भक्त होंगे वे इसके कीर्तन से वैसे ही होंगे ।।४६६।।

व्याख्या—महाराणिओं के संसार की निवृत्ति हो गई इसका क्या प्रमाण है? इस पर कहते हैं कि 'कुर्यांहि…… संदेहंवारयन्तिहि' कुररी (टिटहरी) आदि दश पदार्थ जिनसे निर्गुण भगवान् का सम्बन्ध हुआ वे वैसे (निर्गुण) हो गए, वे पदार्थ महाराणियों के हृदय में प्रविष्ट होने से उनके निरोध रूप विचार उत्पन्न हुए जिससे सिद्ध होता है कि उनमें अब संसार नहीं रहा है। इसलिए वह (संसार होने का संशय) मिट जाता है ।।४६४।।

इस कारिका द्वारा महाराणिएँ निरोध की पूर्णावस्था को प्राप्त हुई हैं, यों सिद्ध करते हैं भगवान् वहाँ (मन में) विराजते हुए भी, वे समझने लगी आनन्दप्रद भगवान् तिरोहित हो गए हैं, जिससे वे विह्वल होकर प्रभु के संग की कामना करती हैं, यह ही आसक्ति का स्वरूप है। यदि उनमें अब भी संसार होता तो भगवान् में आसक्त न होती। इसलिए वे सर्व क्रियाएँ भगवदर्थ ही करती हैं ।।४६५।।

इस दशम स्कन्ध का अर्थ निरोध है इसलिए उससे (निरोध से ही उपसंहार समाप्ति) करते हैं और कहते हैं कि आगे भी जो भक्त होंगे वे इस विषय के कीर्तन से ही निरोध सिद्ध कर सकेगें ।।४६६।।

— इति गुण प्रकरणम् —

दशम स्कन्ध को पूर्ण करते हुए आचार्य श्री निम्न कारिका कहते हैं—

कारिका—**प्रकरणमिह पूर्यतेऽनवद्यं ।**
त्रयमपि विश्वजयाय मादृशानाम् ।।
निजपदसमवाप्तये च नित्यं ।
निजगुरुणा हरिणैव लोकवन्द्यम् ।।४६७।।

कारिकार्थ—मेरे जैसों के विश्वजय के लिए, लोकों से वन्द्य एवं नित्य जो स्थान है उस अपने स्थान को प्राप्त करे इस वास्ते अपने गुरु हरि ने ही ये प्रवित्र तीनों प्रकरण भी पूर्ण किये हैं ।।४६७।।

व्याख्या— आचार्य श्री आज्ञा करते है कि "भूयश्चान्तेविश्वमायानिवृत्तिः" इस श्रुति में कही हुई विश्वमाया की निवृत्ति के लिए तथा भगवान् के धाम की प्राप्ति के लिए ही अपने गुरु (अविद्या अन्धकार को मिटाने वाले) हरि ने ही गुण प्रकरण सहित ये तीन (तामस, राजस एवं सात्विक) प्रकरण भी पूर्ण किये हैं ।।४६७।।

इति श्रीवल्लभ दीक्षित विरचिते तत्त्व-दीप-निबन्ध-भागवतार्थ प्रकरणे
दशम स्कन्ध विवरणं सम्पूर्णम् ।।

गुण प्रकरण

भूमिका

दशम स्कन्ध की लीला निरोध लीला है। वह श्रीकृष्ण ने इस स्कन्ध में ही की है, अतः इस स्कन्ध को निरोध लीला स्कन्ध कहा जाता है। ५वें अध्याय से लेकर ८१वें अध्याय तक श्रीकृष्ण ने विविध लीलाओं द्वारा तामस, राजस और सात्विक भक्तों का पूर्ण निरोध सिद्ध किया है। पहले चार अध्यायों में आपके प्राकट्य की लीलाओं का वर्णन है। जब ८१ अध्याय तक सम्पूर्ण भक्तों का निरोध सिद्ध हुआ तो फिर दशम स्कन्ध में ये गुण प्रकरण के छ विशेष अध्याय क्यों? जिसके उत्तर में कहा है कि यह निरोध लीला किसने की है? भगवान् के धर्मों ने की है वा धर्म रहित केवल, हरि ने की है? अथवा अन्य ने की है यदि अन्य ने की है तो निरोध निष्फल होगा।[1]।

इस शङ्का के निवारणार्थ व्यासजी ने इन छ अध्यायों की रचना कर सिद्ध किया है कि जिस स्वरूप में ऐश्वर्यादि छ ही धर्म प्रकट हैं, वैसे भगवान् श्रीकृष्ण ने ही सर्व निरोध लीलाएँ की है अतः इस गुण प्रकरण में व्यासजी ने भगवान् के छ गुणों का निरूपण किया है। छ अध्यायों में कहे हुए प्रकरणों को सुनने से भगवद्भाव की सिद्धि होगी।

यद्यपि तामसादि प्रकरण में की हुई लीलाओं से यह निश्चय हो गया है कि ऐसी अनुपम निरोध कर्त्री लीलाएँ स्वयं परिपूर्ण अवतारी परब्रह्म श्रीकृष्ण ने ही की हैं न कि मनुष्य, देव अथवा अंश कलादि अवतारों ने की हैं जिसको विशेष स्पष्ट समझाने के लिए तथा शङ्काशालों की शङ्काओं को निवारण करने के वास्ते, उनके छ गुणों का पृथक पृथक निरूपण कर छ अध्यायों में सिद्ध किया है। ये सब लीलाएँ धर्मी श्रीकृष्ण ने ही की हैं।

प्रथम अध्याय ८२ में भगवान् ने वसुदेव को ज्ञानोपदेश किया है, वसुदेव ने श्रीकृष्ण की स्तुति की है, माता के कहने पर मरे हुए पुत्र लाकर दिये हैं इस प्रकार की लीलाओं से वसुदेव और देवकी को सर्व प्रकार का आनन्द दिया है तथा अपने 'ऐश्वर्य' गुण का कार्य दिखाया है।

'वीर्यगुण' दूसरे अध्याय ८३ में भगवान् ने ज्ञान और क्रिया दोनों शक्तियों द्वारा अपना द्विविध[2] 'वीर्य' दिखाया है, जैसे कि सुभद्रा-हरण कार्य का, न प्रतिबन्ध किया और न निन्दा की इससे भगवान् ने 'ज्ञान[3] बुद्धि) वीर्य' गुण प्रकट किया, श्रुतदेव और जनक की एक ही काल में मुक्ति की' जिससे आपने 'क्रिया वीर्य'[4] गुण दिखाया।

---

[1] १- अन्यथा चेत्कृतोऽपि एष निरोधो निष्फलो भवेत्-अ० ३६ कारिका २

[2] २- बुद्धि वीर्य और क्रिया वीर्य

[3] ३- सुभद्रा कौन थी इसको आप ही जानते थे।

[4] ४- एक के पास मुनि रूप धारण कर गए, दूसरे के पास स्वयं मुनियों के साथ गए।

'यश' तीसरे अध्याय ८४ में 'श्रुति गीता' वा 'वेद स्तुति' है उन सबका निरास कर यह सिद्ध किया गया है कि 'भगवान् श्रीकृष्ण ही सेव्य है, उनसे उत्पन्न जगत् व जीव स्वरूप सेव्य नहीं है, वैराग्यार्थ ही युक्ति द्वारा जगत् को झूठा बताया है, वास्तव में जगत् ब्रह्म का सत' रूप होने से ब्रह्म रूप है एवं जीव भी चिदंश होने से ब्रह्म है किन्तु दोनों सेव्य नहीं हैं, सेव्य तो वह स्वरूप है जिस स्वरूप में सत् चित् एवं आनन्द तीनों ही पूर्ण रूप से सदैव रहते हैं तथा ऐश्वर्यादि धर्म पूर्ण रूपेण हों ऐसे श्रीकृष्ण ही हैं, यों सिद्ध कर 'यश' गुण का निरूपण किया है।

'श्री' चौथे अध्याय ८५ में दिखाया है कि 'श्री'(लक्ष्मी)के उपभोग करने का अधिकार प्रभु के सिवाय किसी को नहीं है, जो करते हैं वे अन्त में दुःख भोगते हैं यदि देव भी इसी प्रकार का किसी को वर देते हैं तो वे भी दुःखी होते हैं, इस अध्याय में शङ्कर वर देने से सङ्कट में पड़े जिनका सङ्कट भगवान् ने मिटाकर 'श्री' गुण प्रकट किया।

'ज्ञान' पाँचवे अध्याय ८६ में भगवान् ने अपना ज्ञान गुण प्रकट कर दिखाया है। भृगु ऋषि द्वारा उत्तम देव की परीक्षार्थ लात द्वारा जो प्रहार हुआ उसको सहन कर केवल शान्त न रहे किन्तु प्रहार करने वाले ब्राह्मण का नमन आदि से सम्मान किया, ज्ञान का उत्तम चिन्ह क्षमा है वह श्रीकृष्ण में ही है जैसे कि ब्राह्मण के पुत्र मरने पर उसने सबके समक्ष भगवान् की निन्दा की एवं अर्जुन ने भी भगवान् की सभा के प्रति अनुचित शब्द कहे तो भी आपको क्रोध न आया क्षमापूर्वक शान्त रहे यों करने से भगवान् ने 'ज्ञान' गुण प्रदर्शित किया।

'वैराग्य' छठे अध्याय ८७ में भगवान् ने द्वारका में अपनी महीषियों के साथ जल स्थल विहार करते हुए अनेक क्रीडाएँ की, किन्तु उस समय अपने मन को तिरोहित सा कर अनासक्ति से सकल लीलाएँ की, अतः यह वैराग्य गुण का लक्षण है, इस प्रकार अनासक्ति से बिना मन क्रीड़ा करने का प्रभाव भगवान् की रानियों पर भी पड़ा जिससे वे भी संसार में आसक्त न हुई, किन्तु भगवत्-स्वरूप में ही आसक्त हो निरोध को प्राप्त हुई, इस प्रकार स्वयं अनासक्त हो स्त्रियों की भी आसक्ति छुड़ाकर अपना वैराग्य गुण और इसका प्रभाव प्रदर्शित किया, इस लीला से मानव को भी शिक्षा दी है कि, संसार में अनासक्त होकर लौकिक आदि कर्म करोगे तो जन्म मरण जाल में न फँसोगे।

व्यासजी ने इस गुण प्रकरण की रचना कर यह पूर्ण रीति से सिद्ध किया है कि धर्म संयुक्त धर्मी स्वरूप श्री कृष्ण ने ही यह सम्पूर्ण निरोध लीलाएँ की हैं जिसमें लेश मात्र भी शङ्का का अवकाश नहीं है—विशेष श्री सुबोधिनीजी पढ़कर शेष ज्ञातव्य विषय को जानिए।

॥ श्री हरिः ॥

भगवत्सेवा

भगवान् की शरण में जाना पहले मन से और फिर शरीर से होता है। निष्कपट हृदय से आत्मा सहित इस लोक व परलोक का सर्वस्व परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण को निवेदन कर देना आत्म समर्पण है, जिसके पश्चात् पुष्टिमार्गीय सेवा करने का अधिकार प्राप्त होता है। मर्यादा-मार्ग में भगवान् की पूजा में विधि प्रधान है जबकि पुष्टिमार्ग में स्नेहयुक्त सेवा होना आवश्यक है; क्योंकि सेव्य-स्वरूप को जिससे सुख मिले एवं सन्तोष हो, वही सेवा है। भगवान् का ज्ञान न होने पर भी रुचि से पुष्टिमार्गीय प्रणालिका अनुसार सेवा करनी चाहिए। इन्द्रियों की चञ्चलता से सेवा पूर्ण फलदायक नहीं होती, इसलिए मन को वश में कर निष्काम सेवा करना उचित है। 'निवृत्तत्व'—भगवान् के सिवाय अन्य से दूर रहने तथा 'नियतार्थत्व'--भगवान् में दृढ़ विश्वास रखने का पालन करना आवश्यक है अन्यथा सर्व प्रकार से सेवा करने पर भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है। जो भगवान् का कर्त्तव्य (सेवा) महान् प्रयत्न से करते हैं अर्थात् देह का सुख न देखते हुए, लौकिक मान-अपमान को सहन करते हुए सदैन्य सेवानिष्ठ रहते हैं, वे मुख्य, भगवान् की निष्काम सामान्य सेवा करने वाले मध्यम तथा अपने स्वार्थ के लिए सेवा करने वाले अधम सेवक होते हैं। जो काल से परिच्छेद्य (सीमित) न हो, ऐसे प्रिय तो भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, जिनकी सेवा करना उचित है। जीव की प्रवृत्ति आनन्द के लिए है, वह आनन्द केवल भगवान् में ही है--अन्यत्र कहीं नहीं है; क्योंकि जीव का आनन्द तिरोहित (छुपा हुआ) है, जड़ पदार्थों में तो आनन्द की गन्ध भी नहीं है, तो भी पुरुष समझते हैं कि चन्दन-पुष्पादि में आनन्द है--यह केवल भ्रम है। केवल भगवान् कृष्ण ही पूर्णानन्द हैं, सो आनन्द का दान वे ही दे सकते हैं। इसीलिए पण्डित लोग आनन्द-निधि भगवान् के चरणकमलों की सेवा करते हैं। अतः इस लोक और परलोक का सुख चाहने वालों का कर्त्तव्य हरि-सेवा ही है। भगवान् ही सेवनीय है--वेद-स्तुति (श्रुति-गीता) का भी ऐसा ही और इतना ही अर्थ है। जीव की क्रिया-शक्ति स्वल्प है, जिसका विनियोग भगवत्सेवा में ही करे--अन्यत्र न करे। भगवत्सेवा निमित्त 'सत्सङ्ग, भगवत्-कथा-वाचन व श्रवण' करने से भगवान् शरीर में प्रवेश करते हैं और चित्त में सेवा-भाव उत्पन्न करते है। भगवदाश्रय योग तो धीरे-धीरे सेवा-भाव प्रगट करता है, परन्तु भगवत्-सेवा तो साक्षात् इन भावों को पैदा करती है; क्योंकि योग की सेवा से योगेश की सेवा उत्तम है। इस प्रकार सेवा देह तथा चित्त के रोग (संसार-प्रपञ्च) दूर करती है। वास्तव में विषयों का त्याग करने से भी हृदय में स्थित उनकी वासनाओं की आसक्ति नहीं छूटती है, परन्तु स्नेहयुक्त की हुई भगवत्सेवा अन्य रसों के स्वाद को भुलाते हुए विषयासक्ति को नष्ट कर देती है। भगवत्सेवकों को शाप भी नहीं लगता है। जैसे दक्ष का शाप नारदजी को भगवत्सेवा के कारण द्वारका में बाधक नहीं होता था। यदि इसी प्रकार यादव भगवत्सेवारत होते, तो ब्राह्मण के शाप का प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। इससे भगवत्सेवा देवताओं को भी दुर्लभ है, वह सब अनर्थों को दूर करने वाली है तथा मुक्तों को भी अभिलषित है। चार पुरुषार्थ [धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष] अपने-अपने साधनों से सिद्ध होते हैं, वे सब केवल भगवत्सेवा से सुलभ एवं उत्तम है। दुःख-नाश व सुख-प्राप्ति प्रत्येक जीव चाहता है—सो सुख भगवान् स्वयं कृपा कर सिद्ध करते हैं, दुःख तथा मृत्यु की निवृत्ति भगवत्सेवा से होती है। भगवत्सेवकों में भगवद्-बुद्धि रखनी चाहिए।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण ने समस्त वेद-शास्त्रों का सार 'कृष्णसेवा सदा कार्या' निज सिद्धान्त प्रकट किया है। श्री सुबोधिनीजी में भगवत्सेवा सम्बन्धित कुछ पक्तियों का उपरोक्त भावार्थ है। इन भावों के सिद्धार्थ क्रियात्मक शक्ति हम सबको प्रभु कृपा कर श्री महाप्रभुजी की कानि से प्रदान करें। यह विनम्र प्रार्थनाकर्त्ता—

नन्ददास (रामचन्द्र)

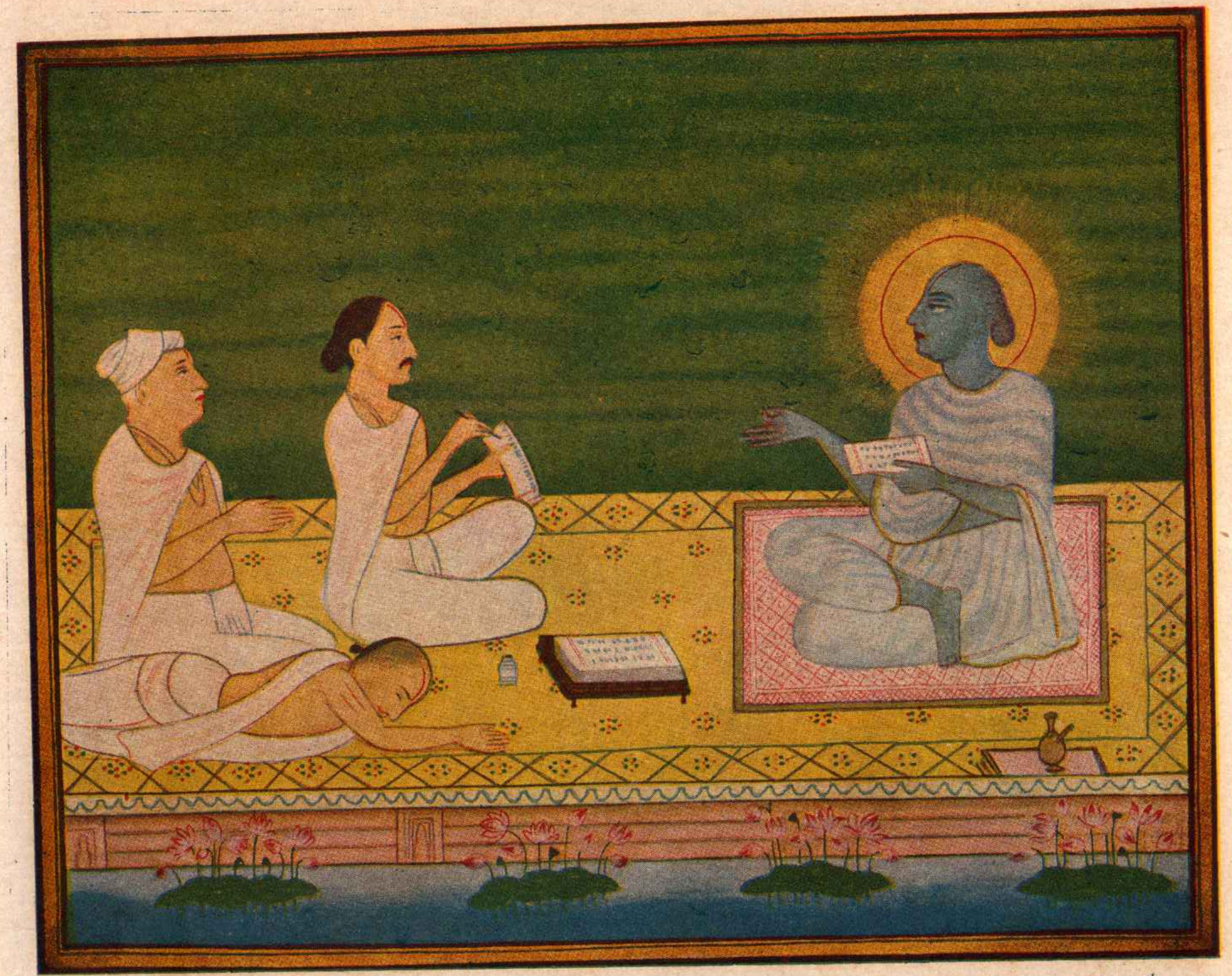

प० भ०
श्रीमाधवभट्टजी
कशमीरी

प० भ०
श्रीकृष्णदासजी
मेघन

प० भ०
श्रीदामोदरदासजी
हरसानी

अखण्ड
भूमण्डलचार्य
चक्र चूडामणी

श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण
(श्रीमहाप्रभुजी)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प० भ० श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ८५वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८२वां अध्याय
उत्तरार्ध ३६वां अध्याय

गुण-प्रकरण

"अध्याय—१"

वसुदेवजी को ब्रह्मज्ञान का उपदेश तथा देवकीजी के छः पुत्रों का लौटाना

कारिका— **एवं निरोधः सर्वेषां भगवत्कृत ईरितः ।**
स किं साक्षात्सर्वयुक्त्या भगवानन्यथापि वा ॥१॥

कारिकार्थ—इस प्रकार भगवान् ने जो निरोध किया, वह(निरोध) कहा गया । इसी भाँति निरोध करने वाला श्रीकृष्ण सर्व प्रकार की युक्तियों से जो साक्षात् जैसा भगवान् सिद्ध होता है, वैसा ही है अथवा दूसरे प्रकार का भी है अर्थात् भगवान् नहीं भी है ॥१॥

कारिका —**अन्यथा चेत्कृतोप्येष निरोधो निष्फलो भवेत् ।**
तस्मात्कृष्णस्य सर्वोक्त्या भगवत्त्वं तु साध्यते ॥२॥

कारिकार्थ—यदि श्रीकृष्ण भगवान् से पृथक् कोई दूसरा है, तो उसने जो निरोध किया, वह सफल नहीं होगा; क्योंकि भगवान् नहीं है । ऐसी शङ्का को निवारण कर सिद्ध करते हैं कि सर्व वचनों से श्रीकृष्ण भगवान् ही है, अन्य नहीं है ॥२॥

कारिका — **अतोऽग्रे भगवान् व्यासः षडध्यायीं चकार ह ।**
ऐश्वर्यादिप्रसिद्ध्यर्थं सङ्गतिस्त्वियमेव हि ॥३॥

कारिकार्थ— अतः भगवान् व्यासजी ने भगवान् के ऐश्वर्य आदि छः गुणों की प्रसिद्धि के लिए ये छः अध्याय किए (बनाए) हैं। ऐश्वर्य आदि की प्रसिद्धि के लिए यह (रचना) ही सङ्गति है, जिससे पूर्वा पर सम्बन्ध जाना जाता है ॥३॥

कारिका—**तत्रादौ भगवद्भावसिद्ध्यर्थं युक्तिपूर्वकम् ।**
ऐश्वर्यादीन् षडर्थान् हि षड्ध्याय्यां निरूप्यते ॥४॥

कारिकार्थ—उसमें युक्ति अनुसार भगवद्भाव की सिद्धि के लिए ही प्रथम, ऐश्वर्य आदि छ धर्म इस गुण प्रकरण के छ अध्यायों में निरूपण किए जाते हैं ॥४॥

कारिका— **षट्त्रिंशे तु तथाध्याये कृष्णस्यैश्वर्यलक्षणः ।**
अलौकिको लौकिकश्च क्रियाज्ञानविभेदतः ॥५॥
निरूप्यते यतः पित्रोरैश्वर्यं हृद्गतं भवेत् ।

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस ३६वें अध्याय में श्रीकृष्ण के लौकिक तथा अलौकिक ऐश्वर्य[1] क्रिया और ज्ञान के भेद से कहा जाता है, इसलिए कि यह ऐश्वर्य लक्षण वाला भाव माता-पिता के हृदय में जच जावे ॥५½॥

कारिका—**अनुभावात्पुरैश्वर्यं तयोर्हृदयसंहितम् ॥६॥**

कारिकार्थ—यद्यपि श्रीकृष्ण के प्रभाव से उनके हृदय में पहले ही ऐश्वर्य स्थित था ॥६॥

कारिका—**येन स्तुतिः कृता ताभ्यां कृष्णवाक्यात्तु निर्णयः ।**
तीर्थयज्ञसदुक्त्या हि शुद्धान्त करणो भवेत् ॥७॥

कारिकार्थ—जिससे ही दोनों (वसुदेव और देवकी) ने भगवान् की स्तुति की, फिर भी, उसका निर्णय श्रीकृष्ण के वाक्य से ही हुआ है; क्योंकि तीर्थ और यज्ञ में जो कोई निर्णय लिया जाता है, वह सत्पुरुषों के वचन से ही लिया जाता है; क्योंकि

---

[1] ऐश्वर्य रूप जो भगवद्भाव अथवा धर्म है, वह

उनके वचनों से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरण में ही सत्य का निश्चय होता है, जिससे भगवद् गुण-गान में रुचि उत्पन्न होती है ।।७।।

कारिका — ततः कृष्णगुणज्ञाने तस्येच्छाभूदितीर्यते ।
तथैव देवकी देवी ज्ञात्वा माहात्म्यमुत्तमम् ।।८।।
ऐश्वर्यस्य परीक्षार्थं पुत्राहृतिमुवाच ह ।

कारिकार्थ—पश्चात् ही श्रीकृष्ण के गुण-गान में उनकी इच्छा हुई, यों कहा है। वैसे ही देवी देवकी श्रीकृष्ण का उत्तम माहात्म्य जानकर, ऐश्वर्य की परीक्षा के लिए श्रीकृष्ण को कहने लगी कि मेरे मरे हुए पुत्रों को लाकर देओ ।।८½।।

आभास—एवमेतावद्भिरध्यायैस्त्रिविधानां निरोधो निरूपितः। अथ भगवतः षड्गुणाः षड्भिरध्यायैर्निरूप्यन्ते क्रमेणैव। ऐश्वर्यं लोकवेदातिशायि। स ईश्वरः यः अलौकिकं करोति, यो वा वेदस्याप्यशक्यं करोति सोऽत्र निरूप्यते। पित्रे पुत्रत्वं स्थापयित्वैव ज्ञानोपदेशं यत्करोति, यच्चाप्यखण्डं, तथा बाल्ये मृतानां कालेन परमाणुसात्कृतानां पुनः कालमुल्लङ्घ्य यथास्थानं प्रापयित्वा तत्समानयनं, ततोऽपि स्वपदप्रापणमपि। एवं वेदकालोल्लङ्घनं न पुरुषोत्तमादन्यस्य शक्यम्। फलप्रकरणस्य संनिधान एव गतत्वात् पित्रोरभिलषितं च करोतीत्यध्यायसंगतिः। कथायाः पौर्वापर्यं नाभिलषितमिति भिन्नक्रमेणारभते अथेति।

आभासार्थ—श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के प्रारम्भ से यहाँ (उत्तरार्ध के ३५वें अध्याय) तक जन्म प्रकरण, तामस, राजस और सात्त्विक भक्तों के निरोध का निरूपण किया। अब ३६ से ४१ अध्यायों तक भगवान् के ऐश्वर्यादि छः गुणों का क्रमानुसार निरूपण किया जाता है। 'ईश्वर' वे हैं, जिनमें ऐश्वर्य आदि छ गुण पूर्ण रूप से रहते हों, जो कर्म, वेद से भी न हो सके, एवं अलौकिक है, उस कर्म को 'ऐश्वर्य' कहते हैं, वह 'ऐश्वर्य' श्रीकृष्ण में है, अतः श्रीकृष्ण 'ईश्वर' हैं। जिनका यहाँ निरूपण किया जाता है। इस प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण अपने पिता में अपने लिए पुत्र-भावना स्थापित करते हुए भी, ज्ञान का उपदेश पिता को देते हैं। वह भी स्वल्प का नहीं, किन्तु परिपूर्ण ज्ञान का, अतः श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, यों सिद्ध होता है। जिस प्रकार वेद और काल का उल्लङ्घन श्रीकृष्ण ने किया है, वैसा अन्य कोई भी नहीं कर सकता है। कारण कि दूसरे पुरुषोत्तम स्वरूप नहीं हैं। पुरुषोत्तम तो, श्रीकृष्ण ही हैं, अतः दोनों को उल्लङ्घन करने की सामर्थ्य आप में ही है। फल प्रकरण के पूर्ण होने के बाद, शीघ्र ही माता-पिता का इच्छित कार्य करते हैं, यह अध्याय की सङ्गति है।

यहाँ कथा का क्रम वैसा नहीं है, जो लीला के समय था, इसलिए ही निम्न श्लोक 'अथैकदात्मजौ' श्री शुकदेवजी पृथक् रीति से प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-अथ कदात्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
वसुदेवोऽभिनन्द्याह प्रीत्या संकर्षणाच्युतौ ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि, फिर एक दिन निकट आकर प्रणाम करते हुए अपने पुत्रों राम और कृष्ण का प्रेमपूर्वक सत्कार कर वसुदेवजी कहने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—एकदा प्रसन्नसमये. स्वयमेवा**त्मजौ प्राप्तौ** लालनसमये। ततः **कृतपादाभिवन्दनौ** जातौ। ततो **वसुदेवो**ऽपि तत्कृतम**भिनन्द्य** लौकिकप्रीतियुक्त एव ज्ञानार्थमुवाच **संकर्षणमच्युतं** च। सर्वमेतज्ज्ञाने पूर्वाङ्ग श्रुतिविरुद्धम्। स्वयं गुरोर्गृहे गत्वा नमस्कारानन्तरं गुरुणाभिनन्दितः एकं स्तौतीति मर्यादा ॥१॥

व्याख्यार्थ—जब श्रीकृष्ण और संकर्षण आनन्द में थे और लालन का समय भी था, तब दोनों ने बिना बुलाए पिता के चरणों में प्रणाम किया। पिता ने इस कार्य से सन्तुष्ट होकर उनका अभिनन्दन किया और कहा कि ज्ञान का उपदेश करिए। यह ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया वेद-विरुद्ध है; क्योंकि वेदानुसार शिष्य गुरु के पास जाकर प्रणाम कर ज्ञान की याचना करता है, अनन्तर गुरु अभिनन्दन कर उसको ज्ञानोपदेश करता है। यहाँ ज्ञानोपदेष्टा गुरु श्रीकृष्ण, अपने उपदेश्य शिष्य वसुदेवजी के पास आते हैं और शिष्य को प्रणाम करते हैं। शिष्य, गुरु श्रीकृष्ण का अभिनन्दन करता है, यह परिपाटी वेद-विरुद्ध है, यह मर्यादा नहीं है ।१॥

आभास—तत्रापि पूर्वं तत्कामनया तदर्थं न प्रवृत्तः किं तु प्रासङ्गिकस्मरणेन तथा कृतवानित्याह **मुनीनां तद्वचः स्मृत्वेति**।

आभासार्थ—वसुदेव ने ज्ञान-प्राप्ति करने की इच्छा से स्वयं प्रवृत्ति नहीं की थी, किन्तु अचानक ऋषियों की वाणी का स्मरण होने से उसने जो कुछ ज्ञान-प्राप्ति के लिए किया, उसका वर्णन 'मुनीनां' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—मुनीनां तद्वचः स्मृत्वा पुत्रयोर्धामसूचकम् ।
तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भः परिभाष्याभ्यभाषत ॥२॥

श्लोकार्थ—मुनियों के कहे हुए पुत्रों के प्रभाव सूचक वचन स्मरण कर, पुत्रों के प्रभावों से विश्वास वाले वसुदेवजी ने सम्बोधित कर, यों कहा ॥२॥

सुबोधिनी—'यस्यानुभूतिः कालेन' इत्यादि मुनिवाक्यं, तस्य चाकस्मात्स्मरणं, तच्च **पुत्रयोर्धाम** तेजः स्वरूपं वा सूचयति। केवलवाक्यं स्मृतं वा चेत् ज्ञानं जनयेत्तदापि न काचिच्चिन्ता। किंच। संवादात्तस्य प्रामाण्यमवधृतमित्याह **तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भ** इति। गोवर्द्धनोद्धरणादीनि वीर्याणि, तैर्जातो विश्वासो ऋषिवाक्ये यस्य। ततः हे कृष्ण हे रामेत्युक्त्वा **अभ्यभाषत** स्तुतिं कृतवानित्यर्थः ॥२॥

व्याख्यार्थ –मुनियों के वे वाक्य स्मरण में आ गए, जिनमें उन्होंने कहा था. कि श्रीकृष्ण का अनुभव अर्थात् ज्ञान, काल आदि अथवा किसी प्रकार से कभी भी नाश नहीं होता है. एवं उनके वीर्यों (पराक्रमों) से भी विश्वास हो गया था कि ये दोनों धाम स्वरूप हैं, केवल स्मृति से ज्ञान उत्पन्न हो, तो भी, कुछ चिन्ता नहीं. किन्तु यहाँ तो संवाद से जाना गया है, अतः सत्य है। इस प्रकार निश्चय हुआ। गोवर्द्धन को उठाना आदि कार्य श्रीकृष्ण के वीर्य (पराक्रम) को सूचित करते हैं, इन कार्यों से ही ऋषि वाक्यों में विश्वास उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार विश्वास होने पर वसुदेवजी 'हे कृष्ण' ! 'हे राम' ! सम्बोधन से बुलाकर निम्न प्रकार से स्तुति करने लगे ।।२।।

कारिका—**स्तोत्रं चक्रेऽष्टादशभिः सर्वविद्यानिरूपकैः ।।९।।**
शरणागतिपर्यन्तमुभयोरात्मनस्तथा ।
स्वरूपमाह सर्वासां विद्यानामभिवाञ्छितम् ।।१०।।

कारिकार्थ—सर्व विद्याओं के निरूपक अठारह श्लोकों से शरणागति पर्यन्त स्तुति करते हैं। उन श्लोकों में सकल विद्याओं के इच्छित श्रीकृष्ण और बलरामजी का तथा अपना स्वरूप कहते हैं ।।९-१०।।

आभास—आदौ जगत्कारणत्वमाह **कृष्ण कृष्णेति** ।

आभासार्थ--प्रारम्भ में निम्न श्लोकों में भगवान् जगत् के कारण हैं. यों कहते हैं।

श्लोक – **कृष्ण कृष्ण महायोगिन् संकर्षण सनातन ।**
जाने वामस्य यत्साक्षात्प्रधानपुरुषौ परौ ।।३।।

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महान् योगी ! हे संकर्षण ! हे सनातन ! आप दोनों इस समग्र जगत् के मुख्य प्रधान और पुरुष हो, यों मैं जानता हूँ ।।३।।

सुबोधिनी—आदरे वीप्सा। **महायोगिन्निति**। महानपि ज्ञातुमशक्य इत्यत्र हेतुरुक्तः। **संकर्षण**स्य नाममात्रेण संबोधनमुक्त्वा तदर्थापरिज्ञानात् तत्स्वरूपमेवाह **सनातनेति** । अनेन नित्यार्थवाचकत्वमेव तस्यापि वक्तव्यमिति निरूपितम्। सम्यक् कर्षणात्मकं प्रकृतेरिति तं प्रकृतिदेवतां मन्यते, अत आह **जाने वामिति**। **अस्य** जगतः **साक्षात्**संपूर्णस्य, कार्यकारणाभेदोपचारेण तथात्वं वारयति उभयोः प्रधानपुरुषत्वम्। उपचारादङ्गीकारत्वं वारयति **पराविति** अक्षरादुत्पन्नौ मूलभूतावित्यर्थः ॥३॥

व्याख्यार्थ—'हे कृष्ण'-'हे कृष्ण' यों दो बार आदरार्थ कहा है। भगवान् बड़े हैं, तो भी जानने में नहीं आते हैं, इसलिए भगवान् को 'हे महायोगी' कहा है। बलदेवजी को केवल 'सङ्कर्षण' नाम न देकर सनातन' भी कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'सङ्कर्षण' पद के अर्थ का ज्ञान न होने से 'सनातन' पद से बताया है कि वे नित्य खेंचने के कार्य के कर्त्ता हैं, पूर्ण रीति से खेंचने का

कार्य प्रकृति का है, जिससे वसुदेवजी सङ्कर्षण को प्रकृति का देवता मानते हैं, इसलिए ही श्लोक के उत्तरार्ध में कहते हैं कि इस साक्षात् सम्पूर्ण जगत् के कार्य कारण का अभेद से उपचार का तथापन निवारण करता है और दोनों प्रधान पुरुष हैं। 'परौ' शब्द से उपचार से अङ्गीकार का निवारण करता है। अक्षर से उत्पन्न मूलभूत रूप हैं, यों तात्पर्य है ॥३॥

आभास—जगत्कारणत्वमुक्त्वा जगद्रूपतामाह **यत्रेति** ।

आभासार्थ—वे जगत् के कारण हैं, यों कहकर निम्न 'यत्र येन' श्लोक में कहते हैं कि वे जगत् रूप हैं।

श्लोक—**यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा ।**
स्यादिदं भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ॥४॥

श्लोकार्थ—जिसमें, जिस साधन से, जिससे, जिसका, जिसके लिए, जो, जिसको, जिस प्रकार, जब होता है; वे प्रधान पुरुष और ईश्वर भी साक्षात् भगवान् आप ही हैं ॥४॥

सुबोधिनी—लोके षट्कारकाणां प्रकारसहितसर्वविभक्तीनां यावान् वाच्योर्थः स सर्वोऽपि भवानेव, तत्कारणं **प्रधानपुरुषौ** च, तस्यापि कारणमी**श्वरः** कालः, तयोरपि नियन्ता पुरुषोत्तम एवेति कृष्ण एवोक्तः। उभयोरेकत्वेन मूलमेव सर्वं भवतीति च। एतादृशो **भगवां**स्त्वमेवेत्यर्थः ॥४॥

व्याख्यार्थ—व्याकरणानुसार सात विभक्तियाँ हैं, जिनमें से छठी विभक्ति सम्बधवाचक है, जिससे उसके सिवाय शेष ६ विभक्तियाँ कारक कही जाती हैं अर्थात् वे विभक्तियाँ नाम और क्रिया पद का परस्पर सम्बन्ध अथवा नाम का अन्य नाम से सम्बन्ध बताती हैं। अतः ये विभक्तियाँ कारक कही जाती हैं। इसी प्रकार आप भी विभक्तियों की तरह, सब तरह सब पदार्थों से सम्बन्ध धराने से सब कुछ आप ही हैं, अतः प्रधान (प्रकृति) और पुरुष आप ही हैं। उनका ईश्वर जो काल रूप है, वह भी आप ही हैं। तात्पर्य, विशेष में प्रधान, पुरुष और काल को भी वश में करने वाले जो पुरुषोत्तम स्वरूप हैं, वह भी आप श्रीकृष्ण ही हैं। सारांश यह हुआ कि श्रीकृष्ण, बलरामजी दोनों को एक समझ दोनों ही मूल कारण हुए। इस प्रकार दो रूप धारण करने वाले आप ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं, कहने का यही अर्थ (तात्पर्य) है ॥४॥

आभास—एवं स्वरूपकारणत्वे निरूप्य उत्पत्तिं निरूप्य स्थितिं निरूपयति **एतन्नानाविधमिति** ।

आभासार्थ - इस प्रकार तीसरे श्लोक में स्वरूप और कारण कहकर और चौथे में उत्पत्ति बताकर निम्न 'एतन्नानाविधं' श्लोक में स्थिति का निरूपण करते हैं।

श्लोक—**एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज ।**
आत्मनानुप्रविश्यात्मा प्राणो जीवो बिभर्ष्यजः ॥५॥

श्लोकार्थ हे अधोक्षज ! आपके बनाए हुए इस नाना-विध जगत् में स्वयं प्रविष्ट होकर, जन्मरहित होते हुए भी आप आत्म स्वरूप, प्राण और जीव रूप होकर, उसको धारण करते हो ।।५।।

सुबोधिनी—भिन्नाभिन्नब्रह्ममायाद्यनेकप्रकारं **आत्मनैव सृष्टम्**। सर्वेष्वेव प्रकारेषु भगवानेव कर्ता। **अधोक्षजेति** सर्वकर्तृत्वं तस्याज्ञातं बहिर्मुखैरिति निरूपितम्। ततः 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इतिवत् अन्तः**प्रविश्य,** प्रवेशे केवलमात्मनैव प्रविश्य, पश्चात्तत्रानैकरूपो जात इत्याह। आदौ **आत्मा** तत्सर्वं व्याप्य स्थितः, पश्चा**ज्जीव**रूपेण **प्राण**रूपेण च जातः। **प्राण**शब्देनेन्द्रियाण्यपि सगृहीतानि। '**सच्च** त्यच्चाभवत्' इति श्रुत्यर्थो निरूपितः। ततः सर्वमेव जगच्छरीरादिकमपि **बिभर्षि**। धारकशक्तिमपि तत्रैव योजितवान्। अन्तर्यामी वा तदर्थमधिकः प्रविष्टः सर्वे श्रुत्युक्ताः प्रकारा अत्र संगृह्यन्ते ।।५।।

व्याख्यार्थ—ब्रह्म माया आदि विविध प्रकार का जगत् आपने ही रचा है, सर्व प्रकार में कर्त्ता वे भगवान् ही हैं। आपको वेद अधोक्षज कहते हैं, जिसका तात्पर्य है कि इन्द्रियों से आपका ज्ञान नहीं हो सकता है, जिससे बहिर्मुख यह नहीं जान सकते हैं कि आप भगवान् इस विश्व के कर्त्ता हैं। जगत् रचने के बाद उसमें आप प्रविष्ट हो गए, प्रवेश कर विश्व में अनेक रूपों से प्रकट होकर क्रीड़ा करने लगे, पहले आत्मा बने, उस रूप से सर्व में व्याप्त होकर रहे, फिर जीवन रूप और प्राण रूप होकर कार्य करने लगे। 'प्राण' शब्द से इन्द्रियाँ भी कही हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् २-६-१ में इसको 'सत् तथा त्यत् हुए', यों कहा है, पश्चात् यों बनकर शरीर आदि सम्पूर्ण जगत् को धारण करते हो, धारण करने की जो शक्ति है, उसको भी वहाँ ही नियुक्त करते हैं और धारण करने के कार्यार्थ अन्तर्यामी रूप से भी प्रविष्ट हुए। श्रुति ने जो सृष्टि के प्रकार कहे हैं, वे सर्व यहाँ लिए हैं ।।५।।

आभास—एवं स्थितिमुक्त्वा तस्याधिदैविकमपि रूपमाह **प्राणादीनामिति**।

आभासार्थ—इसी प्रकार स्थिति कहकर अब 'प्राणादीनां' श्लोक में उसके आधिदैविक रूप का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः ।**
पारतन्त्र्याद्वैसादृश्याद् द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ।।६।।

श्लोकार्थ—विश्व के सृजक अर्थात् कार्य करने वाले जो प्राण आदि हैं, उनमें जो शक्तियाँ हैं, वे सब शक्तियाँ आप जो 'पर' हैं, उनकी हैं, इन प्राणादि की नहीं है; क्योंकि चेष्टा करने वाले ये परतन्त्र व जड़ हैं, ये केवल चेष्टा वाले हैं, शक्ति वाले नहीं हैं। जिस प्रकार तिनके आदि पदार्थों में जो चलने आदि की चेष्टा देखने में आती है, वह वायु की शक्ति से होती है, उनकी स्वयं की शक्ति से नहीं होती है ।।६।।

सुबोधिनी—**प्राणादयः** सर्वे स्वक्रियाशक्त्या विश्वमेव सृजन्ति । कर्मेन्द्रियैरेव सर्वं सृज्यत इति **विश्वसृक्**प्रयोगः । एतेषां **याः शक्तयस्ताः परस्यैव** आधिदैविकस्यैव, न त्वाध्यात्मिकस्य आधिभौतिकस्य वा । यथा आत्मप्रयत्न एव इन्द्रियाणां शरीरस्य च भवति । नन्वेतेषां सहजाः शक्तयः कुतो नाङ्गीक्रियन्ते किमित्याधिदैविकमधिकं कल्प्यत इति शङ्कां परिहरति **पारतन्त्र्यादि**ति । एते आध्यात्मिकाः परतन्त्राः कथं स्वतन्त्रतया कार्यं करिष्यन्ति अन्यथा सर्वदैव कथं कार्यं न कुर्युः तस्माद्यदैव शक्त्याधानं तदैव कार्यं कुर्वन्ति नान्यदेति सर्ववस्तूनां वस्तुस्वरूप आधिदैविकापरपर्यायः । 'चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः' इत्यादिश्रुतिवाच्यो भगवानेवेत्यर्थः । ननु जीवोऽङ्गीकर्तव्योऽवश्यमिति अन्तर्यामी जीवो वा स्वशक्त्याधानं करोतु किमन्तर्गडुना रूपान्तरेणेति चेत् तत्राह **वैसादृश्यादि**ति । सर्ववस्तूनामात्मा विसदृशः चेतनत्वादन्येषां जडत्वात, यदि विसदृशोऽपि स्वशक्तिमादध्यात्, अन्धादिषु श्रोत्रादिष्वपि चक्षुःशक्तिं कुतो नादध्यात् । अतः प्रतिनियतपदार्थसिद्धयर्थं तत्तत्स्वभावापन्नं अतिरिक्तमेव रूपमङ्गीकर्तव्यमित्यर्थः । किंच । यदेतदुक्तमाध्यात्मिकमाधिभौतिकं च ताभ्यामेव कार्यं सिध्यत्विति । तत्रोच्यते । **द्वयोरपि** तयो**श्चेष्टैव** तृणादीनामिव, न तु प्रेरकत्वं कर्तृत्वं वा संभवति । कुतः एतत् इत्याकाङ्क्षायां देहलीप्रदीपन्यायेन अग्रे योजयित्वा निरूपयति **चेष्टैव चेष्टताममि**ति । **चेष्टतां** क्रियावतां **चेष्टैव** धर्मो भवितुमर्हति, न तु प्रेरकत्वं कदाचिद्वा चेष्टाभावः, तस्मादाधिदैविकरूपमवश्यमङ्गीकर्तव्यमिति भावः ॥६॥

व्याख्यार्थ—प्राण आदि में क्रिया शक्ति मात्र है, उससे विश्व की रचना करते हैं, सब कर्म इन्द्रियों से हो बनाते हैं, इसलिए ही केवल प्राणादि को विश्वसृष्टा कहा जाता है, जिस प्रकार शरीर और इन्द्रियों का प्रयत्न आत्मा का ही प्रयत्न है, वैसे ही प्राणादिक की जो शक्तियाँ दीखती हैं वे 'पर' की ही हैं अर्थात् उनमें रहे हुए आधिदैविक की ही हैं, न कि आध्यात्मिक व आधिभौतिक की है ।

प्राणादि की शक्तियों को सहज (कुदरती) शक्तियाँ क्यों नहीं माना जाता है ? आधिदैविक की विशेष कल्पना क्यों की जाती है ? जिसका उत्तर देते हैं कि वे प्राणादि आध्यात्मिक परतन्त्र हैं । जो परतन्त्र है वह स्वतन्त्रता से काम नहीं कर सकेगा । यदि स्वतन्त्र हो तो सदैव क्यों नहीं कार्य करे ? अतः जब आधिदैविक शक्ति उनमें शक्ति डालती है तब कार्य करते हैं नहीं तो नहीं कर सकते हैं, इससे सिद्ध है कि सब वस्तुओं में वस्तु का स्वरूप रहता है, जिसको 'आधिदैविक' कहा जाता है, जिसका तात्पर्य है कि श्रुति में जो भगवान् का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है कि वह, चक्षु का चक्षु, कान का कान, मन का मन है, अतः वह भगवान् ही सब का आधिदैविक शक्ति स्वरूप है, उसकी शक्ति द्वारा ही प्राण आदि कार्य कर सकते हैं—अन्यथा नहीं ।

यदि यह शङ्का की जावे कि जब जीव और अन्तर्यामी माने जाते हैं तो वे प्राण आदि को शक्ति दे देवें, व्यर्थ दूसरे रूप की कल्पना की कौनसी आवश्यकता है ? इस प्रकार की शङ्का होने पर उत्तर देते हैं कि पृथक प्रकार के होने से, आत्मा सर्व वस्तुओं से अन्य प्रकार की है, कारण कि वह चैतन्य है और दूसरे पदार्थ जड़ हैं, अतः जो जीव तथा अन्तर्यामी शक्ति दे सकने में समर्थ हों तो नेत्रों में देखने की शक्ति क्यों नहीं प्रकट करते ? तथा कर्ण आदि इन्द्रियों में देखने की शक्ति डाल देते, किन्तु इतना सामर्थ्य न होने से यों शक्ति प्रकट नहीं कर सकते हैं ? तात्पर्य यह है कि

प्रत्येक पदार्थ शुद्ध स्वरूप में स्थित रहे, इसलिए हरेक वस्तु में पृथक् पृथक् स्वभाव वाला स्वरूप अन्य अन्य है, यों ही सिद्ध होता है. जैसे तिनके आदि में केवल चेष्टा है किन्तु वह चेष्टा वायु द्वारा दी हुई शक्ति से प्रकट होती है, इसी प्रकार आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक में केवल चेष्टा है, प्रेरकत्व का कर्तृत्व नहीं है, अतः उसका प्रेरक तो अन्य आधिदैविक स्वरूप है, जिसकी स्वीकृति आवश्यक है, इस विषय को ही देहली दीपक न्याय वत् समझना चाहिए ।।६।।

कारिका—**कर्ता सर्वप्रविष्टात्मा नानारूपस्तथा परः ।**
चतुर्धा वेदरक्षार्थं चतूरूपो निरूपितः ।।११।।

कारिकार्थ—(१) कर्त्ता, (२) सर्व में प्रविष्ट आत्म रूप, (३) पृथक्-पृथक् रूप, (४) पर अर्थात् आधिदैविक रूप; इसी प्रकार चार रूप चार वेदों की रक्षार्थ निरूपण किए हैं ।।११।।

आभास—विभूतिरूपं निरूपयति **कान्तिस्तेज** इति ।

आभासार्थ—'कान्तिस्तेजः' श्लोक में विभूति रूप भगवान् का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् ।**
यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् ।।७।।

श्लोकार्थ—चन्द्र, अग्नि, सूर्य और नक्षत्र एवं बिजली की कान्ति, तेज, प्रभा और सत्ता, इसी प्रकार पर्वतों की स्थिरता, भूमि का कार्य गन्ध; ये सब आप ही हैं ।७।

सुबोधिनी—सर्ववस्तुषु या **कान्तिः** । सौन्दर्यं, **तेजः** दीप्तिः मण्यादिष्विव **प्रभा** परप्रकाशिका, **सत्ता** वस्तुस्थितिः । यद्यप्येतच्चतुष्टयं सर्ववस्तुषु विद्यमानं भवानेव, तथापि तद्धर्मा येषु प्रसिद्धास्तान् गणयति **कान्तिश्चन्द्रे**, **तेजः** सूर्ये **प्रभा** अग्नौ **ऋक्षाणां** च, **विद्युतां सत्ता** । यथा भगवद्व्यतिरेकेण विद्युतां न क्वापि स्थितिः एवमेतेषामपि भगवतैव कान्त्यादिकं नान्यथेत्यर्थः । धर्मरूपोऽयं निरूपितः । सोऽपि भगवान्निति ज्ञापयितुं षड्धर्मपूर्त्यर्थं पुनर्धर्मावाह **यद्भूभृतां स्थैर्यं यच्च भूमेर्गन्धः** । तदुभयमपि त्वमेव । तत्र सर्वत्र हेतुः **अर्थत** इति, कार्यतः सुखादिकार्याणि जनयन्ति । यदि सुखजनकत्वं धर्मिणि स्यात्तदा धर्माणामपि स्यात् । 'कारणगुणा हि कार्यगुणमारभन्ते' इति यत्सामर्थ्यं धर्मिणो नास्ति तद्धर्माणां युक्तिबाधितमपि । अथापि धर्मेषु कार्यातिशयो दृश्यते तेन ज्ञायते ते धर्मा भगवद्रूपा इति । एवं कार्येष्वपि कारणातिरिक्तसामर्थ्यं यत्र दृश्यते तद्भगवानिति ज्ञातव्यम् । अनेन तेजोभूम्योः धर्मा भगवद्रूपा निरूपिताः ।।७।।

व्याख्यार्थ—पदार्थ मात्र में जो सुन्दरता और प्रकाश है, मणि आदि में जो अन्य को प्रकाशित करने वाली प्रभा है, और पदार्थ मात्र में जो सत्ता है, वह सब आप ही हैं। यद्यपि सर्व पदार्थों में ये चार आप ही हैं, तो भी जिस पदार्थ में जिस प्रसिद्ध रूप विभूति से आप विराजते हैं वह पृथक् पृथक् कह कर समझाते हैं । (१) कान्ति अर्थात् सुन्दरता चन्द्रमा में, (२) तेज सूर्य में, (३) प्रभा

अग्नि और नक्षत्रों में, (४) बिजुली में सत्ता, भगवान् के सिवाय, जैसे बिजली की कहीं भी स्थिति नहीं रहती है वैसे ही चन्द्रमा आदि में भी कान्ति आदि भगवान् से ही है, भगवान् के सिवाय, नहीं है. यह भगवान् के धर्म रूप का निरूपण हुआ, भगवान् के छः धर्म हैं चार ऊपर कहे शेष दो धर्म, पर्वतों की स्थिरता तथा भूमि की गन्ध कही है वे 'वस्तुतः' पद से सर्व पदार्थों में जो ये धर्म हैं वे भगवान् के ही रूप हैं, अतः परिणाम में ये सुख उत्पन्न करते हैं, धर्मी में जब सुख उत्पन्न करने का गुण होता है, तब ही धर्मों में भी सुख उत्पन्न करने का गुण आता है, कारण कि, गुण ही कार्यों में वे गुण उत्पन्न करते हैं, यदि धर्मी में कदाचित् सामर्थ्य प्रकट न भी देखने में आवे, किन्तु वह सामर्थ्य धर्मों में है, यों मानना तर्क से विरूद्ध होते हुए भी जो वह सामर्थ्य धर्मों में देखने में आजावे तो समझना चाहिए कि यह सामर्थ्य भगवान ही है इसी प्रकार इस श्लोक में यह सिद्ध किया है कि तेज और भूमि के धर्म भगवद्रूप हैं ।।७।।

आभास—प्रसङ्गादन्येषामपि महाभूतानां धर्मा भगवद्रूपा इति निरूपयति । तत्र प्रथमं जलस्याह **तर्पणमिति** ।

आभासार्थ—प्रसङ्ग वश महाभूतों के धर्म भी भगवद्रूप हैं, यह सिद्ध करने के लिए 'तर्पण' श्लोक में प्रथम जल के धर्म भी भगवद्रूप हैं, कहते हैं—

श्लोक—**तर्पणं प्राणनमपां देवत्वं ताश्च तद्रसः ।**
ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर ।।८।।

श्लोकार्थ—हे ईश्वर ! प्यास मिटाकर तृप्ति करनी, जिलाना, देवत्व, पृथक्-पृथक् प्रकार के हैं और रस; ये जल के धर्म कहे जाते हैं । इसी प्रकार ओज, सह, बल, क्रिया और गति; ये वायु के धर्म हैं, यों कहा जाता है ।।८।।

सुबोधिनी—यदकस्मात्पीते जले काचित्तृप्तिर्जायते । सा तृप्तिर्न जलस्य अन्यथा जलस्य शोषो न भवेत् । प्राणानामप्याप्यायनं जायते तिष्ठन्ति तेन प्राणाः, एवं सति जले मग्नः पुरुषो न म्रियेत । तस्मान्न जलस्य धर्मः प्राणनं किं तु भगवानेव । किं च । जलस्य देवत्वं श्रूयते गङ्गादिषु 'आपो वै सर्वा देवताः' इति श्रुतिश्च, अन्यथा पापक्षयादिजनकत्वं न स्यात् । किं च । **ताश्चापः** कूप्यादिभेदभिन्नाः । तासां दृष्टादृष्टादिफलभेदा दृश्यन्ते । तद्भगवत्त्व एवोपपद्यते । किं च । **तद्रसो**ऽपि नानाविधः । कथमेकविधाज्जलादनेकविधो रसो भवति । भूमावपि तत एव रस इति तत्रापीदं दूषणम् । वायोराह **ओज** इति । **ओज** इन्द्रियाणां सामर्थ्यं, **सहो**ऽन्तःकरणस्य, **बलं** शरीरस्य । एतद्वायुकार्यमिति लोकः, तथा सति वायुव्याप्तस्यैतदाधिक्यं भवेत् । तस्माद्वायुधर्मत्वेन प्रसिद्धावपि भगवानेवेत्यर्थः । किं च । या काचिच्चेष्टा तृणादिषु या वा जङ्गमानां गतिः, सापि पूर्वोक्तन्यायेन भगवानेव । **वायोस्तवेति** वायुरपि त्वमेवेत्युक्तम् । वायुभेदाश्च शतशः । **ईश्वरेति** वायोः सूत्रात्मकत्वाभावोऽपि भगवानेवेति निरूपितम् ।।८।।

व्याख्यार्थ—जल जब पीने में आता है, तब उससे कुछ तृप्ति होती है, इससे इस तृप्ति को जल का धर्म समझा जाता है, किन्तु वास्तव में यह जल का धर्म नहीं है, क्योंकि यदि यह जल का धर्म

होवे, तो जल स्वयं सूखे नहीं, इसी तरह जिलाना जल का धर्म माना जाता है, वास्तव में वह जल का धर्म नहीं, यदि जल का धर्म जिलाना हो तो जल में डूबा हुआ मनुष्य मरे नहीं, किन्तु वह मरजाता है, इससे सिद्ध है कि जिलाना जल का धर्म नहीं है, किन्तु भगवान् का धर्म है, जल को देव माना जाता है और जल सर्व देवता हैं। यों श्रुति कहती है, देव होने से ही पाप क्षय कर सकता है, वह कूप आदि से जुदा २ प्रकार का होता है उनसे उत्पन्न फलों के भेद भी अनेक हैं, इसी प्रकार अनेक भेद आदि, भगवान् के ही हो सकते हैं, और जल के रस भी जुदे जुदे प्रकार के होते हैं, यदि जल एक हो तो अनेक रस कैसे बने, पृथ्वी में भी उस जल से ही रस आता है, जिससे भूमि में रहे हुए रसों में भी वह दूषण आता है।

श्लोक के उत्तरार्ध में वायु के जो धर्म दीखते हैं वे भी भगवद्धर्म हैं, 'ओज' अर्थात् इन्द्रियों की सामर्थ्य, 'सह' अन्तःकरण की समर्थता, बल, शरीर की सामर्थ्य इनको लोक वायु के धर्म कहते हैं, यदि ये वायु के धर्म होते तो तूफान में घिरे हुए जनों में ये धर्म बहुत होने चाहिए किन्तु यों होता नहीं है। अतः ये धर्म वायु के प्रसिद्ध होते हुए भी वायु के नहीं हैं, किन्तु भगवान् के धर्म हैं, अर्थात् धर्म रूप भगवान् ही हैं। इसी प्रकार तिनकों में जो क्रिया दीखती है, जंगमों में जो गति देखने में आती है यह भी भगवान् ही है, वायु भी भगवान् का ही रूप है, वायु के अनेक भेद हैं, ईश्वर शब्द से यह कहा है कि वायु में सूत्रत्व का जो अभाव है, वह भी आप हैं, सूत्रत्व का अभाव होने से ही वायु सदैव एक प्रकार से नहीं चलती है ॥८॥

आभास—आकाशस्याह दिशामिति।

आभासार्थ—आकाश भगवान् का रूप है, यों 'दिशां त्वमव' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः।
नादो वर्णस्त्वमोंकार आकृतीनां पृथक्कृतिः ॥९॥

श्लोकार्थ—दिशाओं के मध्य में जो खाली है, दिशाओं की पोल, उसका स्फोट तथा आश्रय, शब्द ओंकार एवं वर्णों की आकृति की अलग-अलग कृति आप ही हैं ॥९॥

सुबोधिनी—प्राग्भागे गतस्य तत्रापि महान**वकाशो** दृश्यते दिग्भेदश्च तदाह **दिशः खमिति**। ब्रह्मवादे दिग्धर्म आकाशः तत उक्तं दिशश्च सर्वत्र नानाविधा भवन्तीति। सर्वत्र सर्वं भगवत एव भवतीति दिशोऽपि **त्वमेव**। तत्र यः **स्फोटः** सोऽपि, अन्यथा शब्दे अर्थस्फुरणं न स्यात्। स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति। आकाशस्य श्रुतावा**श्रयः** श्रूयते दिशां च। पूर्वभागे सः दक्षिणभागे स इति। अत **आश्रयो**ऽपि भवानेवेत्यर्थः। बाह्यमुक्त्वा आन्तरमाह **नादो वर्णस्त्वमोंकार** इति। अनुरणनात्मकः आन्तरो **नादः**, स एव साकारत्वमापन्नो **वर्णः**, स एवान्तःकरणे आवेष्टित **ओंकारः**, ततो वैखरीप्रकारेण निर्गताः पञ्चाशद्वर्णाः तेषामाकृतय आकारा भिन्नाः तेषां करणान्यपि भिन्नानि कण्ठादीनि। कथमेकस्मात्कारणादनेकप्रकारवर्णा अनेकस्थानप्रकारा भिन्ना भवेयुः। अत **आकृतीनां** वर्णानां **पृथक्कृतिः** पृथक्क्रिया भवानेवेत्यर्थः ॥९॥

व्याख्यार्थ—अपने पूर्व भाग में जो आकाश दीखता है, उसमें भी मध्य में बड़ी पोल देखने में आता है. इसी तरह दिशाओं में भी जो पोल है उसको अवकाश शब्द से कहा है. ब्रह्मवाद सिद्धांत के अनुसार दिशा जिसका धर्म अर्थात् गुण है वह आकाश है, यों इसलिए कहा है कि दिशाएँ चारों तरफ पृथक् पृथक् हैं, अतः सर्व पदार्थ सर्व तरफ से जुदे २ हैं, कारण कि ये सर्व भगवान् से ही प्रकट हुए हैं, इसलिए दिशाएँ भी आप हैं, दिशाओं में जो स्फोट है वह भी आप ही हैं यदि यों न होवे तो शब्द में जो अर्थ स्फुरता है, वह न स्फुरे 'स्फुरति' स्फुरता है. क्रिया के अर्थ से भी यही सिद्ध होता है, पूर्व भाग और उत्तर भाग में आकाश है, यों श्रुति में आकाश और दिशाओं को शब्द का आश्रय कहा है, अतः आश्रय भी आप हैं, इसी प्रकार आकाश के बाहर के धर्मों का वर्णन कर नाद, वर्ण तथा ओंकार आप हो, इन शब्दों से ही भीतर के धर्म कहते हैं, जो नाद भीतर का रणाकार स्वरूप है, वह ही नाद आकार वाला हो जाता है तब उसको वर्ण कहा जाता है, अंतःकरण प्रविष्ट वह वर्ण ही ओंकार है, उसमें से वाणी के प्रकार से पचास वर्ण उद्भूत हुए हैं, उनके आकार पृथक् पृथक् हैं, और उनके निकलने के कंठ तालु आदि स्थान भी अलग अलग हैं, एक ही कारण से उत्पन्न और जिनके केवल निकलने के स्थान जुदे जुदे हैं, वे अनेक प्रकार के वर्ण पृथक् पृथक् कैसे हो ? इसलिए सिद्ध है कि वर्णों की जुदी जुदी आकृति एवं पृथक् पृथक् क्रिया भी आप ही हैं, यही अर्थ है ।।९।।

आभास—एवं महाभूतान्युक्त्वा इन्द्रियाण्याह **इन्द्रियमिति** ।

आभासार्थ महाभूतों को भगवद्रूप कहकर अब इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां' श्लोक में इन्द्रियाँ भी भगवद्रूप हैं, यह सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहः ।**
अवबोधो भवान्बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती ।।१०।।

श्लोकार्थ—इन्द्रियों की इन्द्रिय[1] आप हैं, इन्द्रियों के देव भी आप हैं, उनका अनुग्रह भी आप हैं, अन्तःकरण तथा जड़ बुद्धि में ज्ञान भी आप हैं और जीव की स्मृति भी आप हैं, कदाचित् कोई उल्टी स्मृति जो होती है, जैसे सीप में चाँदी; ऐसी स्मृति भगवद्रूप नहीं है, वह विषयतारूपा होने से भास रूप है, अतः 'सती' शब्द से जो स्मृति कही है, वह भगवद्रूप है ।।१०।।

सुबोधिनी—सर्वेषामि**न्द्रियाणां** यदि**न्द्रियं** तदेकं सर्वानुस्यूतं वर्तत इति वक्तव्यम् । तत्संबन्धादेव शरीरावयवविशेषाणामिन्द्रियत्वम् । 'इन्द्रियं वीर्यं पृथिवीमनुव्यार्छत्' इति श्रुतिरपि संगच्छते तद्भवानेव । अत एव तस्य ओषधिवीरुधत्वं नानारूपत्वं च संगच्छते । इन्द्रियाधिष्ठातृ**देवा** अपि त्वमेव । चकारात्तत्संबन्धः । तेषामनु**ग्रहो**ऽपीन्द्रियेषु । अन्तःकरणस्याह **अवबोधो भवान् बुद्धेरिति** । बुद्धेर्जडाया अपि योऽवबोधः विषयप्रकाशरूपः स **भवानेव** । **जीवस्यापि** जीवा-

---

१- देखने, ज्ञान कराने आदि की शक्ति

त्मनः या **अनुस्मृतिः** पूर्वापरानुसंधानं स **भवानेव**। अनुभव एव ब्रह्मणः स्मृतिर्जीवस्य, इन्द्रियद्वारा अनुभवस्तु कृत्रिमः। अत एवेन्द्रियैरपि जनितोऽनुभवः आत्मार्थं संस्कारमेव जनयति। यथा स्मृत्युद्गमयोग्यो भवत्यात्मा सापि जीवस्य भगवानेवेत्यर्थः। सा दोषवशात् कदाचित् प्रकारान्तरेणापि स्फुरति, यथा शुक्तिका रजतत्वेन। तां वारयति **सतीति** ॥१०॥

व्याख्यार्थ—समझना चाहिए, कि सर्व इन्द्रियों में जो इन्द्रिय रहती है वह एक ही है, उस एक इन्द्रिय के सम्बन्ध से ही शरीर के अवयव इन्द्रिय रूप बनते हैं, यों जान लेने पर ही इन्द्रिय वीर्य पृथ्वी के पीछे गए यह श्रुति चरितार्थ होती है अतएव सर्व इन्द्रिय आप हैं यों सिद्ध होजाता है, इससे ही लता और औषधि रूप हो जाना, उनमें पृथकता होनी भी घट सकती है, इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव भी आप हैं 'च' पद से यह बताया है कि उनका सम्बन्ध भी आप हैं, इन्द्रियों पर अनुग्रह रूप भी आप हैं, आप बुद्धि के अवबोध हैं इस पद से यह कहा है कि अन्तःकरण भी भगवद्रूप है, यद्यपि बुद्धि जड़ है तो भी पदार्थ को प्रकट करने वाला जो अवबोध उसमें है, वह आप ही हैं, जीव में जो पूर्वा पर विचार शक्ति है वह आप ही हैं, ब्रह्म का अनुभव ही स्मृति है, जीव को इन्द्रियों द्वारा जो अनुभव होता है वह तो मिथ्या है. किन्तु यदि इन्द्रियां भी ऐसा अनुभव करावे, जिससे जीव ब्रह्म को स्मरण करने लगे तो वह स्मरण कराने वाला अनुभव भी भगवद्रूप है, शेष जैसे सीप में चांदी भासती है, वैसे अज्ञान के कारण वह स्मृति अन्य प्रकार की हो, तो वह भगवद्रूप नहीं है किन्तु मिथ्या है वह विषयता रूपा भास मात्र है ॥१०॥

आभास—एवं सर्वकार्यधर्माः भगवानिति निरूप्य कारणता भगवानेवेति निरूपयति **भूतानामसि भूतादिरिति**।

आभासार्थ—उपर्युक्त प्रकार से महाभूत आदि कार्य के सर्व धर्म भगवान् हैं यों सिद्ध कर अब 'भूतानामसि' श्लोक में इस कार्य का कारण रूप भी भगवान् ही हैं यह कहते हैं—

श्लोक—**भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजसः।**
वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशायिनाम् ॥११॥

श्लोकार्थ—आप भूतों के तामस अहङ्कार हैं, इन्द्रियों के तेजस अहङ्कार हैं, मन के वैकारिक अहङ्कार हैं और जीवों की प्रकृति हैं ॥११॥

सुबोधिनी—पञ्चमहाभूतानां कारणं **भूतादि**रहंकारः, **इन्द्रियाणामपि तैजसो** राजसः, तथा **विकल्पानां** संकल्पविकल्परूपमनसः कारणं **वैकारिकः** सात्त्विकोऽहंकारः। **अनुशायिनां** महत्तत्त्वादिजीवानां कारणं प्रकृतिर्भवान् ॥११॥

व्याख्यार्थ—आप पांच महाभूतों का कारण तामस अहङ्कार हैं, इन्द्रियों के भी आप राजस अहङ्कार हैं, इसी प्रकार सङ्कल्प विकल्प रूप मन का सात्विक अहङ्कार आप महत्तत्व जिनकी आदि है, वैसे जीवों की आप प्रकृति हैं ॥११॥

आभास—एवं कारणस्य कारणतामुक्त्वा कार्यस्यापि कार्यता भवानेवेत्याह **नश्वरेष्विह भावेष्विति ।**

आभासार्थ—इसी तरह कारणों का कारण रूप भगवान् हैं यों कह कर अब नश्वरेष्विह' श्लोक में बताते हैं कि कार्य का कार्यत्व भी आप ही हैं—

श्लोक—**नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरः ।**
यथा द्रव्यविकारेषु ह्यन्यदा व्यावहारिकः ॥१२॥

श्लोकार्थ – इस लोक में जो नाशवान् पदार्थ हैं, उनमें अविनाशी आप हैं, जैसे द्रव्य के विकारों में अर्थात् द्रव्य से बने हुए पदार्थों में द्रव्य है । पदार्थों के नाश हो जाने पर भी द्रव्य अविनाशी होने से सदैव मौजूद है, अतएव अन्य समय में वा अन्यत्र व्यवहार में आता ही है ॥१२॥

सुबोधिनी—नाशप्रतियोगि कार्यम् । ततश्च कार्यस्य नाशे कार्यता नोपपद्येत, कार्यस्य नष्टत्वात् । अतः कश्चन पदार्थो वक्तव्यः । यः कार्यः कार्येषु स्थिरो भवति यस्य नष्टत्वं धर्मः । कार्यस्येति संबन्धश्च, स **अनश्वरः** सर्वदा स्थिरः स एकः सर्वकार्यानुस्यूतो वक्तव्यः । तमेवाश्रित्य कश्चिदाह 'नह्यसन् घटादिर्न घटादिः' इति । ननु **नश्वरेषु भावेषु** कोऽप्यनश्वरो न दृश्यते को वा भगवान् भविष्यतीति चेत्, तत्र दृष्टान्तमुपपादयति **यथा द्रव्यविकारेष्विति । द्रव्यविकारेषु** घटपटादिषु सोऽन्यो घटपटादिरूपो वर्तते । तद्वत्सर्वेष्वपीत्यर्थः । ननु स एव नास्ति को दृष्टान्तेन साध्यत इति चेत्, तत्राह **अन्यदा व्यावहारिक** इति । घटाभावसमये यस्तु घटव्यवहारं साधयति, अन्यथा सद्व्यवहारः बाधितार्थविषयकः कथं स्यात् । स घटो भग्नः भूतले घटो नास्ति । पञ्च घटा भग्ना इति । एवं धर्मधर्मिव्यवहारः सद्विषयक एवेति सोऽवश्यमङ्गीकर्तव्य इति **हि**शब्दार्थः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—कार्य नाश का प्रतियोगी[1] है, कार्य के नाश होने पर कार्यता बन नहीं सकती है, जिससे कोई भी पदार्थ है यों मानना ही चाहिए, जो पदार्थ, कार्य रूप होते हुए भी कार्य में स्थिर रहता है, जिसका नाश होना धर्म है, और कार्य के साथ उसका सम्बन्ध हो, वह कभी नाश न हो, सदेव स्थिर रहता हो, ऐसा एक पदार्थ सर्व कार्यों में संमिलित है यों मानना ही चाहिए, उसी पदार्थ का ही आश्रय कर किसी ने कहा है कि 'न ह्यसन् घटादि र्न घटादिः' घट देखने में नहीं आता है इसलिए घट नहीं है ऐसा मानना अनुचित है ।

नाशवन्त पदार्थों में कोई अविनाशी पदार्थ, दीखता नहीं है, तो फिर भगवान् कौन होगा ? यदि यों कहे तो, इसका उत्तर यह है, कि जिस तरह द्रव्य से बने हुए पदार्थों में द्रव्य है. और उस

---

[1] जैसे घट का प्रतियोगी घट का **अभाव** है, वैसे ही कार्य का अभाव कार्य का प्रतियोगी है । इसी तरह अमुक कार्य के नाश का प्रतियोगी वह कार्य है ।

द्रव्य में अन्य घट पट आदि न दीखते हुए भी विद्यमान हैं, यों माना जाता है, उसी तरह सर्व पदार्थ मात्र में कार्य रूप **से** भगवाद् भी विद्यमान हैं वह ही नहीं है तो दृष्टान्त मात्र से वह कैसे सिद्ध करते हो ? इस पर कहते है 'अन्यदा व्यावहारिक:' अन्य समय में व्यवहार रूप होते हैं, जैसा कि जिस समय घट नहीं है, उस समय भी घट का व्यवहार होता हो है जो यों न होता होवे तो सत् व्यवहार बाधित अर्थ का विषय बन जावे अर्थात् व्यवहार हो ही न सके वह घड़ा टूट गया पृथ्वी पर घड़ा नहीं है, पांच घड़े फोड़े गए इत्यादि इस प्रकार धर्म और धर्मी का व्यवहार सद् का विषय ही है, इसलिए इस प्रकार वह है यों अवश्य अङ्गीकार करना चाहिए, यों 'हि' शब्द का अर्थ है ।।१२।।

आभास—एवं कार्यकारणरूपत्वं निरूप्य सर्वाधारत्वं निरूपयन् तत्कृतगुणदोषाभावार्थमाह **सत्त्वमिति** ।

आभासार्थ – इस प्रकार कार्य और कारण रूप भगवान् ही हैं यों निरूपण कर अब भगवान् सर्व के आधार हैं यों निरूपण करते हुए कहते हैं कि आधार होते हुए भी उन पदार्थों के गुण वा दोष उनको स्पर्श नहीं करते हैं—यह 'सत्वं रजः' श्लोक में प्रतिपादन किया है—

श्लोक—**सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ।**
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ।।१३।।

श्लोकार्थ—सत्त्व, रज और तमोगुण और जो उनकी वृत्तियाँ हैं, वे आप परब्रह्म में आपकी योगमाया से ही कल्पित हैं ।।१३।।

सुबोधिनी—**सत्त्वादयो गुणाः तद्वृत्तयः** अहिंसाद्याः एकादशस्कन्धोक्ताः ते सर्वे **त्वय्येव ब्रह्मणि** । **परे** शब्दब्रह्मवाच्ये तवैव **योगमायया** तत्र **कल्पिताः** अतस्तदाधारत्वेऽपि न तद्दोषसंबन्ध इत्यर्थः । **ब्रह्मणी**त्यपहतपाप्मत्वमुपपत्तिरुक्ता । उपपत्त्यन्तरं **पर** इति । नियामकत्वाच्च तदाज्ञयैव तन्न स्पृशन्तीत्यर्थः । योगमाया च तादृश्येव, यथा योगेन नाधारं स्पृशेयुः ।।१३।।

व्याख्यार्थ—सत्त्व आदि गुण और एकादश स्कन्ध में कही हुई उनकी अहिंसा आदि वृत्तियाँ वे सब, आप, जो शब्द ब्रह्म वाच्य हो उन आप में, आपकी योगमाया ने ही कल्पित की हैं, अतः उनके आधार होते हुए भी, उनके दोषों का सम्बन्ध आप से नहीं है, क्योंकि आप ब्रह्म होने से 'आपहतपाप्मा' हो,'पर' होने से सबके नियामक होने से वे सब आपकी आज्ञा में चलते हैं अतः उनके गुण दोष आप को स्पर्श नहीं कर सकते हैं कारण कि आपकी योगमाया वैसी प्रबल है जो उनको आपका स्पर्श करने नहीं देती है—जैसे योग बल से योगी अपने आधार पृथ्वी से स्पृश नहीं होते हैं ।।१३।।

आभास—ननु विद्यमानाः कथं न स्पृशन्तीत्याशङ्कायामाह **तस्मान्न सन्त्यमी भावा** इति ।

आभासार्थ—जो भगवान् में विद्यमान हैं अथवा जिनमें भगवान् विद्यमान हैं वे भगवान् को कैसे स्पर्श नहीं करते हैं ? इसका उत्तर 'तस्मान्न' श्लोक में देते हैं—

श्लोक— **तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वयि विकल्पिताः ।**
त्वं चामीषु विकारेषु येऽन्यदा व्यावहारिकाः ॥१४॥

श्लोकार्थ—यदि इन पदार्थों को आपसे पृथक् गिना जावे, तो सिद्ध होगा कि ये पदार्थ हैं ही नहीं और जिन पदार्थों का दूसरे समय में व्यवहार हो रहा है, उन पदार्थों में आप नहीं हैं ॥१४॥

सुबोधिनी—**यर्हि त्वयि विकल्पिताः** । त्वत्तो भिन्नतया निरूपिताः । तदा तेषां पृथक्सत्त्वाभावात् **न सन्त्येव** अविकल्पितास्तु सन्ति, न तु **विकल्पिता** इति स्थितिः । अतो दोषाभावार्थं तेषां विकल्पो योगमायारब्धत्वं च निरूप्यते । नहि मायया छिद्यमानः पटः छिन्नो भवति । मायिकपटधर्मा वा कदाचित्संबन्धिषु भवन्ति । ननु तेषामभावे भगवान् कथं सर्वाश्रय इति चेत्, तत्राह **त्वं चामीषु विकारेषु** न वर्तस इत्यर्थः । विकारित्वमेव हेतुः । नन्वेवं सति कथमसद्भिर्व्यवहार इति चेत्, तत्राह **येऽन्यदा व्यावहारिका** इति । यथा **अन्यदा** एते **व्यावहारिकाः** तथा विद्यमानदशायामपि व्यावहारिका भविष्यन्ति को दोष इत्यर्थः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—यदि आप में नहीं हैं अर्थात् आप से जुदे हैं यों गिने जावे तो आप से जुदा किसी का भी अस्तित्व नहीं होने से ये पदार्थ भी नहीं है यों सिद्ध होगा । जो आप से पृथक् न गिने जावे तब ही उनका अस्तित्व सिद्ध होगा अर्थात् वे हैं यों माना जायगा, यों स्थिति है । अतः दोष के अभाव के लिए, उनका भगवान् से पृथक्त्व और योगमाया से उनमें कल्पित हुए हैं यों कहा है । माया से काटा हुआ वस्त्र काटा हुआ नहीं होता है, माया से बनाए हुए वस्त्रों के गुण उनके सम्बन्ध वालों में कभी आते हैं ? यदि उनका अभाव माना जाय तो भगवान् सर्व के आश्रय हैं ? यों कैसे सिद्ध होगा ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि त्व चामीषु विकारेषु न वर्त से' आप भी इन विकारों में नहीं हो, विकारीपन ही हेतु है; यदि यों है तो असत् पदार्थों से व्यवहार कैसे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'येऽन्यदा व्यावहारिकाः' जैसे ये पदार्थ दूसरे काल में व्यवहारिक हैं, वैसे विद्यमान दशा में भी व्यवहारिक होंगे, इसमें क्या दोष है ? यों तात्पर्य है ॥१४॥

आभास—एवं भगवतो निर्दोषपूर्णगुणत्वं निरूप्य एतत् सिद्धान्तं ये न जानन्ति । यतोऽस्य ज्ञानस्य मोक्षसाधकत्वं भविष्यतीत्याशयेनाह **गुणप्रवाह एतस्मिन्निति ।**

आभासार्थ—इसी भांति भगवान् के निर्दोष पूर्ण गुणत्व का निरूपण कर इस सिद्धान्त को जो नहीं जानते हैं उनकी निन्दा करते हैं, क्योंकि यह ज्ञान मोक्ष का साधक होगा इस आशय से 'गुण प्रवाह' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः ।**
गतिं सूक्ष्मां न जानन्ति संसरन्तीह कर्मभिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—इन गुणों के प्रवाह रूप संसार में सर्व की आत्मा आपकी सूक्ष्म गति को न जानने वाले लोग कर्मों के कारण भ्रमित होते रहते हैं ॥१५॥

सुबोधिनी—गुणानामयं प्रवाहः । अनेन मायाकल्पितपक्षो निरुक्तः । तत्र सत्यबुद्धया ये प्रवर्तन्ते ते **अबुधाः**, **तु**शब्दः तेषां बुधत्वपक्षं सिद्धान्तान्तरसिद्धं वारयति । ननु विषयाणामसत्यत्वे यद्यन्यः समीचीनो भवेत् तदा स आत्मार्थं गृह्येत । तदभावादगत्या विषयेष्वेव स्थातव्यमिति चेत्, तत्राह **अखिलात्मनः गतिं सूक्ष्मां न जानन्तीति** । भगवान् सर्वात्मा स च पूर्णानन्तगुण इति पूर्वमेवोक्तम् । अत आत्मनो भगवत्त्वसिद्धौ तेनैव कृतार्थतेति किं विषयैः । किं च । तस्य च सूक्ष्मा गतिरस्ति भक्तिमार्गानुसारिणी । सा वा ज्ञातव्या । उभयाबोधे **इह कर्मभिः संसरन्ति** । अखिलात्मनः अबोधेन संसरन्तीति योजना । गतिं सूक्ष्मां वा अबुध्वेति विपरिणामः कर्तव्यः । तस्मात्स्वार्थं द्वयं निरूपितम्, भगवानात्मत्वेन ज्ञातव्यः, भक्तिर्वा कर्तव्येति ॥१५॥

व्याख्यार्थ—यह गुणों का प्रवाह है, यों कहने से उस मत का निराकरण हो जाता है, जो मत कहता है कि यह माया से बना हुआ है, अतः मिथ्या है, भगवान् से पृथक होते हुए भी सत्य है यों जो लोग मानते हैं वे मूर्ख हैं, 'तु' शब्द से कहते हैं कि अन्य सिद्धान्तानुसार वे ज्ञानी हैं, यह मत असत्य है अर्थात् इस प्रकार मानने वाले वे वास्तव में ज्ञानी नहीं है, विषयों के असत्य होने पर दूसरा कोई पदार्थ श्रेष्ट होवे तो उसको आत्मा माना जाय, ऐसा कोई नहीं हो तो दूसरी गति न होने पर विषयों में हो रहना पड़ेगा, इस प्रकार की शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि अखिलों की आत्मा की सूक्ष्म गति को वे नहीं जानते हैं । भगवान् सब की आत्मा हैं वह पूर्ण और अनन्त गुण वाले हैं यह पहले ही कहा है, अतः आत्मा भगवान् हैं, यों सिद्ध होने पर, उनसे ही कृतार्थता हो जाती है फिर विषयों से क्या ? और विशेष, उनकी भक्ति मार्गानुसारिणी सूक्ष्म गति है, अथवा उसको जानना चाहिए, दोनों का ज्ञान प्राप्त न किया तो इस संसार में कर्मों से भ्रमते रहते हैं, अखिलों की आत्मा भगवान् के अज्ञान से जन्म मरण के चक्कर में भटकते रहते हैं यों योजना करनी । तात्पर्य यह है कि भगवान् को अपनी आत्मा जानना एक यह उपाय है, दूसरा उपाय है उनकी भक्ति करनी, यों करने से ही जन्म मरण रूप संसार चक्कर को काटा जाता है विषयों से नहीं ॥१५॥

आभास – एतदुभयाज्ञाने दोषमाह **यदृच्छया नृतां प्राप्येति** ।

आभासार्थ—भगवान् की सूक्ष्म गति का ज्ञान और भक्ति करनी चाहिए इन दोनों का यदि ज्ञान नहीं है तो दोष लगता है जिसका वर्णन 'यदृच्छया नृतां प्राप्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम् ।**
स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर ॥१६॥

श्लोकार्थ – हे ईश्वर ! सुष्ठु शक्तिशाली तथा दुर्लभ ऐसी मनुष्य देह दैवगति से प्राप्त करके भी जो मनुष्य अपना स्वार्थ, जो भक्ति व ज्ञान है, उसको सिद्ध नहीं करता है, उसने अपनी आयु व्यर्थ गँवाई है ॥१६॥

सुबोधिनी—अज्ञानाविष्टाः बहून्येव कर्माणि कुर्वन्ति । तेन नानाविधेऽपि संसारे प्रवाहन्यायेन कदाचिद्दैवगत्या **नृतामपि** प्राप्नुवन्ति । तत्रापि **सुकल्पां** भगवद्भजनादिषु समर्थाम् । **इहास्मिन्निः**सारे संसारे **दुर्लभाम्** । एवं पुरुषार्थसाधनीभूतं दुर्लभशरीरं प्राप्य, **स्वार्थे** ज्ञाने भक्तौ वा, यः **प्रमत्तः** विघ्नैराक्रान्तः उभयविरोधिवशं गत इत्यर्थः । तादृशस्वल्पे पुरुषार्थसाधनीभूते देहे **वय** एव प्रयोजकम्, तस्मिन् गते जरठः किं साधयिष्यति । एतादृशं **वयस्त्वन्मायया गतं** भोगेच्छया । **ईश्वरेति** समर्थत्वज्ञापनाय ॥१६॥

व्याख्यार्थ—मनुष्य अज्ञान से घिरे हुए होने से, अनेक कर्म करते हैं जिससे अनेक प्रकार के भी संसार में प्रवाह न्यायानुसार कदाचित् दैवगति से मनुष्य देह को प्राप्त करते हैं, उसमें भी ऐसी देह मिली हो जो देह भगवान् के भजन आदि करने में समर्थ हो. यद्यपि ऐसी देह इस निःसार संसार में मिलनी दुर्लभ है, इस प्रकार दैव गति से पुरुषार्थ करने की साधन भूत सुष्ठु शक्तिशाली दुर्लभ देह को प्राप्त कर जो मनुष्य अपने सच्चे स्वार्थ ज्ञान तथा भक्ति को अपनाता नहीं है अर्थात् ज्ञान और भक्तियुक्त आवरण नहीं करता है केवल विघ्नों से आक्रान्त होने पर अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करता है, और संसारासक्त हो जाता है, इसी प्रकार उसी कर्त्तव्य करने में अपनी समर्थ वय को व्यर्थ गवां देता है, तो फिर वृद्धावस्था क्या कर सकेगी, ज्ञान भक्ति करने के योग्य वय आपको माया के प्रभाव से भोगों की आशा में ही चली गई, हे ईश्वर ! यह संबोधन ज्ञान व भक्ति देने में आप समर्थ हैं यों जताने के लिए ही दिया है ॥१६॥

आभास—न केवलं भोगेच्छा किं त्वन्येऽपि दोषा जाता इत्याह **असावहमिति** ।

आभासार्थ—केवल भोग की इच्छा रूप दोष नहीं है किन्तु अन्य दोष भी लगे हुए हैं यह 'असावहं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— **असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु ।**
स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान्सर्वमिदं जगत् ॥१७॥

श्लोकार्थ – आपने इस समग्र जगत् को स्नेह रूप पाशों से बाँध रखा है जैसा कि इस देह में यह मैं हूँ, ये सब पुत्र आदि मेरे हैं, यह अहन्ता-ममता आदि दोष ही बन्धन कारक दोष हैं ॥१७॥

सुबोधिनी— **असौ** देहः वसुदेववाच्यः । **अहमि**त्यस्मिन् या बुद्धिः । **एते** च पुत्रवित्तादयः **ममैव**, न त्वहमेतेषामपीति । एवमहंममताभ्यां व्याप्तः नाशं गच्छामीत्येको दोषः । द्वितीयमाह **देहे चास्यान्वयादिष्विति** । अस्य देहस्यान्वयः वंशः पुत्रादिः । **आदिशब्देन स्त्री**श्वशुराद्याः । न

केवलं तेष्वेव किंतु देहे च चकारात्तत्संबन्धिषु पित्रादिष्वपि । **स्नेहपाशैर्निबध्नातीति** । न केवल मामेव किं तु **सर्वमेव जगत्** ।।१७।।

व्याख्यार्थ—यह देह वसुदेव कहलाती है, इस देह में जो अहं बुद्धि है अर्थात् यह देह मैं हूँ, ये पुत्र वित्त आदि सब मेरे ही हैं, और नहीं, मैं इनका भी हूँ, इस प्रकार अहन्ता और ममता करके व्याप्त हूँ, यह एक दोष है । दूसरा दोष कहते हैं, 'देहेचास्यान्वयादिषु' इस देह का जो सम्बन्धी, वंश पुत्र आदि है, आदि शब्द से स्त्री, श्वशुर, मामे, नाने आदि सब समझने चाहिए, न केवल इनमें ही किन्तु देह में 'च' से उसके सम्बन्धी पिता आदि में भी स्नेह पाशों से बान्धते हो, न केवल मुझे ही किन्तु समस्त जगत् को बन्धन में डालते हो ।।१७।।

आभास—अत्रैकोऽर्थः संदिग्धः । अहं किं विषयत्वेन त्वां बध्नामि, अथवेश्वरत्वेन एवं जगदपि तत्राह **युवां न नः सुताविति** ।

आभासार्थ—यहाँ एक विषय संशयग्रस्त है, मैं (भगवान्) तुझे (वसुदेव को) विषय द्वारा बंधन में डालता हूं अथवा ईश्वरपन से बाँधता हूँ, इसी तरह जगत् को भी बाँधता हूं, यह 'युवां न नः' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—युवां न नः सुतौ साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरौ ।
भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथात्थ ह ।।१८।।

श्लोकार्थ—आप मेरे पुत्र नहीं हैं, किन्तु साक्षात् प्रधान पुरुष के ईश्वर हैं, पृथ्वी के भार रूप क्षत्रियों का संहार करने के लिए आपने अवतार धारण किया है । अहो! आपने ही यों कहा है ।।१८।।

सुबोधिनी- विषयत्वेन चेद् बध्नासि तदोपकारोऽपि भवेत् वस्तुस्वभावात् । परं विषयत्वं नास्ति । यतो **युवां न नः सुतौ** । एवं विषयत्वेन बन्धनं दूरीकृत्य प्रकारान्तरेण बन्धने सामर्थ्यमाह **साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वराविति** । **प्रधानपुरुषयोरीश्वरौ** कालपुरुषोत्तमौ । तादृशयोः कथमागमनमिति चेत् तत्राह **भूभारक्षत्त्रक्षपणे अवतीर्णाविति** । किमत्र प्रमाणमिति चेत् तत्राह **तथात्थ हेति** । यथा 'ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः' इति ग्रन्थे अनुक्तमपि प्रेरणं अस्मादेव वाक्यादवगम्यते । एवमत्रापि भूभाररूपक्षत्त्रियहननार्थं अवतीर्ण इति भगवतैव कदाचिदुक्तमिति ज्ञातव्यम् । हेत्याश्चर्यजनकम् । अनेनात्र कल्पना निर्वर्तिता ।। १८।।

व्याख्यार्थ—यदि आप विषय के तरीके से हमको बान्धते हो तो वस्तु स्वभाव से उपकार भी होना चाहिए, किन्तु विषयता हो नहीं है, कारण कि. आप दोनों हमारे पुत्र ही नहीं हैं, क्योंकि आप प्रधान और पुरुष के ईश्वर होने से काल और पुरुषोत्तम स्वरूप हो ।

यदि हम ऐसे हैं (काल और पुरुषोत्तम हैं) तो यहां आना कैसे हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'भूभार क्षत्त्रक्षपणे अवतीर्णौ' पृथ्वी पर जो दुष्ट क्षत्रियों का भार बढ गया था उसका नाश करने के लिए प्रादुर्भूत हुए हो, यदि कहो कि इसमें प्रमाण क्या है ? इस पर कहते हैं कि 'तथाऽत्थ

ह' आपने ही यों कहा है, जैसा कि 'ततश्चशौरिर्भगवत्प्रचोदितः' इस वाक्य में प्रेरणा नहीं की है, तो भी इस वाक्य 'मां गोकुलं नय' में भगवान् ने प्रेरणा की है. इस प्रकार यहाँ भी भूमि के भार रूप क्षत्रियों के नाशार्थ अवतार लिया है, भगवान् ने ही कभी वसुदेव को कहा है यो समझना चाहिए 'ह' पद आश्चर्यजनक है, इससे बताया कि यह कल्पना नहीं है, किन्तु जो वसुदेव ने भूभार क्षत्रियों के नाशार्थ प्रकटे हो, कहा है वह सत्य है।। १८।।

आभास—तर्हि किमद्योच्यत इत्याशंकायामाह **तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्येति** ।

आभासार्थ—तो आज (अब) क्या कहना चाहते हो ? इन शङ्का के उत्तर में यह श्लोक 'तत्ते गतोऽस्मय' कहते हैं ।

श्लोक—तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्द-
मापन्नसंसृतिभयापहमार्तबन्धो ।
एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन
मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धि ।।१९।।

श्लोकार्थ—हे दीन बन्धु ! इसीलिए शरणागतों के संसार के भय की निवृत्ति करने वाले आपके चरणारविन्द की शरण मैंने ली है । बस, विषय लालसा इतनी ही बहुत है, जिससे शरीर में आत्म बुद्धि और आप में पुत्र बुद्धि हुई है ।।१९।।

सुबोधिनी—**ते पदारविन्दमहं** शरणं **गतोऽस्मि** । अनेन पूर्वं भवान् बध्नातीत्यनिष्टमुक्तं तन्निवृत्तिरर्थात्सूच्यते । चरणारविन्दशरणागतेः को विशेष इत्याशङ्कायामाह **आपन्नसंसृतिभयापहमिति** । **आपन्ना** ये शरणागतास्तेषां **भयमपहन्तीति** तथा । अतस्त्वयि विलम्बमानेऽपि चरण एव वा कृतार्थं करिष्यतीति चरणानुसृतिः । भगवतोऽपि यथा स्नेहो भवति तदाह **आर्तबन्धो** इति । एतावता स्वस्यार्तत्वं पूर्वमेवोक्तमित्यध्यवसीयते । ननु विषया भुज्यन्तां किं वैराग्येणेत्यत आह **एतावतालमिति**, **इन्द्रियलालसेन एतावता अलम्** । **इन्द्रियलालसं** इन्द्रियलालसा सा पूर्यतामित्यर्थः । इन्द्रियलालसेन वा मया एतावता एवमवस्थां प्रापितेन **अलमिति** । अतः परमियमवस्था मा भवत्वित्यर्थः । किं च । **मर्त्यात्मदृगिति** द्वितीयो दोषः । **त्वयि परे यदपत्यबुद्धिरिति**, तृतीयः । भोगेच्छा देहाभिमानः भगवति चान्यथाबुद्धिरिति अचिकित्स्यस्त्रिदोषः । एतं दूरीकुर्वित्यर्थादुक्तं भवति ।।१९।।

व्याख्यार्थ—मैंने आपके चरणारविन्द की शरण ली है यों कहकर यह बताया है कि पहले जो कहा कि आप बन्धन में डालकर अनिष्ट करते हो, उस अनिष्ट की निवृत्ति इस शरण भावना से की है, चरणारविन्द की शरणागति में कौनसी विशेषता है ? विशेषता यह है कि जो शरण आते हैं उनका सांसारिक भय मिट जाता है, आप उस भय को मिटाने में विलम्ब भी करो, किन्तु चरणारविन्द भय मिटाकर कृतार्थ करेगा, इसलिए चरणों का आश्रय लिया है, चरणाविन्द का आश्रय लिया है तो भी आपके स्नेह की भी आवश्यकता है, अतः जैसे भगवान् स्नेह दान करे वैसा

सम्बोधन 'आर्त बन्धो' दिया है, आप आर्तजनों के बन्धु हैं, मै आर्त हूँ, यह पहले ही कहा है यों जाना जाता है।

विषयों का भोग करो वैराग्य से क्या लाभ होगा ? इस पर कहते हैं कि इतनी इन्द्रिय लालसा जो हुई उससे ही बस (काफी) है, अर्थात् इससे ही मेरी तृप्ति हो गई है, इसके बाद यह अवस्था न हो ऐसी कृपा कीजिए।

नाशवान् देह में आत्म बुद्धि हुई, यह दूसरा दोष हुआ, पर ब्रह्म जो आप हैं उसमें पुत्र की बुद्धि हुई यह तीसरा दोष हुआ, इसी तरह (१) भोग की इच्छा (२) देह का अभिमान और (३) भगवान् में अन्यथा (पुत्र की) बुद्धि त्रिदोष से युक्त होने से मेरे लिए कोई औषधि नहीं रही है सिवाय आपकी कृपा के, अतः इस त्रिदोष से मुक्त करो, यही प्रार्थना का सारांश है ॥१६॥

आभास—नन्वेतत्सर्वं त्वया कुतोऽवगतमिति चेत् तत्राह अस्मिन्नर्थे त्वमेव गुरुरिति **सूतीगृहे ननु जगाद भवानिति।**

आभासार्थ—यह सब आपने कहाँ से जान लिया ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर इस प्रकार के ज्ञान के दाता गुरु आप ही हैं। यह 'सूतीगृहे ननु' श्लोक से सिद्ध करते हैं।

श्लोक—**सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ**
संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै।
नानातनूर्गगनवद्विदधज्जहासि
को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—आपने सूतिकागृह में ही कहा था कि मैं अज होते हुए भी अपने धर्म की रक्षार्थ आपसे मेरा यह तीसरा प्राकट्य है, आप आकाश के समान अनेक शरीर धारण करते हो, फिर उनको तिरोभाव भी कर देते हो। हे उरुगाय ! आप भूमा की विभूति रूप माया को कौन जान सकता है ? ॥२०॥

सुबोधिनी—**किं जगादे**त्यत आह **नौ** आवयोः **अज** एव **संजज्ञ** इति। देवकीवसुदेवयोः पूर्वदृष्ट एवाहं जात इति। तत्र मम सन्देहः। किमस्मदर्थमेव भगवान् जातः, आहोस्वि**दनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै** जायमान इति। ननु धर्मरक्षार्थं जनने त्वद्गृहे कथं जायेत। अतस्त्वदर्थमेव जात इति चेत् तत्राह **गगनवद्विदधज्जहासी**ति। आकाशो हि सर्ववस्तुभिः स्वाकारं करोति घटवत् पटवत् पुरुषवच्चेति। तस्मात् स्थानात् तस्मिश्चापगते फलान्तरे रूपाणि गृह्णन्नेव पूर्वरूपाणि जहाति। एवं भवानप्यविकृतः देवकीगृहे प्रादुर्भूतः तत्रत्यमायां दूरीकृत्य प्रादुर्भूतो निश्चल एव। ततः प्रदेशान्तरगमने पूर्वस्थाने माया संवृता। स्थलान्तरस्थापगतेति प्रतिक्षणं रूपान्तराणि भवन्तीति **गगनवदेव** भगवतोऽपि देहग्रहणपरित्यागौ। इयांस्तु विशेषः। उपाधिवशात्तस्य देहग्रहणम्।

भगवतस्तु मायाजवनिकापगमादिति। अत एव किमस्मदर्थमागतः अन्यार्थं वा समागत इति प्रतिक्षणं गृहीतरूपाणां प्रयोजनवत्त्वमेव दुर्निरूपं प्रयोजनविशेषस्य का वार्तेति भावः। तर्ह्यस्मिन्नर्थे सिद्धान्तो ज्ञातव्य इति चेत् तत्राह **हे उरुगायेति**। सर्वैरेवं गीयत इति गानार्थमेव करोषीत्यर्थः। विशेषतो वक्तव्ये न ज्ञायत इत्याह **विभूतिरूपां मायां को वेदेति** ॥२०॥

व्याख्यार्थ—मैंने आपको क्या कहा ? जिसके उत्तर में वसुदेवजी कहते हैं कि आपने कहा कि मैं अजन्मा होते हुए भी,आपके यहां प्रकट हुआ हूँ,मैं नवीन प्रकट नहीं हुआ हूँ किंतु आपका पूर्व जन्म में देखा हुआ ही अब पुनः प्रकट हुआ हूँ, इस विषय में मुझे संदेह है कि, भगवान् क्या हमारे लिए ही प्रकट हुए, अथवा जैसे प्रत्येक युग में धर्म रक्षार्थ प्रकट होते हैं वैसे ही प्रकट हुए हैं ? इसका प्रत्युत्तर भगवान् देते हैं कि नहीं, मैं तो आपके लिए ही प्रकट हुआ हूँ. यदि धर्मार्थ ही प्रकट होता तो कहीं भी प्रकट हो जाता, तीन तीन वार आपके यहां क्यों ? अतः आपके हितार्थ आपके यहाँ ही प्रकट हुआ हूँ यों कहने में शङ्का उत्पन्न होवे तो उसका निराकरण दृष्टान्त से करते हैं. कि जैसे आकाश सर्व वस्तुओं में अपना आकार बना लेता है, घटाकाश, पटाकाश आदि, वैसे आप भी बनाकर फिर तिरोहित करते हो, उस स्थान से उस वस्तु के जाने पर दूसरी वस्तु के आने पर वह आकार धारण कर पूर्व का त्याग करता है वैसे ही आप विकारी होकर ही देवकी के गृह में वहां की माया को हटाकर निश्चल स्वरूप हो प्रकट हुए हैं, पश्चात् वहां से दूसरे स्थान पर जाने पर पहले स्थान की माया का संवरण कर लेते हो और दूसरे स्थल से दूर हो गई, यों प्रतिक्षण आप (भगवान्) के अनेक रूप होते हैं इस प्रकार भगवान् भी आकाश को भाँति रूप ग्रहण करते हैं और छोड़ते हैं किन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि आकाश उपाधि से देह का ग्रहण और त्याग करता है, किन्तु भगवान् तो माया के पड़दे को हटाकर यों करते हैं।

अत एव प्रभु हमारे लिए प्रादुर्भूत हुए वा अन्य के लिए, यों प्रतिक्षण लिए हुए रूपों का प्रयोजन भी समझना कठिन है, किस प्रयोजन के लिए प्रकट होते हैं, यह वार्ता समझनी तो दूर रही, तो इस विषय में सिद्धान्त तो जानना चाहिए, इस पर कहते हैं 'उरुगाय' सब आपका गुणगान करते हैं, भक्त जन गुण गान करे इसलिए ही आप आविर्भाव तिरोभाव लोला आदि करते हैं, इससे विशेष कहा नहीं जा सकता है क्योंकि आपको विभूति रूप माया को कौन जान सकता है ?

आभास—एवं स्तुतिप्रपत्ती निरूप्य अचिन्त्यरूपत्वे निरूपिते भगवान् प्रसन्नः खण्डज्ञानं तस्य जातमिति अखण्डबोधार्थं प्रवृत्त इत्याह **आकर्ण्येत्थमिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार वसुदेव कृत स्तुति और शरणागतिपूर्वक भगवान् का अचिन्त्य रूपत्व का वर्णन सुन भगवान् प्रसन्न हुए और जान गए कि वसुदेवजी को मेरे स्वरूप का अभी तक खण्ड ज्ञान हुआ है, इसलिए उनको अखण्ड ज्ञान देने के लिए भगवान् प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'आकर्ण्येत्थं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं भगवान्सात्वतर्षभः।
प्रत्याह प्रश्रयानम्रः प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा ॥२१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि पिताजी का इस प्रकार का वाक्य सुन

कर वैष्णवों के पति भगवान् विनय से नम्र होकर हँसते हुए मोह को उत्पन्न कर उत्तर देने लगे ।।२१।।

सुबोधिनी—पितृवाक्यत्वात् स्वामिवल् लीलाप्रदर्शनमयुक्तम् । अतः **प्रश्रयानम्रः** सन् अग्रेऽपि मोहार्थं **प्रहसन्** चित्तसंतोषार्थं **श्लक्ष्णया गिरा, सात्वतर्षभो** वैष्णवपतिरिति । एवं प्रपत्तिकथनेऽपि तूष्णीं स्थितौ वैष्णवानां दुःखं भविष्यतीति 'युवां मां पुत्रभावेन' इति वाक्ये निर्णयस्योक्तत्वात् प्रयोजनाभावाद्वाक्येन बोधं हास्येन मोहं च कुर्वन् **आहे**त्यर्थः ।।२१।।

व्याख्यार्थ—ये वाक्य पिता श्री के हैं, इसलिए भगवान् ने स्वामी के समान लीला दिखाना अनुचित जाना, अतः विनय पूर्वक आप नम्र होकर आगे भी मोह पैदा करने के लिए हँसने लगे, बाद में चित्त के सन्तोषार्थ मधुर वाणी से बोलने लगे, आप वैष्णवों के पति हैं, यदि शरणागति कहने पर भी मौन धारण करें तो वैष्णवों को दुःख होगा, इसलिए भगवान् ने उत्तर दिया कि 'युवां मां पुत्र भावेन' इस श्लोक में निर्णय दिया हुआ है, ज्ञान देने का कोई प्रयोजन नहीं है, उपर्युक्त वाक्य से ज्ञान का बोध और हास्य से मोह उत्पन्न करते हुए, भगवान् ने उत्तर दिया यों अर्थ है ।।२१।।

आभास—आदौ तदुक्तमभिनन्दति **वचो वः समवेतार्थमिति** ।

आभासार्थ—प्रथम 'वचो वः' श्लोक से उनके कहे हुए का अभिनन्दन करते हैं–

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे ।**
यन्नः पुत्रान्समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः ।।२२।।

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे तात ! आपके ये वाक्य हम सत्य यथा अर्थ वाले मानते हैं; क्योंकि आपने पुत्रों का लक्ष्य करके भी तत्त्वों के समूह का भली-भाँति वर्णन किया है ।।२२।।

सुबोधिनी—अस्मिन् वाक्ये अर्थः समवेतोऽस्ति । एतद्वाक्यं तथा **उपमन्महे** । स कोऽर्थ इति चेत् तत्राह **यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्ये**ति । इयं स्तुतिर्न भवति किं तूपदेशः, यथा तत्त्वमस्यादिवाक्यमेवमिदमपि ब्रह्मात्मभावमित्यर्थः । अङ्गीकारे दोषः स्यात् अनङ्गीकारे च । अतोऽन्यथा वर्णनम् ।।२२।।

व्याख्यार्थ—आपके इस वाक्य में अर्थ परिपूर्ण मिला हुआ है । हम इस वाक्य को वैसा ही मानते हैं; वह कौनसा अर्थ है ? इस पर कहते हैं कि 'यन्नःपुत्रान् समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः' यह वाक्य स्तुति नहीं है किन्तु उपदेशहै, जैसे तत्त्वमस्यादि वाक्य है, वैसे यह भी ब्रह्मात्म भाव वाला है, यदि इसको[1] स्तुति रूप से माना जावे तो दोष लगता है, अथवा उस वाक्य[2] को न माना जाय

---

[1]—वसुदेव को पिता समझना, [2]—वसुदेवजी पिता तो हैं,

तो भी दोष लगता है, इसलिए इसको[1] स्तुति रूप न मानकर उपदेश रूप मान कर वर्णन किया है ।।२२।।

आभास—एवमुक्तस्य प्रकारमुक्त्या तस्य सर्वदुःखनिवृत्त्यर्थं पूर्णं बोधमुपदिशति **अहं यूयमिति** ।

आभासार्थ—वसुदेवजी के कहे हुए का प्रकार कहकर, अब उनका सर्व प्रकार का दुःख मिटजावे इसलिए 'अहं यूयमसावार्य' श्लोक से पूर्ण ज्ञानोपदेश करते हैं—

श्लोक—**अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः ।**
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम् ।।२३।।

श्लोकार्थ—हे यदुश्रेष्ठ ! जैसा मुझे जानते हो, वैसा ही आप, बड़े भाई, द्वारकावासी तथा स्थावर, जङ्गम जो कुछ हैं, उनको जानो अर्थात् सब एक ही ब्रह्म रूप हैं ।।२३।।

सुबोधिनी—यथा मां जानासि तथा सर्वानिव जानीहि । 'अखण्डं कृष्णवत्सर्वं यथा तत्तु निरूपितम्' इतिवत् सर्वस्य शुद्धभगवत्त्वे ज्ञाते न किंचिदवशिष्यत इति भगवांस्तदेवोपदिशति समुदायपर्यवसानव्यावृत्त्यर्थं प्रत्येकमनुवदति । **अहमिति** दृष्टान्तानुवादः । **यूयमिति** पितुरेव बहुवचनम् । **असावार्यो** बलभद्रः, **इमे च द्वारकावासिनः**, अन्ये च ब्रह्माण्डस्थाः **सर्व** एव एवमेव **विमृश्याः** साक्षाद्भगवानेवेति । **सचराचरमिति** स्थावरजङ्गमेऽपि यथा मयि तथा बुद्धिः कर्तव्येत्यर्थः ।।२३।।

व्याख्यार्थ—जैसा मुझे जानते हो वैसा सब को ही जानो 'अखण्डं कृष्णवत्सर्वं यथा तत्तु निरूपितम्' सर्व कृष्ण[2] की तरह अखण्ड हैं वह तो निरूपण किया है, जब इसी प्रकार ज्ञान हो जावे फिर कुछ भी जानना नहीं रहता है । यों भगवान्, वह ही उपदेश देते हैं कि यह समुदाय अन्य नहीं, एक ही ब्रह्म है. स्पष्ट समझाने के लिए प्रत्येक का नाम लेकर बताते हैं कि 'अहम्' पद से दृष्टान्त का अनुवाद है, 'यूयम्' बहुवचन पिता के नाते से दिया है, यह आर्य बड़ा भाई बलभद्र, ये द्वारकावासी, और दूसरे ब्रह्माण्ड में रहने वाले सबका ही यों विचार करना कि ये सब साक्षात् भगवान् ही हैं, स्थावर और जङ्गम में भी वैसे ही मेरे समान बुद्धि करनी चाहिए यों अर्थ है ।।२३।।

कारिका—**यथेच्छां भगवान् विष्णुः पुरस्कृत्याभवत्स्वयम् ।**
एवं सर्वत्र तत्तत्स्यामिति जातः स्वयं हरिः ।।१२।।

कारिकार्थ—भगवान् विष्णु अपनी इच्छा को आगे कर तदनुकूल आप स्वयं

---

[1] —वाक्य को [2] —तत्त्वार्थ दीप निबन्ध भाग २-१०२ कारिका

प्रकट हुए, इसी प्रकार सर्वत्र वह पदार्थ मैं बन जाऊँ, इस प्रकार की इच्छा से स्वयं सब आप ही बने ॥१२॥

आभास—नन्वेवं सति ब्रह्मानन्त्यं स्यात् ब्रह्मबुद्धिपरत्वे तु आरोपितज्ञानविषयत्वेन अनित्यफलसाधकता स्यादिति शङ्कां दूरीकुर्वन् आधाराधेयभावं च दूरीकुर्वन् सर्वत्रात्मप्रतीतिसिद्ध्यर्थं च अखण्डात्मत्वं बोधयति **आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिरिति ।**

आभासार्थ – यदि यों माना जायगा तो ब्रह्म का अनेकपन होगा, जो ब्रह्म नहीं है उसमें ब्रह्म बुद्धि करनी प्रतीक ज्ञान है जिसका फल अनित्य होता है यह 'अप्रतीकालम्बनान्नयति' इस सूत्र में निरूपण किया है, इस शङ्का को दूर करने के लिए और आधार आधेय भाव को दूर करने के लिए, सर्वत्र आत्मा को प्रतीति हो इस सिद्धि के वास्ते अखण्डात्मत्व 'आत्माह्येक' श्लोक में समझाते हैं—

श्लोक—**आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः ।**
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते ॥२४॥

श्लोकार्थ – आत्मा एक है और स्वयं प्रकाश स्वरूप, नित्य और काल से अन्य (पृथक्) निर्गुण है, स्व-रचित गुणों से प्राणियों में विविधता दिखती है ॥२४॥

सुबोधिनी—अतति व्याप्नोतीत्या**त्मा** । परिच्छेदे आत्मत्वमेव भज्येत । एकेनैव कार्यसिद्धौ द्वितीयकल्पना व्यर्था । भोगस्य तु न व्यवस्थापकत्वं ईश्वरेच्छयैव व्यवस्थासंभवात् । या क्रिया यदीयव्यधिकरणगुणाजन्या सा तत्संयोगासमवायिकारणिकेति व्याप्तिर्बाधितैव । ईश्वरेच्छायाः सर्वत्र कारणत्वात् तत्संयोगः जीवात्मसु न संगच्छते । अजसंयोगस्यानङ्गीकारात् । तस्माद्भोगस्यान्यथाप्युपपत्तेरेक एवात्मा । युक्तश्चायमर्थः । 'एकमेवाद्वितीयम्' 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' 'नित्यः सर्वगतः' इत्यादिवाक्यसहस्रैः आत्मन एकत्वमेव निर्णीतम् । 'नानात्मानो व्यवस्थातः' इति सूत्रमकारप्रश्लेषेणापि योजनीयम्। अव्यवस्था अविचार इति । ननु जोवस्य नानात्वे परिहृतेऽपि जीवब्रह्मणोर्भेदोऽङ्गीकर्तव्यः, अन्यथा ज्ञानोपदेष्ट्रभावात् मोक्षो न स्यात्, अत आह **स्वयंज्योतिरिति** । स हि स्वप्रकाशः नास्यात्मप्रकाशार्थं कश्चिदपेक्ष्यते । मोक्षार्थं वा । अन्यत्वात्मवैलक्षण्यं नास्तीत्युक्तमेव 'पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि' इति । तस्य नानात्वाज्ञाने अग्रे निरूपयिष्यते । वास्तवस्त्वयमर्थः । कालेन स्वप्रकाशनिवृत्तिमाशङ्क्याह **नित्य** इति, सदैकरूप इत्यर्थः । तर्हि काल एवायं स्यात् तत्राह **अन्य** इति, कालादन्यः । यस्य चेष्टा कालः इति 'चेष्टामाहुः' इति वाक्यात् । ननु तादृशः परमात्मा पुरुषोत्तमः । न तु जीव इति चेत् तत्राह **निर्गुण** इति । अयमेव जीवो गुणातीतः न तु ततोन्योऽस्ति कश्चित् । नन्वेवं सति नानात्वमुच्चावचत्वं कथं घटत इति चेत् तत्राह **आत्मसृष्टैर्गुणैः** । तैरेव गुणैः **कृतेषु** देवतिर्यङ्मनुष्यादिदेहेषु **भूत**शब्दवाच्येषु आधारवशाद् अग्निरिव **बहुधा ईयते** ॥२४॥

व्याख्यार्थ—जो सब में फैला हुआ है अर्थात् सब में मौजूद है वह आत्मा है, वह यदि

परिच्छेदवाला[1] होवे तो वह आत्मा ही न रहे, एक ही आत्मा से जब कार्य सिद्ध हो सकता है तो दूसरे की कल्पना करनी व्यर्थ है, आत्मा अनेक हैं यह व्यवस्था भोग नहीं करा सकता है, कारण कि ईश्वर की इच्छा से व्यवस्था हो रही है, जो क्रिया जिसके पृथक् आधार के गुण से उत्पन्न होती है, उस क्रिया का असमवायिकारण[2] उसका संयोग है। यह व्याप्ति यहां नहीं बनती है क्योंकि सर्वत्र ईश्वर की इच्छा ही विषयों का कारण है, और जीवात्माओं के साथ उसका सम्बन्ध हो नहीं सकता है, हेतु यह है कि जो अजन्मा और नित्य है उसका संयोग नहीं माना गया है. इस कारण से भोग की दूसरे प्रकार से भी उपपत्ति हो सकती है अतः आत्मा एक ही है यह अर्थ ही उचित है, क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म एक ही अद्वितीय अर्थात् उत्तम है) 'अहमात्मा गुड़ाकेश सर्व भूताशयस्थितः' (हे गुड़ाकेश ! सर्व प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित आत्मा मैं ही हूं. 'नित्यः सर्वगतः' (नित्य सर्व में गया हुआ मैं ही एक हूँ) इत्यादि अनेक वाक्यों से आत्मा का एकत्व सिद्ध किया गया है, 'नानात्मानो व्यवस्थातः' इस सूत्र में अकार का सन्धि से छिपना मानकर अर्थ करने से आत्मा एक है यही सिद्ध होगा, यदि आत्मा अनेक माने जाए गे तो व्यवस्था न रहेगी वह सिद्धान्त अविचारवाला है यो समझना चाहिए, यदि जीवों का नानात्व असत् माना जावे तो भी ब्रह्म और जीव का भेद तो स्वीकार करना चाहिए, यदि जीव और ब्रह्म में भेद न माना जायगा तो, जीव को उपदेश का अभाव होगा जिससे मोक्ष प्राप्ति न हो सकेगी, इस कारण से कहते हैं कि 'स्वयं ज्योतिः' स्वतः प्रकाश रूप है जिससे उसको प्रकाश कराने वाल की आवश्यकता नहीं है तथा मोक्षार्थ भी अन्य की अपेक्षा नहीं है, ब्रह्म से जीव का अन्यत्व वैलक्षण्य नहीं है, यों ईश्वर और पुरुष में यहां 'स्वल्प[3] भी भेद नहीं है, पृथक्ता और अज्ञान कैसे होता है यह शुक द्वारा आगे कहने में आएगा, वास्तव अर्थ तो यह ही है कि जीवों का नानापन और अज्ञान उपाधिकृत हैं, समय पा कर स्वप्रकाश की निवृत्ति हो जाएगी; ऐसी शङ्का का उत्तर देते हैं कि नहीं होगी क्योंकि 'नित्य' है अर्थात् सदा एक रूप, तब तो काल ही यह हो, जिसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं. काल से आत्मा अन्य है, काल तो आत्मा की चेष्टा मात्र है, जैसा कि कहा है 'चेष्टामाहुः' काल को आत्मा की चेष्टा कहते हैं, यों है, तो भी ऐसी आत्मा पुरुषोत्तम है, न कि जीव, यदि यों कहते हो तो. उत्तर है कि 'निर्गुणः' यह ही जीव गुणातीत परब्रह्म है न कि उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है यदि यों है तो नानात्वऔर उच्च-नीचत्व कैसे बन सकते हैं? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'आत्मसृष्टैर्गुणैः' अपने से उत्पन्न गुणों द्वारा देव, तिर्यङ् और मनुष्य आदि देहों में जो भूत शब्द वाच्य है, वे आधार वश अग्नि के समान नाना प्रकार के जाने जाते हैं ॥२४॥

आभास—एवमेकस्यानेकधा भानप्रकारमुक्त्वा नानात्वमपि व्यवस्थया आह खं वायुरिति।

---

[1] —केवल एक हृदय में ही माना जावे तो उसका आत्मत्व ही नष्ट हो जावे

[2] —कार्य तथा कारण के साथ एक ही पदार्थ में समवायी सम्बन्ध से रह कर जो कारण बने, वह असमवायि कारण है, जैसे कि कार्य रूप वस्त्र में, तन्तुओं का जो सम्बन्ध है वह समवाय सम्बन्ध है, और वह सम्बन्ध ही वस्त्र का कारण है, उस कारण को असमवायि कारण कहा जाता है—

[3] —सांख्य सिद्धान्त ब्रह्मवाद से विरोधी न होने से ही यहां कहा है, अग्नि विस्फुलिंगवत् 'चिणगारियां अनेक होते हुए भी अग्निरूप है वैसे ही जीव भी आत्मरूप है।

आभासार्थ—इसी भांति एक आत्मा अनेक कैसे भासती है वह भान का प्रकार कहकर नानात्व भी व्यवस्था से होता है, यह 'खं वायुः' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—खं वायुर्ज्योतिरापोभूस्तत्कृतेषु यथाशयम् ।
आविस्तारोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि ।।२५।।

श्लोकार्थ—जैसे आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी आपसे प्रकटे हुए ये पाँच महाभूत घटादिक पदार्थों में अनेक प्रकार के प्रतीत होते हैं तथा उपाधि धर्मों से आविर्भाव तिरोभावादि द्वारा अल्प एवं अधिक प्रतीयमान होते हैं, वैसे ही आत्मा भी अनेक प्रतीत होती हैं ।।२५।।

सुबोधिनी—पञ्चमहाभूतानि तत्कृतेषु भौतिकेषु आशयमनुल्लङ्घ्य **आविस्तारोऽल्पभूर्यक** इति एतान्येव भूतानि क्वचिद्विस्तारं प्राप्नुवन्ति हस्त्यादिशरीरे । क्वचिदल्पत्वं मशकादौ । क्वचिद्बहुरूपत्वं चित्रपटमयूरादौ । क्वचिदेकत्वं कोकिलादौ धात्वादौ वा । एवं परिमाणरूपादिवैलक्षण्यात् पृथिव्यादीनां **नानात्वम्** । एवमात्मनोऽपि तत्तदुपादानोपलम्भकतया नानात्वमित्यर्थः। उच्चनीचत्वं देहकृतं, नानात्वं परिमाणधर्मकृतमिति । वस्तुतः स्वरूपमेकमेवेत्यर्थः । यथा सर्वत्र भौतिकेषु पृथिव्यादिरेक एव । न तु कार्यवैलक्षण्येन कारणभूतायाः पृथिव्याः नानात्वं वैलक्षण्यं वा कल्प्यते पृथिवीगुणत्वेनैव तत्सिद्धेः । एवं सच्चिदानन्दधर्मतारतम्येन ऐश्वर्यादितारतम्येन श्र्यादितारतम्येन वा नानात्वमात्मन उपपद्यत इति न स्वरूपे भेदस्तदनुरोधेन कल्पनीयः । उपाधिकृतवैलक्षण्यमिति सर्वं सुस्थम् । **असावप्यात्मापि** । **अपि**शब्देन भूतानि संगृहीतानि । अतः स्वेच्छया स एव सर्वरूपेण तिष्ठतीति विचारप्रवणं चित्तं कृत्वा यथा मां जानासि तथैव सर्वं मां जानीहीत्युपदेशः । एष एवाखण्डाद्वैतवादः ।।२५।।

व्याख्यार्थ—पाँच महाभूत अपने से बने हुए घटादि पदार्थों में स्थित हो उस स्थिति का उल्लङ्घन जैसे न हो वैसे विस्तार वाले, बहुत स्वल्प वा एक, इस प्रकार ये ही भूत, क्वचित् हस्ती आदि के शरीरों में विस्तार को प्राप्त होते हैं, मशक मच्छर) आदि में छोटे, भांति भांति के रंगीन वस्त्र तथा मयूरादि पक्षिओं में अनेक रगवाले बन जाते हैं, किसी समय कोयल आदि में अथवा धातु आदि में एक रंग वाले होते हैं, इस प्रकार परिमाण कद वा डील एवं रंग आदि भेद से पृथ्वी आदि में नानात्व देखने में आता है, इसी प्रकार आत्मा भी उस उस उपादान के पृथक्त्व के कारण नानात्व को प्राप्त हुआ दीखता, उच्च नोचत्व देह का किया हुआ है, अनेकत्व परिणाम धर्म ने किया है, वास्तव में स्वरूप एक ही है, जैसे सर्वत्र भौतिक पदार्थ पृथिवी आदि एक ही है न कि कार्य की विलक्षता से कारणभूत पृथिवी में नानात्व वा वैलक्षण्य की कल्पना की जा सकता है, उसकी पृथ्वी गुणत्व से ही सिद्धि होतो है, इसी प्रकार सत्, चित् और आनन्द धर्म के तारतम्य से, ऐश्वर्य आदि के तारतम्य से अथवा श्री आदि के तारतम्थ से आत्मा का नानात्व बन सकती है, किन्तु इसके अनुरोध से स्वरूप भेद की कल्पना नहीं करनी चाहिए, उपाधिकृत वैलक्षण्य है यों मानने से सर्व सुस्थ (ठीक) होगा, यह आत्मा भी 'अपि' शब्द से भूत लिए जाते हैं, अतः अपनो

इच्छा से वह ही सर्व रूप से रहता है, इस प्रकार के विचार में चित्त को प्रवरा (पिरो कर जैसा मुझे जानते हो वैसे ही सब कुछ मुझे ही जानो यह उपदेश है, यह ही अखण्डाद्वैत वाद है ।।२५।।

आभास—एवं भगवता उपदिष्टः ऐश्वर्यभावप्राकट्य द् बोधितमर्थं भावान्तरमापन्नोऽपि गृहीतवानित्याह **एवं भगवतेति** ।

आभासार्थ वसुदेवजी को जो पहले पांच प्रकार की भेद बुद्धि रूप भेद था कि मैं, तुम, आर्य, द्वारकावासी और चराचर सब पृथक पृथक् हैं इस प्रकार का भेद, भगवान् के उपदेश से ऐश्वर्य भाव प्रकट होने से नष्ट हो गया और भगवान् के उपदेश को ग्रहण किया, यह 'एवं भगवता' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच–**एवं भगवता राजन्वसुदेव उदाहृतम् ।**
श्रुत्वा विनष्टनानाधीस्तूष्णीं प्रीतमना अभूत् ।।२६।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन्! इस प्रकार भगवान् का कहा हुआ उपदेश सुनकर वसुदेवजी भेद बुद्धि नष्ट हो जाने से शान्त हो, प्रसन्न चित्त वाले हुए ।।२६।।

सुबोधिनी—उदाहृतं सिद्धमेव । **विनष्टा नानाबुद्धिः** पञ्चविधापि यस्य । ततो वक्तव्याभावात्स्वस्मिन्नपि तथा स्फुरणात्तूष्णीं भूत इत्यर्थः। ।।२६।।

व्याख्यार्थ—जो भगवान् ने उपदेश दिया, वह सिद्ध अर्थात् फलीभूत हुआ जिससे वसुदेवजी की पांच प्रकार की भेद बुद्धि नष्ट हो गई, फिर शेष कुछ कहने की गुंजाइश नहीं रही, और अपने में भी वैसे ही अभेद बुद्धि की स्फूर्त्ति हो जाने से अर्थात् सर्व ब्रह्म ही है ऐसा अखण्डाद्वैत ज्ञान उत्पन्न होने से चुप हो गए ।।२६।।

आभास—एवमेकस्य ज्ञानोपदेशो निरूपितः स्वज्ञानशक्तिप्राकट्येन क्रियाशक्तिप्राकट्यार्थमुपाख्यानान्तरमारभते **अथ तत्रेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने एक को अर्थात् वसुदेवजी को अपनी ज्ञान शक्ति प्रकट कर ज्ञान का उपदेश किया, क्रिया शक्ति के प्राकट्य के लिए दूसरा उपाख्यान 'अथ तत्र' श्लोक से प्रारम्भ करते हैं—

श्लोक— **अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता ।**
श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्रमात्मजाभ्यां सुविस्मिता ।।२७।।

श्लोकार्थ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ ! देवकी ने सुना कि मेरे पुत्र (श्रीकृष्ण) गुरु पुत्रों को ले आए, जिससे विस्मय को प्राप्त हुई ।।२७।।

सुबोधिनी—कुरुश्रेष्ठेति क्रियाधिक्यं तस्य हृदये समायास्यतीति संबोधनम् । वसुदेवः कृतार्थो जात इति स्वस्यापि हृदये, भगवता कृतार्थत्वं प्राप्तापि पूर्वसंजातदुःखवासनाया अनिवृत्तत्वात् तन्निवृत्त्यर्थं भगवन्तं प्रार्थयते । वाक्येन तु न तन्निवर्तते । नाट्येन निवर्तनेऽपि तेषां जीवानाममुक्तत्वात् ज्ञानोत्तरं सर्वज्ञत्वे सिद्धे भगवता वञ्चितमिति प्रतिभायात् । पुनस्तदुद्धारार्थं चिन्तापि स्यादिति तेष्वेव समागतेषु तद्दुःखं गच्छति नान्यथेति निश्चित्य तदर्थं भगवतः सामर्थ्यं पुत्राणां स्वरूपप्रतिपत्तिश्च संभावितेति दृष्टान्तेनावगता तामेवाह **श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्रमिति** । स्वस्यैवात्मजाभ्यां रामकृष्णाभ्यां स्वरूपं प्रापयित्वा **आनीतं श्रुत्वा सुष्ठु विस्मिता** जाता ।।२७।।

व्याख्यार्थ—परीक्षित को कुरुश्रेष्ठ ! यह सम्बोधन देने का भावार्थ यह है कि इसके हृदय में भगवान् की क्रिया का आधिक्य प्राप्त होगा, वसुदेवजी कृतार्थ हुए जिससे भगवान् ने देवकी के हृदय में भी कृतार्थता प्राप्त कराई है, तो भी पहले उत्पन्न दुःख की वासना के निवृत्त न होने से, उसकी निवृत्ति के लिए देवकी भगवान् को प्रार्थना करती है, केवल वाक्य द्वारा तो वह वासना दुःख मिटेगा नहीं यदि भगवान् नाट्य (माया) से पुत्रों को लाकर दिखा दें तो भी जब देवकीजी को ज्ञान होने के बाद सर्वज्ञता सिद्ध होगी तब वह समझेगी कि भगवान् ने मुझ से वञ्चना (कपटता) की है, और फिर उनके (मरे हुए पुत्रों के) उद्धार की चिन्ता भी रहे, अतः जब वे मरे हुए पुत्र आकर मिलें तब दुःख नष्ट होगा, अन्यथा नहीं, यों निश्चय कर, इसके लिए भगवान् शक्तिमान हैं, जिससे मेरे पुत्रों को स्वरूप की प्राप्ति हो ऐसी निश्चित संभावना है, यह देवकीजी ने गुरु पुत्र लाए, इस दृष्टान्त से जान लिया है, जिसको 'श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्रं' में कहा है, मेरे ही पुत्र रामकृष्ण उसको स्वरूप की प्राप्ति कराके लाये हैं, यों सुन सुविस्मित हुई है ।।२७।।

आभास - ततो वस्तुनिर्धारं ज्ञात्वा भगवन्तं याचितवतीत्याह **कृष्णरामाविति** ।

आभासार्थ - पश्चात् वस्तु का निर्णय जानकर भगवान् से याचना करने लगी यह 'कृष्ण रामौ' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान्कंसविहिंसितान् ।**
स्मरन्ती कृपणं प्राह वैक्लव्यादश्रुलोचना ।।२८।।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण और बलरामजी का ध्यान इस तरफ खेंचकर उनको सावधान किया, फिर कंस के मारे हुए पुत्रों का स्मरण आने से आँखों में आँसू भर आए, तब दीनतापूर्वक कहने लगी ।।२८।।

सुबोधिनी—सम्यगाश्राव्य सावधानं शृण्वित्युक्त्वा **कंसविहिंसितान् पुत्रान् स्मरन्ती कृपणं** यथा भवति तथा **प्राह** । तेनैव स्मरणेन **वैक्लव्यादश्रुलोचना** च जाता ।।२८।।

व्याख्यार्थ—देवकी ने श्रीकृष्ण और बलराम को कहा कि जो मैं कहती हूं वह सावधान होकर सुनिए, कंस ने जो पुत्र मारे थे वो याद आगए, जिससे नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए, और देवकी दीनता युक्त हो कहने लगी ।।२८।।

आभास—एवं कायवाङ्मनोवैकल्यमुक्तं तन्निराकरणार्थमादौ भगवन्तं स्तौति **राम रामेति** त्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार देवकीजी के मन, काया और वाणी की विकलता कही, उनके निराकरणार्थ प्रथम 'राम रामाऽप्रमेय' श्लोक से तीन श्लोकों में देवकीजी भगवान् को स्तुति करती है—

श्लोक—देवक्युवाच—**राम रामाऽप्रमेयात्मन्कृष्ण योगेश्वरेश्वर ।**
वेदाहं वां विश्वसृजामीश्वरावादिपूरुषौ ॥२६॥

श्लोकार्थ—देवकी कहने लगी कि हे अप्रमेय स्वरूप वाले राम ! हे राम ! योगेश्वरों के ईश्वर हे कृष्ण ! मैं आप दोनों को जानती हूँ कि आप दोनों विश्व के रचने वालों के ईश्वर एवं आदि पुरुष हो ॥२६॥

सुबोधिनी—भगवान् शरणागतानामेव दुःखं दूरीकरोतीति प्रथमतः स्वस्यापि शरणागतिः कर्तव्या। तत्र यदि फलं न कीर्तयेत् तदा मोक्षार्थं सा भवेत्। भगवतो वा तन्निवारणे सामर्थ्यं न भवेत्। स्वयं वा न जानीयात् तथापि सर्वं विशकलितं भवेदिति प्रथमतो भगवतः सामर्थ्यं स्वस्य ज्ञानं चाह। देवक्याः कृष्णरामयोः अवान्तरपरिज्ञानं नास्तीति ज्येष्ठानुक्रमेण स्तौति। वीप्सा आदरे। **अप्रमेयात्मन्निति** त्वं सर्वसमर्थस्तथापि लोको न जानातीति साधनान्तरे यतते। नहि कश्चिच्चिन्तामणिं प्राप्य पुनरन्यत्साधनमङ्गीकरोति। भगवतस्तथात्वाज्ञाने हेतुर्भगवत्स्वरूपधर्म एव। यथा परमाणोः अप्रत्यक्षतायाम्। एवं प्रमातुमयोग्यमेव भगवत्स्वरूपमित्यर्थः। कृष्णस्यापि संबोधनमाह निकटे शृणोति सावधान इति सकृदेव संबोधनम्। **योगेश्वरेश्वरेति** सर्वसाधनसंपत्तिः। एवमुभयोर्माहात्म्यमुक्त्वा अध्यारोपापवादनिराकरणार्थं स्वस्यापि याथार्थ्यज्ञानमनुवदति **वेदाहं वां विश्वसृजामिति । वां** युवामहं जाने। केन प्रकारेण जानासीत्याकाङ्क्षायामाह **विश्वसृजामीश्वराविति**। ब्रह्मादीनामपि नियन्तृत्वेन कालव्युदासार्थं पुरुषोत्तमत्वेनापि जानामीत्यर्थः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—देवकी यह जानती है कि भगवान् शरणागतों का दुःख दूर करते हैं अतः पहले मुझे भी शरण जाना चाहिए, शरण जाते हुए । यदि जिस कामना के लिए जाती हूँ उसको न कहूँगी तो मेरी शरणागति मोक्ष के लिए हो जाएगी, उसके निवारण करने में भगवान् समर्थ न होवे अथवा इसको वह (देवकी) न जानती हो कि भगवान् में सामर्थ्य है वा नहीं तो भी सर्व निष्फल हो जाएगा इसलिए पहले भगवान् का सामर्थ्य और अपना ज्ञान कहती है, देवकी को श्रीकृष्ण और राम के स्वरूप में कौनसा अन्तर है, यह ज्ञान नहीं है, अतः बड़े के क्रमानुसार स्तुति करती है. हे राम ! हे राम ! यों दो वार आदरार्थ कहा है, हे राम आप सर्व समर्थ हैं तो भी इस तत्त्व को लोक नहीं जानते हैं इसलिए आपकी शरण न लेकर अन्य साधन करने में प्रयत्न करते हैं, कोई भी सुज्ञ चिन्तामणि प्राप्त कर फिर दूसरे साधन का अङ्गीकार नहीं करता है. भगवान् का वैसा ज्ञान नहीं होता है जिसका कारण भगवान् के धर्म का स्वरूप ही है, जैसे परमाणु के स्वरूप का

धर्म है प्रत्यक्ष न होना, इसी प्रकार भगवान् का स्वरूप और सामर्थ्य भी ऐसी है जिसका ज्ञान स्वतः हो नहीं सकता है जब तक की कृपा कर आप न जनावे, निकट स्थित श्रीकृष्ण को सावधान जानकर एक बार ही हे कृष्ण ! सम्बोधन किया है, योगेश्वरेश्वर ! विशेषण देकर सर्व प्रकार की साधन सम्पत्ति श्रीकृष्ण शरण ही है यह जताया है, इस प्रकार दोनों का महात्म्य कहकर अध्यारोप और अपवाद के निराकरण करने के लिए कहती है कि मुझे आपका वास्तविक ज्ञान है, 'वेदाहं वां विश्वसृजाँ' आप दोनों को मैं जानती हूँ आप कैसे हैं ? उसको बताती है कि ब्रह्मादि के भी नियन्ता हैं, काल को हटा सकते हो क्योंकि पुरुषोत्तम भी आप हैं यह भी में जानती हूँ ।।२६।।

आभास—तादृशस्य कथमागमनमिति शङ्काव्युदासायाह **कालविध्वस्तसत्त्वानामिति** ।

आभासार्थ—वैसे स्वरूपों का पृथ्वी पर प्राकट्य कैसे हो ? यह शङ्का मिटाने के लिए 'काल विध्वस्त सत्त्वानां' श्लोक कहती है—

श्लोक—कालविध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनाम् ।
भूमेर्भारायमाणानामवतीर्णो किलाद्य मे ।।३०।।

श्लोकार्थ—काल के प्रभाव से जिनका सतोगुण नष्ट हो गया है, वैसे राजा लोग शास्त्र विरुद्ध आचरण करने से पृथ्वी पर भार रूप हो गए हैं, उनके नाशार्थ अब मुझ से प्रकट हुए हो ।।३०।।

सुबोधिनी—भूभाररूपराज्ञां वधार्थं भगवानवतीर्ण इत्यर्थः । ननु राजानः सात्त्विकाः कथं भाररूपा जाता इत्याह **कालविध्वस्तसत्त्वानामिति** । कालो हि कदाचित् सत्पदार्थान् दूरीकरोति, कदाचिदसत्पदार्थान् । यथा पुरुषः शिष्टागमनमालक्ष्य दुष्टागमनं वा, तथा कालोऽपि सर्वेषां सत्त्वगुणं विवेकादिकं च हृतवान् । अत एव **उच्छास्त्रवर्तिनो** जाताः । राजत्वेन सामर्थ्यं सत्त्वाभावे सामर्थ्यं सर्वेषां दुःखदमिति **भूमेर्भारायमाणा** जाताः । मशकार्थं धूमवत् तेषामर्थे भगवानवतीर्णः । **किलेति** प्रमाणम् । **मे** मत्तः ।३०।

व्याख्यार्थ - पृथ्वी पर भार रूप राजाओं के नाशार्थ भगवाद् प्रकट हुए हैं यह अर्थ है, राजा तो सात्त्विक होते हैं वे भार रूप कैसे ? इस पर कहते हैं कि, काल कदाचित् सत्पदार्थों को दूर कर देता है, कभी असत् पदार्थों को जैसे पुरुष, श्रेष्ठ पुरुष अथवा नीच पुरुष आता है उसको देखकर तदनुकूल आचरण करता है, वैसे ही काल ने भी सब के सत्वगुण और विवेक आदि का हरण कर लिया है, इसलिए ही शास्त्र विरुद्ध आचरण करने लगे हैं, राजापन से सामर्थ्य है किन्तु सतोगुण के अभाव से वह सामर्थ्य दुःखदाई बनगई है, जिससे वे राजा पृथ्वी पर भार रूप होगए हैं, मशकों (मच्छरों) को धूम्र से नाश किया जाता है वैसे ही उनके नाशार्थ भगवान् प्रकट हुए हैं यह निश्चय है, वह प्राकट्य भी मुझ से हुआ है ।।३०।।

आभास—ननु भूभारहरणार्थमेव जातः न त्वन्यार्थमिति तत्रैव मम सामर्थ्यमिति चेत् तत्राह **यस्यांशांशांशभागेनेति** ।

आभासार्थ—आपका कहना ठीक है तो हम पृथ्वी के भार के उतारने के वास्ते ही अवतरे हैं न कि अन्य कार्य के लिए, उसमें ही मेरी सामर्थ्य है, यदि यों कहो तो इसका उत्तर 'यस्यांशांशांशभागेन' श्लोक में देती हूँ—

श्लोक—**यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः ।**
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ।।३१।।

श्लोकार्थ—हे विश्वात्मा ! जिस आपके अंश रूप अक्षर की अंश रूप प्रकृति के गुण, उनके विभाग से विश्व की उत्पत्ति आदि होते हैं, उन आपकी शरण मैं आई हूँ ।।३१।।

सुबोधिनी—यस्य पुरुषोत्तमस्य, **अंशः अक्षरं** तस्याप्यंशः प्रकृतिः, **तस्यांशा** गुणाः, तेषां **भागेन विश्वस्योत्पत्तिलयोदया भवन्ति** । **किलेति** प्रसिद्धे । अनेन सामर्थ्यमुक्तम् । करणावश्यकत्वायाह **विश्वात्मन्निति** सर्वस्यापि स्वकृत्यमावश्यकमिति । अतस्तादृशं **त्वां** स्वकार्यसिद्धचर्थं शरणं **गता** ।।३१।।

व्याख्यार्थ—जिस पुरुषोत्तम का अंश अक्षर है, उस अक्षर की अंश प्रकृति है, उस (प्रकृति) के अंश सत्वादि गुण हैं, उनके विभाग से विश्व की उत्पत्ति, लय और पालन होता है । 'किल' यह वास्तवरीति से प्रसिद्ध ही है,यों कहकर भगवान् की सामर्थ्य प्रकट की है,पालन की आवश्यकतार्थ 'विश्वात्मन्' विशेषण से अपने कार्य की आवश्यकता बताई है, वह कार्य आप से ही पूर्ण होगा, वैसे आप हैं, अतः अपने कार्य की सिद्धि के लिए मैं आपकी शरण आई हूँ ।।३१।।

आभास—तत्कार्यं साधकपूर्वकमाह **चिरादिति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—मैं जैसा कार्य करवाना चाहती हूँ वैसा कार्य आपने प्रथम किया ही है 'चिरात्' दो श्लोकों से वह कार्य कहती है—

श्लोक—**चिरान्मृतसुताऽऽदाने गुरुणा किलनोदितौ ।**
आनिन्यथुः पितृस्थानाद्गुरवे गुरुदक्षिणाम् ।।३२।।

श्लोकार्थ—बहुत समय से मरे हुए गुरु पुत्र को लाने के लिए गुरु की आज्ञा पा कर यमराज के लोक में जाकर वहाँ से पुत्र लाकर गुरुजी को गुरु दक्षिणा दी ।३२।

सुबोधिनी—यथा गुरुवाक्यं कर्तव्यम्, एवं ममापि । यथा गुरोः पुत्रः निरन्वयं गतः तथा प्रकृतेऽपि । यथा दक्षिणा अवश्यं देया, एवं मत्कामनापि पूरणीया । अतो दृष्टान्तः । **चिरा-**

न्मृतस्य **सुतस्याऽऽदाने** आदानार्थं दक्षिणात्वेन **गुरुणा** प्रेरितौ। **किलेति** प्रमाणम्। तदा पितृस्थानं गत्वा यत्र पुरुषाणां जीवतां गमनागमने न स्तः। तादृशस्थानादपि **गुरवे गुरुदक्षिणां** धर्मार्थं **आनिन्यथुः**, पदव्यत्ययश्छान्दसः, आनीतवन्तौ ॥३२॥

व्याख्यार्थ—जैसे गुरु का वाक्य पालन करना चाहिए वैसे ही मेरा (माता का) वचन भी पालना उचित है,जैसे गुरु का पुत्र वंश हीन हो कर गया था वैसा मेरे भी,जैसे गुरुको दक्षिणा अवश्य देनी चाहिए, वैसे मेरी कामना भी अवश्य पूर्ण करनी चाहिए,इसलिए दृष्टान्त दिया है कि गुरुजी ने बहुत समय से मरा हुआ पुत्र ला कर गुरु दक्षिणा में मांगा था, 'किल' शब्द यहाँ प्रमाणवाचक है, तब आप पितृ लोक में गए, जहां जीवित पुरुषों का जाना आना नहीं हो सकता है. ऐसे स्थान से भी गुरु के लिए धर्म पालन करने के लिए दोनों ने गुरु दक्षिणा लाकर दी है ॥३२॥

श्लोक—तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ।
भोजराजहतान्पुत्रान्कामये द्रष्टुमागतान् ॥३३॥

श्लोकार्थ—जैसे गुरुजी को दक्षिणा में पुत्र लाकर दिया, वैसे ही मेरी कामना भी पूर्ण करो, मैं कंस से मारे गए पुत्रों को देखना चाहती हूँ ॥३३॥

सुबोधिनी—**तथा मे** ममापि **कामं कुरुतं** अपमृत्युमृतत्वात् प्रायेण तत्रैव गताः। सामर्थ्यं सूचयति **युवां योगेश्वरेश्वराविति**। योग एव कामनां पूरयति तत्रापि तस्येश्वरः किं वक्तव्यः। भगवांस्तु ततोऽप्यग्रे योगश्चेत् कदाचिद्वदेत् मत्प्रवर्तको नाज्ञापयतीति सोऽपि चेद्वदेत् ममान्तर्यामी न प्रेरयेदिति तन्निरासार्थमेतावदुक्तम्। स्वकामनामाह **भोजराजहतान् पुत्रानिति**। **आगतान् द्रष्टुं कामये**। यस्यामवस्थायां स्थिता मत्तो गताः तादृगवस्थायुक्ता एव द्रष्टव्या इति भावः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—वैसी मेरी भी कामना पूर्ण करो, मेरे पुत्र अपमृत्यु से मरे हैं अतः बहुत करके वहां ही गए हुए हैं. भगवान् की सामर्थ्य बताती है कि आप दोनों योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं, जब केवल योग ही कामना पूर्ण कर सकता है तो उसके ईश्वर के लिए कहना ही क्या ? भगवान् तो उससे भी आगे अर्थात् बड़े हैं, योग तो कदाचित् यों भी कहदे, कि मेरा प्रवर्तक मुझे आज्ञा नहीं देता है, अतः कहा कि आप भगवान्, योग ही नहीं है, किन्तु योगेश्वर हो. इस पर यदि कहो कि योग प्रवर्तक अथवा योगेश्वर होने पर भी मेरा अन्तर्यामी मुझे पुत्रों के लाने की प्रेरणा नहीं करता है, इन सब हेतुओं को निरास करने के लिए ही 'योगेश्वरेश्वरः' इतना समग्र विशेषण दिया है, अब अपनी कामना स्पष्ट कहती है कि मैं, कंस से जो मारे गए उन पुत्रों को, उसी अवस्था में यहां देखना चाहती हूँ जिस अवस्था में वे मेरे पास थे ॥३३॥

आभास—ततो भगवत्कृतमाह **एवं संचोदिताविति** ।

आभासार्थ—'एवं संचोदितौ' श्लोक में भगवान् कार्य कहते हैं—

श्लोक—श्री ऋषिरुवाच-**एवं संचोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत ।**
सुतलं संविविशतुर्योगमायामुपाश्रितौ ।।३४।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि हे भारत ! इस प्रकार माता की प्रेरणा होने पर राम और श्रीकृष्ण योगमाया को साथ ले, निर्विघ्न सुतल में जाकर प्रकटे ।।३४।।

सुबोधिनी - गुर्वर्थेनान्वेषणार्थं गताविति पूर्वमप्युक्तम् । तथात्रापि सिद्धवत्कारेण जानीत इति **सुतलमेव** गतौ । गमनमार्गमाह **योगमायामुपाश्रिताविति** अष्टाविंशतितत्त्वेभ्योऽधस्ताद्योगमाया तस्यां प्रविष्टौ स्वगृहदेशे मध्ये व्यवधायकाभावात् **सुतल** एव प्रादुर्भूतौ ।।३४।।

व्याख्यार्थ—गुरु के पुत्र के लिए जब पधारे तब भी ढूंढने की आवश्यकता नहीं थी, वैसे ही अब भी, क्योंकि आप जानते हैं कि वे कहाँ हैं ! इसलिए सुतल में ही जाकर प्रकट हुए, सुतल में जाने का प्रकार कहते हैं कि 'योगमायामुपाश्रितौ' योगमाया को साथ में लिया, अट्ठावीश तत्त्वों के नीचे योगमाया है, उसमें प्रविष्ठ हुए अर्थात् अपने गृह देशके[1] मध्य में प्रविष्ट हुए, मध्य में कोई प्रतिबन्धक न होने से सुतल में जाकर प्रकटे ।।३४।।

आभास – ततो दैत्यः कदाचिदाज्ञां न करिष्यतीत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं बलिकृतां पूजामाह **तस्मिन् प्रविष्टाविति** चतुर्भिः ।

आभासार्थ—कदाचित् दैत्य[2] आज्ञा का पालन न **करे,** इस शङ्का को मिटाने के लिए चार श्लोकों में बलि की की हुई पूजा का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**तस्मिन्प्रविष्टावुपलभ्य दैत्यराड्विश्वात्मदैवं सुतरां तथात्मनः ।**
तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुताशयः सद्यः समुत्थाय ननाम सान्वयः ।।३५।।

श्लोकार्थ जगत् के आत्मा और दैव तथा अपने भी अत्यन्त इष्ट देव आत्मा एवं दैव; ऐसे दोनों भ्राताओं को सुतल में प्रविष्ट पाकर उनके दर्शन से बलि राजा का अन्तःकरण आनन्द से भर गया, जिससे शीघ्र ही उठकर अपने परिवार सहित इनको प्रणाम किया ।।३५।।

सुबोधिनी—**तस्मिन्** सुतले प्रवेशमात्र एव दैत्यानां स्वामी शीघ्रनिवेदकैर्दैत्यैः भगवदागमनमुपलभ्य **सद्यः समुत्थाय ननामेति** संबन्धः । पूर्वं भगवता बद्ध इति कदाचिद्द्वेषाद्भयाद्वा संमुखो

---

[1] —भगवान् बलि के द्वारपाल बनकर वहां रहते हैं अतः वह अपना घर है,

[2] —बलि

न भवेदित्याशङ्क्याह **विश्वात्मदैवमिति**, विश्वस्यात्मा दैवं च भगवान् तेनात्मत्वान्न भयम्, आराध्यत्वान्न द्वेष इत्यर्थः। यत्र भगवान् जगत एव एवंविधः साधारणस्यापि भयद्वेष संभावनारहितः तत्र स्वस्य महतः कथमेवं भविष्यतीत्यर्थः। न च वक्तव्यं विश्वस्य भगवान्नापकारं करोतीति। यतः सर्वस्योत्पत्तिप्रलयकर्ता स एव। तथा ज्ञानं नास्तीति चेत् तर्हि ज्ञानं गुणो जात इति ज्ञानवतामधिक एव पूज्य इत्याह **सुतरां तथात्मन** इति। किंच। पूर्वं ससारव्यावृत्त्या अनिर्वृतः स्थितः। इदानीं सुतले स्वर्गाधिके सुखेन तद्भावनया तिष्ठतीति स्मृतिसंजातया भक्त्या पूर्णान्तःकरण एव **तद्दर्शनाह्लादेन** अधिकेन **परिपूताशयो** जातः। अत आलस्यादिधर्मेषु लीनेषु **सद्यः समुत्थाय ननाम**। तत्पुत्रस्य बाणस्य बाहुच्छेदो भगवता कृत इति कदाचिदनमनं स्यात्तत आह **सान्वय** इति, पुत्रपौत्रादिसहितः। ॥३५॥

व्याख्यार्थ—जिस सुतल में बलि राजा भगवान् की आज्ञा से राज्य करते थे उस सुतल में भगवान् के प्रविष्ट होते ही दैत्यों के स्वामी ने शीघ्र समाचार पहुँचाने वाले अपने सेवकों से जान लिया कि प्रभु पधारे हैं अतः सपरिवार आकर प्रणाम करने लगा, इस प्रकार अन्वय[1] है, भगवान् ने बलि को पहले बान्धा था, इससे कदाचित् द्वेष अथवा भय से संमुख सत्कारार्थ न आवे ? इस शङ्का के होने पर कहते हैं कि 'विश्वात्मदैवं' भगवान् विश्व की आत्मा और दैव हैं, इसलिए जो अपनी आत्मा है उससे भय नहीं होता है, और जो दैव है वह पूजा के योग्य है जिससे उसके साथ द्वेष नहीं किया जाता है, जहाँ भगवान् जगत् को ही ऐसे हैं अर्थात् साधारण को भी डराते नहीं और न द्वेष करते हैं अथवा साधारण भी भगवान् से स्वयं न डरते हैं और न उनसे द्वेष करते हैं क्योंकि वे साधारण की भी आत्मा और दैव है, जब यों है तो महान्[2] और अपने से कैसे वैसे होंगे, यों तात्पर्य है, और भगवान् तो विश्व में किसीका भी अपकार नहीं करते हैं, यों नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सबकी उत्पत्ति और प्रलय वे ही करते हैं. वैसा ज्ञान सबको नहीं है यदि यों कहो तो, ज्ञान, गुण हो गया, इसलिए जिनको ज्ञान है उनको तो अधिक ही उनकी पूजा करनी चाहिए, अतः कहा है कि 'सुतरां तथात्मनः' बहुत ही वे अपने हैं, प्रथम संसार की व्यावृत्ति से बलि दुःखी रहता था, अब स्वर्ग से अधिक सुन्दर सुतल में भगवत्कृपा से उनकी भावना से सुख पूर्वक रहता है, इस प्रकार की स्मृति हो आने से उत्पन्न भक्ति से अन्तःकरण भर गया और उनके दर्शन से उत्पन्न आनन्द की अधिकता से हृदय परिपूर्ण हो गया इस कारण से आलस्यादि धर्म लोप होगए जिससे शीघ्र उठकर नमस्कार करने लगा। उसके पुत्र बाण का भगवान् ने बाहु छेद किया इस कारण कदाचित् नमन पूर्ण रीति से न करे इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि 'सान्वयः' समग्र परिवार सहित आकर प्रणाम किया न कि केवल बलि ने ही ॥३५॥

आभास—ततः पूजामाह **तयोः समानीयेति**।

आभासार्थ—पश्चात् 'तयोः समानीय' श्लोक से बलि कृत पूजा[3] कहते हैं।

---

[1] —वाक्यों का सम्बन्ध

[2] —दैत्यों के स्वामी,

[3] —३५ वें श्लोक में मानसी कही है, ३६ वें ३७ वें से कायिकी और ३८ वें से वाणी की यों इन श्लोकों के अनुसार पूजा कही है।

श्लोक—**तयोः समानीय वरासनं मुदा निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः ।**
दधार पादाववनिज्य तज्जलं सवृन्द आब्रह्मपुनद्यदम्बु ह ।।३६।।

श्लोकार्थ—उन दोनों के लिए सुन्दर आसन प्रेम से ले आए। वे दोनों जब विराजमान हो गए, अनन्तर उनके पाद प्रक्षालन किए, वह जल ब्रह्मा तक को पवित्र करने वाला था, अतः बलि राजा ने तथा उसके परिवार ने अपने-अपने सिर पर चढ़ाया ।।३६।।

सुबोधिनी—**मुदे**त्युभयत्र सबन्धः। आसनस्याग्रहणे पुनर्भयं संभावितं स्यात्, अत आह **निविष्टयोस्तत्रे**ति, **तत्रा**सने उपविष्टयोः सतोः। **महात्म**त्वात् निःशङ्कतया तत्रोपवेशनम्। अन्यथा बद्धस्य गृहे प्रभुः सशङ्को भवति। तदा **तत्पादाववनिज्य** चरणोदकं सकुटुम्बः **दधार**। तस्य माहात्म्यमाह **यदम्बु** गङ्गारूपमा**ब्रह्म** ब्रह्मलोकमारम्य पातालपर्यन्तं पुनातीति **आब्रह्मपुनत्**। **ह**ेत्याश्चर्यं। कथमन्यस्य शेषभावं प्राप्तं अन्यस्य शोधकमिति ।।३६।।

व्याख्यार्थ—'मुदा' इस पद का दोनों से संबन्ध है, अर्थात् इन दोनों के पधारने पर बलि निर्भय हो प्रसन्नता से आसन ले आया और भगवान् ने भा आसन ले लिए उन पर विराजमान हो गए जिससे अपनी निर्भयता और प्रसन्नता प्रकट की, जिसको बन्धन में डाला उसके गृह में प्रविष्ट हो और निःशङ्क हो आसन पर विराजकर अपना महात्म्यपन तथा प्रेम व आनन्द प्रकट किया, अन्यथा प्रमुद्धबद्ध के गृह में आने पर शङ्काशील होने चाहिए, वैसे न हुए, तब बलि ने पाद प्रक्षालन किया, वह चरणजल कुटुम्ब सहित शिर पर धारण किया,उस जल का माहात्म्य कहते हैं कि जो जलगङ्गा रूप है ब्रह्मलोक से लेकर पाताललोक तक पवित्र करने वाला है ह'पद आश्चर्य अर्थ में दिया है कारण कि पाद प्रक्षालन का शेष जल तो हलका अर्थात् घटिया होता है वह अन्य को पवित्र करनेवाला कैसे हुआ ? यह आश्चर्य है इसको प्रदर्शित करने के लिए ह' पद दिया है ।।३६।।

श्लोक—**समर्हयामास स तौ विभूतिभिर्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः ।**
स्रग्धूपदीपामृतभक्षणादिभिः स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च ।।३७।।

श्लोकार्थ—बलि ने उनकी उत्तम वस्त्र, आभूषण, लेपन, ताम्बूल, दीप और अमृत-सम भोजन आदि अनेक वैभव से पूजा की और अपना तन, धन और कुटुम्ब सब अर्पण किया ।।३७।।

सुबोधिनी- ततः पुष्पादिभिः **समर्हयामास**। **महार्हा**णि **वस्त्राण्याभरणा**नि च **अनुलेपना**नि च चतुःसमादीनि तथा **स्रग्धूपदीपाः**। **अमृत**ममृतमयानि वा **भक्षणा**णि। **आदि**शब्देन ताम्बूलाद्युपचारा गृह्यन्ते। नैतावता साधारणधर्मेण भगवांस्तुष्यतीति **स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणं** च कृतवान्। आत्मीयाः धनं देहश्चेति त्रितय एव सर्वानुप्रवेशः ।।३७।।

व्याख्यार्थ—अनन्तर पुष्पादि से पूजन किया, बहुत कीमत वाले वस्त्र, आभूषण, केसर, कस्तूरी, चन्दन और अगरु, मिश्रित चन्दन एवं धूप-दीप आदि से पूजन किया, अमृतमय भोजन

कराया । 'आदि' शब्द से ताम्बूल आदि मुखवास भी दिए, ऐसे साधारण धर्म से भगवान् प्रसन्न नहीं होते हैं, इसलिए अपना कुटुम्ब, धन और देह भी अर्पण की, इन तीनों से सर्व सम्पत्ति आ गई समझनी चाहिए ।।३७।।

आभास—ननु दैत्योऽयं कथमेवं भगवद्भक्त इति चेत् तत्राह **स इन्द्रसेनो** इति ।

आभासार्थ—यह दैत्य भगवद्भक्त कैसे हुआ ? इसका उत्तर 'स इन्द्रसेनो' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—**स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया ।**
उवाच हानन्दकलाकुलेक्षणः प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरम् ।।३८।।

श्लोकार्थ—हे नृप ! प्रेम से द्रवीभूत बुद्धि वाला वह बलि बार-बार भगवान् के चरण-कमल को अन्तःकरण में धारण करता हुआ, आनन्द के आँसुओं से व्याकुल नेत्र हो तथा पुलकित गात्र हो गद्गद् कण्ठ से कहने लगा ।।३८।।

सुबोधिनी—इन्द्रस्येव सेना यस्येति । **इन्द्र** उत्तमसत्त्वांशः, तस्येन्द्रियादिसामग्री अत्यन्तं भगवत्परा, तथास्यापीत्यर्थः । बाह्यसेनापि तथैवेति ज्ञातव्यम् । महत्त्वमपि सूच्यते । तादृशोऽपि **भगवत्पदाम्बुज बिभ्रद्धस्तद्वयेन,** पश्चान्**मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया च बिभ्रदुवाच** । वचनस्यान्यानीन्द्रियाणि सहायभूतान्याह **आनन्दकलाकुलेक्षणः, प्रहृष्टरोमा, गद्गदाक्षरः,** इन्द्रियाणां, देहस्य, वाचश्च वैकल्यं निरूपितम् ।।३८।।

व्याख्यार्थ—बलि को इन्द्रसेन कहा है । जिसका भावार्थ समझाते हैं कि इन्द्र उत्तम सत्त्व के अंश वाला है, इसलिए इसकी इन्द्रियाँ आदि अत्यन्त भगवत्परायण हैं, उसी तरह बलि की भी इन्द्रियाँ आदि भगवान् के परायण हैं, बाहर की सेवा भी भगवत्परायण है, यों समझना चाहिए, जिससे महत्त्व का भी सूचन होता है, वैसा इन्द्रसेन है तो भी भगवान् के चरण कमल को दो हस्तों से धारण करते हुए, फिर बार-बार प्रेम से विह्वल बुद्धि से कहने लगा, वाणी की अन्य इन्द्रियाँ सहायक हुई, जैसा कि आनन्द के अंश (आँसूओं) से व्याकुल नेत्र हो गए, रोम (रुँवांटे) खड़े हो गए, मुख से गद्गद् हो अक्षर निकलने लगे, इसी तरह इन्द्रियों की, देह की और वाणी की व्याकुलता निरूपण की है ।।३८।।

आभास—एवं परमभक्तियुक्तः भगवतः षड्गुणप्रतिपादकैः भगवत्प्रतिपादकेन च सप्तभिः स्तुत्वा प्रार्थयते नमोऽनन्तायेत्यष्टभिः श्लोकैः । आदौ भगवत ऐश्वर्यं स्मृत्वा नमस्यति **नमोऽनन्तायेति** ।

आभासार्थ—इसी भांति परम भक्ति से युक्त बलि राजा, भगवान् और भगवद्गुणों के प्रतिपादन करने वाले सात श्लोकों से स्तुति कर 'नमोऽनन्ताय' **से** लेकर आठ श्लोकों से प्रार्थना करता है, पहले भगवान् के ऐश्वर्य की स्मृति से 'नमोऽनन्ताय' श्लोक द्वारा प्रणाम करता है—

श्लोक—बलिरुवाच—**नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे ।**
सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥३६॥

श्लोकार्थ—बलि कहने लगा कि फण के एक देश में विश्व को धारण करने वाले महान् अनन्त (शेष) रूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ। जगत् के विधाता, सांख्य योग विस्तारक परमात्मा कृष्ण स्वरूप परब्रह्म आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥३६॥

सुबोधिनी—ईश्वरः स एव यो न केनापि परिच्छिद्यते । अयं च देशकालापरिच्छिन्नः । किं च । स एव समर्थो यो महान् भवति तदाह **बृहते** इति । बलभद्रनमस्कारो वा । अयमनन्त इति शेषः प्रादुर्भूतः । स एव **बृहत्** ब्रह्मेति । स एवेश्वरो यो नित्यानन्दः स **कृष्णः** । यश्च जगत्कर्ता तदाह **वेधसे** इति । जगत्कर्तृ मुख्यं ब्रह्मेति भगवत एव विशेषणम् । शास्त्रयोनित्वमपि ब्रह्मलक्षणमिति विशेषसिद्धान्तप्रतिपादकत्वेन माहात्म्यमाह **सांख्ययोगयोर्वितानाय** विस्तारहेतवे । तत्र हेतुमिव वदन् सिद्धान्तान्तरकर्तृत्वमाह **ब्रह्मणे परमात्मन** इति । ब्रह्मत्वाद्वेदतदर्थरूपत्वम् । **परमात्मन** इति वैष्णवशैवसिद्धान्तप्रवर्तकत्वं तदर्थप्रतिपादकत्वं च । **सांख्या** ज्ञानप्रधाना इति ब्रह्मपराः । **योगिनस्तु** परमात्मध्यानपरा इति तद्वितानकर्तृत्वं सिद्धयति । अनेन शास्त्रदृष्ट्या ज्ञानम्, ध्यानेन च ज्ञानं भगवतः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—ईश्वर, वह ही है, जिसको कोई भी अपनी सीमा में न ला सकता है, यह तो देश और काल से परिच्छिन्न (सीमित) नहीं है, और विशेष, वह ही समर्थ है, जो महान् होता है, इसलिए 'बृहते' कहा है अथवा यह नमस्कार बलभद्र स्वरूप को की है, यह अनन्त है अर्थात् शेष इस रूप से प्रकटे हैं, वह हो बृहत् अर्थात् ब्रह्म है, वह ही ईश्वर है जो नित्य आनन्द स्वरूप है वह श्रीकृष्ण है, और जो जगत्कर्ता होता है वह ही ईश्वर है, इसलिए 'वेधसे' कहा है, जगत्कर्ता मुख्य ब्रह्म, इसलिए यह भगवान् का विशेषण है, ब्रह्म का अन्य लक्षण शास्त्रयोनित्व है, विशेष सिद्धान्त प्रतिपादकत्व से स्पष्ट माहात्म्य कहते हैं कि, साङ्ख्य और योग शास्त्रों के विस्तार के लिए अर्थात् इनका विस्तार करने वाले होने से आप ही ब्रह्म हैं, इस विषय में हेतु प्रकार कहते हुए अन्य सिद्धान्तों का कर्तृत्व भी कहते हैं, ब्रह्मणे, परमात्मने, ब्रह्म होने से वेद और उसके अर्थ रूप आप हैं, परमात्मा होने से वैष्णव और शैव सिद्धान्त के प्रवर्तक तथा उनके अर्थ के प्रतिपादक भी आप ही हैं, साङ्ख्य ज्ञान प्रधान होने से ब्रह्म 'पर' हैं, योगी तो परमात्मा के ध्यान परायण है, इसलिए उसका वितान कर्तृत्व सिद्ध होता है, इससे शास्त्र दृष्टि से, ज्ञान और ध्यान से भगवान् का ज्ञान होता है ॥३६॥

आभास—न तु भगवत्साक्षात्कारः कस्यचिद्भवति । स मम जात इति केवलं भगवद्वीर्येणैव तद्भवतीति भगवद्वीर्यं समथयन्नाह **दर्शनं वां हि भूतानामिति** ।

आभासार्थ—भगवान् का साक्षात् दर्शन तो किसी को नहीं होता है वह मुझे हुआ है, यों

दर्शन केवल भगवान् के ऐश्वर्य प्रताप बल से ही कृपा से होता है, इसलिए भगवान् के ऐश्वर्य का समर्थन 'दर्शनं वां' श्लाक में करता है—

श्लोक—**दर्शनं वां हि भूतानां दुःप्रापं चातिदुर्लभम् ।**
रजस्तमःस्वभावानां यन्नः प्राप्तौ यदृच्छया ॥४०॥

श्लोकार्थ—आपके दर्शन प्राणियों को दुर्लभ हैं, किन्तु जिन पर आप कृपा करते हो, उनको स्वतः हो जाते हैं जैसा कि रज और तम स्वभाव वाले हमको आप दोनों के अकस्मात् दर्शन हुए हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—ये उत्पद्यन्ते प्रवाहे तेषामुत्पत्तिविरोधित्वाद्भगवद्**दर्शनं** दुर्लभम् । **वां** ब्रह्मपरब्रह्मणोः । स्वक्रियया प्राप्यं दुःखेनापि यन्न भवति तद्**दुःप्रापम्** । देवादिवरेणापि यन्न लभ्यं तद् **दुर्लभं च**कारात्सर्वसाधनैरप्यलभ्यता निरूपिता । तत्र हेतुः **रजस्तमःस्वभावानामिति** । राजसानां दुःप्रापम् । तामसानां दुर्लभम् । राजसानामपि केषांचिद् दुर्लभमिति **च**कारः । एतादृशावपि नोऽस्माकं **रजस्तमःस्वभावानां** यद्यकस्मात् **प्राप्तौ** । तत्र हेतु**र्यदृच्छैव** ॥४०॥

व्याख्यार्थ—जो लोग प्रवाह में उत्पन्न होते हैं, उनको भगवान् का साक्षात् दर्शन उत्पत्ति के विरोध होने से दुर्लभ है, आप दोनों ब्रह्म और पर ब्रह्म स्वरूप के दर्शन दुःख से की हुई अपनी कठिन क्रिया से भी जो कठिनाई से मिलते हैं, देव आदि के वरों से भी जो नहीं मिलता है अतः दुर्लभ है, 'च' पद से यह सूचित किया है कि सर्व प्रकार के साधन करने पर भी नहीं मिल सकते हैं, यों निरूपण किया है । ऐसे दुर्लभ एवं दुःप्राप्य होने में क्या हेतु है ? वह कहते हैं कि प्राणि रज और तम स्वभाव वाले हैं, राजसों को दुःप्राप्य है, तामसों को दुर्लभ हैं । 'च' पद से यह सूचित किया है कि किन्हीं राजसों को भी दुर्लभ है, ऐसे दुःप्राप्य और दुर्लभ होते हुए भी आपने जो रज-तम स्वभाव वाले हमको **अकस्मात्** दर्शन दिए हैं, उसमें कारण आपकी कृपा युक्त इच्छा ही है ॥४०॥

आभास—कथं राजसतामसानां दुर्लभमित्यत्र हेतुमाह श्लोकद्वयेन **दैत्यदानवगन्धर्वा** इति ।

आभासार्थ—राजस-तामसों को दर्शन दुर्लभ कैसे हैं ? जिसमें हेतु 'दैत्यदानवगन्धर्वाः' आदि दो श्लोकों से देता है—

श्लोक—**दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः ।**
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥४१॥

श्लोकार्थ—दैत्य, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रमथ और उनके नायक ॥४१॥

सुबोधिनी—**दैत्यदानवगन्धर्वा** इति राजसे गुणभेदः । **सिद्धविद्याध्रचारणाश्च** द्वितीयाः तामसराजसाः । **यक्षरक्षःपिशाचा**स्तामसाः । **भूतप्रमथनायका**स्तामसतामसाः । **प्रमथा** महादेवगणाः, तयोर्वा **नायका**स्तृतीयाः ।।४१।।

व्याख्यार्थ—दैत्य, दानव और गन्धर्व इनमें राजस गुण का न्यूनाधिक्य है; सिद्ध, विद्याधर तथा चारण ये राजस-तामस गुण वाले हैं और यक्ष, राक्षस तथा पिशाच तामस हैं; भूत, प्रमथ और इनके नायक तामस-तामस हैं; प्रमथ महादेव के गण हैं; 'नायक' भूत तथा प्रमथ दोनों के नायक हैं ।।४१।।

आभास—एवं सर्वान् गणयित्वा तेषां स्वरूपमाह **विशुद्धसत्त्वधाम्नीति** ।

आभासार्थ—इसी प्रकार सबकी गणना कर उनका स्वरूप 'विशुद्धसत्त्वधाम्नि' श्लोक में कहता है—

श्लोक—**विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि ।**
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः ।।४२।।

श्लोकार्थ—वे हम और अन्य विशुद्ध सत्त्व के धाम स्वरूप और शास्त्र से प्राप्य शरीर वाले आपसे सदैव वैर करते हैं ।।४२।।

सुबोधिनी—भगवत आत्मत्वेऽपि उपाधिगुणेनैव विरोधः । किंच ! भगवान् वेदादिशास्त्रं कृतवान् । ते च लोकप्रधानाः अत उभयेषां विरोधो युक्त इत्याह **शास्त्रशरीरिणी**ति शास्त्रैकसमधिगम्यशरीरयुक्ते । अत एव **नित्यं निबद्धवैराः**, **ते** पूर्वोक्ताः, **वयं च** । यद्यप्यस्माकमिन्द्रियादिवर्गः सात्त्विकः तथापि देहो राजस एवेति भिन्नतया गणयति । **अन्ये च** तथा ब्राह्मणाः । **च**कारात्तत्संबन्धिनश्च ।।४२।।

व्याख्यार्थ—भगवान् सबकी आत्मा हैं तो भी उपाधि गुण के कारण ही विरोध है और विशेष में भगवान् ने वेदादि शास्त्र बनाए हैं, वे लोक प्रधान हैं, अतः दोनों का विरोध है, वह उचित नहीं है । इसलिए कहा है कि 'शास्त्र शरीरिणि' अर्थात् केवल शास्त्र से ही जिसके शरीर को प्राप्ति हो सकती है, इस कारण से ही पहले कहे हुए और हम लोगों का नित्य वैर रहता है, यद्यपि हमारा इन्द्रिय वर्ग सात्त्विक है, तो भी देह राजस ही है, इसलिए पृथक् गिनाता है और अन्य वैसे ही ब्राह्मण, 'च' पद से उनके सम्बन्धी भी समझने चाहिए ।।४२।।

आभास—ननु ते चेद् द्वेषिणस्तदा तेषां नरकपात इति 'आसुरीं योनिमापन्नाः' इति वाक्यानुसारेण कदाचिदप्यमुक्तौ कथं भगवान् सर्वात्मेति चेत्, तत्र मुख्यं सिद्धान्तमाह **केचनोद्बद्धवैरेणे**ति ।

आभासार्थ—यदि यों हैं अर्थात् द्वेषी हैं तो नरक में पात होगा, 'आसुरीं योनिमापन्नाः' इस

वाक्यानुसार सदैव नरक में ही पड़े रहेंगे, यों है तो भगवान् सबकी ग्रात्मा कैसे ? जिसके उत्तर में मुख्य सिद्धान्त 'केचन' श्लोक से कहता है—

श्लोक—**केचनोद्बद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः ।**
न तथा सत्त्वसंरब्धाः संनिकृष्टाः सुरादयः ।।४३।।

श्लोकार्थ—जिस तरह कितने एक तो वैर से, कितने एक भक्ति से और कितने एक कामना से ग्रापके स्वरूप को प्राप्त हुए, उसी तरह सत्त्व गुण वाले देवता ग्रापके स्वरूप को प्राप्त नहीं होते हैं ।।४३।।

सुबोधिनी—त्रिविधा लोकाः लौकिकाः । तत्र तामसाः **उद्बद्धवैरेण** त्वां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा । सात्त्विका **भक्त्या**, राजसाः **कामतः**, तथा वैदिकाः सात्त्विकाः **सत्त्वेन संरब्धाः** सत्त्वगुणेन साहंकारेण कर्मस्वाविष्टचित्ताः **सुरादयोऽपि** ।।४३।।

व्याख्यार्थ—लौकिक मनुष्य तामस, सात्त्विक ग्रौर राजस यों तीन प्रकार के होते हैं । जिसमें तामस घोर (जबर्दस्त) वैर कर सात्त्विक भक्ति से ग्रौर राजस काम से ग्रापको पाते हैं वा जानते हैं तथा सत्त्व के कारण, व्याकुल वैदिक सात्त्विक पुरुष ग्रहंकार सहित सतोगुण से कर्मों में ग्रासक्त चित्त वाले देव ग्रादि भी ग्रापको नहीं पा सकते हैं ।।४३।।

ग्राभास—इदमित्थमिति ।

ग्राभासार्थ—'इदमित्थमिति' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर ।**
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम् ।।४४।।

श्लोकार्थ—हे योगेश्वरों के ईश्वर ! ग्रापकी योगमाया यह है ग्रौर इस प्रकार की है, वैसे प्रायः योगेश भी नहीं जान सकते हैं, तो हम कैसे जान सकें ।।४४।।

सुबोधिनी—प्रायेण ते **योगमायां न विदन्ति कुतो वयं** न लौकिका न वैदिकाः निषिद्धभावनयाऽधःपतिताः । **योगेश्वरेश्वर** इति संबोधनात् भोगाभिनिविष्टाः देवा मा जानन्तु । योगेश्वरा ज्ञास्यन्तीति तान्निषेधति **योगेशा ग्रपि** ।।४४।।

व्याख्यार्थ—हे योगेश्वरों के ईश्वर ! बहुत करके ग्रापकी योगमाया को वे योगेश नहीं जान सकते हैं तो हम जो न लौकिक ग्रौर वैदिक रहे हैं, वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध किए हुए कर्मों से ग्रासक्त होने से ग्रधः पात को प्राप्त हुए हैं वे कैसे जान सकेंगे, 'योगेश्वरेश्वर' विशेषण से भोग में प्रविष्ट देव भले न जान सके किन्तु योगेश तो जान सकेंगे, उनका भी निषेध करते हैं 'योगेशामपि न जानन्ति' योगेश भी नहीं जान सकते हैं ।।४४।।

आभास—एवं भगवतो माहात्म्यं स्वस्यानधिकारं च निरूप्य अनधिकारिणा भगवदाज्ञाव्यतिरेकेण परित्यागः कर्तु मशक्य इत्याज्ञां प्रार्थयते **तन्नः प्रसीदेति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का माहात्म्य और अपने अधिकार का निरूपण कर, अनाधिकारी, भगवदाज्ञा के बिना पूर्ण याग कर नहीं सकता है, इसलिए 'तन्नः प्रसीद' श्लोक में भगवदाज्ञा के लिए प्रार्थना करता है—

श्लोक—**तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्य युष्म-**
त्पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात् ।
निःक्रम्य विश्वशरणाङ्घ्रयु्पलब्धवृत्तिः
शान्तो यथैक उत सर्वसखश्चरामि ।।४५।।

श्लोकार्थ—इसलिए हम पर ऐसी कृपा करो कि जिस कृपा बल से निष्काम पुरुषों के ढूँढ़ने योग्य आपके चरणारविन्द का आश्रय जिस गृइ में नहीं है, वैसे गृह रूप अन्ध कूप में से बाहर निकल, विश्व का शरण (भगवान् विश्व-रक्षक) है, आश्रय जिनका ऐसे सन्त पुरुषों से मैं आजीविका प्राप्त करूँ, जिससे शान्त चित्त हो, एकाकी भ्रमण करते हुए सर्व का हितकारी बन जाऊँ ।।४५।।

सुबोधिनी—ननु किमिति परित्यागः प्राथ्यंते तत्राह हे **निरपेक्षविमृग्येति** । **निरपेक्षा** ये सर्वतः तेषामेव **विमृग्येति** । अनेन गृहे स्थितस्य शूद्रस्येव वेदोच्चारणमिव भगवदन्वेषणं निषिद्धमिति ज्ञापितम् । साक्षादपि गृहस्थस्य भगवदन्वेषणं नास्तीत्याह **युष्मत्पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपादिति युष्मत्पादारविन्दे धिषणा** येषां तेभ्यो ये **अन्ये** तेषामेव गृहं **तदन्धकूप**प्रायमेव भवति । भगवच्चरणारविन्दस्मृतिप्रकाशाभावात् । अत एव तस्माद्विनिःक्रम्य तादृशमस्मद्गृहं दैत्याक्रान्तमिति । **चरामीति** प्रार्थना । नन्वन्नाद्यभावात् कथं चरणं सेत्स्यतीति चेत् तत्राह **विश्वशरणाङ्घ्रयु्पलब्धवृत्तिरिति विश्वस्यापि शरणभूते अङ्घ्रौ** येषां येषां परिभ्रमणेन सर्वं एव संसारिणः गृहं त्यक्त्वा क्षणमप्यन्यत्र गन्तुमशक्ताः तेऽपि कृतार्था भवन्तीति सन्तो **विश्वशरणाङ्घ्रयो** भवन्ति तैः कृत्वा **लब्धा** उपजीविका **वृत्ति**र्भवति, 'ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णैः' इति प्रकारेण । एवं सद्भिर्बाधायां निवृत्तायामान्तरदोषोऽपि निवृत्तो भविष्यतीत्याह **शान्त** इति । **यथा** यथावत् **एकः** परमहंसो यथेति वा तथा भविष्यामि, बाह्याभ्यन्तरदोषस्य निवृत्तत्वात् । एवं कियत्काल परिभ्रमणेन **उत सर्वसखो**ऽपि भविष्यामि यथा सन् । एतत्सर्वं गृहपरित्यागव्यतिरेकेण न भवतीति गृहे उद्विग्नो भगवन्तं प्राथंयते । एतत्कालान्तरकृत्यम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ इस प्रकार परित्याग की प्रार्थना क्यों करता है ? इस पर कहता है कि जिसको निष्काम ही ढूंढते हैं वैसे आपके चरणारविन्द रहित जो गृह हैं वे अन्ध कूप के समान हैं, क्योंकि वहां चरणाविन्द स्मृति का प्रकाश नहीं है, कारण कि उस अप्रकाशित गृह में जैसे गृह स्थित शूद्र को वेद पढना निषिद्ध है, वैसे ही इस अन्धकूप सम-गृह में भगवान् का ढूँढना निषिद्ध है। हमारा गृह दैत्याक्रान्त होने से वैसा ही अन्ध कूप है। जिससे निकलना ही

हितकर है, उससे निकलकर आपको ढूंढ के प्राप्त कर सकूँगा, भोजन का प्रबन्ध न होने से चरणों को कैसे प्राप्त कर सकोगे ? जिसके उत्तर में कहता है कि, भगवान् के आश्रित भक्त पुरुषों के आश्रय से आजीविका का स्वतः प्रबन्ध होता रहेगा 'ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढ कर्णैः'[1] इस प्रकार से अपनी तृप्ति कर लेने से दुःख दूर होते हैं, अन्तः करण के दोष नष्ट हो शान्ति प्राप्त होती है जिससे भीतर और बाहर के सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं पश्चात् जैसे एकाकी परमहंस निश्चिन्त घूमते हैं वैसे फिरूँगा तो सर्व सरवा होजाऊंगा, यह सब गृह त्याग के सिवाय नहीं हो सकता है, इसलिए गृह में उद्विग्न होने के कारण भगवान् को प्रार्थना करते हैं ।।४५।।

आभास—सांप्रतं किं कर्तव्यमिति विज्ञापयति **शाध्यस्मानिति** ।

आभासार्थ—उपर्युक्त प्रार्थना अन्य काल के लिए है, अब क्या करना चाहिए इसको जानने के लिए 'शाध्यस्मानी' श्लोक से प्रार्थना करता है—

श्लोक—शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान्कुरु नः प्रभो ।
पुमान् यच्छ्रद्धया तिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते ।।४६।।

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! आज्ञा के योग्यों[2] के स्वामी ! हमको निष्पाप करो; क्योंकि आपकी आज्ञानुसार श्रद्धापूर्वक चलने वाला विधि बन्धन से छूट जाता है ।।४६।।

सुबोधिनी—ननु यथाशास्त्रमेव कर्तव्यम् । अभ्यागता वयं कथमाज्ञापयिष्याम इति चेत् तत्राह हे **ईशितव्येशे**ति ईशितव्या एव वयं सर्वे जीवाः तेषां त्वमेवेशः, अतस्त्वया आज्ञापनीयाः । ननु विशेषतः किमिति प्रार्थ्यंते, तत्र बीजमाह **पुमान् यच्छ्रद्धया तिष्ठन्निति** । **चोदनाया** विधि-नियोगान्निवर्तत इत्यर्थः ।।४६।।

व्याख्यार्थ—ज्यों शास्त्र में आज्ञा है, त्यों ही करना चाहिए हम अभ्यागत क्या आज्ञा करें ? यदि यों कहते हो तो, इसका उत्तर यह है कि, आज्ञा पाने योग्य ही हम सब जीव हैं, उनके आप ही स्वामी हैं अतः आप को आज्ञा करनी चाहिए. हम आज्ञा पाने के ही योग्य हैं, इस तरह विशेष प्रकार से आज्ञा क्यों मांगी जाती है ? इस पर कहा है कि जिसका कारण कहा जाता है) जो मनुष्य आपकी आज्ञानुसार श्रद्धापूर्वक आचरण करता है वह शास्त्र की विधि के बन्धन से मुक्त हो जाता है ।।४६।।

आभास—प्रथमवाक्ये अनङ्गीकारमिव ज्ञापयन् द्वितीयस्योत्तरं वक्तुं प्रसङ्गमाह **आसन् मरीचेः षट् पुत्रा इति** ।

आभासार्थ—पहली प्रार्थना (त्याग की आज्ञा) का मानो भगवान् अङ्गीकार न कर, अन्य का उत्तर देने के लिए, प्रसङ्ग 'आसन् मरीचेः' श्लोक से कहते हैं—

---

[1] हे नृप ! तृष्णा को न छिपाकर गाढ कर्ण द्वारा वांगमृत पान करते हैं, [2] जीवों के

श्लोक—श्रीभगवानुवाच-**आसन्मरीचेः षट् पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे ।**
देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतां यभितुमुद्यतम् ।।४७।।

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि पहले कल्प में मरीचि को ऊर्णा स्त्री से छः पुत्र हुए थे, वे देव पुत्री से भोग के लिए उद्यत ब्रह्मा को देखकर हँसे थे ।।४७।।

सुबोधिनी—प्रथमकल्पे अतीतब्रह्मकल्पे, **मरीचेः ऊर्णा** नाम पत्नी अभूत् । यथेदानीं कला । तस्याः **षडिन्द्रियदेवा** इव **पुत्रा** जाताः । प्रथमकल्पे **यदन्तरं** मन्वन्तरं, त एवैत इति वक्तुं तेषामपराधमाह **देवाः कं जहसुर्वीक्ष्येति** । 'वाचं दुहितरं तन्वीम्' इति यन्निरूपितं तेन प्रकारेण **सुतां यभितुं** संभोक्तुमुद्यतं **कं** ब्रह्माणं **जहसुः** । ।।४७।।

व्याख्यार्थ—मरीचि को जैसे इस कल्प में कला नाम पत्नी है, वैसे आगे हुए ब्रह्म कल्प में ऊर्णा नाम पत्नी थी, जिससे इन्द्रियों के देववत् छ पुत्र प्रथम कल्प में जो मन्वन्तर था, उसमें उत्पन्न हुए, ये जो यहां बैठे हैं वे ही थे, उनका अपराध क्या था ? वह निरूपण करते हैं, वे देव ब्रह्मा को देख कर हँसे ? क्यों हँसे ? जिसमें प्रमाण 'वाचं दुहितरं तन्वीम्' देकर सिद्ध करते हैं कि अपनी वाणी रूप सरस्वती पुत्री को देखकर उससे भोग करने के लिए ब्रह्मा उद्यत हुए थे ।।४७।।

आभास—कामो भगवान् तेन प्रेरितः तत्सेवार्थं वा प्रवृत्तो निःकपटः शुद्ध एव । परं ये तत्सिद्धान्तानभिज्ञाः ते तत्रोपहासं कुर्वन्तः भक्तोपहासका इवासुरीं योनिं प्राप्नुवन्ति **तेनेति** ।

आभासार्थ—भगवान् ने काम रूप से प्रेरणा की थी, अतः भगवत्सेवा के लिए प्रवृत्त होने से ब्रह्मा निष्कपट शुद्ध ही है, किन्तु जो इस सिद्धान्त को नहीं समझते हैं, वे उस पर हँसते हैं भक्त पर उपहास करने वाले जैसे आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं वैसे ये भी हुए जिसका वर्णन 'तेनासुरी' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तेनासुरीमगन्योनिमधुनावद्यकर्मणा ।**
हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया ।।४८।।
देवक्या उदरे जाता राजन्कंसविहिंसिताः ।
सा तान् शोचत्यात्मजान् स्वांस्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके ।।४९।।

श्लोकार्थ—इस अपराध से वे आसुरी योनि को प्राप्त हुए, वहाँ भी निन्द्य कर्म करने से हिरण्यकशिपु के यहाँ जन्म लिया, वहाँ से योगमाया ने लाकर देवकी के गर्भ में स्थापित किए, जो कंस के हाथ से मारे गए, अभी देवकी अपने पुत्रों का शोक कर रही है और वे आपके पास बैठे हैं ।।४८-४९।।

सुबोधिनी—**तेनेमामासुरीं योनिं** प्राप्ताः। तावतापि भगवदपराधो न शान्त इति **अधुना** आसुरयोनौ उपहासफलत्वेन प्राप्तायाम**वद्यं कर्म** कृतवन्तः। तेना**वद्यकर्मणा हिरण्यकशिपो**र्भगवद्विमुखात् कस्यांचिज्जाताः। ततस्ते **योगमायया देवक्या उदरे** विद्यमानमरिषड्वर्गं दूरीकर्तुं 'दोषेणैव दोषो हन्तव्यः' इति **योगमायया देवक्या उदरे नीताः**। **राजन्निति** राजसत्वात्तवाज्ञानं न दोषाय। ततः **कंसेन विहिंसिताः** विशेषेण मारिताः। एवं तेषां वारत्रयं दण्डो जातः, त्रिसत्यो भगवानिति। इदानीमस्मन्माता **तान्** दोषहारकान्, अत एव **स्वान् आत्मजानीति** पुत्रा एते ममेति **तान् शोचति**। ते पुनरत्रैव हिरण्यकशिपुवंशत्वात् **ते अन्तिके आसते** ॥४८-४९॥

व्याख्यार्थ--उस अपराध से वे छ ही आसुरी योनि को प्राप्त हुए, तो भी भगवान् का अपराध शान्त न हुआ, उस आसुर योनि में भी वे निन्द्य कर्म करने लगे, उस निन्द्य कर्मों के फल स्वरूप इनका जन्म भगवद्विमुख हिरण्यकशिपु के यहां किसी में से हुआ, अनन्तर योग माया ने देवकी के उदर में रहे हुए छ शत्रुओं को दूर करने के लिए उनको[1] लाकर देवकी के गर्भ में स्थापित किया क्योंकि दोष[2] से ही दोष नष्ट होते हैं, हे राजन्! संबोधन से यह बताया है कि इसका आपको अज्ञान है वह दोष नहीं है, क्योंकि आप राजस गुण वाले हैं, पश्चात् उनका कंस ने वध किया, भगवान् 'त्रिसत्य' हैं, इसलिए इनको तीन बार दण्ड मिले तब ये निरपराध हुए हैं, इस समय हमारी माता, इन निर्दोष अपने पुत्रों का शोक कर रही है क्योंकि समझती है कि मेरे पुत्र हैं, वे हिरण्यकशिपु के वंश में होने से तुम्हारे यहां ही बैठे हैं ॥४८-४९॥

आभास—एवं तेषां वृत्तान्तमुक्त्वा तत्र कर्तव्यमाह **इत एतान् प्रणेष्याम** इति।

आभासार्थ—इसी तरह उनका वृत्तान्त कहकर 'इत एतान् प्रणेष्यामो' श्लोक से उनके लिए जो कर्तव्य है वह कहते हैं—

श्लोक—**इत एतान्प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये।**
ततः शापविनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः ॥५०॥

श्लोकार्थ—माता का शोक दूर करने के लिए हम इनको यहाँ से ले जाएँगे, पश्चात् शाप से छूटकर, दुःखरहित होकर ऋषि लोक को प्राप्त होंगे ॥५०॥

सुबोधिनी—प्रयोजनं **मातृशोकापनुत्तिः**। प्रसङ्गात्तेऽप्युद्धर्तव्या इत्याह **ततः शापविनिर्मुक्ता** इति। अस्मन्मातुः शोकापहरणात्तेषां शापापनोदः। ततो **विज्वराः** सन्तो ऋषि**लोकं यास्यन्ति** ॥५०॥

व्याख्यार्थ—इनको ले जाने का कारण, माता के शोक को मिटाना है और साथ में प्रसङ्ग से इनका भी उद्धार करना है, इनके मिलने से माता का शोक नाश होगा जिससे इनका शाप भी उतर जायगा अर्थात् शापसे छूट कर शुद्ध हो जाएंगे, एवं इनके दुःख दूर हो जावेंगे पश्चात् शुद्ध एवं प्रसन्न हो ऋषि लोक में जाएंगे ॥५०॥

---

[1] हिरण्यकशिपु से उत्पन्नों को, [2] विष से ही विष नाश किया जाता है

आभास - तेषां नामान्याह **स्मरोद्गीथश्चे**ति ।

आभासार्थ—'स्मरोद्गीथ' श्लोक में उनके नाम कहते हैं—

श्लोक—**स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद्घृणी ।**
षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम् ॥५१॥

श्लोकार्थ—स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, पतङ्ग, क्षुद्रभृत और घृणी; ये छः मेरी कृपा से फिर सद्गति को प्राप्त होंगे ॥५१॥

सुबोधिनी—एकभावापन्नौ द्वौ **स्मरो** मानसः, **उद्गीथो** घ्राणः, **परिष्वङ्गः** श्रोत्रम्, **पतङ्गो** नेत्रम्, **क्षुद्रभृज्जिह्वा**, **घृणिः** स्पर्शः । ततो घृणा संजायते इति । चक्षुषा वा व्यत्यासः । **षडिमे** स्वकर्मणा नष्टा अपि **मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम्** ॥५१॥

व्याख्यार्थ—स्मर और उद्गीथ दोनों एकीभाव को प्राप्त हुए हैं, इनमें स्मर मन का देव है और उद्गीथ घ्राणेन्द्रिय का देव है, परिष्वङ्ग कान का देव है, पतङ्ग नेत्र का देव है, क्षुद्रभृत जिह्वा का देव है, घृणी स्पर्श का देव है, जिसका हेतु यह है कि स्पर्श से घृणी उत्पन्न होता है अथवा घृणी और पतङ्ग का परस्पर विनिमय करना अर्थात् घृणी नेत्र का और पतङ्ग स्पर्श का देव है, ये छः अपने कर्मों से नष्ट हुए भी मेरे अनुग्रह से पुनः सद्गति को पाएंगे ।,५१॥

आभास—अत एतान् देहीत्यनुक्त्वैव सेवकत्वं तस्य स्थिरीकृत्य तान् गृहीत्वा स्वयमेव निर्गत इत्याह **इत्युक्त्वे**ति ।

आभासार्थ—अनन्तर भगवान् बलि को हमको ये बालक दे, यों न कहकर स्वयं उनको ले आए और लाकर माता को दिए, बलि से न कहा, जिसका कारण यह है कि बलि मेरा दृढ़ सेवक है इसको सिद्ध करना था, दृढ न होते तो लेते समय रोक लेते, न रोकने से दृढ सेवकत्व सिद्ध हो गया—

श्लोक—**इत्युक्त्वा तान्समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ ।**
पुनर्द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रानयच्छताम् ॥५२॥

श्लोकार्थ—यों कथा कहने के अनन्तर दोनों का इन्द्रसेन ने पूजन किया, फिर उन बालकों को बिना पूछे आप लेकर रवाने हुए, द्वारका में आकर वे पुत्र माता को अर्पण किए ॥५२॥

सुबोधिनी—**इन्द्रसेनत्वात्** पूजां कृतवान् । येन मार्गेण गतौ तेनैव **द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रान्** तान् मात्रे **अयच्छताम्** ॥५२॥

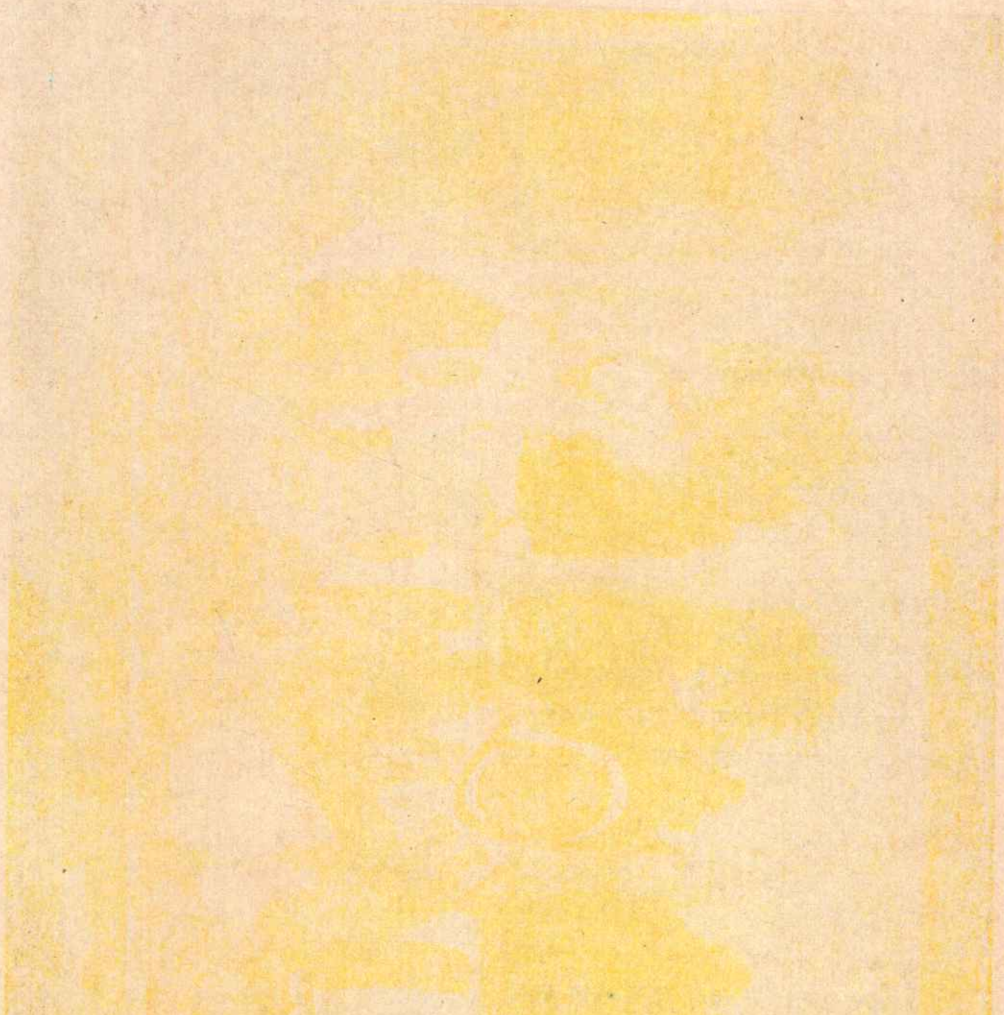

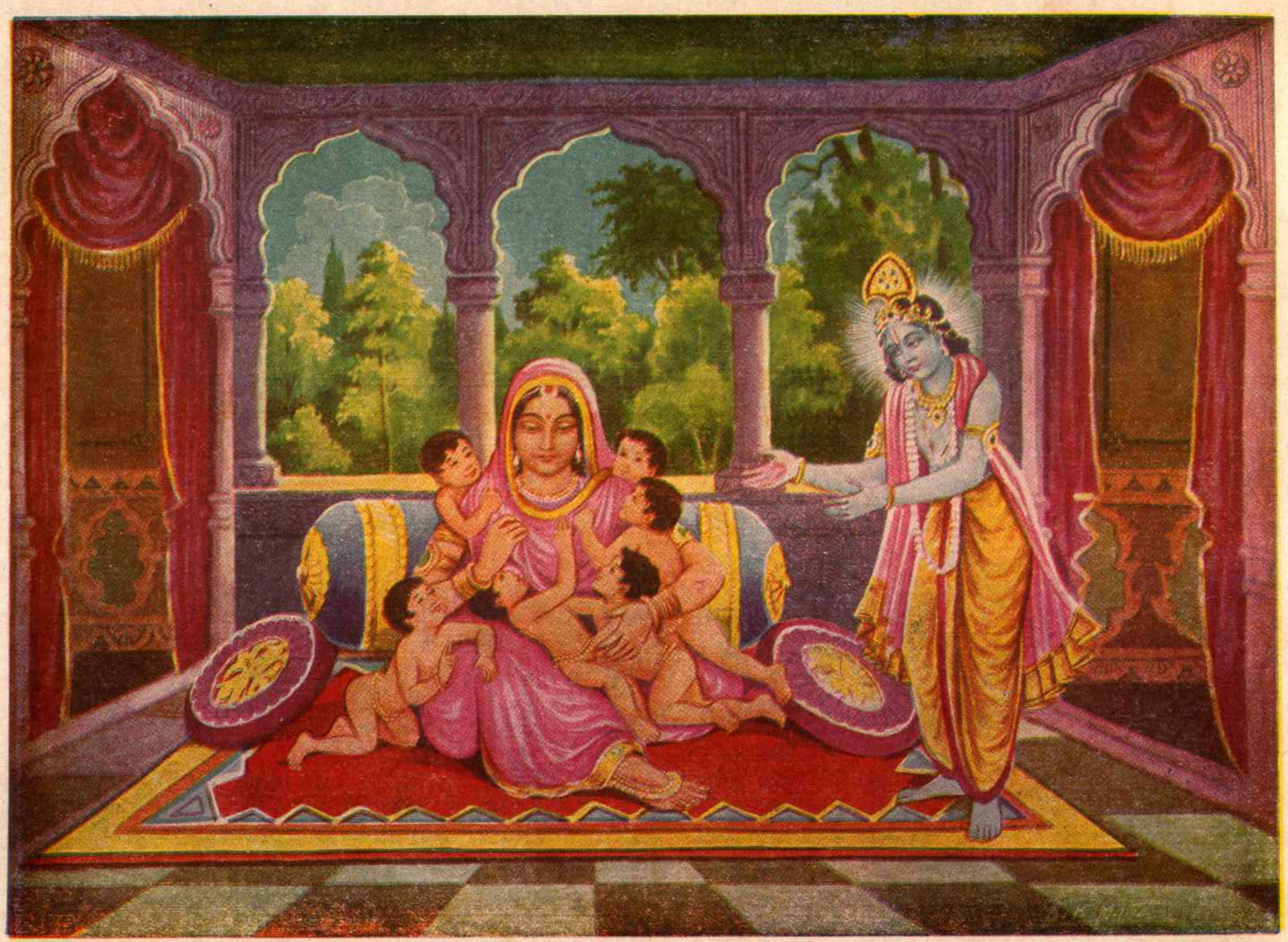

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

देवकीके मृत पुत्रोंको वापस लाना

व्याख्यार्थ—इन्द्रसेन होने से बलि ने पूजा की, जिस मार्ग से गए उसी मार्ग से द्वारका आकर माता के वे पुत्र माता को दिए ।।५२।।

श्लोक—**तान्दृष्ट्वा बालकान्देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ।**
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः ।।५३।।

श्लोकार्थ—उन बालकों के देखते ही देवकी देवी के पुत्र स्नेह से स्तनों से दूध चूने लगा, तब उनसे मिल, गोद में बिठाकर बार-बार मस्तक को सूँघने लगी ।।५३।।

सुबोधिनी—ते च गुरुपुत्रन्यायेन पूर्वावस्थां प्रापयित्वा समानीता इति **तान् बालकान् दृष्ट्वा** पुत्रस्नेहेन **स्नुतस्तनी** जाता । ततः **परिष्वज्याङ्कमारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रत्** । अत्यन्तं स्नेहोभिव्यक्तः । **अभीक्ष्णश** इति स्नेहे विह्वलितत्वं सूचितम् । ।।५३।।

व्याख्यार्थ—गुरु पुत्र के समान इनकी भी पहले जैसी स्थिति कराकर ले आए जिससे उन बालकों को देख, पुत्र स्नेह के कारण देवी देवकी के स्तनों से दूध चूने (टपकने) लगा, पश्चात् पुत्रों से मिलकर उनको गोद में बिठाया और बार-बार मस्तक सूँघने लगी, जिससे अत्यन्त स्नेह प्रकट किया और बार-बार सूँघने से विह्वलता को सूचित किया ।।५३।।

श्लोक—**अपाययत्स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिस्नुतम् ।**
मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते ।।५४।।

श्लोकार्थ—जिससे सृष्टि चलती है, उस विष्णु की माया से मोहित उस देवकी ने प्रसन्न हो, पुत्र स्नेह से चूते हुए स्तनों से उनको दूध पिलाया ।।५४।।

सुबोधिनी—ततः **स्तनमपाययत्** । बालभावं दृढं कुर्वती **प्रीता** गतदुःखा, न केवलं दुःखनिवृत्तिरेव किंतु सुखमपि जातमिति ज्ञापयति **सुतस्पर्शपरिस्नुतमिति** । **सुतानां स्पर्शेन परितः** सर्वाङ्गेभ्यः **स्नुतम्** । ननु भगवत्पुत्रायाः कथमेवमन्यत्र स्नेहः तत्राह **मोहिता मायया विष्णोरिति** । कथमन्यथा **सृष्टिः प्रवर्तते** । केचिदियमेव पूर्वमूर्णेत्याहुः ततः पूर्ववासनया तेषु स्नेहाधिक्यम् ।।५४।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् स्तन पिलाया, बाल भाव को दृढ करती हुई दुःख रहित हुई, केवल इससे दुःख नाश न हुआ किन्तु आनन्द की भी प्राप्ति हुई सुतों के स्पर्श से सर्व अङ्गों से आनन्द प्रकट हो आया, जिसका पुत्र भगवान् है उसका दूसरों में वैसा प्रेम कैसे हुआ ? जिसके उत्तर में कहा **है** कि 'मोहिता मायया विष्णोः' विष्णु की माया से मोहित हो गई है, यदि माया से मोह **न** होता हो तो सृष्टि का कार्य कैसे चले ? कोई कहते हैं कि यह देवकी ही पहले ऊर्णा थी, इसलिए पूर्व की रही हुई वासना से उन बालकों में अधिक स्नेह हुआ ।।५४।।

आभास—स्तनपानानन्तरं तेषां विवेकाद्युत्पत्त्या स्वलोकगतिमाह **पीत्वामृतमयमिति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—उन बालकों को स्तन्यपान के अनन्तर विवेक आदि ज्ञान प्राप्त हुआ, जिससे वे अपने लोक को गए, यह 'पीत्वाऽमृतमयं' श्लोक से स्पष्ट करते हैं—

श्लोक—**पीत्वामृतमयं तस्याः पीतशेषं गदाभृतः ।**
नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शनाः ।।५५।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने पान कर जो शेष छोड़ा, उस देवकी के स्तन्य का पान कर, वे बालक भगवान् के अङ्ग स्पर्श होने से आत्म दर्शन को प्राप्त हुए ।।५५।।

सुबोधिनी—**अमृतमय**त्वं भगवदर्थं देवैस्तत्रामृतं स्थापितमिति । **पीतशेषं गदाभृत** इति पानं तु पूर्वं स्थापितम् । यदैव भगवन्तं स्मरति तदामृतं भगवानेव पिबतीति इत एव वा यदा प्रथमं समागतः । एतेषां स्वपदप्राप्तौ ज्ञानं हेतुः । तस्य हेतुत्रयं भगवदुच्छिष्टपानं, अमृतपानं नारायणाङ्गसंस्पर्शश्च । अत्र **नारायण**पदं धर्मावतारनारायणांशानिरुद्धचरित्रं ख्यापयति । तेन **प्रतिलब्धमात्मदर्शनं** येषाम् ।।५५।।

व्याख्यार्थ—देवकी के स्तनों में भगवान् के पानार्थ अमृत धरा था, जिससे देवकी का स्तन्य अमृतमय हो गया था, वैसे अमृतमय स्तन्य को भगवान् ने पान किया, अनन्तर जो शेष बचा, उसको उन बालकों ने पान किया, जब देवकीजी भगवान् को स्तन्य पान कराने के लिए याद करती, तब भगवान् पधारकर अमृत का पान कर लेते थे अथवा जब भगवान् प्रथम गोकुल से मथुरा पधारे, तब उसका पान करने लगे थे । ये बालक अपने स्थान को प्राप्त करें, जिसके लिए इनको ज्ञान की आवश्यकता थी । उस ज्ञान प्राप्ति के लिए तीन हेतु हैं—(१) भगवान् का उच्छिष्ट पान करना, (२) अमृत पान और (३) नारायण के अङ्ग का स्पर्श । यहाँ 'नारायण' पद से धर्मावतार नारायणांश-अनिरुद्ध का चरित्र प्रकट करते हैं । उपर्युक्त इन तीन कारणों से वे बालक अपने स्वरूप को प्राप्त हो गए ।।५५।।

आभास—ततो ज्ञानशक्तिवत् क्रियाशक्तिरपि तेषामाविर्भूतेत्याह **ते नमस्कृत्य गोविन्दमिति** ।

आभासार्थ—अनन्तर ज्ञान शक्ति की तरह उनमें क्रिया शक्ति का भी आविर्भाव हुआ, जिसका वर्णन 'ते नमस्कृत्य' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम् ।**
मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम विहायसा ।।५६।।

श्लोकार्थ— वे गोविन्द श्रीकृष्ण को, फिर पिता तथा माता देवकी को, बलदेवजी को नमस्कार कर सर्व प्राणियों के देखते हुए शीघ्र अपने धाम को गए ।।५६।।

सुबोधिनी—आदौ स्वामिनं पश्चान्मातापितरौ तदनु बलभद्रं भगवत्साधनभूतम् । एवं चतुर्मूर्तिमिव भगवन्तं **नमस्कृत्य** सर्वसाक्षिकं **विहायसा स्वधाम ययुः** । एवं स्वतो **गमनं** जातमित्यर्थः ।।५६।।

व्याख्यार्थ—प्रथम स्वामी को पीछे माता पिता को उसके बाद भगवान् के साधन भूत बलभद्र को, इस प्रकार चतुर्मूर्ति की भांति भगवान् को नमस्कर कर शीघ्र अपने धाम को गए, यों जाना स्वतः हुआ ।।५६।।

आभास— ननु देवकीकामनापूर्त्यर्थं भगवता ते समानीताः । सा च कामना न क्षणमात्रेण पर्यवस्यति । अत एवं शीघ्रं तेषां गमने को हेतुरिति चेत् तत्राह **तं दृष्ट्वेति** ।

आभासार्थ—भगवान् देवकीजी की कामना पूर्ण करने के लिए उनको लाए, वह कामना क्षण मात्र रहने से तो पूरी न हुई होगी ? इसलिए हो उनका इतने शीघ्र जाने में कौनसा हेतु था ? इस पर 'तं दृष्ट्वा' श्लोक कह कर समझाते हैं—

श्लोक—तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम् ।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप ।।५७।।

श्लोकार्थ—हे नृप ! देवी देवकी मृत पुत्रों का आना देखकर बहुत आश्चर्य में मग्न हो समझने लगी कि यह सब कृष्ण की रचित माया है ।।५७।।

सुबोधिनी—तेषां पुत्राणां पूर्वमृतानामागमनं तदनन्तरमेव च **निर्गमं दृष्ट्वा विस्मिता** सती सर्वमेव कृष्णचरितं **मेने** । एतज्ज्ञानसिद्ध्यर्थमेव समानीताः न तु पुत्रतया स्थापयितुम् । अन्यथा कंसद्वारा भगवत्कृतवधो व्यर्थः स्यात् । भगवच्चरित्रज्ञानेनैव कामनापूर्तिः । मोहान्तरानुत्पत्त्यर्थं विशेषणं **देवीति** । तत्रापि **मायां मेने** तेनासत्यतापि पदार्थानामभिज्ञाता । **नृपेति** संबोधनमाश्चर्ये मनोभिनिवेशनार्थम् ।।५७।।

व्याख्यार्थ—उन मरे हुए पुत्रों का आना पीछे फिर चला जाना देख कर अचंभे में पड़गई और इस सब को कृष्ण की लीला समझने लगी, इस प्रकार के ज्ञान की सिद्धि के लिए ही पुत्रों को लाए थे, न कि पुत्र पन से स्थापित करने के लिए, यदि यों न करते तो भगवान् ने जो कंस का वध किया वह व्यर्थ हो जाता, भगवच्चरित्र के ज्ञान से ही कामना की पूर्त्ति होती है फिर देवकी को मोह उत्पन्न न हुआ क्योंकि देवी है, यों होते हुए भी समझने लगी कि यह 'माया' है उससे पदार्थों की असत्यता भी जान गई, हे नृप ! संबोधन इसलिए दिया है कि इनका आश्चर्य में अभिनिविष्ट हो जाय ।।५७।।

आभास—एवं चरित्रद्वयमुक्त्वा ऐश्वर्ये एतदेव द्वयमिति कदाचिच्छङ्का भवेत् तदर्थमन्यान्यपि सूचयति **एवंविधानीति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार दोनों[1] चरित्र कहकर ऐश्वर्य में ये ही दो हैं, यों कदाचित् शङ्का उत्पन्न होवे, उसके लिए इस प्रकार के दूसरे भी बहुत चरित्र हैं वे 'एवं' विधानि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— **एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः ।**
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत ।।५८।।

श्लोकार्थ—हे भारत ! अनन्त वीर्य वाले परमात्मा श्रीकृष्ण के इस प्रकार के अनन्त अद्भुत चरित्र हैं ।।५८।।

सुबोधिनी—भगवच्चरित्रत्वे ज्ञापकम्, **अद्भुतानीति** । यान्येवाद्भुतानि भगवच्चरित्राणीति तानि । भगवानपि किमर्थमेवं करोतीत्याशङ्कयाह **कृष्णस्येति** । अवतीर्णत्वात्करोतीत्यर्थः । प्रयोजनान्तरमप्याह **परमात्मन** इति । 'सर्वेषामात्मनामात्मा' इति तत्संग्रहार्थमेवं करोतीत्यर्थः । अत एव **वीर्याण्यनन्तानि सन्ति** । तथाकरणे सामर्थ्यमनन्त**वीर्यस्येति** । ननु वीर्याणामनन्तत्वात् कथं सर्वसंग्रह इति चेत् तत्राह **सन्तीति** सदा सन्ति नित्यानीत्यर्थः । **भारतेति** विश्वासार्थं संबोधनम् ।।५८।।

व्याख्यार्थ--अद्भुत विशेषण, भगवच्चरित्र का जताने वाला है, जो जो चरित्र अद्भुत हैं वे भगवान् के ही चरित्र हैं, भगवच्चरित्र के बिना अन्य चरित्र में अद्भुतता होती ही नहीं है, भगवान् भी यों अपने चरित्रों में इतनी अद्भुतता क्यों करते हैं जिसके उत्तर में कहते हैं कि भूमि पर प्रकट होने से करते हैं, जिनसे लोगों को ज्ञान हो कि यह श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म है । दूसरा विशेषण परमात्मा देकर इस सिद्धान्त को दृढ स्पष्ट करते हैं कि सब आत्माओं की मूल आत्मा यही है उसके संग्रह के लिए यों अद्भुतता करते हैं: अतएव अनन्तवीर्य हैं, यों करने में सामर्थ्य है यों बताने के लिए अनन्त वीर्यस्य विशेषण दिया है. जब अनन्त वीर्य हैं तो फिर सर्व संग्रह कैसे ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'सन्ति' अर्थात् वे वीर्य सदैव हैं क्योंकि नित्य--और सत्य ही हैं, भारत ! यह संबोधन विश्वास के लिए है ।।५८।।

आभास—एवं भगवच्चरित्रस्य नित्यतां स्थापयितुं तच्छ्रवणादेः फलमाह **य इदमनुश्रृणोतीति** ।

आभासार्थ—यों भगवच्चरित्र की नित्यता स्थापित करने के लिए उनके श्रवणादि का फल 'य इदमनुश्रृणोति' श्लोक में सूतजी कहते हैं—

---

[1]—वसुदेवजी को ज्ञान और देवकीजी के पुत्र लाकर देना,

श्लोक—सूत उवाच–**य इदमनुशृणोति श्रावयेद्वा मुरारे-**
श्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः ।
जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं ।
भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम ।।५६।।

श्लोकार्थ—सूतजी कहते हैं कि जो मनुष्य अमृत-कीर्ति मुरारी भगवान् के व्यास पुत्र के वर्णित चरित्रों को सुनता है अथवा सुनाता है, वह भगवान् में प्रवण चित्त हो, उनके कल्याणकारी धाम में जाता है, यह भगवच्चरित्र जगत् के पापों का नाश करने वाले तथा भगवद्भक्तों के कर्णों का सत्य आभरण रूप है ।।५६।।

सुबोधिनी—श्रद्धया **अनु** गुरूच्चारणमनु यः **शृणोति श्रावयेद्वा** । ननु किमर्थं शृणोति श्रावयति तदर्थमाह **मुरारेरि**ति । मुरो हि विघ्नात्मकः दोषात्मकश्च । किंच **अमृतकीर्ते**रिति **अमृतरूपा कीर्ति**र्यस्येति । चरित्रं श्रवणेऽपि सुखजनकम् । अत एव **व्यासपुत्रैर्वर्णितम्** । इदं चरित्रमनन्तरूपो भूत्वा शुको वर्णितवानतो बहुवचनम् । सर्वैरेव व्यासशिष्यैः पुत्रैश्चेति वा । शिष्याणामपि पुत्रत्वात् । सर्वैरेव श्रोतव्यमित्येतदर्थं बहून्येव फलान्याह । **जगदघभिदि**ति सर्वपापनाशकम् । किंच । **अलम**त्यर्थं, **सतां कर्णपूरं** कर्णाभरणम् । अनेन सतां निरन्तरं सेव्यता निरूपिता । अतो य एव नित्यं कर्णे स्थापयति स एव सन्नित्यपि सूचितम् । प्रयोजनान्तरमप्याह **भगवति कृतचित्त** इति । भगवति तस्य चित्तं स्थिरं भवति । ऐहिकमुक्त्वा पारलौकिकमाह **याति तत् क्षेमधामे**ति । धाम यातीत्येव फलम् । धामप्रशंसार्थं **क्षेमे**ति । एवं विघ्ननिवृत्तिमारभ्य भगवत्स्वरूपप्राप्तिपर्यन्त भगवद्वीयंश्रवणफलान्युक्तानि भगवत ऐश्वर्यं स्थापयन्ति, अतो भगवान् कृष्णः सर्वेश्वर इति स्थितम् ।।५६।।

व्याख्यार्थ—जो भक्त, गुरु के उच्चारण के अनन्तर यह चरित्र श्रद्धा से सुनता है वा सुनाता है, क्यों सुनता है और क्यों सुनाता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'मुरारेः' यह चरित्र मुरारि का है, मुर दैत्य विघ्नात्मक और दोषात्मक है जिसका भगवान् नाश कर्ता हैं अर्थात् इनके चरित्र सुनने सुनाने से विघ्न और सब दोष नष्ट होते हैं, फिर यह चरित्र अमृत रूप कीर्तिवाले कृष्ण के हैं, इसलिए श्रवण में भी सुख उत्पन्न करने वाले हैं विशेषता यह है कि ये चरित्र व्यास पुत्र शुक ने अनन्त रूप हो कर वर्णन किए है इसलिए 'व्यास पुत्रैः' यों बहुवचन दिया है, अथवा सर्व व्यास शिष्यों को वा पुत्रों को (शिष्य भी पुत्र रूप हैं) सब को भगवच्चरित्र सुनने चाहिए, इसलिए श्रवण के फल बहुत हैं यों वर्णन करते हैं--जगत् में जितने पाप हैं उन सब को यह श्रवण नाश करता है और सत्पुरुष भक्त जनों के लिए यह कर्ण का उत्तम आभरण है जिससे यह बताया है कि सत्पुरुषों को निरन्तर इनका सेवन करना चाहिए अतः जो इसको नित्य कर्ण में धारण करता है वही, सत्पुरुष है, दूसरा प्रयोजन भी बताते हैं कि, जो इस चरित्र को श्रवण करते व कराते हुए हृदय में धारण करता है उसका चित्त भगवान् में स्थिर हो जाता है इस प्रकार लौकिक फल कहकर अलौकिक कहते हैं कि 'याति तत् क्षेमधाम' वह श्रोता-श्रावयिता भगवान् के धाम में जाता है । 'क्षेम' पद धाम (स्वरूप) की स्तुति के लिए दिया है, इस प्रकार विघ्न निवृत्ति से लेकर भगवान् के

स्वरूप प्राप्ति तक भगवान् के वीर्य (पराक्रम) ऐश्वर्य के श्रवण के फल कहे हैं। ये भगवान् के ऐश्वर्य को स्थापित करते हैं, अतः भगवान् श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं—यह सिद्ध हुआ ॥५६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे षट्त्रिंशाध्यायविवरणम् ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ८२वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३६वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के
गुण-प्रकरण का प्रथम अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

इस अध्याय में वर्णित भगवल्लीला का संक्षिप्त सार

राग बिलावल

श्री गुपाल तुम कहौ सो होइ।
तुमहीं कर्ता तुमहीं हर्ता, तुम तैं और न कोइ॥
अबलौं मैं तुमकौं नहिं जान्यौ, पुत्र भाव करी मान्यौ।
तुम हौ देव सकल देवनि के, अब तुमकौं पहिचान्यौ॥
गुरु सुत आनि दिए तुम जैसै, कृपा करौ जदुराई।
मम सुतहू जे कंस सँहारे, ते प्रभु देहु जिवाई॥
मेरै जिय यह बड़ी लालसा, देखौ नैननि जोइ।
दूध पिवाइ हृदै सौं ल्यावौं, पाछै होइ सु होइ॥
यह सुनि हरि पाताल सिधारे, जहाँ हुते बलि राइ।
करि प्रनाम बैठारि सिंहासन, हित करि धोए पाँइ॥
तासौं कह्यौ देवकी के सुत, षष्ठ कंस जे मारे।
नैंकु मँगाइ देहु ते हमकौं, हैं वे लोक तिहारे॥
तहँ तैं आनि दिये हरि बालक, माता लाड़ लड़ाए।
सूरदास प्रभु दरस-परस करि, ते वैकुण्ठ सिधाए॥

◆

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ८६वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८३वां अध्याय
उत्तरार्ध ३७वां अध्याय

गुण-प्रकरण

"अध्याय—२"

सुभद्रा हरण और राजा जनक व श्रुतदेव के घर एक ही साथ जाना

कारिका—**सप्तत्रिंशे हरेर्वीर्यं त्रेधा प्राह सुनिश्चितम् ।**
सर्वेषां सर्वकार्याणि कृतवानित्युदीर्यते ।।१।।

कारिकार्थ—इस ३७वें अध्याय में भगवान् के वीर्य गुण को तीन प्रकार से कहते हैं। वह वीर्य गुण अच्छी तरह निश्चय किया हुआ है, जिस गुण से ही सबके सर्व कार्य सिद्ध किए हैं, यों वर्णन करते हैं ।।१।।

कारिका—**तदेव भगवद्वीर्यं यन्न शक्यं हि लौकिकैः ।**
नह्यन्यो भगिनीं दातुमेवं शक्तो हरिं विना ।।२।।

कारिकार्थ—भगवान् का वीर्य गुण जो कार्य कर सकता है, वह लौकिक पुरुष का वीर्य नहीं कर सकता है। भगवान् के सिवाय कोई भी इस प्रकार अपनी भगिनी को नहीं दे सकता है ।।२।।

कारिका—**नापि स्वयं यस्य कस्य गृहे स्थातुं विभूतये ।**
नापि धर्मं स्वहीनार्थमन्यः कथयितुं प्रभुः ।।३।।

कारिकार्थ—भगवान् के सिवाय अन्य कोई भी साधारण व्यक्ति के घर में रहने के लिए समर्थ नहीं है अर्थात् अपने से हीन के घर में रह नहीं सकता है और अपनी हीनता द्योतक धर्म भी अपनी विभूति (ब्राह्मण)[1] को प्रभु के सिवाय कोई नहीं कह सकता है ।।३।।

कारिका—**अनाहूतः स्वयं क्वापि गच्छतीत्यपि नो मतम् ।**
यथा ग्रन्थानुसारेण प्रसङ्गोत्र विचारितः ।।४।।
क्रमपाठादिभेदेषु तथा व्याख्यानमिष्यते ।

कारिकार्थ—बिना बुलाए आप कहीं पर भी पधारते हैं, यों भी मानना उचित नहीं है । जिस प्रकार कि व्यासजी ने विचार कर कहा है, वैसे ही ग्रन्थ के अनुसार यहाँ प्रसङ्ग कहा है । जहाँ क्रम और पाठ आदि भेद हो, वहाँ उसी तरह का व्याख्यान करना उचित है, जैसे वेद का व्याख्यान प्रथम क्रमानुसार ही हुआ है ।।४½।।

कारिका—**उदासीनो हरिर्व्यासः फलसिद्धेरशक्यतः ।।५।।**
ग्रन्थारम्भे तथैवास्मान् बोधयामास माधवः ।

कारिकार्थ—व्यासजी फल की सिद्धि करने में असमर्थ होने के कारण उदासीन[2] थे । ग्रन्थ के आरम्भ में माधव ने इस प्रकार का ही बोध करवाया[3] है ।।५½।।

आभास—राजा परीक्षित् पूर्वाध्यायान्ते भगवद्वीर्याणामुपसंहृतत्वात् स्वसंदिग्धानर्थान्

१- इस अध्याय के ५४वें श्लोक से श्रुतदेव ब्राह्मण को ऐसे वाक्य कहे ।

२- फल की प्राप्ति भगवान् के आधीन होने से उस विषय में व्यासजी उदासीन थे । श्रुति तो केवल साधन और फल क्या है यह स्पष्ट करके बता देती है, किन्तु किसी की प्रवृत्ति नहीं करा सकती है । इसी प्रकार व्यासजी ने भी लीला के स्वरूप का विचार कर कथा कही है । यदि उनको फल-प्राप्ति कराने का आग्रह होता, तो जिस प्रकार की लीला हुई, उस क्रम से कहते हैं—यहाँ यह तात्पर्य है ।

३- राजा परीक्षित के बिना पूछे श्री शुकदेवजी, राजा जनक तथा श्रुतदेव का प्रसङ्ग कहेंगे ।

पृच्छति तत् प्रसङ्गाच्छुकोऽन्यदपि वक्ष्यति । व्यवहारे भगवद्वीर्यान्यथाभावो यत्र प्रतीयते स प्रष्टव्यः । वैदिकविरोधः सोऽपि भजनीयविरोधश्च । एतत्क्रमेणाध्यायत्रयेण प्रष्टव्यम् । यादृशश्च प्रसङ्गः शुकोक्तौ हेतुः स तत्र तत्र वक्ष्यते । कथापक्षे त्वियं संगतिः, विचारे तु पूर्वोक्त इति क्षत्रियो हि बलादेव विवाह करोति 'गान्धर्वो राक्षसश्च'ति वाक्यात् । भगवांश्च सर्वाजियः, अतो विरुद्धत्वात् सुभद्राया विवाहं पृच्छति **ब्रह्मन्वेदितुमिच्छाम** इति ।

आभासार्थ—३६ वें अध्याय के अन्त में भगवान् के वीर्यों का उपसंहार हो जाने से, परीक्षित को जिन विषयों में संदेह रह गया था उन सन्देहों को, निवारणार्थं पूछता है, उस प्रसङ्ग में शुकदेवजी, जनक तथा श्रुतदेव का प्रसङ्ग भी कहेंगे, जहां भगवद्वीर्य की व्यवहार में निमल्यिता देखने में आवे, वह तथा वैदिक विरोध देखने में आवे वह और जहां भजनीय विरोध देखने में आवे वह भी पूछना चाहिए, इस क्रम से तीन अध्याय में पूछना उचित है, जैसा प्रसङ्ग शुक के कहने में हेतु होगा वह वहाँ वहाँ कहा जाएगा, कथा पक्ष में तो यह संगति है, विचार करने पर तो पहले[1] कहा गया है । क्षत्रिय बलपूर्वक विवाह करते हैं जिसमें 'गान्धर्वो राक्षसश्च' यह वाक्य प्रमाण है और भगवान् को कोई जीत नहीं सकता है, इससे अर्जुन बल से विवाह करे, यह व्यवहार में भगवान् के वीर्य (पराक्रम) के विरुद्ध होने से परीक्षित् 'ब्रह्मन् वेदितु' श्लोक से सुभद्रा के विवाह के विषय का प्रश्न करता है--

श्लोक--राजोवाच-**ब्रह्मन्वेदितुमिच्छामः स्वसारं रामकृष्णयोः ।**
यथोपयेमे विजयो या ममासीत्पितामही ।।१।।

श्लोकार्थ—राजा ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! राम और कृष्ण की बहिन जो मेरी दादी थी, उसका अर्जुन के साथ जैसे विवाह हुआ, वह जानना चाहता हूँ ।।१।।

सुबोधिनी—**रामकृष्णयोः स्वसारमिति** अजेयत्वे हेतुः । **यथा** यथावच्च शास्त्रोक्तप्रकारेणो**पयेमे** । दैन्येन विवाहं वारयति **विजय** इति । **या ममासीत्पितामही**ति सैव वंशजननी जाता । तादृश्या विवाहः नान्यथा भवितुमर्हतीति भावः । ।।१।।

व्याख्यार्थ—अर्जुन, बल से, सुभद्रा को विवाहार्थं हरण कर सके ऐसी वह न थी, क्योंकि अजेय राम और श्री कृष्ण की बहन थी, अतः जैसे शस्त्रोक्त प्रकार से विवाह हुआ वह कहिए 'विजय' शब्द से कहा है कि दीनता से विवाह नहीं किया अर्थात् बलपूर्वक हरण किया है, जो मेरी दादी थी, वह ही वंश को बढाने वाली हुई, ऐसी का विवाह, अन्यथा शास्त्र विरुद्ध हो नहीं सकता है, यों भाव है ।।१।।

आभास—उभयसमर्थनार्थं शुकः प्रकारमाह **अर्जुनस्तीर्थयात्रायामिति** ।

---

[1] —इस अध्याय की ५ वीं कारिका में कहा गया है

आभासार्थ—क्षत्रिय, शास्त्रानुसार बल से विवाह कर सकता है अतः अर्जुन ने बलपूर्वक विवाह किया, वहाँ राम कृष्ण सुभद्रा के भ्राता अजेय हैं इन दोनों में विरोध न आवें इस प्रकार कथा कहते हैं, इसलिए 'अर्जुन स्तोर्थयात्राणां' श्लोक से लेकर शुकदेवजी सुभद्रा को अर्जुन के साथ जिस प्रकार विवाह हुआ वह कथा कहते हैं !

श्लोक—श्रीशुक उवाच–अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवनीं प्रभुः ।
गतः प्रभासमशृणोन्मातुलेयीं स आत्मनः ।।२।।

दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति न चापरे ।
तल्लिप्सुः स यतिर्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारकामगात् ।।३।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि प्रभु ! अर्जुन तीर्थ यात्रा के निमित्त पृथ्वी में फिरते हुए प्रभास में पहुँचे । वहाँ सुना कि अपने मामा की कन्या (सुभद्रा) राम, दुर्योधन को देंगे, किन्तु दूसरे इस सम्बन्ध को नहीं चाहते हैं, अतः उसको प्राप्त करने के अभिलाषी अर्जुन त्रिदण्डी संन्यासी बनकर द्वारका गए ।।२-३।।

सुबोधिनी—वस्तुतः स्वयं नरः जीवकलात्मकः । सा च मायाशक्तिः या पूर्वं यशोदायां जाता सा देवक्या स्नेहात्परिगृहीतेति देवकीस्नेहवशात् कंसहस्ताद्विनिर्मुक्ता स्थानाष्टकमिव देवकीमपि प्राप्ता सुभद्रेति व्याख्याता । स्त्रीभावेनैव मोहः संभवतीति अर्जुनस्यैव स्त्री भवितुमर्हति । अत एव तया व्यामोहितः कलौ तस्या एव वंशः स्थास्यतीति प्रव्राजं स्वीकृत्य वञ्चयित्वा कन्यां हृतवान् । चौर्याधर्मवेषौ क्षत्रियस्य निषिद्धौ तथापि हृतेति पितृभ्यां च दत्तेति तीर्थयात्रायां कृत्रिमवेषो न 'निषिद्ध इत्युभयात्मकत्वात् द्वयं समर्थितं भवति । अत्र तीर्थयात्राप्रसङ्गो भारते निरूपितः । द्रौपदीविवाहानन्तरं पञ्चनामेका वैषम्यहेतुर्भवतीति प्रचेतसामिवैक्यभावाभावात् कामो दुर्लङ्घ उद्यतः क्षणमात्रमपि प्रतिबद्धश्चेत् प्रतिबन्धकर्तारं हन्तीति नारदः सुन्दोपसुन्दकथामुक्त्वा प्रत्येकं वर्षमात्रभोगाय कालव्यवस्थां निरूपितवान् । तन्मध्ये यद्यन्येन भुज्यमानामन्यः पश्येत्तदा स वर्षमात्रं तीर्थयात्रां कुर्यादिति । ततः कदाचित् कश्चिद्ब्राह्मणः चौरैरपहृतगोधनः अर्जुनं प्रोवाच मदीया गावः संरक्ष्या इति । ततः शस्त्रागारे युधिष्ठिरो द्रौपद्या सह स्थितः । ततः कार्यस्यावश्यकत्वात् विलम्बासहिष्णुत्वाच्च व्यवस्थां जानन्नपि शस्त्रगृहे प्रविष्टः रममाणौ दृष्ट्वापि शस्त्राणि गृहीत्वा चोरान् हत्वा ब्राह्मणाय गां दत्तवान् । ततो युधिष्ठिरेण निवारितोपि 'कामादेव दर्शने दोषः' इति सत्यवाक्यत्वात् भगवदिच्छया तीर्थयात्रार्थं प्रवृत्तः तदाह **अर्जुनस्तीर्थयात्रायामिति** । ततः **अवनीं पर्यटन्** । **प्रभुः** समर्थः हरणे, एकाकिपर्यटने वा । **प्रभासं गतः** किञ्चिदशृणोत्तदाह **मातुलेयीमिति** । 'मातुलस्येव याषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव' इति श्रुतेः । स्वभागमन्यो नेष्यतीति **आत्मनो मातुलेयीम्** । **रामो दुर्योधनाय दास्यती**ति सोऽपि कलित्वात् अधर्महेतुरिति तस्यापि लौकिक एव भविष्यतीति प्रसह्य कन्याहरणत्वे शुद्धधर्मत्व च भविष्यतीति भोगार्थमेव तां **लिप्सुः यतिर्भूत्वा** यत्र कस्यापि कामसभावनैव न भवति पर्वणि क्षौरं विधाय पीठादिद्वात्रिंशत्पदार्थपरिग्रहं कृत्वा **त्रिदण्डी सन् द्वारकामगात्** ।।२-३।।

व्याख्यार्थ--वास्तव में अर्जुन, जोव की कला रूप 'नर' था, और वह सुभद्रा माया शक्ति यशोदा के यहाँ प्रकट होके देवकी के यहाँ गई और देवकीजो ने स्नेह से ग्रहण को थी, उस समय कंस के हस्त से छूटकर जैसे आठ स्थानों में प्राप्त हुई वैसे ही देवकी का भी प्राप्त हुई, सुभद्रा नाम से प्रसिद्ध हुई। स्त्री भाव से ही मोह उत्पन्न होता है, वह अर्जुन की ही स्त्रो होने के योग्य थी, इस कारण से उस पर अर्जुन मोहित हुआ। कलियुग में उस 'माया' का हा वंश रहेगा, इसलिए सन्यासी वेष धारण कर वञ्चना से कन्या का हरण कर गया। चोरी करना और पाखण्ड से धर्म वाला वेश-धारण करना क्षत्रिय के लिए निषिद्ध है; तो भी, वसा वेष धारण कर कन्या का हरण किया और माता पिता ने भी दी, इससे और तोर्थ यात्रा में कृत्रिम (बनावटी) वेष धारण करने का निषेध नहीं है, इन कारणों से दोनों[1] रूप होने से दोनोंका[2] समर्थन किया है, अतः विरोध नहीं है यह तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग का भारत में इस प्रकार वर्णन है। एक स्त्री और पाँच पति होवे तो उसका परिणाम दुःख होता है। द्रौपदी के पांच पति थे, वे प्रचेतसों की तरह एक रूप नहीं थे, काम को रोकना अशक्य है, क्षण मात्र भी विलम्ब से नाश होता है, इससे नारदजो ने सुंद उपसुंद की कथा कह कर उनके लिए नियम बना दिया कि एक वर्ष एक पति भोग करे उस समय दूसरा वहां न जावे, जाएगा तो उसको प्रायश्चित करना होगा, वह प्रायश्चित एक वर्ष तीर्थ यात्रा करनी होगो। इस नियमानुसार वे चलते थे किसी समय, ब्राह्मण की गौओं को चोर ले गए, ब्राह्मण ने अर्जुन को कहा कि मेरी गौओं को उनसे लेकर दो विलम्ब करने से गौओं की रक्षा न होगी और शस्त्र शस्त्रागार में पड़े है, वहां युधिष्ठर द्रौपदी के साथ विहार कर रहे हैं, किन्तु गौओं को रक्षा के लिए, अर्जुन शस्त्रागार में जाकर शस्त्र ले आया और गौओं को लेकर ब्राह्मण को देदी, और वहाँ युधिष्ठर और द्रोपदी को विहार करते देखा, अतः अर्जुन, युधिष्ठर के रोकने पर भी, तोर्थ यात्रा करने चला गया, कारण कि, सत्यनिष्ठ थे। इसलिए, भगवदिच्छा जान तीर्थ यात्रा करने में प्रवृत हुआ, तीर्थ यात्रा करते हुए पृथ्वी पर घूमने-फिरने लगा, अर्जुन समर्थ था, इसलिए अकेला भी घूमने में हिचकिचाया नहीं तथा कन्या हरण में भी समर्थ था, घूमते २ प्रभास गया, वहाँ मामा की कन्या के विषय में कुछ सुना, अर्थात् राम दुर्योधन को देगा, किन्तु मामा की कन्या[3] तेरा भाग है, इस श्रुति अनुसार मेरा भाग दूसरा ले जायगा, और दुर्योधन कलि का रूप है, जिससे यह विवाह अधर्म का कारण होने से लौकिक ही होगा, अतः यों न हो इसलिए बलपूर्वक इसका हरण करना शुद्ध धर्म होगा, यों विचार पूर्वक निश्चय कर भोग के लिए ही उसको लाने की इच्छा वाले उस (अर्जुन) ने सन्यास धारण किया, जिससे किसी को भी यह शङ्का न हो कि यह काम वासना वाला है, अतः पर्व के दिन मस्तक का मुंडन कराके आसन आदि बत्तीस पदार्थ को ले त्रिदंडी बन द्वारका गया॥२-३॥

---

[1] --नर ऋषि रूप है और भगवान् के अंश को धारण करते हैं वह ऋषिरूप होने से, माता पिता (वसुदेव-देवकी) की सम्मति से विवाह करता है और भगवान् का अंशावतार होने से बलपूर्वक हरण करता है तो भी दोष नहीं क्योंकि भगवान् को शास्त्र निषेध व आज्ञा का प्रतिबन्धक नहीं।

[2] - चोरी (बल से कन्या ले जाना) शास्त्रनिषिद्ध है और माता पिता ने दी यह शास्त्र सिद्ध है।

[3] - मातुलस्येव योषा भागस्ते।

श्लोक—**तत्र वै वार्षिकान्मासानवात्सीत्स्वार्थसाधकः ।**
पौरैः सभाजितोभीक्ष्णं रामेणाजानता च सः ।।४।।

श्लोकार्थ—स्वार्थ को सिद्ध करने वाला वह वहाँ चातुर्मास्य करने लगा । अर्जुन के इस छल को वहाँ के निवासियों ने और राम ने समझा नहीं, अतः नगरवासियों ने तथा राम ने उसका बारम्बार सत्कार किया ।।४।।

सुबोधिनी—ततो वर्षाकाले यतेः पर्यटनं निषिद्धमिति **वार्षिकान्मासानवात्सीत्** । ननु कृत्रिमे वेषे किं धर्मकरणेनेत्यत आह **स्वार्थसाधक** इति यथैव तस्याः हरणं संभवति । ततः अज्ञैरेव सर्वैः **पौरैः सभाजितः अभीक्ष्णं** एक एव बहुवारं भिक्षार्थं कथयति। **रामेण** च नरमायया मोहितेन भगवदिच्छया च **अजानता सभाजितः** लौकिके 'चक्षुः प्रीतिः प्रथमम्' इति तदर्थं परिचयार्थं पश्चाद्धरणसिद्धचर्थं च तस्याज्ञान निरूप्यते । बलभद्रो हि परमहंसं तं ज्ञात्वा तत्र हेतुभिर्विचारो न कर्तव्य इति शास्त्रमेवावलम्ब्य तूष्णीं स्थितः । अतस्तत्राधर्मजिज्ञासा नोत्पन्ना । सादृश्यं प्रतिभातमपि धर्मज्ञानस्य बलिष्ठत्वात् न प्रत्यभिज्ञासाधकं जातम् ।।४।।

व्याख्यार्थ—वर्षा काल में सन्यासी को घूमने का शास्त्र ने निषेध किया है, इसलिए वर्षा के चार मास वहां रहने लगे, कपट वेष से धर्म करने से कौनसा लाभ ? जिसके उत्तर में कहा है 'स्वार्थ साधक' अर्जुन को अपना कार्य 'सुभद्रा का हरण' ही सिद्ध करना था, जिसके लिए ही यह कपट वेष धारण किया था, इस (अर्जुन) के इस आशय(सुभद्रा हरण) को न जानने वाले नागरिकों ने बहुत समादर किया, एक एक नागरिक ने कई बार भिक्षा के लिए निमन्त्रण दिए, लौकिक में प्रथम 'चक्षु की प्रीति होती है' नर (अर्जुन) की माया से मोहित और भगवदिच्छा से भी मोहित राम का भी इस विषय 'प्रथम चक्षु की प्रीति'से परिचय होगा फिर हरण किया जाएगा,वो न समझ सका, अतः बलभद्र (राम) ने भी इसको परमहंस जानकर तर्क से विचार नहीं किया, केवल शास्त्र का ही आश्रय कर शान्त हो 'बैठे' इसलिए अधर्म की जिज्ञासा उत्पन्न न हुई, अधम जैसा भान होते हुए भी धर्मज्ञान बलिष्ठ होने से, उस भान ने अधर्म का ज्ञान कराने नहीं दिया ।।४।।

आभास—अत एव तस्य भक्त्या सभाजनमाह **एकदा गृहमानीयेति** ।

आभासार्थ—इस कारण से ही बलराम जी ने भक्ति से उनका आदर किया यह 'एकदा' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**एकदा गृहमानीय आतिथ्येन निमन्त्र्य तम् ।**
श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल ।।५।।

श्लोकार्थ—एक दिन आतिथ्य का निमन्त्रण देकर उसको घर लाकर बलराम ने श्रद्धा से भिक्षा दी, जिसको उसने ग्रहण किया ।।५।।

सुबोधिनी—निकटे गच्छन्तं प्रसङ्गाद्गृहे **समानीय** पश्चादातिथ्येन **निमन्त्रणं** कृत्वा पाकसिद्धिपर्यन्तं बहुकालं स्थापयित्वा यथा निलीय दर्शनं भवति कन्यायाः स्थित इत्यर्थात् **तमातिथ्येन निमन्त्र्य** स्थित इति ततस्तेनैव बलभद्रेण **श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं बुभुजे** । अयमर्थो महतः वक्तुमनुचित इति **किलेत्युक्तम्** । ५।।

व्याख्यार्थ--बलराम सन्यास वेषधारी अर्जुन के पास जाते रहते थे, एक दिन प्रसंग ऐसा आया जिससे उसको घर ले आए, वहाँ आतिथ्य भाव वाला निमन्त्रण देकर जब तक पाक सिद्ध हो तबतक बिठाया,पाक सिद्ध में तो बिशेषसमयलगेगा,ऐसे अवसर में ही कन्या का दर्शन गुप्तरीति से हो जाएगा यों जान अर्जुन वहाँ ठहर गया, पश्चात् बलभद्र ने भोज्य पदार्थ लाकर श्रद्धा से सन्यासी के आगे धरे, जिनको उसने पाया, 'किल' पद देकर यह सूचित किया है कि महापुरुषों के सम्बन्ध में यह अर्थ (विषय) स्पष्ट कहना उचित नहीं है ।।५।।

आभास—तत एतस्यापि दर्शनमाह **सोऽपश्यदिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् अर्जुन को भी कन्या का दर्शन हुआ जिसका वर्णन 'सोऽपश्यत्' श्लोक में करते है—

श्लोक—सोऽपश्यत्तत्र महतीं कन्यां वीरमनोहराम् ।
प्रीत्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां भावक्षुब्धं मनो दधे ।।६।।

श्लोकार्थ—वहाँ उसने वीर पुरुषों के मन को हरण करने वाली बड़ी कन्या देखी, जिस पर दृष्टि पड़ते ही उसके नेत्र प्रीति से प्रफुल्लित हो गए और रति की इच्छा से क्षोभ युक्त मन उसमें लग गया ।।६।।

सुबोधिनी—महतीं स्थूलां, अर्जुनाद्वर्षमात्रन्यूनाम् । यस्या रूपेण वीराः प्राणानपि त्यजन्ति सा **वीरमनोहरा** । ततस्तस्या दर्शनेन तद्दर्शनसहितेन **प्रीत्या** कृत्वा **उत्फुल्लेक्षणो** जातः । तावता कामवशं गतः **भावक्षुब्धं मनो दधे** ।।६।।

व्याख्यार्थ—वह कन्या स्थूल देह वाली थी और अर्जुन से एक वर्ष छोटी थी, वह ऐसी रूपवती थी जिसके लिए वीर पुरुष प्राण भी देने के लिए तैयार होते हैं,इस लिए'वोर मनोहरा'विशेषण दिया है, इसलिए ऐसी कन्या को देखने से प्रेम उत्पन्न हुआ, जिससे उसके नेत्र प्रफुल्लित हो गए, तावता काम के आधीन हो गया, इसलिए रति को इच्छा से भरा हुआ मन उस कन्या में लगा दिया ।।६।।

आभास—अकामायां ग्रहणं न संभवति इति तस्या अपि भावो निरूप्यते **सापि तं चकम** इति ।

आभासार्थ—जिस कन्या का प्रेम न हो, उसको ग्रहण करना सम्भव नहीं । इसलिए 'सापि' श्लोक में कहते हैं कि उसका भी इसमें रति का भाव (रति की इच्छा) था ।

श्लोक—**सापि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयङ्गमम् ।**
हसन्ती व्रीडितापाङ्गी तन्न्यस्तहृदयेक्षणा ॥७॥

श्लोकार्थ—स्त्रियों के हृदय को हरने वाले उस (अर्जुन) को देखकर सुभद्रा ने भी उसी तरह उसको चाहा और मुस्कुराती हुई, वह उससे मन तथा नेत्र लगाकर लज्जा-युक्त कटाक्ष से तिरछा देखने लगी ॥७॥

सुबोधिनी—सौन्दर्येणैव तस्या मनोहरणम् । प्रथमतो **हसन्ती** ततो **व्रीडितापाङ्गी** तस्मिन्नेव **न्यस्तं हृदयमीक्षणं च** यया । एवं तया वृतः ।
॥७॥

व्याख्यार्थ—अर्जुन की सुन्दरता देख उसके मन को भी अर्जुन ने हर लिया. पहले मुस्कुराई, अनन्तर व लज्जायुक्त नेत्रों वाली हुई बाद में मन तथा नेत्र उसमें ही आसक्त हो गए, इसी प्रकार उसने अर्जुन को पति रूप में वरण किया ॥७॥

श्लोक—**तां परं समनुध्यायन्नन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः ।**
न लेभे संभ्रमच्चित्तः कामेनातिबलीयसा ॥८॥
महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम् ।
जहारानुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः ॥९॥

श्लोकार्थ—उसका ही ध्यान करते हुए, उसके हरण का अवसर देखते हुए अति बलवान कामदेव ने जिसका चित्त भ्रान्त कर दिया है, वैसे अर्जुन को चैन नहीं पड़ता था, फिर भी जब देव यात्रा के लिए रथ में बैठ सुभद्रा दुर्ग से बाहर निकली, तब महारथी अर्जुन ने माता-पिता और श्रीकृष्ण की संमति लेकर उसका हरण किया ॥८-९।

सुबोधिनी ततो भिक्षां विस्मृत्य **तामेव ध्यायन्** हरणार्थमन्तर**प्रेप्सुर्**जातः । तादृशो**ऽप्यन्तरं न लेभे**, अप्रमत्तैः संरक्ष्यमाणत्वात् । अत्र भारतोक्तमधिकमपि ज्ञातव्यम् । भगवता नीतो देवकीवसुदेवसमक्षं ततस्ताभ्यां सा कन्या दत्ता । ततः **अतिबलीयसा कामेन संभ्रमच्चित्तो** जातः । ततो भगवान् दयालुः यात्रां कल्पयित्वा पुराद्बहिस्तां निःसारितवान् । ततो महत्यां सर्वेषामुत्सववैयग्र्ये पूर्वोक्तन्यायेन **पित्रोरनुमतः कृष्णस्य च** ततो **महारथः** अज्ञनिराकरणे समर्थः । **दुर्गनिर्गतां रथस्थां** तामहरत् ॥८-९॥

व्याख्यार्थ—बाद में अर्जुन भिक्षा को तो भूल गया केवल उसका ध्यान करते हुए उसके हरण करने का अवसर देखने लगा कि कब वह अवसर आएगा जो में इसको हरण करूँगा, कुशल पुरुष उसकी रखवाली करते थे, जिससे हरण का अवसर नहीं देखने में आता, यहां भारत में जो विशेष कहा है, उसका भी अनुसन्धान करना आवश्यक है, वह यह है कि भगवान् अर्जुन को वसुदेव देवकी

के पास ले गये वहाँ उन्होंने वह कन्या (सुभद्रा) अर्जुन को अर्पण की, अनन्तर अर्जुन बलवान् काम के कारण भ्रमितचित्त हो गया पश्चात् दयालु भगवान् ने देव यात्रा की कल्पना की जिससे वह नगर से बहार निकाली गई बाद में उस बड़ी यात्रा के उत्सव में सब तल्लीन होने से अर्जुन को हरण करने का अवसर मिला, अतः माता पिता और श्रीकृष्ण की सम्मति से महारथी[1] अर्जुन ने, दुर्ग से बाहर आई हुई रथ में स्थित सुभद्रा का हरण किया ।।८९ ।

आभास—ततो हरणार्थं तस्य पराक्रममाह **रथस्थ** इति ।

आभासार्थ—'रथस्थो' श्लोक में कहते हैं, कि अर्जुन में हरण करने का पराक्रम है ।

श्लोक—**रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुन्धतो भटान् ।**
विद्राव्य क्रोशतां स्वानां स्वभागं मृगराडिव ।।१०।।

श्लोकार्थ - रथ में विराजमान अर्जुन धनुष लेकर जो शूरवीर आपको रोकने के लिए आए, उनको भगाकर, सिंह जैसे अपना भाग ले जावे, वैसे सम्बन्धियों के कोलाहल करते हुए सुभद्रा को ले गए ।।१०।।

सुबोधिनी - आसमन्तात् **रुन्धतः** रक्षक**भटान्** **विद्राव्य** सह समागतानां बन्धूनां **आक्रोशतां** सतामेव अज्ञानादाक्रोशं कुर्वन्तीति स्वभागत्वादुपेक्षा निषिद्धेति **मृगराडिव** समर्थः । **जहारेति** पूर्वणैव संबन्धः ।।१०।।

व्याख्यार्थ –चारों तरफ से रोकने वाले सर्व सैनिकों को भगाकर, साथ में आए हुए बान्धव आक्रोश करते थे, उनकी भी उपेक्षा की, क्योंकि वे अज्ञ हैं अतः अज्ञान से यों कर रहे हैं, इसके सिवाय यह कन्या तो मेरा भाग है, अतः इनका आक्रोश मूर्खता से है, इस पर ध्यान देना उचित नहीं है, अपने भाग को छोड़ना शास्त्र में निषिद्ध है। इस विचार से अर्जुन ने जैसे सिंह अपना भाग ले लेता है वैसे ही उसका हरण किया, यों पहले से सम्बन्ध है ।।१०।।

आभास—ततो हृतायां तस्यां बलभद्रेण श्रुतो वृत्तान्तः पारिबर्हप्रेषणार्थमयमुद्यमो निरूप्यते ।

आभासार्थ –बल भद्र ने सुभद्रा के हरण का वृत्तान्त सुना, दहेज भेजने के लिए जो उद्यम किया गया उसका 'तच्छ्रुत्वा' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः ।**
गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चान्वशाम्यत ।।११।।

---

[1] --अज्ञों के निराकरण करने में समर्थ थे वह बताने के लिये (महारथी) विशेषण दिया है !

श्लोकार्थ—वह (सुभद्रा का हरण) सुनकर पूनम की रात्रि में जैसे समुद्र क्षोभ-युक्त होता है, वैसे ही बलदेवजी बहुत क्षोभ करने लगे, किन्तु श्रीकृष्ण और अन्य बान्धव पाँवों में पड़े, जिससे शान्त हो गए ।।११।।

सुबोधिनी—ततो रामः तद्वञ्चनादिकं श्रुत्वा क्षुभितस्तद्वधार्थमेव प्रवृत्तः । दृष्टान्तेन तस्य महत्वं समयश्च तादृश इति सूचयति । ततो भगवता परिसान्त्वितः वाक्यैरनेकविधैः ।।

व्याख्यार्थ - पश्चात् राम अर्जुन की यह वञ्चना (छल) से हरण करने की कथा सुन बहुत आवेश (जोश) में आ गए और उनको मारने के लिए तैयार हुए. समुद्र के दृष्टान्त से उनकी[1] महत्ता तथा वैसा समय था यों बताते हैं, बाद में भगवान् ने अनेक प्रकार के वचन कह कर उनको शान्त किया । वे वचन कारिका द्वारा आचार्य श्री प्रकट करते हैं—

कारिका—अस्माकं सर्वथा देया हृता नान्यैश्च गृह्यते ।
वधे भर्तृविहीना स्यात् योग्यश्चायं विशेषतः ।।१।।

कारिकार्थ—हमको तो यह देने योग्य ही है अर्थात् इसका विवाह करना ही है, अब हरण की हुई दूसरा लेगा नहीं, यदि इसका[2] वध करोगे, तो यह कन्या विधवा होगी । दुर्योधन से यह अर्जुन विशेष योग्य है ।।१।।

कारिका—कार्यार्थं वञ्चनं तस्य न दोषायेति मे मतिः ।
अज्ञानं स्वस्य दोषो हि कृत्रिमो न हि बाधकः ।।२।।
ततो गृहीतपादश्च तेनैवाभूद्बलः स्वयम् ।

कारिकार्थ—अपने कार्य को सिद्ध करने के लिए ठगाई करने[3] को मैं दोष नहीं मानता हूँ । अर्जुन को पहिचाना नहीं, [यह अपना दोष है । त्रिदण्डी होकर हरण किया, यह इसलिए दोष नहीं है कि वह सच्चा संन्यास नहीं था, कार्य सिद्धि के लिए किया हुआ बनावटी था ॥२।।

पश्चात् भगवान् ने बलभद्र के चरण पकड़ लिए, इसलिए कि इसका वध न करो और भगिनी को अब दहेज आदि हम भेजें, आप शान्त होइए ।

सुबोधिनी—तथा **सुहृद्भिरपि गृहीतपादोऽन्वशाम्यत** ।।११।।

व्याख्यार्थ—इसी तरह मित्रों ने भी चरण पकड़े जिससे वे[4] शान्त हो गए ।।११।।

आभास—ततो भगिन्यां स्नेहात् पारिबर्हाणि प्राहिणोत् तान्याह ।

आभासार्थ—शान्त हो जाने के अनन्तर भगिनी को जो दहेज भेजा उसका वर्णन 'प्राहिणोत' श्लोक में करते है ।

---

[1] —बलरामजी की, [2]--अर्जुन का, [3]--स्वकार्य साधने में बुद्धिमान, [4]--बलरामजी

श्लोक—**प्राहिणोत्पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः ।**
महाधनोपस्करेभरथाश्वनरयोषितः ॥१२॥

श्लोकार्थ—फिर बलदेवजी ने आनन्द से दहेज में उन वर-वधु को अमूल्य सामान (असबाब), हाथी, रथ, दास और दासियाँ दीं ॥१२॥

सुबोधिनी—महाधनेति । **गृहो**पकरणानि चतुरङ्गिणी सेना दास्यश्च प्रस्थापितवान् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—घर में जो कुछ सामान बर्तन आदि चाहिए वे सर्व पदार्थ तथा चतुरङ्गिणी सेना (हाथी, अश्व, रथ और प्यादे सैनिक, और दास दासियाँ दहेज में भेजे ॥१२॥

कारिका—भक्ताय भगवान् कृष्णो भगिनीं दत्तवानिति ।
किमाश्चर्यं यतः कर्मज्ञाननिष्ठामवाप्तयोः ॥
स्वयं गत्वातिमहता समाजेन समावृतः ।
विप्रक्षत्रिययोः प्रीत्या स्वात्मानं दत्तवान् स्वयम् ॥
यथाभिलषितं ताभ्यां सुख प्राप्तं हरेर्महत् ।
कृतार्थावपि संजातौ पुनरागमनं ततः ॥१२॥

कारिकार्थ—भगवान् ने अपनी बहिन भक्त को दी, इससे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, जबकि भगवान् कर्मनिष्ठ राजा और ज्ञाननिष्ठ श्रुतदेव के यहाँ स्वयं पधार, मुनियों के समाज को भी साथ में ले, दोनों को अपनी आत्मा देकर उनका हित करते हैं। जो भक्त का हित करे, इसमें आश्चर्य कैसा ? जैसी जिसकी इच्छा थी, वैसा सुख दोनों को दिया। जब वे कृतार्थ हुए, तब भगवान् लौट आए ॥१२॥

आभास—अतोपमाननप्रस्तावे भगवान् भक्तार्थमेवागतः ज्ञात्वैव अमानी मानद इति सर्वं करोतीति कैमुत्यन्यायेन मार्गान्तरभक्तयोरपि स्वापमानेनापि हितं करोतीति निरूपयति **कृष्णस्यासीद्द्विजश्रेष्ठ** इति ।

आभासार्थ—भगवान् का अपमान हुआ उस प्रसङ्ग में भी यह समझना चाहिए कि आपका प्राकट्य भक्तहितार्थ ही हुआ है अतः अपना अपमान सहन करके भी भक्तों को मान देते हैं। अपना इसमें मान नहीं हैं, यों जान कर भी, सब कुछ भक्तों के लिए करते हैं. इसलिए कैमुत्य न्याय से कर्म ज्ञान निष्ठ भक्तों का अपना अपमान होते हुए भी हित ही करते हैं, तो फिर विशिष्ट भक्त के लिए अपमान सहन कर उसका हित करें, तो उसमें कौनसा आश्चर्य है ? यों 'कृष्ण स्यासीत्' श्लोक से वर्णन करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**कृष्णस्यासीद्द्विजश्रेष्ठः श्रुतदेव इति श्रुतः ।**
कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पटः ॥१३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि श्रीकृष्ण का एक भक्त श्रुतदेव नाम वाला ब्राह्मण था, जो भगवान् की भक्ति से हो कृत-कृत्य, शान्त-विद्वान् और विषय वासनाओं से रहित हो भगवद्भक्ति करता था ।।१३।।

सुबोधिनी—ब्राह्मणत्वादयं प्रकरणी, क्षत्रियस्तु प्रासङ्गिकः, अत एव मध्ये निरूपितः । अतो नोपक्रान्तक्रमविरोधः । **कृष्णस्य संबन्धी आसीत्**, भगवदीय आसीदित्यर्थः । तथाभवने तस्य साधनमाह **द्विजश्रेष्ठ** इति । तदेवोपपादयति **श्रुतदेवः** श्रवणे देववत् प्रज्ञावान् । तत्त्वेन च विख्यातः । ततः **कृष्ण एव** या **एका भक्तिः** तयैव **पूर्णार्थः** । एतत्तस्य दारिद्रयदोषाभावाय निरूप्यते । विद्यमानायां इच्छायां भक्त्या विषयाभावो न युक्तः । अत आह **शान्त** इति । आन्तरोऽयं गुणः । **कविर्विचारकश्च** । स्वभावतोऽपि तस्येन्द्रियाणि न बहिर्मुखानीत्याह **अलम्पट** इति । भगवत्संबन्धे तस्य षड्गुणा निरूपिताः । तत्र द्विजश्रेष्ठत्वमैश्वर्यं, नाम कीर्तिः, भक्तिः श्रीः, शान्तिर्ज्ञानं, कविर्बलं, अलम्पटो वैराग्यमिति तदीयस्तत्तुल्यो भवति इति निरूपितम् ।।१३।।

व्याख्यार्थ—यह, 'श्रुतदेव' ब्राह्मण था अतः इसका ही यह प्रकरण है, क्षत्रिय का प्रकरण तो प्रसङ्ग होने पर कहा गया है, इससे बीच में उसका निरूपण किया गया है, इसलिए उपक्रम[1] (प्रारम्भ में कहे हुए) का विरोध नहीं हैं. यह ब्राह्मण कृष्ण का सम्बंधी अर्थात् भगवदीय था, ऐसा होने में उसके साधन कहते हैं, ब्राह्मणों में उत्तम था इसको श्रेष्ठतम प्रतिपादन करते हैं, कि श्रवण में जिसकी बुद्धि, देव जैसी थी, सेवा होने के कारण ही प्रसिद्ध हुआ था, कृष्ण में हो एकान्तिक भक्ति होने से जिसके सर्व अर्थ पूर्ण हो गए थे, यों कहने का भावार्थ है कि उसमें दरिद्रय दोष नहीं रहा है क्योंकि 'शान्त' था किसी प्रकार की कामना नहीं थी । यदि कामना हो तो भक्ति द्वारा यह पूर्ण नहीं हो सके यह उचित नहीं, यह शान्ति, भीतर का गुण है, और 'कवि' था अर्थात् तत्व ज्ञान सम्बन्धी विषयों का विचार कर निर्णय करने वाला था, स्वभाव से भी इस को इन्द्रियाँ भगवान् से बहिर्मुख नहीं थीं किन्तु विषयों से बहिर्मुख थी. जिससे 'अलम्पट' विशेषण दिया, भगवान् के साथ सम्बन्ध होने से छः गुण कहे हैं १—द्विजश्रेष्ठ कह कर ऐश्वर्य गुण प्रकट किया है, २—नाम से कीर्ति गुण सिद्ध किया है, ३—भक्ति से 'श्रीगुण' दिखाया है, ४—'शान्ति' से ज्ञान गुण कहा है ५—'कवि' से बल वर्णन किया है, ६—'अलम्पट' विशेषण वैराग्य गुण प्रकट करता है इस प्रकार सिद्ध किया है कि भगवदीय भगवान् के समान होता है ।।१३।।

आभास—ततस्तादृशस्य सात्त्विकदेशे स्थितिर्युक्तेति मिथिलायां स्थितिमाह **स उवास विदेहेष्विति** ।

आभासार्थ—ऐसे पुरुष का निवास सात्विक देश में होना चाहिए इसलिए 'स उवास' श्लोक में उसका वास मिथिला में कहते हैं ।

१—इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा है, कि जहाँ वीर्य (पराक्रम) से विरुद्ध भाव की प्रतीति होगी वह ही कहा जाएगा, भगवान् ब्राह्मण के घर पधारे यह भगवद्वीर्य से विरुद्ध है किन्तु राजा के गृह में पधारे यह वीर्य के विरुद्ध नहीं है, यहाँ राजा के यहाँ पधारना तो प्रासङ्गिक है । प्रकरण तो ब्राह्मण के घर पधारने का है अतः उपक्रम का विरोध नहीं है ।

श्लोक—स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी ।
अनीहया गताहार्यनिर्वर्तितनिजक्रियः ।।१४।।

श्लोकार्थ—वह गृहस्थी विदेह देश की मिथिला नगरी में रहता था, परिश्रम बिना स्वतः प्राप्त अन्नादि से अपना निर्वाह सन्तोषपूर्वक करता था ।।१४।।

सुबोधिनी—विदेहा: देशाः, यत्र स्थितानां देहाभिमानो न भवति, तत्रापि **मिथिलायां** गतदेहाभिमानकृतायाम् । अभिमानाभावे इतराश्रमेभ्योपि गृहस्थाश्रम एव मुख्यः, तत्र दोषाणां निरभिमानस्यासंभवात् । अतः **गृहाश्रमी** । तत्र वृत्त्यभावे धर्मो न फलतीति तस्य मुख्यां वृत्तिमाह **अनीहया गताहार्य** इति । स्वप्रयत्नव्यतिरेकेण आगतमाहार्यं भैक्ष्यादिकं यस्य तेनैव **निर्वतिता क्रिया** येन ताश्च **क्रियाः निजाः** न परधर्माः । अत एवायं कर्ममार्गानुसारी भक्तः ।।१४।।

व्याख्यार्थ—वे देश विदेह नाम से इसलिए प्रसिद्ध थे जो वहाँ रहते थे उनको देहाभिमान नहीं होता था, उनमें भी वह उस नगरी में रहता था, जिसको देहाभिमान रहित ज्ञानी पुरुषों ने बनाया था । वह नगरी इसलिए मिथिला नाम से प्रसिद्ध थी, अभिमान न होने पर अन्य आश्रमों से गृहस्थाश्रम ही मुख्य है क्योंकि अभिमान न होने से वहाँ कोई दोष उत्पन्न नहीं होता है, अतः वह गृहाश्रमी होकर रहता था, आजीविका के अभाव में धर्म फलीभूत नहीं होता है अर्थात् धर्म सिद्ध नहीं होता है, इसलिए उसकी मुख्य वृति (आजीविका) कहते हैं कि बिना प्रयास किए स्वतः भोज्य आदि सर्व पदार्थ आ जाते थे, उनसे ही वह अपना निर्वाह कर लेता था, अर्थात् अपने सर्व कर्म पूर्ण करता था, दूसरों का धर्म नहीं करता था इसलिए ही वह कर्म मार्गी भक्त है ।।१४।।

आभास—अनीहया कदाचित् अन्नाभावात् क्रियाविच्छेदः स्यादित्याशङ्कचाह **यात्रामात्रमिति** ।

आभासार्थ प्रयत्न न करने पर भी कभी अन्नादि न मिलने से क्रिया में रुकावट पड़ जाती होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'यात्रा मात्रं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— **यात्रामात्रं त्वहरहर्दैवादुपनमत्युत ।**
नाधिकं तावता तुष्टः क्रियाश्चक्रे यथोचिताः ।।१५।।

श्लोकार्थ—कुटुम्ब का निर्वाह जितने से पूर्ण हो जावे, उतना प्रतिदिन प्राप्त हो जाता था, अधिक नहीं, उतने से प्रसन्न होकर यथोचित सर्व क्रियाएँ करता था ।।१५।।

सुबोधिनी—यात्रा शरीरनिर्वाहः सकुटुम्बस्य, तच्चाहरहः तदपि **दैवादुपनमति** । ईश्वरेच्छया कदाचिच्छरीरे बले विद्यमाने एकादश्युपवासादौ वा नोपनमयतीत्यपि सूचयति **उते**ति । **अधिकं** तु नोपनमति । कदाचिदपि **तावतैव** संतुष्टः, अन्यथा दोषः स्यात् । अत एव **यथोचिताः क्रियाश्च चक्रे** ।।१५।।

व्याख्यार्थ—'यात्रा' पद का अर्थ है कुटुम्ब और अपने शरीर का पूर्ण निर्वाह हो जावे, उतना पदार्थ नित्य प्रति ईश्वरेच्छा से प्राप्त हो जाता था, 'उत' पद का भाव यह है कि शरीर में उपवास करने की शक्ति अथवा एकादशी आदि उपवास के दिन होते तो भक्ष्यादि न भी मिलते, विशेष तो कभी भी न मिलता था, उससे वह संतोष कर लेता था, सन्तोष न करे तो दोष हो, अतः सन्तोष धारण कर यथा योग्य सर्व क्रिया पूर्ण करता था ।।१५।।

आभास—एवं ब्राह्मणं निरूप्य क्षत्रियं निरूपयति **तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्गे**ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्राह्मण का निरूपण कर तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग' श्लोक में क्षत्रिय का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाश्व इति श्रुतः ।**
मैथिलो निरहंमान उभावप्यच्युतप्रियौ ।।१६।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! उस देश का राजा जनक के वंश में उत्पन्न बहुलाश्व वैसा ही निरहङ्कारी था एवं भगवान् का भक्त था । ये दोनों भगवान् के प्यारे थे ।।१६।।

सुबोधिनी—भगवद्भक्तवासात् सोऽपि भक्त्यङ्गे प्रविष्ट इति तथेत्युक्तम् । यतस्तस्य विदेहराष्ट्रस्य पालः । अङ्गेत्यप्रतारणार्थं संबोधनम् । बहुला अश्वा यस्येति क्रियाशक्तिर्निरूपिता । स तु मिथिलवंशोद्भवत्वात् मैथिलः । अस्य तु षड्गुणाः । राज्ञस्त्वभिमानाभाव एव । यथा कर्मनिष्ठः प्रियः तथा ज्ञाननिष्ठोऽपि भगवत्प्रियः । अत आह उभावप्यच्युतप्रियाविति । यथा धर्मनिष्ठः प्रियः एवं ज्ञाननिष्ठोऽपि । एतावद्वर्णनम् भगवता तथाभूतौ तौ स्मृताविति भगवन्मानसक्रियाविषयत्वात् भगवच्चरित्रत्वेन निरूपितौ ।।१६।।

व्याख्यार्थ—वहाँ भगवद्भक्त के रहने से वह (राजा भी भक्ति के अङ्ग में प्रविष्ट हुआ अर्थात् भक्त बन गया इसलिए यों कहा है, क्योंकि वह उस विदेह राज्य का पालने वाला था, 'हे अङ्ग' इस संबोधन से यह सूचित किया कि यह कथा आपको छलने के लिए बनावटी नहीं कही जाती है किन्तु वास्तविक यों है 'बहुलाश्व' नाम से यह सिद्ध किया है कि वह बहुत घोड़े अपने पास रखता था जिससे उसकी क्रिया शक्ति प्रकट होती थी, वह मिथिल वंश में उत्पन्न होने से मैथिल था, श्रुतदेव में छ गुण थे किन्तु इस राजा में एक ही 'निरभिमान' गुण था । जैसे कर्मनिष्ठ प्यारा है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठ भी भगवान् को प्यारा है, इसलिए कहा है कि दोनों भगवान् के प्यारे थे जैसे 'धर्मनिष्ठा' वैसे ज्ञान निष्ठा भी प्रिय है, इतना वर्णन किया जिससे यह सिद्ध हुआ कि वैसे उन दोनों को भगवान् ने स्मरण किया अर्थात् भगवान् ने उनको मन से अपना कर उनका हित किया, यह चरित्र भगवान् के मानस क्रिया का विषय होने से भगवान् का चरित्र है यों निरूपण किया है ।।१६।।

आभास—अत एव तद्गुणान् स्मृत्वा भगवान् तयोरिष्टसिद्धचर्थं तद्गृहं गत इत्याह **तयोः प्रसन्नो भगवानिति ।**

आभासार्थ—इस कारण से ही उनके गुणों का स्मरण कर भगवान् उनको इच्छित फलदानार्थ उनके घर पधारे यह चरित्र 'तयो प्रसन्नो' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तयोः प्रसन्नो भगवान्दारुकेणाहृतं रथम् ।**
आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान्प्रययौ प्रभुः ॥१७॥
नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः ।
अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेयश्च्यवनादयः ॥१८॥

श्लोकार्थ—उन दोनों पर प्रसन्न हुए प्रभु भगवान् दारुक के लाए हुए रथ में मुनियों के साथ बैठकर विदेह देशों में पधारे ॥१७॥

साथ में जो मुनि थे। उनके नाम कहते हैं—१. नारद, २. वामदेव, ३. अत्रि, ४. कृष्ण, ५. राम, ६. असित, ७. अरुणि, ८. मैं (शुकदेव), ९. बृहस्पति, १०. कण्व, ११. मैत्रेय, १२. च्यवन। 'आदि' शब्द से अन्य मुनि भी थे, यों कहा है ॥१८॥

सुबोधिनी—पूर्वं गमनबोधनाभावात् लौकिकाभावेनोत्सवाभावाच्च कदाचित्समागमनार्थं दारुकेण समानीतं रथमारुह्य विदेहानेव प्रययौ। नन्वेकाकी सर्वाननुक्त्वा च कथं प्रस्थित इति चेत्, तत्राह प्रभुरिति। मुनिभिः साकमारुह्य विदेहान् प्रययौ। तौ हि भगवन्तं मुनिसहितं भावयतस्तत्रापि राजा मुनीनपि भगवद्रूपानेव जानाति, ब्राह्मणस्तु मुनिरूपान्। अत एव स्वयं मुनिरूपधारी राजगृहे गमिष्यति, मुनिभिः सहितस्तु ब्राह्मणगृहे। उभावपि कालात् परभूतं भगवन्तं ज्ञात्वा कालावयवभूतान् मुनीन् जानीतः। अतो द्वादशमुनीन् नाम्ना परिगणयति, प्रकारपरत्वाय च आदिपदप्रयोगः। कृष्णो वेदव्यासः। रामः परशुरामः। अहं शुकः। आदिशब्देन गौतमादयः ॥१७-१८॥

व्याख्यार्थ—प्रथम मुझे कहां जाने का है, यो बोध नहीं कराया था। लौकिक कार्य भी नहीं था और कोई उत्सव भी नहीं था, इससे किसी समय उनका मिलाप हो, उसके लिए दारुक के लाए हुए रथ में विराजमान होकर भगवान् विदेह पधारे सबको बताये बिना अकेले विदेह कैसे पधारे? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रभु' आप समर्थ हैं मुनिओं के साथ रथ में बैठ कर विदेह पधारे, मुनिओं को साथ इसलिए लिया कि वे दोनों सदैव मुनिओं के साथ भगवद्विषयक चर्चा करते थे, दोनों में से राजा तो मुनियों को भीभगवद्रूप जानता था, ब्राह्मण तो उनको मुनि रूप ही जानता था। इस कारण से राजा के गृह में आप भी मुनि रूप धारण कर पधारेंगे, ब्राह्मण के घर मुनिओं के साथ भगवद्रूप से पधारेंगे, वे दोनों भगवान् को काल से पर रूप जानते हैं और मुनिओं को काल के अवयव स्वरूप जानते हैं, इसलिए ही १२ मुनियों को नाम से गिने हैं, आदि पद से ऐसे अन्य भी थे यों कहा है, 'कृष्ण' नाम से वेद व्यास कहा है 'राम' नाम से परशुराम 'मैं' से शुकदेव ने अपने को कहा है, 'आदि' पद से गौतम वगैरों अन्यों को कहा है ॥१७-१८॥

आभास— गुप्ततया अलौकिकन्यायेन गमनं व्यावर्तयितुं सर्वानुभवार्थं मध्ये पूजामाह **तत्र तत्रेति** ।

आभासार्थ— भगवान् विदेह पधारते समय अलौकिक रीति से अर्थात् गुप्त रीति से नहीं पधार रहे थे, किन्तु सर्व को अनुभव कराते हुए प्रकट दर्शन देते थे, जिससे मार्ग में भगवान् को पूजा हुई यों 'तत्र तत्र' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक— **तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप ।**
उपतस्थुः सार्घहस्ता ग्रहैः सूर्यमिवोदितम् ॥१६॥

श्लोकार्थ हे नृप ! विदेह पधारते समय भगवान् जहाँ-जहाँ आए, वहाँ-वहाँ छोटे-छोटे गाँवों के तथा बड़े-बड़े नगरों के निवासी हाथों में अर्घ ले सम्मुख आकर, जैसे ग्रहों के उदय हुए सूर्य का लोक पूजन आदि करते हैं, वैसे मुनि सहित पधारे हुए भगवान् की पूजा की ॥१६॥

सुबोधिनी—सार्घहस्ता उपतस्थुः । प्रत्येकं पूजाग्रहणे कालविलम्बो भवेद् अग्रहणे तु दोषः स्यादित्युभयथापि दोष व्यावर्तयितुं दृष्टान्तमाह ग्रहैः सूर्यमिवोदितमिति । ग्रहस्थानीया ऋषयः । नहि सूर्यः सर्वेषामर्घ्यं गृह्णाति । निरीक्षणेन च गृह्णात्यपि एवं भगवानपीत्यर्थः ॥१६॥

व्याख्यार्थ--हाथों में अर्घ लेकर निकट आकर भगवान् की पूजा की, एक एक की पूजा करने में बहुत समय लगे, सबका पूजन न हो सके तो दोष हो, इससे दोनों प्रकार दोष न लगे, इसलिए दृष्टान्त देकर कहते हैं, कि जैसे सूर्य को अर्घ देने से सब ग्रहों को अर्घ मिल जाता है, वैसे ही यहाँ भगवान् की पूजा से सब मुनिओं की पूजा हो गई । मुनि ग्रहों के स्थान पर 'समझने चाहिए, जैसे सूर्य सब की पूजा ग्रहण नहीं करता है, केवल ईक्षण (दृष्टि) से ही ग्रहण करता है, वैसे ही भगवान् भी दृष्टि द्वारा सबकी पूजा ग्रहण करते हैं, यों अर्थ है ॥१६॥

आभास - मध्यस्थान् देशान् द्वादश नाम्ना निरूपयति **आनर्तेति** ।

आभासार्थ—'आनत' श्लोक से मार्ग में आये हुए देशों के बारह नाम से निरूपण करते हैं।

श्लोक—**आनर्तधन्वकुरुजाङ्गलकङ्कमत्स्य-**
पाञ्चालकुन्तिमधुकेकयकोसलार्णाः ।
अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहास-
स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्यः ॥२०॥

श्लोकार्थ—महाराज ! आनर्त, धन्व, कुरु, जाङ्गल, कङ्क, मत्स्य, पाञ्चाल, कुन्ति, मधु, केकय, कोसल और अर्ण देश के रहने वाले और दूसरे देशों के भी स्त्री और

पुरुष उदार हास व स्नेह भरी दृष्टि वाले भगवान् के मुखारविन्द का नेत्रों से रस-पान करने लगे ।।२०।।

सुबोधिनी - अन्ये च अप्रसिद्धाः प्रसिद्धाश्च । भगवतो मुखसरोजं पपुरिति तेषामुपासनाफलं निरूपितम् । सरोजत्वेनामृतपानं दृष्टमेव प्रयोजनं स्यादिति मुखं विशिनष्टि उदारहासस्निग्धेक्षणमिति । उदारः सर्वपुरुषार्थदायी हासः स्निग्धचेक्षणं माया बहिर्मुखत्वेऽपि संपादिते सर्वपुरुषार्थान् साधयति । ज्ञानं तु भगवत्संबन्धिनं करोति । अतः अदृष्टमपि फलं प्रयच्छतीति निरूपितम् । एतादृशं नरा नार्यश्च सर्वाधिकारिणो ह्यत्रेति न्यायेन पपुः ।।२०।।

व्याख्यार्थ—ऊपर कहे हुए देशों के सिवाय अन्य देश जो प्रसिद्ध नहीं थे, वा प्रसिद्ध उन देशों के भी स्त्री पुरुष भगवान के मुख कमल के रस का पान करने लगे, यों कह कर 'यह बताया कि यह फल उन्होंकी की हुई उपासना का है, भगवान् का है, भगवान् का मुख, कमल रूप है, जिससे उनको अमृत के पान की प्राप्ति हुई, वह देखा हुआ प्रत्यक्ष प्रयोजन है इसलिए मुख की विशेषता विशेषता से बताते हैं कि 'उदारहास स्निग्धेक्षण' उदार हास्य और स्निग्ध दृष्टि वाला मुख है, उदार पद से बताया है कि सब प्रकार के पुरुषार्थों को वे देनेवाला हास है और दृष्टि स्निग्ध है, हास माया रूप होने से बहिर्मुखता करते भी सर्व पुरुषार्थों को सिद्ध करता है ज्ञान तो भगवान्से सम्बन्ध कराता है, भगवान् का मुख दो गुणों वाला है अतः अदृष्ट फल भी देता है । यों निरूपण किया है भगवान् के ऐसे मुखारबिन्द का दर्शन कर यहाँ के सब स्त्री पुरुष अधिकारी हुए जिससे उसका रस पान करने लगे ।।२०।।

आभास—ततो भगवान् फलरूपेणापि भजने फलान्तरं प्रयच्छन् ततोऽप्यग्रे फलपरंपरासिद्ध्यर्थमुपायं कृतवानित्याह **तेभ्य** इति ।

आभासार्थ—पश्चात् फल रूप से भी भजन किया जावे तो भी भगवान् कृपाकर अन्य फल देने की इच्छा से उसके भी आगे के फल की परम्परा की सिद्धि करने के लिए उपाय करने लगे यह 'तेभ्यः' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्रदृग्भ्यः**
क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशं च यच्छन् ।
शृण्वन्दिगन्तधवलं स्वयशोऽशुभघ्नं
गीतं सुरैर्नृभिरगाच्छनकैर्विदेहान् ।।२१।।

श्लोकार्थ – भगवान् के दर्शन से उन लोगों की अज्ञान दृष्टि नष्ट हो गई और त्रैलोक्य गुरु भगवान् ने अपने दर्शन करनेवाले नर-नारियों को अपनी दृष्टि से ही ऐसा वरदान दिया, जिससे वे सदा भगवान् को अपने पास ही स्थित देखते रहें और सब वस्तुओं में भगवान् को ही देखते रहें, ऐसा भी बर देते चल रहे थे ।

समस्त दिशाओं को उज्ज्वल बनाने वाली और समस्त अशुभ का विनाश करने वाली कीर्ति का मनुष्यों और देवताओं द्वारा किया गान सुनते हुए धीरे-धीरे विदेह देश में पहुँचे ।।२१।।

सुबोधिनी—भगवद्वीक्षणेन विनष्टं तमः अज्ञानं यस्य । तादृशदृष्टियुक्तेभ्यः वस्तुसामर्थ्यादेव दोषे निवृत्ते स्वयमधिकं क्षेमं दत्तवान् । लब्धस्य परिपालनं क्षेमः । यथेयं मूर्तिः सर्वदा दृष्टौ सन्निहिता भवति तथा वरं दत्तवानित्यर्थः । तदैवेदानीं प्राप्तस्य परिपालनं भवति । ननु मध्ये विषयान्तरदर्शनस्यावश्यकत्वात् कथमेतस्यैव दर्शनं निरन्तरं भवेदित्याशङ्क्याह त्रिलोकगुरुरिति । त्रिलोकस्य स एव गुरुः यत्रान्तर्यामिप्रेरणया सर्वेषां सद्बुद्धिरुत्पद्यते । बहिर्वाक्यं त्वप्रयोजकं व्यभिचारात् । अतो यदैवान्यदर्शनं प्राप्नोति तदैव तन्निषेधार्थमुपदेशं करोतीत्यर्थः । किञ्च अर्थदृश च यच्छन् सर्वत्र ते यथा अर्थरूपं भगवन्तमेव पश्यन्ति सर्ववस्तुषु वस्तुस्वरूपम् । अतो यत्किञ्चिदपि ते पश्यन्तो भगवन्तमेव पश्यन्तीति पूर्वदत्तक्षेमस्य न कापि प्रच्युतिः । चकारात्तत्र स्थितमपि भगवन्तं द्रष्टुं सामर्थ्यं दत्तवानित्यर्थः । नन्वकस्मात्कथमेतावत्फलं प्रयच्छतीति शङ्कां व्यावर्तयन् तेन दत्तं फलं सर्वदैव स्थास्यतीत्यपि ज्ञापयति शृण्वन्दिगन्तधवलं स्वयश इति । तेषां मुखेभ्य एव शृण्वन् । मध्ये कालादिवशात् जाताधर्मेण प्रतिबन्धमाशङ्क्याह अशुभघ्नमिति । कदाचित्तत्कीर्तिविस्मरणे साधनाभावमाशङ्क्याह गीतं सुरैर्नृभिरिति । ये देवरूपा मनुष्याः तैर्गीतम् । सुरैर्नृभिश्च गीतमिति वा । तेन कीर्तेरक्षयत्वं निरूपितम् । एवं मध्यस्थेभ्य एतावत्प्रयच्छति यदर्थं तु गच्छति तेभ्यः किं दास्यतीति शङ्कामुत्पादयन्नेव उद्देश्यदेशान् गतः शनैरिति मध्ये तेषु स्नेहो निरूपितः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—भगवान् की दृष्टि पड़ने से जिनकी आखों से अज्ञान के पर्दे नाश हो गए हैं, ऐसे ज्ञान युक्त बनी हुई दृष्टि वालों की वस्तु[1] की सामर्थ्य से ही दोष निवृत्त हो जाने से आप स्वयं ने विशेष क्षेम का दान दिया । प्राप्त हुए पदार्थ की रक्षा करने को क्षेम कहा जाता है, जैसे यह मूर्ति[2] सदैव नेत्रों में विराजी रहे, वैसा वरदान दिया, कहने का यह भाव है, इस प्रकार होवे तो अब प्राप्त भगवद्दर्शन स्थिर रहे, शङ्का होती है कि यदि मध्य में अन्य विषयों का दर्शन आवश्यक होने से, भगवद्दशन की स्थिरता कैसे रहेगी ? इस शङ्का के निवारणार्थ 'त्रिलोक गुरु' विशेषण दिया है, जिसका आशय यह है कि आप तीन लोक के गुरु[3] हैं, जहां अन्तर्यामी की प्रेरणा से सद् बुद्धि उत्पन्न होती है, बाहर का उपदेश वाक्य निरर्थक है, क्योंकि वह स्वल्प समय रहता है उस उपदेश का प्रभाव स्थिर नहीं होता है, अतः जब ही अन्य विषय का दर्शन होने लगता है तब आप उस दर्शन का निषेध करते हैं अर्थात् ऐसी प्रेरणा करते हैं, जिससे दूसरे विषय का दर्शन नहीं किया जाता है, इसलिए वह भगवत्स्वरूप सदैव नेत्रों में विराजते रहते हैं, ऐसी अर्थ दृष्टी देते हैं, जिससे वह सर्व पदार्थों को भगवत्स्वरूप से देखता रहता है, भगवत्स्वरूप ही ये सर्व पदार्थ हैं, अन्य कुछ नहीं है, अतः प्रथम दिन हुए क्षेम का अभाव कदापि नहीं होता है 'च' पद से यह सूचित किया है, कि वस्तु में विराजमान भगवान् को देखने की सामर्थ्य भी दी है, शङ्का होती है, कि अचानक ऐसा फल कैसे देते हैं ? इस शङ्का निवारण के लिए कहते हैं कि 'शृण्वन् दिगन्तधवलं स्वयशः' उनके मुखों से

---

[1] भगवान् की दृष्टि की, [2] भगवत्स्वरूप, [3] उपदेश देकर अज्ञानान्धकार मिटाने वाले हैं ।

अपना सर्वत्र धवल यश सुनते थे, इससे निश्चय हो जाता है कि भगवान् का दिया हुआ फल सदैव स्थिर रहेगा यह भी जताया है मध्यकाल आदि के वश में अधर्म हो जाने से प्रतिबन्ध हो जाएगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'अशुभघ्नं' विशेषण दिया, अर्थात् वह यश अशुभ का नाश करने वाला है, जिससे मध्य में काल आदि वश होकर उनसे अधर्म होगा ही नहीं, जो दर्शन से प्रतिबन्ध हो, कदाचित् यश, जो दर्शन का साधन है, वह उसका विस्मरण हो जावे तो दर्शन में प्रतिबन्ध हो सकता है, इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहते हैं, कि 'गीतं सुरैर्नृभि' जो देव रूप मनुष्य हैं, वे सदैव गुण गान करते ही रहते हैं अथवा देवता और मनुष्य दोनों गुण गान करते रहते हैं, जिससे विस्मरण होने की शङ्का ही नहीं उठती है, इससे कीर्ति का अक्षयत्व निरूपण किया है मध्य में आए हुए देशों में रहने वालों को इतना देत हैं, तो जिनके लिए पधार रहे हैं, उनको कितना देंगे ? इस शङ्का को उत्पन्न करते हुए ही इच्छित देश 'विदेह' को धीरे धीरे पधारे, धीरे धीरे पधारने से उन पर अपना स्नेह व्यक्त किया है ।।२१।।

आभास—उद्देश्यदेशस्थानां भगवति स्नेहादिकमाह **तेऽच्युतं प्राप्तमिति** ।

आभासार्थ—जिस देश में आप पधारने वाले थे उस देशवासियों का भगवान् में कितना स्नेह आदि था । जिसका वर्णन 'तेऽच्युतं' श्लोक से कहते हैं,

श्लोक—**तेऽच्युतं प्राप्तमाकर्ण्य पौरा जानपदा नृप ।**
अभीयुर्मुदितास्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः ।।२२।।

श्लोकार्थ—हे महाराज ! भगवान् का पधारना सुनकर प्रसन्न हुए नगर और देशवासी हाथों में पूजा की सामग्री लेकर उनके सामने आए ।।२२।।

सुबोधिनी—पुरवासिनो देशवासिनश्च । नृपा इति पाठे भगवांस्तत्र गच्छतीति भगवद्दर्शनार्थं प्रथमत एव सर्वे गताः । तेऽपि भगवति पुरवासिवज्जाता इति त्रिविधा निरूपिताः । तेषां कायिकादिभावमाह आभिमुख्येन ईयुरिति कायिकं, मुदिता इति मानसं, गृहीतार्हणपाणय इति धनद्वारा ममतास्पदेनापि भजनमुक्तम् । ।।२२।।

व्याख्यार्थ—नगर और देशवासी भगवान् के स्वागतार्थ सामने आए 'नृपा' यों पाठ लिया जावे तो उसका भावार्थ यों समझना चाहिये कि राजा लोग भी, भगवान् पधार रहे हैं, यों सुनकर, भगवान् के दर्शनार्थ अन्य नगर एवं देशवासियों की तरह सामने आए, इससे वे भी भगवान् के यहां नगरवासियों के समान हुए, इस प्रकार तीनों तरह के (१ नगर के (२) देश के और (३) नृपगण निरूपण किए हैं उनका कायिक आदि भाव प्रकट करते हैं, सामने स्वागतार्थ आए, इससे कायिक भाव दिखाया 'मुदिता' प्रसन्न चित्त थे, इससे मानसभाव प्रगट किया, हाथों में पूजा सामग्री ले आए, इसमें यह बताया कि ममता का स्थान जो धन है उससे ममता निकाल भगवदर्पण कर भक्ति प्रकट की, अर्थात् तन मन धन से भगवान् का स्वागत् कर स्नेह का प्रदर्शन किया ।।२२।।

आभास—तत ऐन्द्रियकमाह **दृष्ट्वा तमिति** ।

आभासार्थ - भगवान् के पधारने के समय उनको इन्द्रियों की कैसी दशा थी, वह दृष्ट्वात-मुत्तम' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**दृष्ट्वा तमुत्तमश्लोकं प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः ।**
कैर्धृताञ्जलिभिर्नेमुः श्रुतपूर्वांस्तथा मुनीन् ।।२३।।

श्लोकार्थ—उत्तम श्लोक भगवान् का एवं जिन मुनियों के प्रथम नाम ही सुने थे, उनका दर्शन करने से उनका मुख और अन्तःकरण प्रेम से प्रफुल्लित हो गए, अतः हाथ जोड़ मस्तकों से भगवान् और मुनियों को नमस्कार करने लगे ।।२३।।

सुबोधिनी—प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजा इति । भगवद्दर्शनं तादृशं येन भगवानन्तः प्रविशति प्रविष्टोतिप्रीतिमुत्पाद्य उत्फुल्लान्याननानि बहिः आशयांश्चान्तः करोति । ततः कैर्मस्तकैर्धृताञ्जलिभिः सर्वापराधक्षमापकैः भगवन्तं नेमुः मुनींश्च । विशेषानभिज्ञत्वात् तथा नमनमिति शङ्कां व्यावर्तयति श्रुतपूर्वानिति ।।२३।।

व्याख्यार्थ—प्रेम से उनके मुखरूप कमल[1] खिल गए, भगवान् के दर्शन का यह प्रभाव है, कि वे दर्शन देते हुए अन्दर प्रवेश करते हैं, भीतर पधार कर प्रीति उत्पन्न करते हैं, जिससे बाहिर मुख आदि प्रफुल्लित होते हैं और भीतर अन्तः करण भी प्रफुल्लित हो जाता है, अनन्तर हाथ जोड़कर सर्व अपराधों की क्षमा याचना करते हुए मस्तकों से भगवान् और मुनियों को प्रणाम करने लगे, जब मुनियों की पहिचान नहीं, तो इस प्रकार नमन कैसे किया ? इस शङ्का को निवृत्त करने के लिए कहते हैं कि 'श्रुतपूर्वान्' उनके दर्शन नहीं किए थे किन्तु उनके गुण आदि तो सुनते ही थे इसलिए प्रणाम किया ।।२३।।

आभास—साधारणानां प्रतिपत्तिमुक्त्वा मुख्ययोराह **स्वानुग्रहाय संप्राप्तमिति ।**

आभासार्थ—साधारण पुरुषों ने जो स्वागत आदि से शरण भावना दिखाई वह कह कर अब 'स्वानुग्रहाय' श्लोक में मुख्य दो भक्तों की प्रतिपत्ति कहते हैं,

श्लोक—**स्वानुग्रहाय संप्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम् ।**
मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभोः ।।२४।।

श्लोकार्थ—अपने-अपने अनुग्रह करने के लिए जगत् गुरु भगवान् पधारे हैं, यों जानकर बहुलाश्व और श्रुतदेव दोनों प्रभु के पादों (चरणों) पर गिर गए ।।२४।।

सुबोधिनी—ननु सर्वदा भगवान् दृश्यत एव सेव्यते च तथा सति को **विशेष** इति शङ्कां वारयति जगद्गुरुमिति । किमस्माभिर्यत्क्रियते तदेव कर्तव्यमाहोस्विदन्यद्वा, एतन्निर्णयं भगवानेव

---

[1] —आचार्य श्री ने 'प्रीत्युत्फुल्ल मुखा म्बुजाः' पाठ लेकर अर्थ किया है ।

करिष्यतीति विशेषतः समागमनमित्यर्थः। अत एव पादयोः पेततुः। अनेन ब्राह्मणस्यापि नमस्कारः अनिषिद्ध इति निरूपितम्। प्रभोः समर्थस्य। चरणनमनमात्रेणैव सर्वमेव स्वहितं करिष्यति। नाधिकं स्वार्थमपेक्षते फलदानार्थं वेति सूचितम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—जबकि सदैव भगवान् के दर्शन किए जाते हैं और सेवा भी की जाती है, फिर इस समय कौनसी विशेषता है इस शङ्का को मिटाने के लिए 'जगद् गुरु' विशेषण दिया है, कि प्रभु जगत् के गुरु हैं अर्थात जगत् के जीवों के अज्ञानान्धकार को मिटा कर उनको प्रकाश देने वाले है, अतः आप स्वयं पधार कर देखना चाहते हैं कि हम जो कर रहे हैं यों ही करना चाहिए या और कुछ भी करना रह गया है। यदि रह गया है तो वह भी बतादूँ, यह कार्य तो भगवान् ही कर सकते हैं, इसलिए आप विशेष रूप से पधारे हैं, इसी कारण से पावों में पड़े इससे यह सूचित किया है, कि भगवान् के पावों में पड़ना ब्राह्मण के लिए भी निषिद्ध नहीं है, क्यों कि 'प्रभु' सर्व समर्थ हैं केवल चरणों में प्रणाम करने से ही सर्व प्रकार से हित करेंगे अपने लिए, वा फल दान के लिए, प्रणाम के सिवाय अधिक कुछ नहीं चाहते, इससे यह सूचित हुआ ॥२४॥

आभास—तत उभावपि स्वस्वगृहे समानयनार्थं निमन्त्रणं कृतवन्तावित्याह न्यमन्त्रयेतामिति।

आभासार्थ—पश्चात् दोनों ने 'न्यमन्त्रयेता' श्लोक में अपने अपने घर में पधारने के लिए निमन्त्रण दिया—

श्लोक—न्यमन्त्रयेतां दाशार्हमातिथ्येन सह द्विजैः।
मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत्संहताञ्जली ॥२५॥
भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया।
उभयोराविशद्गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः ॥२६॥

श्लोकार्थ—बहुलाश्व और श्रुतदेव ने हाथ जोड़, मुनियों के साथ भगवान् का आतिथ्य करने के लिए एक साथ निमन्त्रण दिया ॥२५॥

दोनों के निमन्त्रण को स्वीकार कर, दोनों को प्रसन्न करने के लिए उनके यहाँ एक ही समय पधारे, उस समय भगवान् ने दो रूप धारण किए, जिनको उन्होंने पहचाना नहीं ॥२६॥

सुबोधिनी—स्वगृहे समायास्यतीत्यत्र हेतुः दाशार्हमिति। सह द्विजैरिति भागशो निमन्त्रणं वारयति। उभयोस्तु कर्तव्यमेव तत्। लोके त्वशक्त्या कालभेदेन भागभेदेन वा लौकिकास्तथा कुर्वन्ति भगवांस्तु प्रभुरिति सर्वं संपादयिष्यति। राजत्वान्मैथिलः प्रथमं निर्दिष्टः। चकारः राजसमत्व बोधयति। श्रुतदेवश्च युगपत्संहताञ्जली इति कालभेदव्यावृत्त्यर्थमुक्तम्। ततो भगवान् तयोरभिप्रायं ज्ञात्वा भगवतो वैभवं च ज्ञातुं भगवतोऽशक्यं किमपि नास्तीति तत्तथैव संपाद-

नीयमिति भगवानुभयोरपि गृहे गतः । तत्र प्रकारमाह उभाभ्यां तदलक्षित इति । भगवान् समूहद्वयं जातः । तत उभयोर्गृहे गतः । यस्मिन् देशे मार्गभेदोस्ति ततो भगवन्माहात्म्ये तथावगते तथा रसो न भविष्यतीति ताभ्यामलक्षित एव गतः (जनकगृहे स्वस्वांशेन आगतः) । मुनीनामपि तथात्वं जातमिति केचित् । राजनि मुनीनां विशेषाभावात्सर्वत्र भगवद्बुद्धेस्तुल्यत्वात् 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति वाक्याच्च श्रुतदेवगृह एव मुनिभिः सहितो गतः । राजगृहे तु स्वयमेव गतस्तादृग्रूप इति विमर्शः ॥२५-२६॥

व्याख्यार्थ—अपने गृह में पधराने का कारण यह है कि प्रभु दाशार्ह[1] हैं, 'सहद्विजै' पद से यह सूचित किया है कि विभाग कर मत पधारना अर्थात् मुनि सहित आप पधारें, दोनों का तो (हित) करना ही है, लोक में तो अशक्ति के कारण काल भेद से वा विभाग भेद से लौकिक पुरुष कार्य पूर्ण करते हैं—अर्थात एक ही समय में दोनों स्थानों पर सब नहीं जा सकते हैं, अतः या तो जुदे जुदे समय पर जाते हैं वा आधे वहाँ आधे वहाँ ऐसा विभाग कर जाते हैं क्योंकि उनमें सब मिलाकर एक समय दोनों स्थानों पर जाने की शक्ति नहीं है, भगवान् तो प्रभु सर्व समर्थ हैं, जो चाहे वह सब सम्पादन कर सकते हैं 'मैथिल' पहले कहने का कारण है कि वह राजा थे 'च' पद से यह सूचित किया है कि श्रुतदेव भी राजा के समान है, हमारे गृह में पृथक् पृथक् समय में नहीं पधारें इसलिए दोनों ने साथ में हाथ जोड़ निमन्त्रण दिया है ।।२५।

इस प्रकार हाथ जोड़ने से भगवान् उनका अभिप्राय जान गए, कि ये हमारे वैभव को जानना चाहते हैं, भगवान् के लिए तो अशक्य कुछ नहीं है, इसलिए कार्य उस तरह हो करना चाहिये जिससे मेरे वैभव का ज्ञान इनको हो जावे अतः प्रभु भगवान् एक ही समय में सबके साथ दोनों के घर पधारे, किन्तु वे यह नहीं जान सके कि भगवान् ने दो रूप धारण किए हैं, यदि जान जाए तो रस की उत्पत्ति न हो अतः अलक्षित होकर पधारे, प्रभु सर्व शक्तिमान् समर्थ होने से राजा के घर तो मुनि स्वरूप लेकर पधारे, कोई कहते हैं कि मुनि भी दो रूप धारण कर दोनों के घर गए कारण कि राजा ज्ञाननिष्ठ था अतः उसको मुनि और भगवान् में किसी प्रकार का भेद नहीं था, सर्वत्र भगवत् बुद्धि समान होने से 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस गोता के वचनानुसार श्रुतदेव के घर मुनिओं के साथ स्वयं भी पधारे, राजा के यहाँ मुनि रूप धारण कर पधारे यह निर्णय है ।।२६।।

आभास—ततस्तस्मिन् देशे राजा मुख्य इति प्रासङ्गिकत्वाच्च राजवृत्तान्तमाह श्रोतुमप्यसतामिति ।

आभासर्थ—पश्चात् 'श्रोतुमप्यसतां' श्लोक में उस देश के मुख्य पुरुष राजा का वृतान्त कहा जाता है किन्तु वह प्रासाङ्गिक[2] है,

---

१—दशार्ह वंश में उत्पन्न दाशार्ह यादव कहे जाते हैं

१—आदि और अन्त के वाक्य विषय के निर्णायक होते है अतः उन वाक्यों को प्रकरण कहते हैं, मध्य में अन्य कुछ आजावे, उसको प्रासाङ्गिक कहा जाता है अर्थात् प्रसङ्ग, आने पर कह दिया जाता है ।

श्लोक—श्रोतुमप्यसतां दूराज्जनकः स्वगृहागतान् ।
आनीतेष्वासनाग्र्येषु सुखासीनान्महामनाः ॥२७॥

प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्षहृदयास्राविलेक्षणः ।
नत्वा तदङ्घ्रीन्प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः ॥२८॥

सकुटुम्बोऽवहन्मूर्ध्ना पूजयांचक्र ईश्वरान् ।
गन्धमाल्याम्बराकल्पधूपदीपार्घगोवृषैः ॥२९॥

वाचा मधुरया प्रीणन्निदमाहान्नतर्पितान् ।
पादावङ्कगतौ विष्णोः संस्पृशन् शनकैर्मुदा ॥३०॥

श्लोकार्थ – बढ़ी हुई भक्ति के कारण, अति प्रसन्न चित्त आँसुओं से व्याकुल नेत्र, उदारमना, जनक राजा ने जिनका नाम भी असत् पुरुष सुन नहीं सकते हैं; ऐसे अपने घर में पधारे हुए भगवद्रूप मुनियों को अपने हाथों से लाए हुए उत्तम आसनों पर विराजमान किया, सुखपूर्वक विराजमान हो जाने के अनन्तर उन्हें प्रणाम कर चरण धोए, वह जल गङ्गा रूप होने से, सकुटुम्ब राजा ने अपने सिर पर धारण किया। गन्ध-पुष्प, वस्त्र, धूप-दीप, अलङ्कार, अर्घ, गौ और बैल अर्पण कर पूर्ण रूपेण पूजा की, फिर भोजन कर तृप्त हुए उन मुनियों को मधुर वाणी से प्रसन्न करते हुए, भगवान् के चरण गोद में लेकर, प्रेम से धीरे-धीरे स्पर्श करते हुए, राजा यों कहने लगे ॥२७-३०॥

सुबोधिनी—ये असन्तस्तेषां श्रोतुमपि दूरे। एते मुनिभावापन्नाः भगवन्तः तादृशाः स्वगृहे समागता इति महदन्तरम्। असत्त्वं तु देहाभिमानात्सर्वेषामविशिष्टम्। अतः स्वगृहागतान् दृष्ट्वा स्वस्य सिहासनसदृशानि आसनानि स्वमित्रेभ्यः समानीतवान्। ततस्तेष्वासनाग्र्येषु सुखासीनान् कृत्वा कथमेतावतीं पूजां करिष्यामीति चिन्तां परित्यज्य महामना भूत्वा तेषु या प्रवृद्धा भक्तिः तया उद्धर्षं ऊर्ध्वहर्षयुक्तं यत् हृदयं तेनास्रयुक्ते आविले अक्षिणी यस्य तादृशो जातः। अनेन देहे पूजा निरूपिता। ततो बाह्यद्रव्यैः पूजामाह नत्वा तदङ्घ्रीन् प्रक्षाल्येति। नत्वेति पूर्वेण संबध्यते। तेन पूजासमाप्तिः आन्तरेण सूचिता। बाह्यार्थमनुज्ञां च प्रार्थयते। आदौ तदङ्घ्रीन्प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीर्गङ्गारूपत्वात्, सकुटुम्बो मूर्ध्ना अवहत्। ततः पूजायोग्यो भूत्वा पूजयांचक्रे सर्वानेव ईश्वरान् न तु जीवेश्वरान्। पूजासाधनानि गन्धमाल्यादीनि। गोवृषैरिति शास्त्रार्थसिद्धये। स हि मर्यादया प्रवृत्तो न तु भक्त्या। अतो यथावाक्यमेव करोति। गोनिवेदनं च मुख्यम्। ततो मधुरया वाचा इदमग्रे वक्ष्यमाणमाह अन्नतर्पितानिति। भोजनताम्बूलविश्रामशयनान्तं कृत्वा पश्चात् स्तोत्रं कृतवान्। अन्नेन तृप्तिस्तदैव भवति यद्यन्नमुद्वेजकं न भवेत्। तत्ताम्बूलविश्रामशयनसहितमेव। तत्रापि विशेषमाह पादावङ्कगताविति। विष्णोर्मुख्यत्वेन समागतस्य, सर्वत्र

विष्णुबुद्धिरैक्यबुद्धिश्चेति विशेषाभावात् वा ।
शनकैः संस्पर्शः अभ्यनुज्ञार्थः । जाते स्पर्शे
संतोषाविर्भावः ॥२७-३०॥

व्याख्यार्थ—जो भगवद्रूप मुनि राजा के घर में पधारे उनका नाम मात्र भी असत् पुरुष सुन नहीं सकते हैं, ये मुनिस्वरूप भगवद्रूप थे, वैसे अपने घर आए यह महान् अन्तर[1] है, असत् पन तो देहाभिमान् होने से जीव मात्र में समान है ऐसे भगवद्रूप मुनिओं को स्वगृह में पधारते देख अपने सिंहासन के समान सिंहासन अपने मित्रों से लाए, पश्चात् उन आसनों पर सुख पूर्वक उनको विराजमान किया, और ऐसे स्वरूपों की पूजा मै कैसे कर सकूँगा इस चिन्ता का त्याग किया, फिर महामना होने से उन (मुनिओं) में वृद्धिगत भक्ति के कारण अत्यन्त हर्षयुक्त हृदयवाला हुआ जिससे नेत्रों में आसूँ भर गए, इस प्रकार देह की पूजा की, पश्चात् बाह्य पदार्थों से जो पूजा की उसका वर्णन करते हैं, प्रथम नमस्कार की अनन्तर पाँव पखारे, 'नत्वा' पद का देह से की हुई पूजा से सम्बन्ध है, उससे भीतर के पदार्थों से की हुई पूजा की समाप्ति बताई है। बाह्य पदार्थों से पूजा करने की आज्ञा प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करता है,

पहले पाद प्रक्षालन किया वह जल लोक को पवित्र करने वाली गङ्गा रूप होने से, कुटुम्ब सहित राजा ने मस्तक पर धारण किया, पश्चात् पूजा योग्य होने से, सबने ईश्वरों को पूजा[2] की, न की जीव और ईश्वर की पूजा की है, सुगन्ध वाले पदार्थ और पुष्प आदि पूजा की सामग्री और गौ तथा बैल भी शास्त्र के अर्थ की सिद्धि के लिए लाए थे, कारण कि राजा की पूजन में प्रवृति मर्यादानुसारी थी, किन्तु भक्तिपूर्वक नहीं थी, अतः शास्त्र वचनानुसार सर्व पूजा करना था, शास्त्र में गौ का दान मुख्य है. अनन्तर मधुर वाणी से वह कहा जो अब कहा जाता है, जब वे अन्न से तृप्त हो ताम्बूल आदि ले, विश्राम कर स्वस्थ हो बैठे, तब स्तुति करने लगे, अन्न से पूर्ण तृप्ति होकर आनन्द तब आता है, जब भोजनान्तर ताम्बूल लेकर फिर विश्राम आदि किया जाता है, इसी प्रकार की क्रिया करने से अन्न उद्वेग वाला नहीं होता उनमें भी विशेष कहते हैं कि राजा भगवान् के चरणों को गोद में विराजमान कर धीरे धीरे स्पर्श करने लगा, धीरे धीरे कहने का भाव यह है कि प्रभु से आज्ञा प्राप्त की, विष्णु के चरणों को गोद में विराजमान किया, यों कहने का भावार्थ है कि राजा की सर्वत्र विष्णु बुद्धि थी और ऐक्य बुद्धि थी, अतः उन स्वरूपों में किसी प्रकार भेद दृष्टि नहीं थी, चरण स्पर्श करते ही संतोष का आविर्भाव हुआ अर्थात् राजा को पूर्ण संतोष हो गया ॥२७-३०॥

आभास—स हि यादृशं भावयति तादृशं वदन् भगवत्त्वज्ञापनाय षड्भिः स्तौति भवानिति ।

---

[1] भगवान् मुनि रूप से राजा के गृह में पधारे हैं, राजा तो देहाभिमानी होने से असत् है, वहाँ कैसे पधारे? यह अन्तर है, किन्तु जड़ देह का आत्मापन से अङ्गीकार कर लेने के कारण जीव मात्र असत् हैं, यों तो राजा ज्ञानिष्ठ होने से सत् है ।

[2] राजा के गृह में जीव रूप मुनि पधारे ही नहीं थे, सब भगवद्रूप मुनि थे ।

आभासार्थ—राजा जनक श्री कृष्ण को जैसा भगवत्स्वरूप जानता है वैसे ही निम्न छ श्लोकों में उनकी स्तुति करता है—

श्लोक—राजोवाच—**भवान्हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग्विभो ।**
अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ॥३१॥

श्लोकार्थ—राजा कहने लगा कि हे विभो ! आप सर्व प्राणियों की आत्मा है तथा साक्षी एवं स्वयं प्रकाश हो, आपके स्मरण करते हुए अब आपने दर्शन दिए हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—स हि सर्वदा सर्वं भगवत्कार्यमेवेति मन्यते । सर्वं च भगवद्रूपमिति । तादृशस्य कथमिदानीं विशेषतो वाक्यं संभवति । विरुद्धं च न वक्तव्यम् । अतः पूर्वावस्थामनूद्य विशेषं बोधयति । यद्यपि भगवान् सर्वरूपेण आत्मरूपेण च दृष्टः तथापि भक्तिमार्गानुसारेण यादृशो भाव्यते तादृशोऽद्यैव दृष्ट इति । युक्तश्चायमर्थः । **सर्वभूतानामात्म**त्वात् सर्वं भगवानेव । **साक्षि**त्वात् स्वात्मा साक्षिचैतन्यं वा । तत्रापि **स्वदृक्** स्वप्रकाशः, अनेन तत्प्रकाशार्थमपि नान्यापेक्षेति निरूपितम् । **विभो** इति संबोधनं सर्वसामर्थ्यं सूचयति । तेनास्माकं हृदये तथा प्रतीतिजननं नान्येषामिति सर्वं संपद्यते । तथापि त्वत्पदाम्भोजं भक्तिमार्गेण त्वां **स्मरतामद्यैव दर्शनं गतः ॥३१॥**

व्याख्यार्थ—वह (राजा) यह सर्व भगवान् के ही कार्य हैं तथा सर्व भगवद्रुप हैं, यों मानता है, इस प्रकार मानने वाला अब कैसे उससे विपरीत कहेगा, विरुद्ध तो कहना ही नहीं चाहिए, यद्यपि राजा को पहले भगवान् के सर्वरूप आत्मा रूप से दर्शन हुए थे तो भी भक्ति मार्गानुसारी दर्शन जैसा चाहिए वैसा तो अब हुआ है, अतः पूर्वास्था बताकर इसका भेद समझाते हैं, यह अर्थ उचित ही है, सर्व भूतों की आत्मा होने से सब भगवान् ही हैं, साक्षी होने से अपनो आत्मा हैं, अथवा साक्षी चेतन्य है, इतना होने पर भी स्वयं प्रकाश है, यों कहकर यह सूचित किया कि उनको प्रकाश के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं है, विभो !' यह सम्बोधन सूचित करता है, कि आप सर्वसामर्थ्यवान हैं, इससे हमारे हृदय में वैसी प्रीति उत्पन्न करते हैं न कि दूसरों के हृदय में, इस प्रकार करना आप में बन सकता हैं, तो भी भक्तिमार्गानुसार आपके चरणकमलों का स्मरण करते हुए को आज ही दर्शन दिए हैं ॥३१॥

आभास—ननवस्य दर्शनस्य क्वोपयोगः । न हि दर्शनार्थं चिन्तनं करोति किन्तु स्वतः पुरुषार्थत्वेनैव तत्राऽऽह **स्ववचस्तहृतं कर्तु**मिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार के (भक्ति मार्गीय प्रकार के) हुए दर्शन का उपयोग कहाँ होगा ? राजा ज्ञानिष्ठ है, ज्ञानी तो दर्शन के लिए भगवान् का चिन्तन नहीं करते हैं, किन्तु चिन्तन स्वतः पुरुषार्थ रूप है यों जानकर चिन्तन करते हैं, इस तरह की शंका के निवारणार्थ 'स्ववचस्तहृतं' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**स्ववचस्तदृतं कर्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान् ।**
यथात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजःप्रियः ।।३२।।
को नु त्वच्चरणाम्भोजमेवंविद्विसृजेत्पुमान् ।
निःकिञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ।।३३।।

श्लोकार्थ—मेरे अनन्य भक्त से बढ़कर, मुझे शेषजी और लक्ष्मी एवं ब्रह्मा तथा शिव भी प्रिय नहीं हैं, ऐसे अपने वचनों को सत्य करने के लिए आपने हमें दर्शन दिया है, कौनसा पुरुष है जो इस बात को जानकर भी आपके चरण कमलों का चिन्तन त्यागेगा, आप निःकिश्चन् शान्त मुनियों को अपनी आत्मा देने वाले हैं ।।३२-३३।।

सुबोधिनी—तद्भगवतः प्रसिद्धं वचः **ऋतं** सत्य **कर्तुं भवानस्मदक्ष्गोचरः** । ननु किं तद्वच इति चेत् । तत्राऽऽह **यदात्थेति** ।

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा
भवान्' इति ।

एतद्भगवद्वाक्यम् । अत्र **यथा एकान्तभक्तो मम प्रिय** इति वक्तव्ये दृष्टान्तार्थं **यथा भवा**निति वक्तवान् । **अत्राज**शब्देनैव शङ्करोऽपि गृहीतः । गुणावतारत्वेन तस्याप्यजत्वात्, आत्मापि तत एव । अत एतत्सगच्छते **एकान्त भक्ता**दिति । प्रियत्वं तदैव भवति यदि गत्वा दृश्यते । अतः प्रियत्वान्यथानुपपत्त्या भगवान् स्वयमागत्य दृष्टवानित्यर्थः । एवं भगवद्गुण ज्ञात्वा आत्मत्वसाक्षित्वयोरपि सिद्धत्वादधिकमेवं करोतीति सुगमत्वादुत्तमत्वाच्च **एवंवित्को वा त्वां विसृजेत्** । ननु प्राप्तात्मभावस्य भक्त्या सर्वं सिद्धचति यस्य त्वात्मभावो न जातः तस्य तदर्थं परित्याग इति चेत् तत्राह **निःकिश्चनानां शान्ताना**मिति । ब्रह्मात्मभावे साधनत्रयम् । आदौ **निःकिश्चनत्वं** सर्वपरित्यागः । तदन्तरं शमः । एवमन्तर्बहिर्विक्षेपरहितः मननं कुर्यात् । ततो ब्रह्मभावः तदुक्तं **निःकिञ्चनानां शान्तानां मुनीनां त्वमात्मद** इति ।। ३२-३३।।

व्याख्यार्थ—भगवान् का वह प्रसिद्ध 'वचन' सत्य करने के लिए आपने हम लोगों को दर्शन दिए हैं, वह कौनसा वचन है ? इस पर कहते हैं कि भगवान् ने कहा है कि मुझे ब्रह्मा शंकर, संकर्षण, लक्ष्मी और आत्मा भी वैसा प्रियत्तम नहीं है जैसे कि आप हैं, यहाँ कहा है कि जैसा एकान्त भक्त मुझे प्रिय है, यों कहने की पुष्टि में दृष्टान्त दिया है कि जैसे आप श्लोक में दिए हुए 'अज' शब्द से शंकर का भी ग्रहण किया है, गुणावतार होने से वे भी 'अज' हैं, आत्मा भो 'अज', शब्द से ग्रहण किया है, अतः यह बन सकता है कि एकान्त भक्त से ये मुझे प्रिय नहीं हैं, प्रिय पन तब सिद्ध होता है जब भगवान् स्वयं पधार कर दर्शन दे इसके बिना प्रियत्व की सिद्धि न होने से भगवान ने स्वतः स्वयं पधार कर दर्शन दिए हैं, इस प्रकार भगवद् गुणों को जान कर कि भगवान् आत्मा तथा साक्षी हैं, तो भो भगवान् को अनन्य भक्त विशेष प्रिय हैं, जिस कारण से भक्त के लिए विशेष करते हैं, अतः स्वयं पधार कर दर्शन दिए हैं, यों भक्ति मार्ग सुगम है तथा उत्तम है, यों जानने वाला ऐसा कोन है, जो आपका त्याग करेगा ? जिसने आत्मा में स्थिति प्राप्त कि है, वह भक्ति से सर्व प्राप्त कर लेता है, किन्तु जिसने आत्मा स्थिति प्राप्त नहीं की है वह तो आत्मा स्थिति के लिए मेरा त्याग करेगा यदि यों कहो तो इसका समाधान करते हैं, 'निः किञ्चनानां शान्तानां' आत्मा की

ब्रह्मरूप स्थिति करने के तीन साधन हैं, प्रथम निःकिञ्चनपन अर्थात् सर्व परित्याग, उसके बाद शान्ति, इस प्रकार भीतर बाहर के विक्षेप को नष्ट कर फिर मनन करना चाहिए, उसके बाद ब्रह्म भाव होता है. इसलिए कहा है, कि जो ऐसे निःकिञ्चन शान्त मुनि हैं उनको आप आत्मा का दान करते हैं, तात्पर्य यह है कि ज्ञान मार्ग में उपर्युक्त साधनान्तर ब्रह्म भाव प्राप्त हो सकता है किन्तु भक्ति मार्ग में तो भक्तवत्सल भगवान् कृपा कर स्वयं पधार कर दर्शन देते हैं, ज्ञान मार्ग से भक्ति मार्ग की यह ही विशेषता है ।।३२-३३।।

आभास—नन्वेतादृशो भगवान्नाहमित्याशङ्क्याह **योऽवतोर्ये**ति ।

आभासार्थ—वैसे जो भगवान् हैं वह मैं नहीं हूँ, 'इस शङ्का की निवृत्ति के लिए 'योऽवतीर्य' श्लोक कहा है ।

श्लोक—**योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह ।**
यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ।।३४।।

श्लोकार्थ—जिनने यहाँ यदु राजा के वंश में अवतार लेकर, संसारी जीवों के दुःखों को देख, दया कर उनकी निवृत्ति की, जिससे त्रिलोकी के पापों को हरने वाला अपना यश सर्वत्र फैलाया ।।३४।।

सुबोधिनी—स एव भगवान् सर्वेषां मोक्षा-र्थमेव **यदोर्वंशे अवतीर्य संसरतां नृणां** संसारदुःखदर्शनेन जातकरुणः तन्निवृत्त्यर्थं **यशो वितेने** । तस्य कथं संसारनिवर्तकत्वमित्याशङ्क्य स्पष्टमेव द्वारमाह **त्रैलोक्यवृजिनापह**मिति । पापवशाद्बहिर्मुखतादि सर्वे दोषाः, संसर्गिदोषाद्वा । यशस्तु सर्वेषामेव दोषनिवर्तकम् । अतः स्पष्टमेव तस्य संसारनिवर्तकत्वमित्यर्थः ।।३४।।

व्याख्यार्थ—उस ही भगवान् ने सबको मोक्ष देने के लिए ही यदु के वंश में अवतार लेकर मनुष्यों को जन्म मरणादि दुःखों में चक्कर काट कर दुःख भोगते हुए देख दयार्द्र हृदय होने से, उनके दुःखों को नाश कर अपना यश विस्तारा है, वह यश कैसे संसार को नष्ट करेगा ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए स्पष्टिकरण करते हुए, कहते हैं कि 'त्रैलोक्य वृजिनापहम्' वह यश तीन लोकों के पापों को नष्ट करने वाला है, अतः पाप के कारण बहिर्मुखता आदि दोष अथवा संसर्गिदोषाद् वा बहिर्मुख है तो उसके संसर्ग से जो दोष आ जाते हैं वे दोष, इन सबको, भगवान् का यश नष्ट करता है, अतः भगवान् का यश स्पष्ट ही संसार का नाश करने वाला है ।।३४।।

आभास—एवं जगत्कृतार्थत्वायावतीर्णः स्वकृतार्थत्वाय च समागत इति निरूप्य कर्तव्यान्तराभावान्नमस्यति **नमस्तुभ्य**मिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार आप यद्यपि जगत् को कृतार्थ करने के लिए पधारे हैं, तो भी मुझे कृतार्थ करने के वास्ते यहाँ पधारे हैं, यों निरूपण कर दूसरा कोई कार्य न होने से 'नमस्तुभ्यं' श्लोक से राजा नमस्कार करता है ।

श्लोक—**नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।**
नारायणाय ऋषये संशान्ततपईयुषे ॥३५॥

श्लोकार्थ—अकुण्ठ बुद्धि वाले और अतिशान्त तप करने वाले, ऋषि स्वरूप नारायण स्वरूप आप भगवान् श्री कृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥३५॥

सुबोधिनी—**तुभ्य**मित्यपरोक्षत्वाय । अन्यो भगवान् भविष्यतीति उपचारव्यावृत्त्यर्थं **कृष्णा**येति । साक्षाद्भगवत्त्वे हेतुः **अकुण्ठमेधस** इति । न **कुण्ठा** कुण्ठिता **मेधा** यस्येति । सर्वस्यापि भगवत्त्वे एतेनैव वैलक्षण्येन अस्य तथात्वात् । साम्प्रतं येन रूपेण समागतस्तन्निर्दिशति **नारायणाय ऋषय** इति । नारायण एवायं तृतीयलीलां करोतीति स एव ऋषिः । अनेन ब्रह्माण्डविग्रहो नारायणः तदंशो वेति पक्षो निराकृतः, विशेषरूपनिर्वचने य उत्कर्षहेतुस्तन्निर्दिशति **संशान्ततपईयुषे** इति । सर्वप्राणिनां सुखजनकं स्वस्याप्यक्षोभकं एतादृशं तपः तन्नारायण एवं करोतीति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—'तुभ्यं' पद से यह सूचित किया है कि आप जो सामने अब प्रत्यक्ष दर्शन दे रहे हो वे ही श्रीकृष्ण भगवान् हैं, इसी कारण से ही 'कृष्णाय' पद दिया है जिससे भगवान् कोई दूसरा होगा यह शङ्का मिट जावे, ये ही साक्षात् भगवान् हैं, यह सिद्ध करने के लिए 'अकुण्डमेध से' विशेषण दिया है, जिसका अर्थ है, जिसकी बुद्धि किसी भी समय वा काम में रुकती नहीं है, अर्थात् ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि है जो सर्व कार्य करने में पार चली जाती है, ऐसी बुद्धि भगवान् श्रीकृष्ण के सिवाय दूसरे किसी की नहीं है, यद्यपि अन्यों को भी भगवान् कहा जाता है किन्तु, उनसे कृष्ण में यह विलक्षणता है, अब जिस रूप से यहाँ पधारे हैं, वह दिखाता है 'नारायणाय ऋष्य' यह नारायण ही है जो तीसरी 'स्थान लीला' करते हैं वह ही ऋषि हैं यों कहने से यह बताया है कि ब्रह्माण्ड विग्रह नारायण अथवा उसका अंश नारायण यह (श्रीकृष्ण) नहीं है, इस विशेष रूप को प्रकट कर दिखाने में जो उत्तमपन है उसका हेतु कहता है कि 'संशान्त तप ईयुवेषे' सशान्त तप करने वाला यह स्वरूप है जो तप, सर्वप्राणियों को सुख देने वाला और अपने को भी क्षोभ न देने वाला है, ऐसा वह तप नारायण ही करते हैं ॥३५॥

आभास—एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा कर्तव्यं च कृत्वा किञ्चित् प्रार्थयते **दिनानि चिद्भूमन्निति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार भगवत्स्वरूप का वर्णन कर अपना कर्तव्य भी पूर्ण कर अब 'दिनानि कतिचित्' श्लोक में राजा कुछ प्रार्थना करता है,

श्लोक—**दिनानि कतिचिद्भूमन्गृहान्नो निवसद्द्विजैः ।**
समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे भूमन् । कितनेक दिन हमारे गृह में बिराजो, द्विजों सहित आपके चरणरज से इस निमि के कुल को पवित्र कीजिए ॥३६॥

सुबोधिनी—द्विजंरेतैः सह पादरजसा निमेः कुलं पुनीहि । यद्यपि सेवा कापि नास्ति तथापि पादरजः निमिकुलसंचारस्थाने पतिष्यतीति कुलपाविञ्याथंमेव तदुच्यते । तेन सर्वं एव कुलोत्पन्नाः कृतार्था भविष्यन्तीति तद्वंशसम्बन्धनिःकृत्यं स्थितिप्रार्थनेति सूचितम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—इन द्विजों सहित आप चरण रज से निमि के कुल को पवित्र कीजिए, यद्यपि आपको कुछ भी कार्य करने का परिश्रम न होगा, केवल यहाँ बिराजमान होने से आपकी चरण रज निमि के कुल के परिभ्रमण के स्थान में पड़ेगी जिससे सर्व कुल पवित्र होजाएगा इसलिए ही यह प्रार्थना है, इससे इस कुल में उत्पन्न सब पवित्र होकर कृतार्थ होंगे, आपको यहाँ विराजने की प्रार्थना इसलिए की है कि, उस बंश के सम्बन्ध से जो मुझ पर ऋण है वह उतर जावे यों सूचित किया है ॥३६॥

आभास—तथैव भगवान् कृतवानित्याह **इत्युपामन्त्रित** इति ।

आभासर्थ—भगवान् ने वैसा ही किया, अर्थात् वहाँ कुछ समय बिराजे जिसका वर्णन 'इत्युपामन्त्रितो' श्लोक में करते हैं,

श्लोक—**इत्युपामत्रितो राज्ञा भगवाँल्लोकभावनः ।**
उवास कुर्वन्कल्याणं मिथिलानरयोषिताम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार राजा के आमन्त्रण मिलने से, लोक को अपना अनुभव कराने के लिए तथा मिथिला के स्त्री पुरुषों का कल्याण करते हुए भगवान् वहाँ विराजे ॥३७॥

सुबोधिनी—तत्र हेतुः लोकभावन इति । लोकानेवानुभावयति तत्र निमिकुलानुभावने कः प्रयास इत्यर्थः । भगवान् स्वयं स्थितः स्वधर्मं तत्र योजयति । अतोऽनुभावः संपद्यते । तदर्थमपि स्थितः । प्रयोजनान्तरमप्याह मिथिलानरयोषितां कल्याणं कुर्वन्निति । ज्ञानिनस्ते नात्यन्तमुत्सवं जानन्ति । अतस्तेषामुत्सवसिद्धयर्थं कियत् कालं तत्र स्थितः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् वहाँ निमन्त्रण मिलने पर विराजे, जिसका हेतु है कि आप लोक को अनुभव कराने वाले हैं, अर्थात् वहाँ के लोगों को भी अनुभव कराने केलिये विराजे, जहां आप लोक को अनुभव कराते हैं । वहाँ निमि के कुल को अनुभव कराने में कौनसा प्रयास है, यों तात्पर्य है, भगवान् स्वयं स्थित होकर अपना धर्म लोक में डालते हैं, जिससे उसको (लोक को) भगवान् का अनुभव हो जाता है, इसलिए यहाँ भी बिराजे, दूसरा प्रयोजन भी प्रकट करते हैं कि मिथिला के नर और नारियों का कल्याण करते हुए बिराजे, वे ज्ञानी हैं इसलिए उत्सव को विशेष नहीं जानते हैं, अतः उनको उत्सव का ज्ञान हो इसलिए कुछ काल वहाँ ठहरे ॥३७॥

आभास—प्रासङ्गिकं निरूप्य प्रस्तुतं निरूपयति **श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तमिति** ।

आभासार्थ—प्रासङ्गिक राजा की कथा का निरूपण कर चालू विषय का निरूपण 'श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्त' श्लोक से करते हैं,

श्लोक—**श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहाज्जनको यथा ।**
नत्वा मुनीन्सुसंहृष्टो धुन्वन्वासो ननर्त ह ॥३८॥

श्लोकार्थ—अपने घर में पधारे हुए भगवान् को और मुनियों को श्रुतदेव ने वैसे प्रणाम किया जैसे जनक ने किया, जिससे वह अत्यन्त प्रसन्न होकर वस्त्रों को घुमाते हुए नाचने लगा ।।३८।।

सुबोधिनी—नन्वहं दरिद्रः कथं भगवन्तं नयामीति न विचारितवान् किन्तु यथा जनकः तथैव जातः । किञ्च । अधिकोऽपि जात इत्याह मुनीन् नत्वा मुनींश्च प्राप्तान् दृष्ट्वा वासो धुन्वन् ननर्त आनन्दात् । स्वस्यात्युपकारो जात इति ज्ञापयितुं नमनम् । आगमनेनवान्तः परमानन्दश्च प्रवृत्तः । इदं भक्तानां कार्यं शास्त्रानुसारिणाम् । ॥३८॥

व्याख्यार्थ--मैं दरिद्री गरीब) भगवान् को किस प्रकार अपने घर में पधरा सकूंगा ऐसा विचार श्रुतदेव ने किया ही नहीं किन्तु जनक के समान बन गया बल्कि उससे भी अधिक हो गया, इसलिए कहा है कि 'मुनीन् नत्वा मुनींश्च प्राप्तान् दृष्ट्वा वासो धुन्वन् ननर्त आनन्दात्' मुनियों को प्रणाम कर और मुनियों को पधारे हुए देख, वस्त्रों को घुमाते हुए नाचने लगा, मुनि पधारे हैं, यह मुझ पर बहुत उपकार हुआ है, यों जताने के लिए उपकार करने वाले मुनियों को प्रणाम किया है, उनके पधारने से ही भीतर परमानन्द प्रवृत्त हो गया है, नृत्य वे भक्त करते हैं, जो भक्त शास्त्रों का अनुसरण करते हैं, अर्थात् शास्त्र मयार्दा पालते हैं ।।३८।।

आभास—ततो यथासम्भवं पूजां कृतवानित्याह **तृणपीठवृषीष्विति** ।

आभासार्थ—पश्चात् जितनी हो सकी उतनी पूजा की 'तृणपीठ' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**तृणपीठवृषीष्वेतानानीतानुपवेश्य सः ।**
स्वागतेनाभिनन्द्याङ्घ्रीन्सभार्योऽवनिजे मुदा ॥३९॥

श्लोकार्थ—तृण, पीठ और चटाईयाँ ला उन पर उनको विराजमान कर पश्चात् सर्व प्रकार स्वागत कर स्त्री के साथ उस ब्राह्मण ने प्रसन्नता से चरण धोए ।।३९।।

सुबोधिनी—भगवदासने स्वहृदयमेव मन्यते । मुनीनां च सिंहासनापेक्षया तादृशान्येव प्रियाणि, न हि तपोयुक्तानां ग्राम्याः पदार्थाः प्रियहेतवो भवन्ति । अतस्तृणपीठादिकमेव तेषां प्रियम् । केषांचिदर्थे तृणान्येव दत्तवान् । केषांचित्पीठानि । केषांचित् वृषीः । ऋषीणामासनं वृषीति । कोमलकुशैः चतुरस्रं पश्चाल्लम्बमानपुच्छाकारं क्रियते । तेषु आनीतानुपवेश्य ततः स्वागतेनाभिनन्द्य सभार्यः अङ्घ्रीन् अवनिजे ।।३९।।

व्याख्यार्थ—भगवान् को विराजमान करने के लिए अपने हृदय को ही सिंहासन बनाया, मुनियों को तो सिंहासन से विशेष प्रिय तृणासन पीढे और चटाई हैं, सिंहासन जो ग्राम्य है. वे तपस्वियों को प्रिय नहीं है, किसी को तृणासन दिए किसी को पीढे और किसी को चटाईयाँ दी, ऋषियों का आसन इसी प्रकार का होता है, कोमल कुशों से चतुरस्र बनाया हुआ जिसके पोठ में नृत्य करते हुए मोर की पुच्छ के समान गोलाकार आकृति होती है, वैसा आसन ही मुनियों को उचित है, उन पर विराजमान कर पश्चात् स्वागत् से अभिनन्दन कर, बाद में स्त्री सहित हो उनके चरण धोए ॥३९॥

आभास—राजवदुपचारं कदाचिन्न करिष्यतीत्याशङ्कया पुनरुच्यते ब्राह्मणत्वात् । अतः पुनराह **तदम्भसेति** ।

आभासार्थ—ब्राह्मण होने से कदाचित् राजा के समान स्वागत न किया हो, अतः निम्न श्लोक में वह विधि बताते हैं,

श्लोक—**तदम्भसा महाभाग आत्मानं सगृहान्वयम् ।**
स्नापयांचक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः ॥४०॥

श्लोकार्थ—जिसके सर्व मनोरथ सिद्ध हो गए हैं, ऐसे उस महाभाग ब्राह्मण ने, बहुत ही प्रसन्न हो चरणों के जल से घर व कुटुम्ब सहित अपने शरीर को स्नान कराया ॥४०॥

सुबोधिनी– स्त्रीपुत्रादिसहितमात्मानं स्नापयांचक्रे । तस्य धर्मजनकत्वात्संतोषजनकत्वं न भविष्यतीत्याशङ्कयाऽऽह उद्धर्ष इति । उद्गतो हर्षो यस्येति । फलार्थमेवं करोतीति चेद् तत्राह लब्धसर्वमनोरथ इति । चरणोदकप्राप्त्यैव सर्वे मनोरथाः प्राप्ता इति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—स्त्री पुत्रों सहित अपने को उस चरण जल से स्नान कराया, इससे केवल धर्म होने से सन्तोष न हुआ होगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है, कि 'उद्धर्षः' विशेषण दिया है, जिसका भावार्थ है कि चरण जल के स्नान से कुटुम्ब सहित उस ब्राह्मण के हृदय में हर्ष उत्पन्न हो गया, अर्थात् वे सब इस स्नान से अपने को पवित्र एवं भाग्यवान् समझने से प्रसन्न हुए, यदि कहो कि फल के लिए यों करता है तो कहते हैं कि नहीं क्योंकि चरणोदक प्राप्ति से ही उनके सर्व मनोरथ पूर्ण हो गए थे, अर्थात् फल प्राप्ति तो हो गई थी ॥४०॥

आभास—ततः समाराधनमाह **फलार्हणेति** ।

आभासार्थ – पश्चात् 'फलार्हण' श्लोक से पूजा करने का वर्णन करते हैं,

श्लोक—**फलार्हणोशीरशिवामृताम्बुभि-**
र्मृदा सुरम्या तुलसीकुशाम्बुजैः ।

आराधयामास यथोपपन्नया
सपर्यया सत्त्वविवर्धनान्धसा ॥४१॥

श्लोकार्थ— फल, पूजा की सामग्री, खस से सुगन्धित अमृत सम सुख देने वाला मिष्ट जल, सुगन्ध वाली मिट्टी, तुलसी, दर्भ कमल, सत्व गुण को बढाने वाला अन्न आदि और जो बन सकी ऐसी पूजा से उनका सत्कार आदि किया ॥४१॥

सुबोधिनी—फलान्यर्हणसाधनानि । तानि फलार्हणानीत्युच्यन्ते । उत्तमानि फलानीत्यर्थः । उशीराणि च सुगन्धानि तत्सहितं शिवामृताम्बु पर्यवसानसुखदं ,अमृतं मिष्टं च । ततो हस्तपाद-प्रक्षालनार्थं मृत्सुरभिः परिमलयुक्ता ततः पूजार्थं तुलसीकुशाम्बुजानि तैः यथाशास्त्रमाराधयामास पूजां कृतवान् । यथोपपन्नया सपर्ययेति एतत्साधनमपि न क्लेशेन कृतवान् किन्त्वनायासेनैव सिद्धैव सामग्री । किञ्च । पूजानन्तरं तादृशमन्धः अन्नं दत्तवान् । येन सत्त्वगुणो वर्धते । शिलोञ्छवृत्त्या संपादितनीवाराद्योदनम् ॥४१॥

व्याख्यार्थ—'फलार्हणानि पद का आशय है कि जो उत्तम सुन्दर फल पूजा के साधन 'उशीराणि' सुगन्धवाले पदार्थों, उनसे युक्त 'शिवामृताम्बु' अन्त में सुखदायी मिष्ट जल, अनन्तर हस्तपाद प्रक्षालनार्थ सुगन्धीवाली मृतिका, उसके बाद पूजा के लिए तुलसी, कुश और कमल, इनसे शास्त्रानुसार उनकी पूजा की, ये साधन भी विना ही श्रम जैसे मिले वैसे लाए गए थे, पूजा करने के पश्चात् वैसे अन्न से भोजन कराया, जिससे सत्वगुण बढता है, वह अन्न बताते है कि शिलोच्छवृत्ति से लाए हुए चावल आदि थे, अतः शुद्ध होने से सात्विक भोजन था ॥४१॥

आभास—एवं पूजां कृत्वा दुर्लभं भगवद्दर्शनं मम कथं जातमिति मानसिकपूजार्थं तस्यालोचनमाह **स तर्कयामासेति** ।

आभासार्थ इस प्रकार पूजा कर, फिर विचार करने लगा कि, भगवान् का दर्शन तो दुर्लभ है, वह मुझे कैसे हुआ ? इसी तरह मानसिक पूजा के लिए आलोचना निम्न श्लोक में करने लगा—

श्लोक—**स तर्कयामास कुतो ममान्वभूत्**
गृहान्धकूपे पतितस्य संगमः ।
यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः
कृष्णेन चास्यात्मनिकेतभूसुरैः ॥४२॥

श्लोकार्थ—उसने विचार किया कि श्रीकृष्ण और उनके अपने आश्रय रूप भू देव, जिनके चरण रजों में सर्व तीर्थ रहते हैं, उनसे, गृह के अन्धेरे कूप में रहने वाले मेरा जो मिलाप हुआ, उसका क्या कारण है ? ॥४२॥

सुबोधिनी—साधने सति साध्यं भवति। गृहान्धकूपे पतितस्य मम साधनसम्पत्तिः सुवर्णश्रृङ्खलावत् सात्त्विकमपि गृहमन्धकूपप्रायमेव। स्वपरासद्ग्रहात्। तदेव निस्तारकं यद्भेदबुद्धिनिवर्तकं अतो गृहान्धकूपे पतितस्य कृष्णेन मुनिभिर्वा कथं संगमः। कृष्णस्य दुर्लभत्वं सर्ववादिसंमतम्। मुनीनामपि तथात्वमाह यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिरिति। ब्राह्मणपादरेणुषु सर्वाणि तीर्थानि वसन्तीति। न केवलमेतावानेवोत्कर्षः किन्त्वस्य भगवतः आत्मनः निकेतनरूपाः आश्रयभूता ये भूसुराः ब्राह्मणाः भूमावेव देवभावं प्राप्ता इति फलम्। भगवत्स्थानत्वेन साध्योत्कर्षः तीर्थत्वेन साधनोत्कर्षश्चेति ॥४२॥

व्याख्यार्थ—साधन होता है तब साध्य की प्राप्ति होती है, मेरा साधन तो गृह के अन्ध कूप में पड़ना है, अर्थात् गृह रूप अन्धकार के कूप में पड़ा हूँ यही साधन है, यदि गृह सात्विक हो तो भी अन्धकूप होने से वह सोने की शृङ्खला की तरह बन्धन ही करता है, क्योंकि अपना और पराया ऐसा असत् आग्रह रहता ही है, वह ही संसार से निकालने में समर्थ है, जो भेद बुद्धि को मिटा दे, वह गृह तो भेद बुद्धि बढाता ही है, उसमें आसक्त मेरा श्री कृष्ण से और मुनिओं से संगम कैसे हुआ ? कृष्ण से संगम दुर्लभ है, यों तो सर्व वादी मानते हैं, और मुनियों का भी संगम उसी तरह दुर्लभ है, क्योंकि उनके चरणों की रज में सर्व तीर्थ रहते हैं, मुनियों का केवल इतना ही उत्कर्ष नहीं है, किन्तु इससे भी विशेष यह है, कि वे भगवान् के निकेतन हैं अर्थात भगवान् उनमें विराजते हैं, जिससे वे पृथ्वी के देव कहे जाते हैं, यों फल है अतः मुनिओं में साधन और साध्य दोनों का उत्कर्ष है, भगवान् के वास स्थान से साध्य रूप से उत्कर्ष है और तीर्थ रूप होने से साधनोत्कर्ष है ॥४२॥

आभास—ततो भगवन्तं स्तोतुं उपक्रान्तवानित्याह **सूपविष्टानिति।**

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् की स्तुति करने का उपक्रम 'सूपविष्टान्' श्लोक में करने लगे,

श्लोक—**सूपविष्टान्कृतातिथ्यान् श्रुतदेव उपस्थितः।**
सभार्यः स्वजनापत्य उवाचाङ्घ्र्यभिमर्शनः ॥४३॥

श्लोकार्थ—आतिथ्य हो जाने के अनन्तर सुख से विराजमान हुए मुनियों के पास, स्त्री कुटुम्ब और पुत्र सहित उपस्थित होकर, भगवान् के चरणों को पकड़ के श्रुतदेव यों कहने लगा ॥४३॥

सुबोधिनी—सत्त्वसाधकत्वात् अस्यान्नस्याग्रे दुःखजनकत्वाभावात् सम्यगुपवेशनमात्रेणैव पूजासमाप्तिः सूचिता। तदेवाऽऽहकृतातिथ्यानिति। कृतमातिथ्यं येभ्यः तानुपसमीपे स्थितः सभार्यः सर्वथाप्यरक्षितसूक्ष्मांशः स्वजनाः अपत्यानि च यस्येति भार्यास्वजनापत्यसहितः ततो भगवतः अङ्घ्र्यवमर्षणः चरणं स्पृशन् वाचा स्तोत्रं कृतवानित्याह ॥४३॥

व्याख्यार्थ—श्रुतदेव का अन्न सत्व गुण को सिद्ध करने वाला होने से कभी भी दुःख का जनक नहीं होगा, भोजन के अनन्तर अच्छे प्रकार विराजमान करने से पूजा की समाप्ति की सूचना

की है, इसलिए ही कहा है कि 'कृतातिथ्यान्' जिनका आतिथ्य किया गया है, उनके पास श्रुतदेव आकर खड़ा रहा, साथ में स्त्री, स्वजन और पुत्र भी थे, वे भी वहाँ खड़े हो गए, स्त्री आदि को भगवान् से छुपा के नहीं रखे थे पश्चात् भगवान् के चरणों को छूते हुए वाणी से निम्न प्रकार स्तुति करने लगा ॥४३॥

आभास—राजवदयमपि षड्भिर्भगवन्तं स्तौति **अद्य नो दर्शनं प्राप्त** इत्यादिभिः षड्भिः ।

आभासार्थ—यह ब्राह्मण भी राजा की तरह छः निम्न श्लोकों से भगवान् की स्तुति करता है,

श्लोक—श्रुतदेव उवाच—**अद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः ।**
यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया ॥४४॥

श्लोकार्थ—श्रुतदेव ने कहा कि आप परम पुरुष हैं, आप अपनी शक्तियों से इस जगत् को रचकर अपनी ही सत्ता से इसमें प्रविष्ट हुए हैं, उस स्वरूप के तो आप ने आज ही हम को प्रत्यक्ष दर्शन दिए हैं ॥४४॥

सुबोधिनी—यथा राजा निरूपितवान् तथैव प्रथममयं निरूपयति । दर्शनं त्वद्यैव प्राप्तवानसि । नाद्य नो दर्शनं प्राप्त इति पाठः क्वचित् । अद्यैव दर्शनं प्राप्तः नोऽस्माकम् । किन्तु । यदैवात्मसत्तया सर्वत्र प्रविष्टः तदैव सर्ववस्तुषु दर्शनं प्राप्तवान् । हि युक्तश्चायमर्थः । एतादृशमेव सर्वत्र त्वां पश्यामीति । अथवा । दर्शनं चक्षुषा अद्यैव, शास्त्रतस्तु यः शक्तिभिः सृष्ट्वा आत्मसत्तया प्रविष्टः स कीदृश इति मनोरथ एव स्थितः । नतु कदाचिद्दृष्टः अद्यैव परं स दृष्ट इति ॥४४॥

व्याख्यार्थ—जैसे राजा ने प्रथम निरूपण किया वैसे ही, यह भी निरूपण करता है दर्शन तो आज ही आपने दिए हैं, किसी पुस्तक में यों 'नाद्य नो दर्शन प्राप्त' पाठ है जिसका पदार्थ होता है कि आपने आज हमको दर्शन नहीं दिए हैं, किन्तु जब ही यह सृष्टि रचकर अपनी सत्ता से सबमें प्रविष्ट हुए थे, तब ही सर्व वस्तु रूप आपका दर्शन हो गया था, 'हि' शब्द से कहते हैं कि यह अर्थ उचित है वैसे ही आपको सर्वत्र देख रहा हूँ, अथवा नेत्रों से उस स्वरूप का दर्शन तो आज ही हुआ है, आगे तो शास्त्र से सुना था कि आप परम पुरुष अपनी शक्तियों से इस अनेक नाम रूप वाले जगत् को रचकर अपनी आत्म सत्ता से उसमें प्रविष्ट हुए हो, वह आप कैसे हैं ? अर्थात् आपका मूल आनन्द स्वरूप कैसा है ? वह मनोरथ में ही स्थित था, कभी भी देखा नहीं था अब आपने कृपा कर उस स्वरूप के दर्शन कराए है ॥४४॥

आभास—नन्वेकस्य सर्वत्र कथमनुप्रवेशः संभवति । सूर्यकिरणवदनुप्रवेशे वा

कथमन्योन्याननुसन्धानम् । तादृशस्य वा कथं सत्यत्वमिति शङ्काव्युदासार्थमाह **यथा शयानः पुरुष** इति ।

आभासार्थ—एक का अनेक रूप बन जाने के बाद सर्वत्र सर्व में कैसे प्रवेश बन सकता है ? यदि कहो कि सूर्य की किरणों की भांति प्रवेश हुआ है तो परस्पर एक दूसरे का अनुसन्धान क्यों न रहे ? अर्थात् प्रत्येक यों क्यों नहीं जानता है कि जो भगवद्रूप मुझ में है वह ही सामने वाले दूसरों में भी है, ऐसा प्रवेश सत्य कैसे माना जावे ? ऐसी शङ्का को मिटाने के लिए 'यथा शयानः पुरुषः' श्लोक कहा है ।

श्लोक—**यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ।**
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते ।।४५।।

श्लोकार्थ – जैसे सोया (सोता) हुआ पुरुष, अपनी माया द्वारा मन से ही स्वप्न में अन्य लोक को रचना कर उसमें प्रविष्ट हो प्रकाश पाता है ।।४५।।

सुबोधिनी—एकं स्वप्नमेव एक एव पश्यति । यानपि जीवतः स्वप्ने पश्यति तेषामप्यनुसंधानं नास्ति स्वप्नश्च मायिक इति सिद्धम् । ततश्च स्वप्ने यावन्तो गजतुरगादयो दृश्यन्ते तेषामपि चैतन्यान्तराभावात् द्रष्टुरेव चैतन्यं संक्रान्तमिति मन्तव्यम् । श्रुतौ भगवच्चैतन्यमित्युक्तम् । प्रकृते जीवब्रह्मणोर्वैलक्षण्यं न निरूप्यत इति पदार्थनिरूपणे जीववादो वा ब्रह्मवादो वा नातिरिच्यते, दोषनिरासगुणाधानभेदेन मतद्वयस्य समर्थितत्वात् । अतो जीवः स्वयमेव स्वाप्नं सृष्ट्वा तत्रानुप्रविष्टः स्वात्मानमेकदेशस्थं मन्यते, अन्योन्यानभिज्ञश्च भवति परमेतावान् विशेषः, तदज्ञानसृष्टं इदं ज्ञानसृष्टमिति । अतो भगवान् जानाति, जीवस्तु न जानातीति प्रकारस्तुल्य एव । तदाह यथा शयानः पुरुषः आत्ममायया सामग्र्या मनसैव करणेन इमं च लोकं परं च सृष्ट्वा अस्माल्लोकात्परं भिन्नं स्वाप्नं ततस्तमेवानुविश्य, अवभासते देवतिर्यगादिरूपेण । अनेनैक एव भगवान् सर्वत्र भासते । परं सोद्यं व दृष्ट इति ।।४५।।

व्याख्यार्थ—एक पुरुष ही एक स्वप्न को देखता है, जिन जीवित प्राणियों को स्वप्न में देखता है, उनका भी उसको अनुसन्धान नहीं रहता है, स्वप्न मायिक है, तो भी उस समय देखने में आने वाले जीवों में एक ही चैतन्य है, जो स्वप्न देखने वाले में है, स्वप्न में जितने भी गज, अश्व आदि दिखते हैं उनमें भी दूसरा कोई चैतन्य नहीं है, क्योंकि श्रुति में भगवच्चैतन्य ही कहा गया है, इस चालू प्रसङ्ग में जीव और ब्रह्म के भेद का निरूपण नहीं किया गया है, पदार्थों का जब निरूपण किया जाता है तब जीव और ब्रह्म का भेदवाद वहां नहीं रहता है, जब दोषों का निरास और गुणों का आधान करने में आता है तब दोनों मतों का समर्थन किया जाता है, अतः जीव स्वयं ही स्वप्नसृष्टि रचकर उसमें प्रविष्ट होकर भी अपनी आत्मा को एक देश में स्थित मानता है, परस्पर अनजान रहता है, किन्तु इतना भेद है कि वह जीव की सृष्टि अज्ञानकृत है और यह भगवत्सृष्टि ज्ञान कृत है, अतः भगवान् इस कृति को समझते हैं, जीव नहीं जानता है, शेष रचना और प्रवेश का प्रकार समान ही है, वह दृष्टान्त देकर समझाते है, जैसे सोया हुआ पुरुष अपनी

माया रूप सामग्री से, मनरूप करण द्वारा इस लोक और परलोक की रचना कर, अर्थात् इस लोक से अन्य स्वाप्निक लोक को बना के बाद में उसमें प्रवेश कर देव और तिर्यग् आदि रूप से प्रकाशता है, वैसे एक ही भगवान्, जो सर्वत्र प्रकाशते हैं, उनके प्रत्यक्ष दर्शन आज ही हुए हैं ।।४५।।

आभास—ननु दर्शनसाधनानि बहूनि श्रूयन्ते को विशेष इति चेत्, तत्राह **शृण्वतां गृणतामिति** ।

आभासार्थ—यदि कहो, कि दर्शन के साधन अनेक हैं उनमें कौनसा साधन विशेष है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'शृण्वतां गृणतां' श्लोक में कहा है,

श्लोक—**शृण्वतां गृणतां शश्वदर्चतां त्वाऽभिवन्दताम् ।**
नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ।।४६।।

श्लोकार्थ—जो पुरुष निरन्तर आपके गुणादि का श्रवण करे, कीर्तन करे, आपकी ही पूजा करे, आपको ही प्रणाम करे, आप सम्बन्धी ही मनुष्यों के साथ चर्चा करे, उन शुद्ध अन्तःकरण वालों के हृदय में, आप प्रकाशित होते हैं ।।४६।।

सुबोधिनी—ये पञ्चविधां भक्तिं कुर्वन्ति तेषां हृदये भासते न तु बहिः, मम तु बहिरपीत्वाधिक्यम् । सवदतामिति स्मरणं, सम्यग्वदतामिति कीर्तनं वा । तदा गृणन् उच्चारयन् । सर्वदा भगवन्नामोच्चारणं कर्तव्यमिति । शश्वदित्युभयत्र संबध्यते । नाम्नि द्वयं रूपे च द्वयमिति । उभयविधस्य संवदनं पञ्चमो । तेषां हृदि अन्तः तत्रापि सूक्ष्मतया भासि । ननु को विशेषः सर्वत्र वर्तसे तथापि तेषामेव हृदये भासीति तत्राह अमलात्मनामिति । विद्यमानोऽपि मलिनदर्पण इव न प्रकाशसे । श्रवणादीनां तु चक्षुःसंस्कारकत्वं चित्तसंस्कारकत्वं च । यथा केचन गुणाः दर्पणशोधकाः । केचन दृष्टिशोधका इति । तदुभयमत्रोक्तम् । अमलात्मनामिति रूपस्य दृष्टिशोधकत्वं नाम्नोऽन्तःकरणशोधकत्वमिति निर्णयः ।।४६।।

व्याख्यार्थ—जो पाँच प्रकार से भगवान् की भक्ति करते हैं, उनके हृदय में भगवान् भीतर ही प्रकाशते हैं, बाहर दर्शन नहीं देते हैं, मुझे तो बाहर ही दर्शन दे रहे हैं यह विशेषता है, 'संवदताम्' पद से स्मरण और इसका दूसरा अर्थ कीर्तन भी है, अथवा स्मरण और कीर्तन भक्ति करने वाले तथा भगवान् के नामों का सर्वदा उच्चारण करने वाले निरन्तर पद कह कर यह बताया है कि इस प्रकार यह भक्ति नाम और रूप दोनों से सम्बन्ध रखती है, ऐसे भक्तों के हृदय में आप सूक्ष्मता से प्रकाशते हैं, इसमें क्या विशेषता है ? जबकि आप सर्वत्र हैं, तो भी उनके ही हृदय में प्रकाशते हैं जिसके उत्तर में कहते हैं कि वे निर्मल[1] अन्तःकरण वाले होते हैं जिनका हृदय मलवाला है, उनके हृदय में विराजते हुए भी प्रकाशते नहीं अर्थात् दर्शन नहीं देते हैं, जैसे मलीन दर्पण में बिम्ब का दर्शन नहीं होता है, श्रवणादि भक्ति नेत्र और चित्त आदि को निर्मल करती है, जैसे कितने गुण

---

[1] —मल रहित शुद्ध अन्तःकरण वाले है,

दपर्ण को साफ करते हैं, कितने नेत्र के शोधक हैं, वे दोनों यहाँ कहे हैं, रूपदृष्टि के शोधक हैं और नाम अन्त:करण के शोधक हैं, इस प्रकार निर्णय है। ४६॥

आभास—अन्येषां तु हृदये बतमानोऽपि न भासस इत्याह **हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थ** इति।

आभासार्थ—अन्यों के हृदय में विराजते हुए भी प्रकाशते[1] नहीं हो यह निम्न श्लोक में कहते हैं,

श्लोक—**हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम्।**
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यभ्युपेतगुणात्मनाम्॥४७॥

श्लोकार्थ—यद्यपि आप हृदय में विराजते हैं, तो भी विक्षिप्त मन वाले पुरुषों के लिए बहुत दूर हो, अपने अन्तःकरण की शक्तियों से आपको कोई ग्रहण नहीं कर सकता है और जिन पुरुषों ने गुणों को ही आत्मा समझ लिया वे भी आपको ग्रहण नहीं कर सकते हैं॥४७॥

सुबोधिनी—कर्मणा विक्षिप्तं चित्तं येषाम्। न हि जलप्रतिबिम्बो जले चलति दृश्यते। यथातिदूरस्थो न दृश्यते तथा न दृश्यत इति धर्मसाम्यार्थं दूरस्थत्वं, अन्यथा दूरस्थोऽपि दृश्यत इति भगवद्दर्शनमुक्तं स्यात्। ननु कर्मविक्षेपे को दोषः संपद्यते येन हृदिस्थो न दृश्यत इति चेत्त्राह आत्मशक्तिभिरग्राह्य इति। यद्यपि अन्तःकरणादिषु भगवच्छक्तय एव भगवद्ग्राहिकाः सन्ति ताश्चेत्स्थिरा भवन्ति तदा भगवन्त पश्यन्ति, कर्मविक्षेपे तु शक्तीनामन्यत्र विनियोगाद्भगवद्दर्शनं बाधितमित्यर्थः। तदा आत्मशक्तिभिरग्राह्यो भवतीति हेतुः। शुद्धानामपि कर्मविक्षेपे भगवददर्शनमुक्तम्। नन्वेवं सति जडानां कर्मविक्षेपरहितानां भगवद्दर्शनं स्यादित्याह अभ्युपेतगुणात्मनामिति। आभिमुख्येनाभितः सर्वतो वोपेताः स्वीकृताः गुणा एव आत्मा येन। भगवान् गुणाश्चेति कोटिद्वयम्। सत्त्वादीनामात्मत्वे जडो भवति जडात्मस्वीकारात्। भगवत आत्मत्वग्रहणे चेतनो भवति। अतो यैर्जडात्मता स्वीकृता तेषामप्यग्राह्य इत्यर्थः॥४७॥

व्याख्यार्थ—कर्म से जिनका चित्त विक्षेप वाला हो गया है वैसे पुरुषों को आपके दर्शन नहीं होते हैं। जैसे जिस समय जल चलायमान होता है, उस समय जल में पड़ी हुई परछाई (प्रतिबिम्ब) दीखती नहीं है, जैसे बहुत दूर स्थित पुरुष देखने में नहीं आता है, वैसे ही भगवान् के भी दर्शन नहीं होते हैं, धर्म की समानता के लिए दूर होना कहा है यदि धर्म की समानता न होवे तो दूरस्थ भी देखने में आजावे, यदि यों कहो तो कहते हैं कि 'आत्मशक्ति भिरग्राह्यः' अन्तकरणादि में जो भगवान् की शक्तियाँ है वे भगवान् का ग्रहण करती है अर्थात् दर्शन कर सकती है वे तब ग्रहण कर सकती है जब वे स्थिर होती हैं, यदि वे कर्म से विक्षिप्त होके भगवद् अतिरिक्त पदार्थों में आसक्त हो

---

[1] —दर्शन नहीं देते हो अर्थात् उनसे दूर हो

जाती हैं,तब भगवद्दर्शन में रुकावट हो जाती है अर्थात् तब उनकी अपनी अन्तःकरण की शक्तियों से भगवद्दर्शन नहीं हो सकता है शुद्ध होते हुए भी यदि कर्म से विक्षेप वाला हो जाय तो भगवद्दर्शन नहीं कर सकता है तब तो जो जड़ हैं, जिनको कर्म से विक्षेप होता ही नहीं है, उनको भगवान् का दर्शन होना चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'अभ्युपेतगुणात्मनां' जिन्होंने गुणों को आत्मा रूप से ग्रहण किया है, उनको भी भगवान् के दर्शन नहीं होते हैं, जड़ों ने गुणों को आत्म स्वरूप से ग्रहण किया है अतः उनको दर्शन हो नहीं सकता, तात्पर्य यह है कि जो जीव सत्वादिगुणों को आत्म स्वरूप मानते हैं वे जड़ हो जाते हैं। भगवान् को आत्म रूप जानने वाले चेतन होते हैं, अतः जिनने जड़ात्मत्व स्वीकार किया है उनको भी आप अप्राप्त हैं ॥४७।

आभास—एवं भगवतो दुर्लभं दर्शनमिति समर्थयित्वा तस्मिन् जाते प्रत्युपकारार्थं बहु कर्तव्यमिति विचार्य अन्यस्याशक्यत्वात् नमस्कारमेव करोति **नमोऽस्तु त** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के दर्शन दुर्लभ हैं यों समर्थन कर, उस दुर्लभ दर्शन की प्राप्ति हुई, जिसका बदला चुकाने के लिए बहुत कर्त्तव्य हैं, यों विचार कर अन्य करने की शक्ति नहीं होने से 'नमोस्तु' श्लोक से नमस्कार करता है।

श्लोक—**नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने**
अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।
सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे
स्वमायया संवृतरुद्धदृष्टये ॥४८॥

श्लोकार्थ—जो अध्यात्म जानने वाले हैं, उनकी आप परात्मा हैं, अर्थात् जो ब्रह्म की एकात्मता जानते हैं, उनकी आप परम आत्मा हैं, जिनकी दूसरी आत्मा नहीं है, अर्थात् जो स्वयं आत्ममानी ज्ञानी हैं उनकी आप ही आत्मा हैं, और जो आत्मा में भेद मानते हैं उनके लिए आप मृत्यु रूप हैं, आप भगवान् नित्य स्वरूप हैं तो भी अनित्य जो काल आदि जगत् है, उसको भी धारण करते हैं, फिर भी अपनी माया से आत्मस्वरूप को प्रच्छिन्न कर रखा है ॥४८॥

सुबोधिनी - कीदृशो भगवानिति संदेहे नमस्करणीयनिर्द्धारमाह अध्यात्मविदां परात्मन इति। ये अध्यात्मविदः ब्रह्मात्मत्वैकत्वविदः तेषामात्मानुभवयुक्तानां पर उत्कृष्टः आत्मा आत्मनामात्मेति। ननु ब्रह्मविदामात्मनामात्मा चेद्भगवान् तदा भगवतोप्यन्य आत्मा स्यादत आह अनात्मन इति। न विद्यते अन्यः आत्मा यस्य। एवं ये ज्ञाननिष्ठाः तेषामात्मत्वेन प्रकाशमानत्वमुक्त्वा ये न ज्ञानिनः तेषामयमेव कालरूपेण मृत्युं प्रयच्छतीत्याह स्वात्मविभक्तमृत्यव इति। स्वात्मन्येव ये विभक्ताः आत्मभेदं कृत्वा स्थिताः तेषां मृत्युः। 'ब्रह्म तं परादात्' इत्यादि श्रुतिभिः ब्रह्मक्षत्रादिरूपत्वादात्मनः आत्मघाती दण्ड्य इति तादृशस्य वधं करोतीति युक्तमेव। ज्ञानिनां तु ज्ञानोत्तर पूर्वकृतदोषनिवृत्तिः। भक्तावपि भगवत्स्मरणादिना तन्नाशः। ननु

भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तथाङ्गीकर्तुः को दोष इति चेत् तत्राह सकारणाकारणलिङ्गमीयुष इति। एक एव भगवान् नित्यमनित्यं च जगद्रूपं शरीरं गृह्णाति। कालादयो नित्याः, घटादयो अनित्या इति। उभयमपि भगवच्छरीरम्। नन्वेवं सति कथं सर्वो न प्रतिजानीते तत्राह स्वमायया संवृतरुद्धदृष्टय इति। स्वमायया कृत्वा उभयशक्तिरूपया कृत्वा आत्मा संवृतः, ज्ञानशक्तिश्च रुद्धा, यथेन्द्रियं पिधत्ते, घटं चाच्छादयति! अन्यथा आत्मप्रकाशेनैवातिपुष्टेन पिहितेपि ज्ञाने प्रकाशः स्यात्। ज्ञानापिधाने वा पिहितमप्यात्मानं पश्येत्। अत उभयं मायाकार्यम्।४८।

व्याख्यार्थ--नमन करने योग्य भगवान् किस प्रकार के हैं ? जिसका निर्णय करते हैं, ब्रह्म और जीव की एकात्मता जानने वालों की अर्थात् जो आत्मा का अनुभवी है उनको आप उत्कृष्ट आत्मा हैं अर्थात् आत्माओं की मूल आत्मा भगवान् आप हैं। यदि ब्रह्म वेत्ताओं को आत्मा की आत्मा भगवान् हैं तो भगवान् की भी आत्मा कोई अन्य होनी चाहिए, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'अनात्मनः' जिस भगवान् की अन्य आत्मा नहीं है, इस प्रकार जो ज्ञाननिष्ठ हैं उनको आत्मत्वेन प्रकाशमान कहकर कर अब कहते हैं कि जो ज्ञानी नहीं हैं, उनके लिए यह ही काल रूप से मृत्यु देते हैं, 'स्वात्म विभक्त मृत्यव इति' अपनी आत्मा में ही जो विभक्त हैं, अर्थात् आत्मा में भेद करते हैं उनके लिए मृत्यु हैं, जिसमें प्रमाण 'ब्रह्म तं परादात्' आदि श्रुतियों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि रूप आत्मा हैं इस प्रकार भेद दृष्टि वाले आत्मा की हत्या करने वाले दण्ड के योग्य हैं, इस कारण से भगवान् ऐसे पुरुषों का वध करते हैं, यह उचित ही है, इस कारण से भगवान् ऐसे पुरुषों का वध करते हैं, यह उचित ही है, ज्ञान होने के अनन्तर ज्ञानिओं के पूर्व दोष नष्ट हो जाते है, भक्ति में भी भगवत्स्मरण से पहले किये हुए दोष मिट जाते हैं, भेद तो प्रत्यक्ष दिख रहा है, इस भेद को जिसने मान लिया उसने कौनसा दोष किया ? जिसके उत्तर में कहते है कि 'सकारणाकारणलिङ्ग मीयुष इति' एक ही भगवान् नित्य हैं, वह ही अनित्य जगत् रूप शरीर धारण करते हैं, काल आदि रूप नित्य हैं और घट आदि अनित्य हैं, दोनों शरीर भगवान् के हैं। यदि यों है तो सब क्यों नहीं इस प्रकार जानते हैं ? जिसका समाधान करते हैं कि उभय शक्ति रूप अपनी माया से आत्मा का आच्छादन कर दिया है और दृष्टि को रोक रखी है, इस प्रकार ज्ञान शक्ति तिरोहित कर दी है, जिससे इन्द्रिय को बन्द कर दिया है, और घट को ढक दिया है, नहीं तो अतिपुष्ट आत्म प्रकाश से ही, ज्ञान तिरोहित होते हुए भी प्रकाश हो जाए अर्थात् आत्मा देखी जाए, अथवा ज्ञान दृष्टि रुकी हुई न हो आच्छादित भी आत्मा दृष्टि गोचर हो सके, अतः यह दोनों कार्य माया के हैं ।।४८।।

आभास—एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा नमस्कृत्य तादृशं प्रार्थयते स त्वं शाधीति।

आभासार्थ—इसी तरह भगवतस्वरूप का वर्णन कर, ऐसे भगवान् को नमनकर 'स त्वं शाधि' श्लोक में प्रार्थना करता है,

श्लोक—स त्वं शाधि स्वभृत्यान्नः किं देव करवाम ते।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षगोचरः ।।४९।।

श्लोकार्थ—हे देव ! वैसे आप अपने सेवकों की रक्षा करो, हम सेवक आपकी

क्या सेवा करें ? वह आज्ञा दीजिए, आपके दर्शन होने से ही मनुष्यों के क्लेश कट जाते हैं ॥४९॥

सुबोधिनी — स्वभृत्यानित्याज्ञापनावश्यकत्वम् । शास्त्रद्वारा कर्तव्यमुपदिष्टमिति चेत्, तत्राह किं देव करवाम त इति तुभ्यं किं करवाम । शास्त्रे तु स्वार्थं निरूपितम् । ननु स्वार्थमेव क्रियतां किं मदर्थेनेत्याशङ्क्याह एतदन्तो नृणां क्लेश इति । एतादृशदर्शनान्त एव प्राणिनां दुःखानुभवः । न हि प्रसन्ने भगवति दृष्टे कस्यचिद्दुःखं संभवति । अतः स्वार्थं नापेक्ष्यत इति दासत्वात्स्वामिकार्यमेव कर्तव्यमत आज्ञापयेत्यर्थः ॥४९॥

व्याख्यार्थ—हम आपके दास है इसलिए सेवा के लिए आज्ञा देनी आपको आवश्यक है, यदि कहो कि शास्त्र द्वारा कर्त्तव्य का उपदेश दे दिया है, इस पर मेरा कहना यह है, कि सत्य है, किन्तु वहाँ तो हमारे अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए कर्त्तव्यों का उपदेश दिया है, यदि कहो कि अपने लिए ही करो, तो इसका उत्तर यह है कि वे कर्त्तव्य हमारे क्लेशों के नाशार्थ हैं, जबकि आपके आनन्दमय स्वरूप के साक्षात् दर्शन हुए हैं तब सर्व प्रकार के क्लेश कट गए, फिर उन कर्त्तव्यों की आवश्यकता नहीं. अब तो हम सेवकों को जो कुछ करना चाहिए वह आपके लिए और आप की आज्ञानुसार करना चाहिए, अतः आज्ञा दीजिए क्या करें ॥४९॥

आभास—भगवांस्तु तस्येच्छालक्षणदुःखदूरीकरणार्थं स्वस्य सेवां निरूपयतीत्याह तदुक्तमिति ।

आभासर्थ—भगवान् के सेवक को जो इच्छा है वह पूर्ण न होगी, तो उसको दुःख होगा यों जानकर उस दुःख के नाशार्थ अपनी[1] सेवा का निरूपण किस प्रकार किया हैं वह 'तदुक्त मित्युपाकर्ण्य' श्लोक में शुक कहते हैं,

श्लोक—श्रीशुक उवाच – **तदुक्तमित्युपाकर्ण्य भगवान्प्रणतार्तिहा ।**
गृहीत्वा पाणिना पाणि प्रहसंस्तमुवाच ह ॥५०॥

श्लोकार्थ श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि श्रुतदेव के ऐसे वचन सुनकर शरणागत भक्तों के दुःख हर्त्ता, भगवान् हँसते हुए अपने हाथ से उसके हाथ को पकड़ उसको कहने लगे ॥५०॥

सुबोधिनी—गृहीत्वा पाणिना पाणिमिति स्वतुल्यता निरूपिता । ततो यत्स्वकर्तव्यं तदेवोपदेक्ष्यति न सेवककर्तव्यमिति लक्ष्यते । प्रहसन्निति कृतकृत्यत्वात् न तव किञ्चित् कर्तव्यं, येनैतावत्त्वं जातं कर्तव्यं चेत् तदेव कर्तव्यम् । इदं च फलम् । तथापि यत् पृच्छति, तदा यथा मया लोकसंग्रहार्थं क्रियते व्यामोहार्थं वा तथायमपि करोत्विति भावः । हेत्याश्चर्ये । एतादृशमपि भगवान् स्वसेवायां न प्रेरयतीति स्वसेवाया दुर्लभत्वं द्योतितम् ॥५०॥

---

[1] १—अपने रूप मुनियों की

व्याख्यार्थ—भगवान् ने अपने हाथ से उसके हाथ को पकड़ कर यह दिखाया है कि यह भक्त मेरे समान है यों करने का गूढ भावार्थ यह दिखता है कि अब भगवान् उसको, जो अपना कर्त्तव्य है, वही कहेंगे. न कि सेवक का कर्त्तव्य । भगवान् हँसने लगे, जिसका भाव यह है. कि अब तूं कृतकृत्य हो गया है, अतः तेरे लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, फिर यदि करता है, तो जिससे यह फल प्राप्त हुआ वह ही कर्तव्य है, वह फल भगवान् का दर्शन है. फिर भी यदि श्रुतदेव पूछ रहा है तो जैसे मै लोक सङ्ग्रहार्थ अथवा उनको मोहित करने के लिए कर्म कर रहा हूँ. वैसे यह भो करे, वैसा भाव है 'ह' पद आश्चर्य अर्थ में दिया है, जिसका भाव है कि आश्चर्य है कि प्रभु श्रुतदेव जैसे भक्त को भी अपनी सेवा का उपदेश नहीं देते है, जिससे जाना जाता है कि 'सेवा'[1] दुर्लभ है ॥५०॥

आभास – अत्र भगवानिति मन्यते । समागता ब्राह्मणाः तांश्चायमात्मतुल्यान् मत्वा तथा न मन्यते तदा समागतानां क्षोभो भवेत्, स मा भवत्विति तेषां संबोधयति । समता तु स्वस्मिन्नेव स्थापिता । अतोऽहं परं तथा न पूजनीयः किन्त्वेत एव पूजनीया इत्युपदिशति **ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थायेति** सप्तभिः।

आभासार्थ—यहां भगवान् को यह विचार हुआ कि मेरे साथ आए हुए इन ब्राह्मणों को श्रुतदेव अपने समान समझ इनकी पूजा न करेगा तो इनको दुःख होगा, वह दुःख इनको न होवे, इसलिए प्रभु श्रुतदेव को इन ब्राह्मणों का स्वरूप बताते हैं, इस (श्रुतदेव) की अपने साथ जो समानता भगवान् ने की है वह गुप्त रखी है, इस वास्ते 'ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय' श्लोक से लेकर सात श्लोकों में उपदेश देते हैं कि हे श्रुतदेव ! मैं विशेष पूजा योग्य वैसा नहीं हूँ, जैसे कि, ये ब्राह्मण पूजा के योग्य हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय संप्राप्तान्विद्धयमून्मुनीन् ।
संचरन्ति मया लोकान्पुनन्तः पादरेणुभिः ॥५१॥**

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा कि, हे ब्रह्मन् ! इन मुनियों को अपने पर अनुग्रह करने के लिए आया हुआ जान, ये मुनि अपने चरण रजों से लोगों को पवित्र करते हुए मेरे साथ विचरण कर रहे हैं ॥५१॥

सुबोधिनी—यावान् धर्मः स्वस्य सर्वश्रुतिप्रतिपाद्यः तावान् ब्राह्मणेषु निरूप्यते । तद्रूपोऽपि भगवानिति वाक्यं न बाधितविषयम् । इमान् मुनीन् तेऽनुग्रहार्थाय समागतान् विद्धि न तु प्रसङ्गात्, अन्यार्थं ते वा समागताः । ननूभयोः समागमनं प्राधान्येन कथमेकस्मिन्कार्ये संभवतीति चेत्तत्राऽऽह सञ्चरन्ति मया लोकानिति । मया सह एते लोकान् सञ्चरन्ति । तेन सहभावो मम प्राधान्यमेतेषामेवेति निरुक्तम् । एतेषां पावनप्रकारमाह पादरेणुभिरिति ॥५१॥

व्याख्यार्थ—श्रुतियों ने जितने गुण भगवान् के वर्णन किए हैं, उतने धर्म ब्राह्मणों में हैं यों

---

[1] –सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः अर्थात् सेवा धर्म अति गहन है जो कि योगियों को भी अगम्य है ।

भगवान् निरूपण करते हैं, यों कहने से मुनिरूप भी 'भगवान् ही हैं इस विषय में रुकावट नहीं आती है, इन मुनियों को अपने पर अनुग्रह करने के लिए आए हुए जान न की यों ही किसी प्रसङ्ग से आए हैं, यों मत जान अथवा दूसरों के लिए आए होंगे यों भी न जान दोनों का मुख्यपन से आना कैसे माना जाए ? जब कि कार्य एक ही है, जिसके उत्तर में कहते हैं कि ये मेरे साथ लोकों में सब को पवित्र करने के लिए भ्रमण कर रहे हैं, अतः मुख्यता इनकी है, मेरा तो मात्र साथ है, कैसे पवित्र करते हैं ? जिसके लिए कहते हैं कि 'पाद रेणुभिः' चरणों की रजों से पवित्र करते हैं ॥५१॥

आभास—नन्वन्यान्यपि लोके पावनानि सन्ति क एतेषामेवाग्रह इति चेत्तत्राऽऽह **देवा क्षेत्राणीति** ।

आभासार्थ—लोक में अनुग्रह करने वाले तो दूसरे भी हैं, ये ही अनुग्रह करते हैं वैसा आग्रह क्यों ? यदि यों कहो तो निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः ।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥५२॥

श्लोकार्थ—देव, क्षेत्र और तीर्थ शनैः शनैः (धीरे धीरे) दर्शन स्पर्शन और पूजन से बहुत समय पा कर पवित्र करते हैं; वह भी महत्तम पुरुषों की दृष्टि पड़ने से होता है ॥५२॥

सुबोधिनी—देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि च त्रयो लोके पावनहेतवः । कालस्याप्येतच्छेषेणैव पावनजनकत्वम् । स्नानान्त एव सूतकादावपि शुद्धेः द्रव्याणां देश एवान्तर्भावः । कर्तारस्तु प्रकृताः मन्त्रकर्मणोरपि देवतास्वन्तर्भावः तादर्थ्यात् । एवं शुद्धिहेतूनां षण्णामपि अत्रैवान्तर्भावात् त्रय एव निरुक्ताः । ते दर्शनस्पर्शनार्चनैः पुनन्ति । दर्शनं सर्वेषां, दर्शनस्पर्शने तीर्थस्य, त्रितयं देवतायाः, एवमप्येते शनैरेव पुनन्ति । तत्र हेतुः कालेनेति । कालो हि **पृथक्** शुद्धिहेतुः । अन्यथा दशाहादर्वागपि तीर्थस्नानादिना पुरुषः शुद्धो भवेत् । तस्मात् यावता कालेन शुद्धिर्भवति तावत्कालेनैव तीर्थादिना शुद्धो भवति । ब्राह्मणास्तु सद्यः शुद्धिहेतवः, तेषां वाक्यात् अत्यन्तनिकृष्टमपि शुद्धं भवति । 'आकरस्थं सदा शुचिः' 'स्नेहपक्वं न दुष्यति' 'प्रयतेन शूद्रेणाप्याहृतं भोज्यम्' इत्यादिवाक्यानि निर्विचिकित्सं सर्वेषां शुद्धिप्रतिपादकानि । तस्मात् क्षेत्रादिभ्यो ब्राह्मणाः श्रेष्ठाः। किञ्च, तदपि तीर्थादिकृतमपि अर्हत्तमस्येक्षया दृष्ट्यैव भवति । सर्वत्र ब्रह्मदृष्टं समं भवेत् ॥

व्याख्यार्थ—लोक में देव, क्षेत्र और तीर्थ, ये तीन पवित्र करने में हेतु हैं अर्थात् पवित्र करने वाले हैं, काल भी इनके शेष रूप, से ही पवित्र करने वाला है, सूतक आदि में स्नानान्तर ही शुद्धि होती है, द्रव्यों का देश में ही अन्तर्भाव है, कर्ताओं की शुद्धि का यहाँ विचार किया जाता है अतः उनकी गणना शुद्धि करने वालों में नहीं की जा सकती है, मन्त्र और कर्म के देवता में अन्तर्भाव है, क्यों कि उनके लिए ही ये कहे वा किए जाते है, इस प्रकार शुद्धि करने वाले ६ का इनमें अन्तर्भाव हो जाता है अतः तीन ही कहे हैं, वे तीन दर्शन, स्पर्श और पूजन से पवित्र करते हैं, उनका प्रकार

कहते हैं, दर्शन पवित्र करता है, तीर्थ का दर्शन और स्पर्श करने से पवित्रता सबको होती है, देवता के दर्शन, स्पर्श और पूजन ये तीन ही पवित्र करते हैं, इस प्रकार करते हुए भी ये धीरे धीरे पवित्र करते हैं, जिसका कारण 'काल' कहा है काल भी पृथक् शुद्धि करने वाला है, यदि काल अलग स्वयं शुद्धि करने वाला न होवे तो आशौच में तीर्थ स्नान करने से शुद्धि हो जावे वह नहीं होती है, जिससे यह निश्चित सिद्धान्त है, कि काल भी शुद्धि करने वाला है आशौच के १० दिन पूर्ण हो जाने के बाद तीर्थ स्नान पवित्र करता है, सारांश यह है, कि जितने काल से शुद्धि होने वाली है, उतने समय से ही तीर्थादि से लोक शुद्ध हो सकता है, ब्राह्मण तो शीघ्र ही शुद्ध करने वाला है, उनके वचन मात्र से बहुत नीच भी शुद्ध हो जाता है, 'खान में रहा हुआ पदार्थ शुद्ध है' 'घृत से पकाया हुआ अन्न छुवा जाता नहीं' 'संयम वाला शूद्र भोजन ले आवे तो वह खाया जा सकता है' आदि वाक्य बिना संशय के शुद्धि प्रतिपादक हैं, इसी कारण से क्षेत्र आदि से ब्राह्मण उत्तम है, और तीर्थ आदि भी जो पवित्र करते हैं उनमें भी महापुरुषों की दृष्टि ही हेतु है सर्वत्र ब्राह्मण की दृष्टि पड़ने से शुद्धि हो जाती है, जैसे कि कहा है—

सुबोधिनी—'अभ्यनुज्ञाविहीनं हि ब्राह्मणानां विशेषतः ।
सर्वं निःफलतां याति व्रतदानार्चनादिकम्' इति ।।५२।।

व्याख्यार्थ—सम्मति[1] के बिना विशेषकर ब्राह्मणों की सम्मति के बिना किया हुआ व्रत, दान और पूजन आदि सर्व निष्फल होता है ।।५२।।

आभास—ननु ब्राह्मणस्योत्कर्षहेतुर्यः स चेदन्यत्रापि भवेत् किं ब्राह्मणेनेत्याशङ्क्याह **ब्राह्मणो जन्मना श्रेया**निति ।

आभासार्थ—जो हेतु ब्राह्मणों की उत्कर्षता बताता है वह अन्यत्र भी हो तो फिर ब्राह्मण को विशेष क्यों माना जावे ? इस शङ्का का उत्तर 'ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्' श्लोक में देते हैं,

श्लोक—**ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्सर्वेषां प्राणिनामिह ।**
तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ।।५३।।

श्लोकार्थ—इस जगत् में सर्व प्राणियों में ब्राह्मण जन्म से उत्तम है, फिर यदि तपस्या, विद्या और संतोष तथा मेरी कला से युक्त हो तो क्या कहना ? सुवर्ण में सुगन्ध हो जावे ।।५३।।

सुबोधिनी—उत्पन्न एव ब्राह्मणः सर्वेभ्यो वर्णेभ्योऽतिरिच्यते । **सर्वेषां प्राणिनां** पूज्यो भवति । तत्रापि **तपसा विद्यया** तुष्ट्या इति **तुष्ट्या** । एवं त्रिभिरेव महत्त्वं सिद्ध्यति । **तपसा** देहमाहात्म्यं, **विद्यया** चेन्द्रियाणां, **तुष्ट्या** त्वन्तःकरणस्येति । अनेन गुणत्रयमपगच्छति । सर्वो-

---

[1] —कोई भी यदि सत्कर्म किया जावे तो बड़ों की और विशेष रूप से ब्राह्मणों की आज्ञा लेनी चाहिए ।

त्कृष्टमपरं हेतुमाह **किमु मत्कलयेति** मत्कला भगवदीयत्वं भक्तिर्वा । तद्युक्तः **श्रेयान्** भवति किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥५३॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण जन्मते ही सर्व वर्णों से उत्तम हो जाता है, अर्थात् सर्व प्राणिओं को उसकी पूजा करनी पड़ती है उसमें भी यदि तप विद्या और सन्तोष वाला हो जावे तो विशेष महत्व वाला बन जाता है । तपस्या से देह का माहात्म्य (महत्व), विद्या से इन्द्रियों की महानता, संतोष से अन्तःकरण की उत्तमता प्राप्त करता है, इस प्रकार तप विद्या और सन्तोषवान होने से तीन गुणों* का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता है, ब्राह्मण की उत्तमता का सबसे उत्कृष्ट दूसरा हेतु देते हैं, 'मत्कलया' मेरी कला, भगवदीयपन वा भक्ति से वह युक्त हो इन गुणों से युक्त ब्राह्मण हो तो कहना ही क्या ॥५३॥

आभास—ननु तथापि त्वत्सेवकाः त्वामेव भजन्ते, उत्कर्षापकर्षं न मन्यते यथः स्त्री स्वपतिमेवोत्कृष्टं मन्यते न त्वन्यं महान्तमपि । तस्मात्कथं ब्राह्मणा भक्तानां सेव्या इति चेत्, तत्राह **न ब्राह्मणान्मे दयित**मिति ।

आभासार्थ—जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति की ही सेवा करती है वह उत्तम हो वा अधम हो वैसे आपके भक्त आपकी ही सेवा करना चाहते हैं, उत्कृष्ट वा अपकृष्ट देखते ही नहीं है ऐसी परिस्थिति में भक्तों को ब्राह्मण की सेवा करनी चाहिए यह कैसे बन सकता है, इस पर निम्न श्लोक कहते है !

श्लोक—**न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।**
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥५४॥

श्लोकार्थ—वह चतुर्भुज स्वरूप भी मुझे ब्राह्मणों से विशेष प्यारा नहीं है क्योंकि सर्व वेद रूप ब्राह्मण हैं और मैं सर्व देव रूप हूं ॥५४॥

सुबोधिनी—मत्सेवकैर्मद्धितं कर्तव्यं, मम तु प्रीतिः स्वस्माद्ब्राह्मण एवाधिका तत्र हेतुः, 'सर्वदेवमयो विष्णुः' सर्ववेदमयो विप्र इति । सर्वे वेदा ब्राह्मणे तिष्ठन्ति, देवास्तु मयि । प्रमेयाच्च प्रमाणमधिकम् । मानाधीना मेयसिद्धिरिति । अनेनान्तर्हृदयमपि ज्ञापितम् । प्रमेयबल मया क्व क्व प्रकटीकर्तव्यं, अतः प्रमाणभूता एत इत्येतदनुरोधः क्रियत इति युक्तश्चायमर्थः ॥५४॥

व्याख्यार्थ—मेरे सेवकों को मेरा हित[1] करना चाहिए, मेरा प्रेम तो अपने से भी ब्राह्मण में विशेष है, जिसमें कारण यह है कि 'सर्वदेवमयो विष्णु' भगवान् सर्व देव रूप है. 'सववेदमयोविप्रः'[2] सर्व वेद ब्राह्मण में रहते हैं, देव मुझ में रहते हैं, प्रमेय[3] से प्रमाण अधिक है, क्योंकि प्रमेय[4] की

---

* सत्व, रज और तमो गुण		१—सेवा		२—ब्राह्मण सर्व वेद रूप है
३—प्रमेय रूप मुझ से प्रमाण रूप ब्राह्मण अधिक है ।
४—मेरी प्राप्ति ब्राह्मणों के आधीन है अर्थात उनके द्वारा होती है ।

सिद्धि प्रमाण के अधीन है यों कह कर भगवान् ने अपने हृदय का भाव प्रकट किया है, कि मैं प्रमेय बल कहाँ कहाँ प्रकट करता रहूँगा, अतः ये ही प्रमाण रूप हैं, जिससे इनकी ही सेवा का अनुरोध किया है यह ही अर्थ उचित है ।।५४।।

आभास - ये तु पुनर्ब्राह्मणातिक्रमं कृत्वा गुरूपदेशं विनैव स्वतः पूजां कर्तुं वाञ्छन्ति तेतिदुर्बुद्धय इत्याह **दुःप्रज्ञा** इति ।

आभासार्थ – जो पुरुष ब्राह्मणों का अनादर कर उन पूज्यों के उपदेश लेने के सिवाय अपनी मनमानी पूजा करते हैं वे दुष्ट हैं, यों 'दुःप्रज्ञा' श्लोक में कहते हैं,

श्लोक—दुःप्रज्ञा अविदित्वैवमवजानन्त्यसूयवः ।
गुरुं मां विप्रमात्मानमर्चादाविज्यदृष्टयः ।।५५।।

श्लोकार्थ – जो ब्राह्मण के इस प्रकार के स्वरूप को न जानकर उनसे ईर्ष्या करते हैं वे दुष्टि बुद्धि वाले हैं, अतः वे गुरु रूप, मेरे रूप और आत्म रूप ब्राह्मण की सेवा न कर केवल मूर्ति में ही पूज्य बुद्धि रखते हैं ।।५५।।

सुबोधिनी—एवं मदभिप्रायं सिद्धान्तं चाविदित्वा ब्राह्मणवाक्येष्वसूयां कृत्वा तानवजानन्ति। तत्रापि मुख्यो गुरुः तदवज्ञाने न पूजा फलति । यतः सोऽहमेव । अहं च पूजकस्यात्मस्वरूपम् । तेनात्मैवावज्ञात इति । स्वार्थत्वात्सर्वस्य कथं तत्कर्तारः उत्तमा भवेयुः । अर्चादौ । अर्चा तीर्थक्षेत्रादिषु इज्यदृष्टयः पूज्यदृष्टयः व्यवस्थयैवार्चादिषु पूजा कर्तव्या, नत्वव्यवस्थयेति भावः । 'स्नानालंकरणं प्रेष्ठमर्चायामेव' इति व्यवस्था । ।।५५।।

व्याख्यार्थ – इसी तरह मेरी सम्मति वाले सिद्धान्त[1] को न समझकर ब्राह्मणों के वचनों में ईर्ष्या से श्रद्धा नहीं करते हैं अर्थात् उनका तिरस्कार करते हैं उनका तिरस्कार करने से पूजा फलीभूत नहीं होती है, कारण कि वे मुख्य गुरु हैं, क्योंकि वे ब्राह्मण मैं ही हूँ, फिर विशेष में पूजा करने वाले का भी आत्मस्वरूप मैं हूँ, इसलिए उसने आत्मा का ही तिरस्कार किया है । सर्व अपने[2] लिए किया जाता हैं अतः आत्मा की अवज्ञा करने वाले उत्तम कैसे बनेंगे ? वे तो तीर्थ क्षेत्र आदि में पूज्य बुद्धि वाले हैं. उनकी पूजा तो व्यवस्था पूर्वक करनी चाहिए, न कि ज्यों मन में आवे त्यों की जा सकती है, जैसे कि प्रथम स्नान अनन्तर अलङ्कार आदि धराने आदि व्यवस्था से पूजा की जा सकती है, वह व्यवस्था गुरुओं से ही जानी जा सकती है अन्यथा निष्फल होती है ।।५५।।

आभास – ननु तथापि भगवत्सांनिध्यलक्षणो गुणः अर्चादावेव वर्तत इति जीवान्तरसंबन्धेनाभिमानश्च नास्ति इति दोषाभावसहितगुणस्य विद्यमानत्वात् अर्चैव ब्राह्मणादुत्कृष्टेति चेत्, तत्राह **चराचरमिति** ।

---

[1] —मेरे कहे हुए प्रकार के, ब्राह्मण स्वरूप को, [2]--आत्मा के लिए

आभासार्थ - ब्राह्मण की पूजा से, मूर्ति, क्षेत्र आदि की पूजा विशेष है क्योंकि अर्चादि में भगवान् की सन्निधिगुण है अन्य जीव के साथ सम्बन्ध होने से जो अभिमान आदि होता है, वह अर्चादि में नहीं है, इसका उत्तर 'चराचरमिदं' श्लोक में देते है,

श्लोक—**चराचरमिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः ।**
मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया ।।५६।।

श्लोकार्थ—चर और अचर यह विश्व और इसके जो भाव तथा कारण हैं वे सब मेरे (भगवान् के) रूप हैं, यों, मेरे दर्शन से, ब्राह्मण अपने चित्त में धारण कर लेते हैं ।।५६।।

सुबोधिनी—ब्राह्मणे सर्वमस्ति । स हि स्वात्मनि सर्वं विश्वं ज्ञानेन मन्यते ॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण में सर्व हैं, क्योंकि वह ज्ञान द्वारा यों जानता है कि यह सर्व विश्व मेरी आत्मा में है.

सुबोधिनी—मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माक्षरमव्ययम् ॥

व्याख्यार्थ—यह सर्व जगत् मुझ में से ही उत्पन्न हुआ है, मुझ में इसकी स्थिति है और मुझ में ही लीन होता है, ऐसी ब्राह्मी स्थिति वाला हो अविनाशी अक्षर ब्रह्म है ।

सुबोधिनी—'अणोरणीयानहमेव विष्णुः' इत्यादिश्रुतेः 'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति' इति च । तदाह इदं चराचरं विश्वं अस्य च मूलभूताः ये भावाः एतत्कार्याणि वा । ये चास्य हेतवः कारणभूतानि तत्त्वान्येतानि सर्वाण्येव भगवद्रूपाणीति चेतसि विप्रः आधत्ते । अत एव विप्रः विशेषेणाऽऽत्मानं पूरयतीति प्रापूरण इति । तत्रापि मदीक्षया मम ईक्षा भगवत्साक्षात्कारः भगवन्तं स्थापयित्वा भगवद्रूपाण्यपि स्थापयति । अथवा । आदौ मत्साक्षात्कारे जाते स्वात्मनि यन्मां पश्यति तत्र मयि चराचरं च पश्यतीति ब्राह्मणे चराचरं सर्वमेव वर्तत इत्यर्थः ।।५६।।

व्याख्यार्थ 'अणोरणीयानहमेव विष्णुः' इत्यादि श्रुतेः, अणु से अणुतर भी विष्णु मैं ही हूँ और, 'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणेवसन्ति' जितने भो देवता हैं, वे सर्व वेद जानने वाले ब्राह्मणों में रहते हैं, वे समझाते हैं कि, यह जंगम और स्थावर जितना भी जगत् है, तथा इसके कार्य और उसके कारणरूप तत्व हैं य सर्व ही भगवद्रूप हैं यो जानकर अपने चित्त में इनको इस रूप से ही धारण करता है, इसलिए अर्थात् विशेष प्रकार से अपने को पूर्ण करने से ब्राह्मण को 'विप्र' कहा जाता है, हृदय में मेरे साक्षात्कार करने से ही इस प्रकार सर्व जगत् को भगवद्रूप से धारण कर सकता है, क्योंकि अन्तःकरण में भगवाद् के विराजमान हो जाने से उस स्वरूप में स्थित सर्व विश्व को देखता है, इसलिए कहा जाता है कि ब्राह्मण में स्थावर जंगम सर्व जगत् रहता है ।।५६।।

आभास—एवं ब्राह्मणोत्कर्षमुक्त्वा कर्तव्यमाह **तस्माद्ब्रह्मऋषीनेतानिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार का ब्राह्मण का उत्कर्ष कह कर 'तस्माद्' श्लोक में कर्त्तव्य कहते हैं.

श्लोक—**तस्माद्ब्रह्मऋषीनेतान्ब्रह्मन्मच्छ्रद्धयाऽर्चय ।**
एवं चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः ॥५७॥

श्लोकार्थ—इस कारण से, हे श्रुतदेव ब्रह्मन् ! तुम्हारी जैसी श्रद्धा मुझ में है, वैसी श्रद्धा से इन ब्रह्मर्षियों की पूजा कर जो तूँ इस प्रकार इनकी पूजा करेगा तो मैं मानूँगा कि तुमने बहुत वैभवों से मेरी पूजा की है, अन्यथा 'यदि इनकी इस तरह श्रद्धा से अर्चना आदि न करोगे तो' मैं अपने को पूजित नहीं समझूँगा ॥५७॥

सुबोधिनी—एते च तादृशा ब्राह्मणाः काण्डद्वयनिष्णाता इति ज्ञापयितुं ब्रह्मर्षिपदम् । ब्रह्मन्निति त्वमपि तादृश एव । अतस्त्वया चेन्नाङ्गीक्रियते तदान्योऽपि नाङ्गीकरिष्यतीत्यपि ज्ञापितम् । किञ्च । एकस्मिन् ब्राह्मणे यथाकथंचिदर्चिते अहं नानाविभूतिभिः अर्चितो भविष्यामि ॥

व्याख्यार्थ—इन आए हुए ब्राह्मणों को भगवान् ने 'ब्रह्मर्षि' विशेषण देकर यह बताया है कि वे वेद के दोनों काण्डों को पूर्ण रीति से जानने वाले हैं, श्रुतदेव को 'ब्रह्मन्' विशेषण देकर यह जताया है कि आप भी वैसे ही हैं, अतः जो तुम मेरी आज्ञा का पालन न करोगे तो दूसरे भी न करंगे, यों भी समझाया है कि एक ब्राह्मण भी तुमने जैसे तैसे पूजा, तो मैं समझूँगा कि तुमने मेरा बड़े वैभव से पूजन किया ॥५७॥

आभास—एवमुपदिष्टस्तथैव कृतवानित्याह **स इत्थं प्रभुणादिष्ट** इति ।

आभासार्थ—भगवान् ने जैसा उपदेश दिया तदनुसार ब्राह्मणों की पूजा की, यह 'स इत्थं' श्लोक श्री शुकदेवजी कहते हैं.

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**स इत्थं प्रभुणादिष्टः सहकृष्णान्द्विजोत्तमान् ।**
आराध्यैकान्तभावेन मैथिलश्चाप सद्गतिम् ॥५८॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि प्रभु से इस प्रकार आज्ञप्त श्रुतदेव ने श्रीकृष्ण सहित ब्रह्मणोत्तमों की अनन्य भाव से पूजा की जिससे ब्राह्मण और मैथिल दोनों ने सद्गति पाई ॥५८॥

सुबोधिनी—प्रभुत्वान्नान्यथा कर्तुं शक्यम् । ततः सहकृष्णान् भगवत्सहितान् तान् अधिष्ठानरूपान् स्वभावतोप्युत्तमान् द्विजोत्तमान् एकान्तभावेन अनन्यभक्त्या आराध्य सद्गतिमवाप ।

सतां या गतिस्तां भगवत्सायुज्यं प्राप्तवान् तदानीमेवान्यदा वा मैथिलश्च देहान्ते भगवत्सायुज्यं प्राप्तवान् । चकारात्तत्संबन्धिनोऽपि तथातथा प्रवृत्ताः ।।५८।।

व्याख्यार्थ—श्री कृष्ण प्रभु हैं अतः उनकी आज्ञा को कोई अन्यथा नहीं कर सकता है। अनन्तर श्रीकृष्ण सहित उन ब्राह्मणोंत्तमों की अनन्यभाव से पूजा की, वे ब्राह्मण एक तो स्वभाव से उत्तम फिर विशेषता यह कि भगवान् के अधिष्ठान रूप थे ऐसों की पूजा करने से सद्गति प्राप्त की उस समय वा बाद में मैथिल ने देह त्यागने के बाद वैसो ही गति पाई, 'च' पद से यह सूचन किया कि उनके सम्बन्धी भी उसी प्रकार अनन्य भक्ति में प्रवृत्त होकर भगवत्सायुज्य पाने लगे ।।५८।।

आभास—एवं भगवच्चरित्रमुक्त्वा चरित्रान्तरकथनार्थं पुनर्भगवतः प्रत्यापत्तिमाह **एवं स्वभक्तयोरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के चरित्र का वर्णन कर अन्य चरित्र कहने के लिए फिर भगवान् द्वारका पधारे, यों 'एवं स्वभक्तयो' श्लोक में कहते है,

श्लोक— **एवं स्वभक्तयो राजन्भगवान्भक्तभक्तिमान् ।**
उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात् ।।५९।।

श्लोकार्थ— हे राजन् ! भक्तों के भक्त भगवान् इस प्रकार भक्तों के पास रह कर और उनको सन्मार्ग की शिक्षा देकर फिर द्वारका लौट आए ।।५९।।

सुबोधिनी—राजन्निति विश्वासार्थम्। भक्तेषु भक्तिमानिति, स्वतो गत्वा करणे हेतुः । मैथिलवाक्यान्मैथिलगृहे उषित्वा श्रुतदेववाक्यात् तस्मै सन्मार्गमादिश्य सतां गतिर्भगवान् तत्र मार्गभूता ब्राह्मणा इति तेषां भजनमादिश्य पुनः स्वस्थानमागत इत्यर्थः ।।५९।।

व्याख्यार्थ—हे राजन्: यह संबोधन इसलिये दिया है को परीक्षित कि कथा में विश्वास रहे, भक्तों के भक्त कहने में कारण कहते हैं कि श्रुतदेव और मैथिल राजा के पास बिना बुलाए स्वयं पधारे मिथिला के राजा के कहने पर उनके घर में विराजमान हुए, और श्रुतदेव के घर विराजे वहां उसके प्रार्थना करने पर उसको सन्मार्ग का उपदेश दिया सत्पुरुषों की गति भगवान् हैं, जिसमें मार्ग दर्शक ब्राह्मण हैं, इसलिए उनके भजन करने की आज्ञा देकर फिर अपने स्थान द्वारका पधारे ऐसा अर्थ है ।।५९।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे सप्तत्रिंशाध्यायविवरणम् ।।३६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ८३वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३७वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के
गुण-प्रकरण का द्वितीय अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित भगवल्लीलाओं का संक्षिप्त सार

राग विलावल

भक्त-बछल श्री जादव राइ । भक्त काज हरि करत सदाइ ।।
अर्जुन तीरथ करन सिधाए । फिरत फिरत द्वारावति आए ।।
सुन्यौ बिचार करत बल येइ । दुर्जोधनहि सुभद्र देइ ।।
तब अर्जुन के मन यह आइ । याकौं मैं लै जाउँ दुराइ ।।
भेस तपसी कौं तिन गह्यौ । चारि मास द्वारावति रह्यौ ।।
बलदेव ताकौं नेवति बुलायौ । भोजन हेतु सो बल-गृह आयौ ।।
लख्यौ सुभद्रा इहि सन्यासी । राज-कुँवर कोऊ भेष उदासी ।।
मेरे मन में यह उत्साह । मेरौ या सँग होइ विवाह ।।
इक दिन सो हरि मंदिर गई । तहाँ भेंट पारथ सौं भई ।।
देखि ताहि रथ ठाढौ कियौ । हरि दुहुँ कौ हिरदै लखि लियौ ।।
धनुष-बान अपने तब दए । अर्जुन सावधान ह्वै लए ।।
पारथ लै सो रथहि परायौ । रथ के तुरँगनि बेगि चलायौ ।।
यह सुनि कै हलधर उठि धाए । तब हरि अर्जुन नाम सुनाए ।।
बल कह्यौ तुम मन ऐसी आई । तौ तुम क्यौं कीनी न सगाई ।।
हरि कह्यौ अबहुँ बुलाबहु ताहि । भली भाँति सौं करै बिवाहि ।।
तब बल पारथ तुरत बुलायौ । सोधि महूरत लगन धरायौ ।।
करि विवाह अर्जुन घर आए । सूरदास जन मंगल गाए ।।

राग नट

बिनती करत गुबिंद गुसाईं ।
दै सब सौंज अनंत लोक पति, निपट रंक की नाईं ।।
धरि धन, धाम सजन के आगैं, स्याम सकुचि कर जोरे ।
टहल जोग यह कुँवरि सुभद्रा, तुम सम नाहीं को रे ।।
इतनी सुनत पाँडु-नंदन कह्यौ, यहै वचन प्रभु दीजै ।
सूरज दीन-बंधु अब इहि कुल, कन्या जन्म न कीजै ।।

राग बिलावल

हरि हरि हरि सुमिरहु सब कोइ । राव, रंक हरि गिनत न कोइ ।।
जो सुमिरै ताकी गति होइ । हरि हरि हरि सुमिरहु सब कोइ ।।
श्रुतदेव ब्राह्मन सुमिर्यौ हरि । ताकी भक्ति हृदैं धरि हरि ।।
राव जनक हरि सुमिरन कीनौ । हरि जू सोउ हृदै धरि लीनौ ।।
तब हरि रिषि बहुतक सँग लए । तिनके देस प्रीति बस गए ।।
द्वै स्वरूप धरि दुहुँ को मिले । तोषि तिन्है पुनि निजपुर चले ।।
हरि जू कौ यह सहज सुभाउ । रंक होइ भावै कोउ राउ ।।
जो हित करै ताहि हित करैं । सूरज प्रभु नहिं अंतर धरैं ।।

राग कान्हरौ

घर ही बैठे दोऊ दास ।
रिधि-सिधि मुक्ति अभय पद दायक, आई मिले प्रभु हरि अनयास ।।
आए सुने स्याम उपवन मैं, भेंट लई भुज परम सुवास ।
चर्चित गात चँद्र-मुख चितवत उर सरवर-भयौ कमल विगास ।।
भूपति चँवर विप्र कर बस्तर, करत बाउ अति अंग हुलास ।
आनँद उमँगि चल्यौ नैननि-जल, सुरतदेव, द्विज, नृप बहुलास ।।
जाकौ ध्यान धरत मुनि संकर, सीस जटा दिग अम्बर तास ।
काम दहन गिरि-कंदर आसन, वा मूरति की तऊ पियास ।।
भक्त-बछलता प्रगट करी है, भयौ बिप्र घर कर कलि ग्रास ।
सूरदास स्वामी सुमिरन बस, अछत निरंजन सेवा पास ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ८७वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८४वां अध्याय
उत्तरार्ध ३८वां अध्याय

गुण-प्रकरण

"अध्याय—३"

वेद-स्तुति

कारिका—शब्दार्थयोरुत्तमयोः संबन्धो यादृशो मतः ।
तं विवेचयितुं कृष्णः श्रुतिगीतं चकार ह ।।१।।

कारिकार्थ—वेद रूप शब्द और ब्रह्म रूप अर्थ का वाच्य[1] वाचक[2] सम्बन्ध जैसा महापुरुषों ने माना है. उस प्रकार के सम्बन्ध का अन्य प्रकार के सम्बन्धों[3] से पृथक् करने के लिए व्यासजी ने यह श्रुतिगीत कहा है ।।१।।

१—जिसका विधान किया जाता है, २—जो विधान करता है ऐसा रूप सम्बन्ध. ३—सम्बन्ध तीन* प्रकार का होता है, अ) शब्द की व्युत्पत्ति के अनुपार, (ब) समानता अर्थ रूप सम्बन्ध, (स) तात्पर्य बताने वाला अर्थ रूप सम्बन्ध । भगवान् ने श्रुतियों से रमण किया उसके अन्त में आप (व्यासजी) को भी वंसे आनन्द स्वरूप के दर्शन हुएं जिससे आनन्द विभोर हो कर यह श्रुति गीत प्रकट किया, इस श्रुति गीत के प्रकट करने का आशय यह है कि हम भी उसका ज्ञान प्राप्त कर आनन्द का अनुभव करें, इस श्रुति गीत अध्याय से व्यासजी ने ब्रह्मसूत्र के 'ईक्षत्य अधिकरण' का समर्थन किया है ।

---

* शक्ति, गोणी और तात्पर्य, रूप सम्बन्ध,

कारिका—प्रमाणं ब्राह्मणः प्रोक्तः प्रमेयमपि वै बृहत् ।
स एव भगवान् कृष्णस्ततो भजनमीरितम् ।।२।।

कारिकार्थ—ब्राह्मण[1] को प्रमाण और प्रमेय भी कहा है, प्रमेय ब्रह्म है । वह 'प्रमेय' भगवान् कृष्ण ही है, इसलिए इनका ही भजन करना चाहिए, यों कहा है ।।२।।

कारिका—तत्रोपपत्तिः प्रष्टव्या वाच्यवाचकनिर्णये ।
अतो राजा श्रुतीनां वै निर्णयार्थमपृच्छत ।।३।।

कारिकार्थ—वाच्य (प्रमेय ब्रह्म के विषय में) वाचक के निर्णय का युक्ति सहित हेतु पूछना चाहिए, अतः राजा प्रमाण कह इस विषय में[2] जो शङ्का है उस का निर्णय पूछते हैं ।।३।।

कारिका—सगुणं चेद्वेदवाक्यं ब्राह्मणास्तत्र च स्थिताः ।
ततोऽत्र भगवानेव पूज्यो नान्यः कथञ्चन ।।४।।

कारिकार्थ—इस कारिका में निर्णय करने का प्रयोजन कहते हैं, वेदों के वाक्य यदि यों प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म अनन्त गुण वाला है और ब्राह्मण उसमें ही स्थित है, अर्थात् सर्व प्रकार से उसका ही ध्यान आदि करते हैं, तो वह भगवान् ही पूज्य है अन्य कोई नहीं ।।४।।

कारिका—मतान्तरोक्तिरेषा हि सिद्धान्ते वैदिके तथा ।
अनन्तगुणपूर्णो हि हरिर्ब्रह्म श्रुतिस्तथा ।।५।।
त्रयमेकं स्वशक्ति हि त्रेधा स्वस्मिन्निधाय हि ।
फलप्रमेयमानत्वं सच्चिदानन्दतां गतम् ।।६।।

कारिकार्थ—यह अन्यमतानुसार[3] उक्ति है, किन्तु वैदिक सिद्धान्त में भी यह मान्य की गई है, जैसे कि अनन्त गुणों से पूर्ण हरि,[4] ब्रह्म[5] और श्रुति, ये तीनों एक ही हैं । वास्तव में अपनी शक्ति के तीन प्रकार कर, फिर उनको अपने भीतर ही धारण कर प्रभु फल प्रमेय और प्रमाण तथा आनन्द[6] चित्[7] तथा सत्[8] रूप बनते हैं ।।५।।६।।

१—उत्तरार्ध के ३७ वें अध्याय में श्रुतदेव ब्राह्मण प्रमाण प्रधान होने से 'एवं सर्व वेद मयो विप्र' श्रुत्यनुसार ब्राह्मण प्रमाण है एवं उसको मानाधीना प्रमेय सिद्धि' कहकर प्रमेय भी माना है, वहाँ ५० वें श्लोक में भजन का उपदेश दिया है, २—प्रमाण, प्रमेय और भजन में,

३—सनन्द के मतानुसार ४—श्रीकृष्ण, ५—अक्षर,

६—आनन्द रूप को प्रधानतया स्वीकार करने से फल रूप श्रीकृष्ण स्वरूप है

७—चिदंश शक्ति को प्राधान्यरूप से स्वीकार कर अक्षर ब्रह्म कहा है ।

८—सदंश की जब प्रधानता स्वीकार करते हैं तब शब्द ब्रह्म श्रुति कहलाते हैं । सत् चित् और आनन्द ये तीन स्वरूप धर्मपन से युक्त होने से उनको शक्ति कहना उचित है, स्वरूप धर्म होने से उसका स्वीकार करना भी संगत है. वे दोनों 'ही' शब्द से तात्पर्य हैं ।

कारिका—तथापि साङ्ख्यसिद्धान्ते तथा तदुपजीवके ।
वैष्णवेन्यत्र वा वाच्यं श्रुतिसंग्रहणं यथा ।।७।।

कारिकार्थ—यों होते हुए भी[1] साङ्ख्यसिद्धान्तानुसार एवं उनके ऊपर आधार रखने वाले वैष्णव[2] सिद्धान्तानुसार अथवा अन्यत्र मुख्य[3] भक्ति सिद्धान्तानुसार श्रुतिओं का अर्थ वैसा ही किया जाता है ।।७।।

कारिका—अष्टत्रिंशे श्रुतीनां हि यथा वाच्यं बृहद्भवेत् ।
तदर्थं पूर्वपक्षादिसिद्धान्तफलमीर्यते ।।८।।

कारिकार्थ--उत्तरार्ध के इस अध्याय में श्रुतियों द्वारा जैसे ब्रह्म का विधान हो सके तदर्थ इसके प्रारम्भ में पूर्व पक्ष आदि सिद्धान्त कहा है एवं फल भी कहने में आया है ।।८।।

आभास—राजा भगवद्गुणविरोधे परिहृते प्रमाणविरोधमाशङ्कते **ब्रह्मन्निति** ।

आभासार्थ—भगवान् के गुणों का विरोध पूर्वाध्याय में हुआ था जिसको वहाँ ही मिटा दिया, तब उस अलौकिक ब्रह्म में राजा प्रमाण के विरोध की शङ्का[4] करते हैं,

श्लोक—परीक्षिदुवाच-**ब्रह्मन्ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे ।।१।।**

श्लोकार्थ—परीक्षित ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! गुणों में जिनकी वृत्तियाँ रहती हैं, वैसी सगुण श्रुतियाँ जिसका निर्देशन न हो सके, वैसे गुण रहित और सत्-असत् से ऊपर ब्रह्म का साक्षात् वर्णन कैसे करती हैं ।।१।।

सुबोधिनी - **ब्रह्मणि साक्षात्कथं श्रुतयश्चरन्तीति** प्रश्नः । अत्र श्रुतीनामेकवाक्यतामङ्गीकृत्य पृच्छति अर्थैकत्वादेक वाक्यमिति । तत्र किं बृहद्वेदानां तात्पर्यार्थः, आहोस्विद्वाक्यार्थ इति । अखण्ड एव वाक्यार्थ इति मतमज्ञात्वा पृच्छति । पदार्थाः करणतामापन्नाः स्वसंसर्गं वाक्यार्थं बोधयन्तीति मन्यते । 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इति, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति च श्रुति-

---

[1] —यदि श्रुति ब्रह्म और श्रीकृष्ण एक ही हैं तो श्रुतियों को भाट के दृष्टान्त सम कहना उचित नहीं है तो भी, [2] —सगुण भक्ति सिद्धान्त ।

[3] —मुख्य भक्ति सिद्धान्त में 'आनन्दादय प्रधानस्य' इस सूत्रानुसार आनन्दादि की भगवान् में हो स्थापना है, इसी से ही श्रुतियाँ गोपियाँ रूप हैं, ज्ञान मार्ग में ही तुल्यता का व्यवहार है, अतः बुद्धि दृष्टांत उचित है ।

[4] —भगवान् में वीर्य गुण होते हुए भी उनकी बहिन को अर्जुन कैसे ले गया जिसके उत्तर में कहा है कि आपके गुण लौकिक नहीं हैं अलौकिक हैं जिससे सिद्ध है कि भगवान् अलौकिक हैं तो सगुण श्रुतियाँ उस अलौकिक ब्रह्म का वर्णन कैसे करती है, यह शङ्का है ।

स्मृतिभ्यां सर्ववेदानामेकार्थप्रतिपादकत्वं च श्रूयते। श्रुतयश्च भगवतः क्रियाशक्तिं ज्ञानशक्तिं च प्रतिपादयन्ति नानाविधाम्। शक्तिं च गुणमयीं मन्यन्ते। अतः सगुणाः श्रुतयः, पदानां सङ्केतः लौकिक एवेति, अलौकिके सङ्केताभावात्। तैर्भगवत्संबन्धिनः पदार्था अलौकिकाः कथं स्मारयितव्याः। लौकिकत्वे ब्रह्मणो लौकिकत्वापत्तिस्तत्संबन्धात्। अतः पूर्वपक्षे साधनपरत्वमेव वेदानाम्, अतः स्वप्रकाशमेव ब्रह्म स्वानुभववेद्यं प्रसन्नं सत् कृतार्थतां करिष्यतीति प्रमेयबलेनैव कार्यसिद्धिः न प्रमाणबलेनेति पूर्वपक्षः। ब्रह्मणोऽलौकिकत्वार्थं हेतुमाह **अनिर्देश्य** इति। निर्देशो लौकिकबुद्धिविषयीकरणं अयं घटोऽयं पट इतिवत्। बृहत्त्वबृंहणत्वयोगोऽपि विचारे क्रियमाणे लौकिकधर्मातिरिक्तत्वेन ब्रह्मणि फलिष्यतीति न ब्रह्मपदानुपपत्तिः॥

व्याख्यार्थ—सगुण श्रुत्तियाँ ब्रह्म का साक्षात् प्रतिपादन कैसे कर सकती हैं ? राजा, यहाँ, श्रुतियों की एक वाक्यता मानकर प्रश्न करता है, एक वाक्यता का तात्पर्य है कि सर्व श्रुतियाँ जब एक का ही वर्णन करे परन्तु) ये तो, यों नहीं करती हैं, ये तो पृथक् पृथक् गुणों का वर्णन करती हैं। एक ही अर्थ हो तो एक वाक्य होवे वहाँ सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्यार्थ यह है, कि वाक्यार्थ ब्रह्म ही वेदार्थ है, इस मत को राजा नहीं जानता है, अतः पूछता है कारणता को प्राप्त पदार्थ अपने संसर्ग वाले वाक्यों के अर्थ को जानते हैं यो राजा मानता है, अर्थात् राजा सखण्ड ज्ञान को ही मानता है, अखण्ड वाक्यार्थ ज्ञान को नहीं जानने से ही प्रश्न करता है 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' 'सर्ववेदायत्पदमानन्ति' समग्र वेदों से, मैं ही जानने योग्य हूँ 'सर्ववेदा यत्पदमाममनन्ति' 'समस्त वेद जिसके पदों में प्रणाम करते हैं' आदि श्रुति स्मृति द्वारा वेद एक हो अर्थ को प्रतिपादन करते हैं, यों सुना जाता है और श्रुतियाँ भगवान् की अनेक प्रकार की ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति का प्रतिपादन कर रही हैं। शक्ति को गुण वाली माना है, अतः श्रुतियाँ सगुण हैं। शब्दों से लौकिक पदार्थों का ही संकेत हो सकता है, न कि अलौकिक का, इसलिए भगवत्सम्बन्धी पदार्थ जो अलौकिक हैं, उनको ये प्राकृत श्रुतियाँ लौकिक शब्दों में कैसे बता सकेंगी ? यदि कहो, कि भगवत्सम्बन्धी पदार्थ लौकिक हैं, तो उनके सम्बन्ध से भगवान् भी लौकिक हो जाएँगे इससे पूर्व पक्ष में वेद भी साधन परायण ही है, जिससे यह सिद्ध होता है, कि ब्रह्म स्व प्रकाश ही होने से वेदों से नहीं जाने जा सकते हैं तथा अपने अनुभव से ही जाने जा सकते हैं, जब वह स्वयं-प्रसन्न होंगे तब कृतार्थ करेंगे, इस प्रकार प्रमेय के बल से ही कार्य की सिद्धि होती है, न की प्रमाण बल से यो पूर्व पक्ष से कहा है।

ब्रह्म अलौकिक है, जिसको सिद्ध करने के लिए हेतु देते हैं 'अनिर्देश्य' जिसका 'निर्देश' न हो सके, वैसा ब्रह्म है, कारण कि, निर्देश लौकिक बुद्धि का विषय है, जैसे कि 'यह घड़ा हैं' 'यह वस्त्र हैं, इसी तरह यदि 'ब्रह्म' शब्द का लौकिक बुद्धि से विचार किए जाने पर जाना जाता है कि सब को अपने में समालेवें ऐसे सबसे बड़े गुण वाले ब्रह्म हैं, जिसमें भी ब्रह्म में अलौकिकपन ही फलित अर्थात् सिद्ध होता है, इससे ब्रह्म पद भी युक्ति सहित हेतुओं से अलौकिक होने से उसमें किसी प्रकार अनुपपत्ति नहीं है।

कारिका—'अवाच्यः सर्वशब्दानां बुद्ध्या वाच्यो निगद्यते।
ततः समानधर्मेण व्यवहारो निरूप्यते' इति॥

कारिकार्थ—सर्व शब्दों द्वारा जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता है उसका बुद्धि से निरूपण होता है, इससे समान धर्म से उसका व्यवहार होता है, यों निरूपण किया जाता है ॥६॥

सुबोधिनी—किञ्च । **निर्गुणे** निर्धर्मके श्रुतयश्च पदशो **गुणवृत्तयः** धर्मप्रतिपादकत्वात् । अन्यथा संसर्गप्रत्यायकत्वं न स्यात् । सर्वत्र कार्थत्वप्रत्यायकत्वात् । ब्रह्मणश्च धर्माङ्गीकारे अद्वैतहानिः । अतः **साक्षान्निर्धर्मके ब्रह्मणि कथं श्रुतयश्चरन्ति** । ननु कार्यकारणभावं स एवापन्न इति तत्प्रतिपादनद्वारा तत्र पर्यवसितास्तद्द्वारा धर्मिणि पर्यवस्यन्तीति लक्षणया गौण्या तात्पर्यवृत्त्या वा ब्रह्मपरत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **सदसतः पर** इति । कार्यकारणवार्तानभिज्ञे किं तस्य स्वानन्दपूर्णस्य कार्येण **कारणेन** वा प्रयोजनम् । अतः संबन्धाभावात् गुणाभावादज्ञानादेव तात्पर्याभावाच्च न केनापि प्रकारेण श्रुतिप्रतिपाद्यं ब्रह्मेत्यर्थः ॥१॥

व्याख्यार्थ—श्रुतियाँ पदशः गुण वृत्ति वाली हैं, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म में गुणों का प्रतिपादन करने वाली हैं, यदि गुण बताने वाली न होवें, तो सर्वत्र एक ही अर्थ बताने से, शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध न बता सकें, जिससे ब्रह्म में गुणों का स्वीकार होने से 'अद्वैत' की हानि होती है, इससे सगुण श्रुतियाँ गुण रहित ब्रह्म का साक्षात वर्णन कैसे कर सकेगी ? इस पर कहते हैं, कि कार्य कारणभाव को प्राप्त भगवान् ही हैं, अतः उसके प्रतिपादन द्वारा उन कार्य कारण में परिणाम प्राप्त श्रुतियाँ उसके द्वारा धर्मी में परिणाम पाती हैं, अर्थात् इसी प्रकार लक्षणा. गौणी वा तात्पर्य वृत्ति से उस ब्रह्म का साक्षात् वर्णन कर सकती हैं, इस पक्ष का निरास करने के लिए 'सद सतः पर' यह ब्रह्म का विशेषण दिया है, कार्य और 'कारण' से उत्तम होने से ब्रह्म, कार्य कारण को वार्ता को जानता नहीं है, कारण कि जो ब्रह्म स्वानन्द से पूर्ण है उनका कार्य कारण से कौनसा सम्बन्ध वा प्रयोजन ? अतः सम्बन्ध न होने से, गुणभाव होने से और कार्य तथा कारण के अज्ञान के तात्पर्य का भी अभाव होने से यों सिद्ध होता है कि ब्रह्म किसी प्रकार भी श्रुतिपाद्य नहीं है, इस प्रकार पूर्व पक्ष कहा है ॥१॥

आभास—सिद्धान्तमाह **बुद्धीन्द्रियेति** ।

आभासार्थ—'बुद्धीन्द्रिय' श्लोक में श्री शुकदेवजी सिद्धान्त कहते हैं.

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**बुद्धीन्द्रियमनःप्राणाञ्जनानामसृजत्प्रभुः ।**
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ॥२॥

श्लोकार्थ श्री शुकदेवजी ने कहा कि जगत् के लिए, उत्पन्न होने के लिए, आत्मा के लिए, कल्पना होने अथवा न होने के लिए, प्रभु ने मनुष्यों को बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन और प्राण दिए हैं ॥२॥

सुबोधिनी—अत्र पूर्वपक्षवादी प्रष्टव्यः । किं ब्रह्म श्रुतिसिद्धं श्रुतिद्वारा त्वया अवगतं विचार्यत्वेन निर्दिश्यते आहोस्वित् स्वबुद्ध्या परिकल्पितम् । आद्ये प्रतिपाद्यत्वे न संदेहः प्रकारश्चिन्तयिष्यते । द्वितीयपक्षस्त्वप्रामाणिकः सद्भिरुपेक्ष्यः । ब्रह्म च यादृशं वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव

मन्तव्यम्। तत्र मूलभूतं सर्वव्यवहारातीतमपि स्वयमेव स्वशक्तिरूपेण स्वधर्मरूपेण स्वकार्यरूपेण च जातमिति श्रुतिः प्रतिपादयति। स्वयमेव च वक्ति। अतः सर्वस्यैव श्रुत्यैकसमधिगम्यत्वात् सङ्केतश्चादूरविप्रकर्षेण लोकधर्मसाम्येन वैदिकपरम्परयैव जायत इति सर्वस्यैव भगवद्भावस्य खण्डशः प्रतिपादकत्वात् संपूर्णवाक्यस्य तादृश ब्रह्मेति ब्रह्मपरत्वं सेत्स्यति। स च वाक्यार्थः अपूर्वः। यथा लोके लौकिकबुद्धिविषयः पश्चात्तद्वाक्यविषयः तदभिप्रेप्सोर्ज्ञापकः। एवमीश्वरबुद्धिविषयः तद्वाक्यप्रतिपाद्यः तज्ज्ञानेच्छुं बोधयतीत्येवं निश्चित्य शुको भगवता कृतां चतुर्धा सृष्टिं प्रतिपादयति। भगवानादौ **बुद्धिमु**त्पादयति, तत **इन्द्रियाणि**, ततो **मनः**, ततः **प्राणा**निति। सर्वेषां जनानां करणचतुष्टयं जनयति। जीवसंबन्धित्वेन तच्चतुष्टयमुत्पादयतीत्यर्थः। तत्र सामर्थ्यं **प्रभु**रिति। प्रत्येकं चतुर्णामुत्पादने प्रयोजनमाह। तत्र बुद्धेः प्रयोजनं **मात्रार्थ**मिति मीयन्ते त्रायन्त इति मात्राः ज्ञानक्रियोपयोगिनो विषयाः सर्वमेव जगत्। ते विशकलिताः शब्देनापि बोधिताः पुरुषस्य ज्ञानक्रियाविषयोपयोगिनो न भविष्यन्तीति बुद्धिमुत्पादितवान्। सा बुद्धिः सर्वानेव संगृह्णाति। यथा चित्रे सर्वपदार्थस्फूर्तिः तथा बुद्धौ सर्वजगत्स्फूर्तिरिति। ततस्तया बुद्धया यत् किञ्चित् ज्ञेयं कार्यं वा तत् सर्वं कर्तुं शक्यत इति मात्रार्थं बुद्धिनिर्माणम्, अनेन वेदानामपि खण्डशोऽर्थप्रतिपादकानां बुद्धया महावाक्यार्थज्ञानं भवतीति तात्पर्यतो ब्रह्मप्रतिपादकत्वं सेत्स्यति। चकारादग्रे यत् त्रयं प्रतिपाद्यं फलत्वेन तदर्थं च बुद्धेर्निर्माणं निरूपितम्। **भव** उद्भवः सर्वे प्राणिनः बुद्धयैव सर्वोत्कर्षं प्राप्नुवन्ति। तथैवात्मने। बुद्धयैव भगवन्निष्ठा आत्मनिष्ठाश्च भवन्ति भगवत्सेवां च कुर्वन्ति। **अकल्पनाय** च। बुद्धयैव ज्ञाननिष्ठा भवन्ति। नानाविधपदार्थध्यानार्थं कल्पनामपि कुर्वन्ति, तस्मात्सर्वं यथा सेत्स्यति, सर्वा चानुपपत्तिः सर्वेषां परिहृता भवति, तदर्थं बुद्धिमुत्पादितवान्। अनेनायं पूर्वपक्षोऽपि बुद्धयैव परिहर्तव्य इति सूचितम्। तथा भवार्थमुद्भवार्थं जन्मान्तरसिद्धयर्थं वा इन्द्रियाणि कृतवान्। बुद्धिसिद्धयर्थमिति विमर्शः। यथा बुद्धेः उद्भवो भवति तदर्थमिन्द्रियाणि सृष्टवान्। इन्द्रियैः कर्मकरणे च तैः कर्मभिरुद्भवो जन्मान्तरं च भवति। चकारादन्यान्यपि प्रयोजनानि इन्द्रियाणां सूचयति। विषयास्तैरेव ज्ञायन्ते क्रियन्ते च। इन्द्रियैरेव भगवत्सेवा भवति। इन्द्रियैरेव च नानाविधकल्पना भवति, मोक्षश्च योगादिद्वारा। तथा **आत्मने** आत्मार्थं मनः सृजति। 'मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन' इति श्रुतेः। इन्द्रियाणां च प्रवृत्त्यर्थं मनसः सृष्टिः। प्राणानां प्रयोजनमाह **अकल्पनाये**ति। प्राणा हि कल्पनां दूरीकुर्वन्ति। सर्वमेकतामापादयन्ति। यदि प्राणा न भवेयुः तदान्नादिपरिणामप्रदर्शनेन सर्वस्यापि जगतः प्रलये एकताबुद्धिर्न स्यात्। क्रियाशक्तिश्च तत एवेति सर्वत्र हेतुभूताश्च। 'अन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलम्' इत्यत्र 'प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः' इति निरूपितम्। स क्रमोऽत्रापि ग्राह्यः। एवं सर्वोपयोगार्थं यतो भगवांश्चतुष्टयमुत्पादितवान्। अनेनैव सर्वानुपपत्तिः परिहर्तव्येति शुकहृदयम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—इस विषय में पूर्व पक्ष करने वाले से पूछना चाहिए कि 'ब्रह्म' श्रुति सिद्ध है, उसका श्रुति द्वारा विचार करने के लिए कहते हो अथवा जिसकी अपनी बुद्धि से कल्पना की है उसका विचार करना चाहते हो ? श्रुति सिद्ध के प्रतिपादन में तो किसी प्रकार संशय नहीं है, केवल उसका प्रकार[1] विचारा जा सकेगा, और दूसरा पक्ष जिसमें ब्रह्म की बुद्धि से कल्पना की जाती है—

---

[1] १—खण्ड, खण्ड वाक्य, तात्पर्य वृत्ति से ब्रह्म के प्रतिपादक है, और अभिधावृति से 'अर्थात् व्युत्पत्तिकर अक्षरार्थ करने वाली वृत्ति से' भगवान् के धर्म कहे हैं, इसो तरह समग्र महावाक्य भगवान् का प्रतिपादन करता है।

वह प्रमाण रूप नहीं है, जिससे सत्पुरुष उसकी उपेक्षा करते हैं, ब्रह्म तो जैसा वेदान्तों में कहा गया है, वैसा ही मानना चाहिए ।

वेदान्तों में वेद यों कहते हैं कि ब्रह्म सर्व व्यवहारों से परे है, जिसमें किसी का व्यवहार नहीं हो सकता है जिसका निरास करते हुए कहते हैं कि, वैसा मूल रूप ब्रह्म सर्व व्यवहारों से अतीत होते हुए भी, स्वयं ही अपनी शक्ति रूप[1] से अपने गुण रूप से और अपने कार्य रूपों से प्रकट हुए हैं, अर्थात् वैसे रूप धारण किए हैं यों श्रुति प्रतिपादन करती है और स्वयं कहते हैं, अतः समग्र ब्रह्म श्रुति से ही जाना जा सकता है न कि तर्क संगत मात्र से ब्रह्म का सत्य ज्ञान होता है, और लौकिक गुणों की समानता से समीप वा दूर की वैदिक परम्परा से ही 'सङ्केत' होता है, इससे समग्र वेद खण्डशः भगवान् के धर्मों को जताते हुए सिद्ध कर बताते हैं कि ब्रह्म नानाविध धर्मों वाला अनन्त

---

[1] १—पूर्व पक्ष में जो अनिर्देश्य निर्गुण और सत् असत् से उत्तम ब्रह्म है, ऐसे जो तीन विशेषण दिए हैं, सिद्धान्ती उनका निरास करने के लिए कहता है कि ब्रह्म ने जाना कि मेरा व्यवहार हो नहीं सकता है, अतः उसने स्वयं अपनी अलौकिक, शक्ति रूप से अपने को प्रकट किया वह ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति रूप शक्ति है इसलिए वैदिक शब्दों में भी आप अलौकिक ज्ञान और क्रिया शक्ति से विराजमान हैं, अतः वैदिक शब्दों से ब्रह्म का निर्देश हो सकता है, जिससे सिद्ध है कि ब्रह्म अनिर्देश्य नहीं है ।

'पूर्व वद्धा' इस न्याय से कहा है कि ब्रह्म अपने धर्म 'गुण' रूप से स्वयं प्रकट हुआ है, जिससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म 'निर्गुण' नहीं है, यदि पूर्व पक्षानुसार ब्रह्म निर्गुण न होगा तो द्वैत हो जाएगा, यह दोष भी निर्मूल है, क्योंकि ब्रह्म सूत्र* के अनुसार ब्रह्म स्वयं ही धर्म रूप है अतः धर्म (गुण) भी ब्रह्म रूप है, अतः 'द्वैत' नही होगा ।

मैं व्यवहार में भी आसकूं इस इच्छा से ब्रह्म स्वयं कार्य रूप से 'जगत् रूप से' प्रकट हुवे हैं, जिससे वे कार्य कारण से अनभिज्ञ नहीं है, अतः सत् असत् से अतीत भी नहीं कहा जा सकता है

तीनों पदों में 'स्व' कहने से यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म की ज्ञान और क्रिया शक्ति ब्रह्म रूप ही है और वह अलौकिक है, न कि जीवों की शक्ति की तरह जन्य और व्यवहार करने वाली लौकिक है, ब्रह्म के धर्म ही ब्रह्म रूप होते हैं, न कि जीव के अनीशत्व आदि धर्म ब्रह्म रूप हो सकते हैं, ब्रह्म का कार्य जगत् आदि' ब्रह्म रूप है, न कि अविद्या का कार्य मरु मरीचिका, स्वप्न आदि ब्रह्म रूप हैं, इस प्रकार स्वरूप विचार से तीनों का निराकरण कर श्रुति स्वरूप विचार से निराकरण करते हुए कहते हैं कि 'स्वयमेव च वक्ति' स्वयं भगवान् कहते हैं कि जो श्रुति से ही सर्व जाना जाता है, श्रुति लौकिक गुणों को नहीं कहती है, जैसा कि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति वेदैश्च सर्वे रहमेव वेद्य' इत्यादि वाक्यों से स्वयं भगवान् ही कहते है, कि श्रुतियाँ ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली हैं, अतः श्रुतियाँ गुणों कि वृत्ति वाली नहीं है ।

---

* उभय व्यय देशादहि कुण्डलवत्, इत्यादि

है, इसी तरह वेद के समग्र वाक्य ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं, वह वेद वाक्य अपूर्व है, अर्थात् अलौकिक प्रकार का है, लौकिक की भांति नहीं जैसे[1] लोक में जो अर्थ पहले लौकिक पुरुषों की बुद्धि में रहता है, वह पश्चात् उसकी वाणी में वाक्य रूप बन जानने की इच्छा वाले को ज्ञान कराता है, वैसे ही ईश्वर की बुद्धि में रहा हुआ अलौकिक अर्थ भी, उनकी वाणी (वेद वाक्य) में आकर फिर आपके ज्ञान की इच्छा वाले को अपना ज्ञान कराते हैं, इस प्रकार शुकदेवजी सिद्धान्त[2] का निश्चय कर भगवान् की बनाई हुई चार प्रकार की सृष्टि का प्रतिपादन करते हैं, भगवान् ने प्रथम बुद्धि अनन्तर इन्द्रियां, बाद में मन अन्त में प्राण पैदा किए, इस प्रकार समस्त मनुष्य जाति के लिए ये करण बताए, नहीं तो जीव न कुछ समझ सकते और न कर ही सकते जीव सम्बन्धी ये चार ही करण हैं, इन जीव सम्बन्धी करणों में जो सामर्थ्य है वह प्रभु है, अर्थात् इनमें सामर्थ्य प्रभुरूप है, इन चारों में से प्रत्येक के उत्पादन का प्रयोजन कहते हैं, इनमें पहले बुद्धि, मात्रा के लिए बनाई हैं,'मात्रा' का अर्थ है, जिसका माप किया जा सके वे 'मा' और जिसकी रक्षा की जावे वे 'त्राः' अर्थात् ज्ञान और क्रियोपयोगी विषय याने सर्व जगत्, वे टुकड़े टुकड़े किए होने से अर्थात् जुदे जुदे अनेक किए होने से शब्द से समझाने पर भी पुरुषों के ज्ञान और क्रिया के विषय में उपयोगी नहीं बन सकते थे क्योंकि उसमें बुद्धि का अभाव था, अतः बुद्धि को उत्पन्न किया। वह बुद्धि सबका संग्रह कर सकती है जैसे चित्र में (नक्शे में) सर्व पदार्थों की स्फूर्ति होती है, वैसे ही बुद्धि में सर्व जगत् की स्फूर्ति होती है, उस बुद्धि से जो कुछ ज्ञेय है, वा कार्य है, वह सब किया जा सकता है, अतः जगत् के लिए बुद्धि का निर्माण किया है, इससे खण्ड खण्ड अर्थ के प्रतिपादक वेदों का भी बुद्धि से महावाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है, साराशं यह है कि इसी से ही वेदों का ब्रह्म प्रतिपादकपन सिद्ध होगा।

आगे जो तीन फल रूप प्रतिपादन किए गए हैं, उनके लिए बुद्धि का निर्माण किया गया है। यह 'च' पद का आशय है, 'भवः' उद्भव सर्व प्राणि बुद्धि से उन्नति को प्राप्त करते हैं, वैसे ही आत्मा के लिए भी बुद्धि की रचना की है, बुद्धि से ही भगवान् में निष्ठावाले और आत्म स्वरूप में निष्ठावाले होते हैं और भगवत्सेवा करते हैं, कल्पना न होवे, इसलिए भी बुद्धि रची है। बुद्धि से ही ज्ञान में निष्ठा वाले होते हैं, अनेक प्रकार के पदार्थों के ध्यान के लिए कल्पना भी करते हैं, उससे जैसे सर्व सिद्ध होगा, वैसे सर्व प्रकार की सबकी अनुपपत्ति का भी नाश होगा, [तदर्थ बुद्धि पैदा की है, इससे यह सूचन किया है कि पूर्व पक्ष का भी बुद्धि से ही निरस नहीं करना चाहिए, वैसा ही 'भावार्थ'

---

[1] —जब वाक्यार्थ अपूर्व है तो उसका ज्ञान कैसे होगा ? इस शङ्का का निरास दृष्टान्त देकर करते है—जैसे चैत्र घड़ा बनाता है, इस वाक्य का भाव कहने वाले के हृदय में रहता है, पश्चात् उसकी वाणी में आता है, जिससे घट कर्ता के जानने की इच्छा वाले को चैत्र का ज्ञान कराता है, वैसे ही जगत् कृतिरूप वेद का वाक्यार्थ प्रलय समय में ईश्वर की बुद्धि में रहता है, पश्चात् वह ईश्वर की वाणी (वेद) में आता है, अनन्तर जिसको जगत् कर्ता के जानने की इच्छा होती है, उसको वह वेद वाणी ईश्वर का ज्ञान कराती है।

[2] --यही सिद्धान्त स्वसृष्टमिदमापीय' इस अध्याय के १२वें श्लोक में सनन्दन कहेंगे कि प्रलय में अन्य कुछ न होने से भगवान् सत्र व्यवहारातीत का विषय होने से 'अनिर्देश्य' रूप थे, किन्तु पश्चात् सब कुछ हो जाने की स्वशक्ति आदि तीन रूप होने से इच्छासे निर्देश्य, सधर्मक और सद्सद्रूप हुए तब ज्ञान कराने लगे।

अर्थात् जन्मान्तर सिद्धि के लिए 'इन्द्रियाँ' बनाई है, किन्तु केवल जन्मान्तर सिद्धि के लिए, ही इन्द्रियों की सृष्टि है, यों कहना अप्रयोजक होगा, अतः इन्द्रियों की सृष्टि अन्यों के लिए भी है, जैसे कि बुद्धि विचार कर सके इसलिए भी इन्द्रिय सृष्टि है, ज्ञानेन्द्रिय द्वारा ही बुद्धि की उत्पत्ति होती है, इन्द्रियाँ भी मन में संयोग से कार्य करने में समर्थ होती है, अतः मन को सृष्टि की है मनः संयोग से जब इन्द्रियाँ कर्म करती हैं, तब उन कर्मों से जन्मान्तर की प्राप्ति होती है, 'च' शब्द से यह सूचित किया है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति के अन्य भी प्रयोजन हैं, उनसे ही विषयों का ज्ञान होता है और विषयों के कार्य 'भोग' किए जा सकते हैं, इन्द्रियों से ही भगवत्सेवा हो सकतो है, और इन्द्रियों से ही अनेक प्रकार को कल्पना की जाती है, और मोक्ष भी इन्द्रियों द्वारा क्रिया करने से प्राप्त किया जा सकता है वैसे आत्मा के लिए भी मन की रचना की है, जैसा कि श्रुति भगवती कहती है कि 'मनुसैवानुद्रष्टव्यं नैत्र नानाऽस्ति किञ्चन्' अर्थ-मन से ही देखना चाहिए, जगत् में जो अनेक दीखता है वह आत्मा के सिवाय अन्य कुछ नहीं है, और इन्द्रियों की प्रवृति के लिए, मन की सृष्टि की है. प्राणों के उत्पन्न करने का प्रयोजन कहते हैं कि, कल्पना न हो इसलिए प्राण रचे, क्योंकि प्राण कल्पना को दूर करते हैं अर्थात् कल्पना करने नहीं देते हैं, सबकी एकता कराते हैं, अर्थात् सबको आत्मा की तरफ ले जाते हैं,यदिप्राण न होवे तो जब जगत् की प्रलय हो तब यदि अन्न आदि के परिणाम पृथक् पृथक् होवे तो उस समय भी एकता की बुद्धि न होवे । प्राणों से ही क्रिया शक्ति उत्पन्न होती है, और प्राण ही सर्वत्र कारण रूप है जैसे कि कहा है 'अन्नोन प्राणाप्राणैर्बलम्' अन्न से प्राण, प्राणों से बल उत्पन्न होता है, फिर—'प्राणेर्मनो मनसश्चविज्ञान विज्ञानादानन्वोब्रह्म योनि' इति निरूपितम् सक्रमोऽनापिग्राह्यः । अर्थात् प्राणों से मन, मन से विज्ञान विज्ञान से आनन्द वह की योनि[1] है, यों निरूपण किया है, वह क्रम यहाँ भो लेना चाहिए । इसी तरह भगवान् ने सबके उपयोग के लिए ये चार बनाए । इस सृष्टि[2] द्वारा सर्व प्रकार की शङ्काओं को मिटाना चाहिए यह श्रीशुकदेवजी का हृदय है ।

यही बात निबन्ध में कही है, कि यदि भगवान् का कर्तृत्व आदि गुण लौकिक होवे तो लौकिक युक्ति से सिद्ध होवे और उनको लोक बता सके, किन्तु वे सब अलौकिक हैं, क्योंकि इन सबको भगवान् ने स्वरूप में से उत्पन्न किया है अतः इनको अलौकिक वेद ही बता सकता है, अन्य में कहने की सामर्थ्य नहीं है, इसमें भगवान् की अलौकिक कथा का वर्णन है, सब अलौकिक क्रिया है, जिससे यश भी अलौकिक हुआ है 'अलौकिकस्यकरणात् यशोजातमलौकिकम्' उस अलौकिक यश का निरूपण इस अध्याय में श्रुतिओं ने १४ वें श्लोक से २८ वें श्लोक में किया है ॥२॥

आभास—अयमर्थः स्वेनैव परिहृत इति कदाचिच्छङ्का स्यात् तत्परिहारार्थमाह **सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी**ति ।

आभासार्थ इस अर्थ का स्वयं ने ही परिहार किया है, ऐसी शङ्का को मिटाने के लिए 'सैषा' श्लोक में कहते है,

---

[1] कारण

[2] सर्ग, इन्द्रियाँ, मन और प्राण इस चतुर्विध सृष्टि ।

श्लोक—**सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता ।**
श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिंचनः ॥३॥

श्लोकार्थ—यह श्रुति ब्रह्म ने ही प्रतिपादन की है, अतः ब्राह्मी कही जाती है । वह पूर्वजों के भी पूर्वजों ने धारण की है । श्रुति उपनिषद् भी कहलाती है, उपनिषद् का अर्थ ब्रह्म विद्या है, जिसको जो पुरुष श्रद्धा से धारण करता है, वह अकिञ्चन होकर क्षेम को प्राप्त करता है ॥३॥

सुबोधिनी—इयमुपनिषत् ब्रह्मविद्याप्रतिपादिका श्रुतिः । **ब्राह्मी** ब्रह्मणैव प्रतिपादिता । अत्र प्रमाणं **सा** प्रसिद्धा । युक्तश्चायमर्थः । न ह्यन्य इममर्थं परब्रह्मणो निर्वक्तुं शक्नोति । **उपनिषच्छ**ब्देन च ब्रह्मविद्या निरूप्यते । '**उपोप**सर्गः सामीप्ये तत् प्रतीचि समाप्यते । त्रिविधस्य **षदर्थस्य नि**शब्दोऽपि विशेषणम् ।' 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इत्यनुशासनात् । जीवात्मानं परब्रह्मनयनार्थं पूर्वभावाद्विशीर्णं कृत्वा ततः सङ्घातात्केवलमुद्धृत्य ब्रह्म प्रापयित्वा तत्रैव तमवसादयतीति । यथा सर्वोऽप्यंशः विशीर्णो भवति । यथा वा सर्वभावेन तं प्राप्नोति । यथा वा कदाचिदपि ततो न निवर्तते स निशब्दार्थः । एतादृशी ब्रह्मविद्यैव भवति । तथात्रापि सर्वानुपपत्तिपरिहारं कृत्वा वेदान् ब्रह्मप्रतिपादकान् कृत्वा ब्रह्मणि संयोज्य तत्रैव पर्यवसितान् करोतीति । इदं वाक्यं तादृशार्थप्रतिपादकत्वेनानुपपत्ति परिहृत्य सिद्धान्तं स्थापयतीत्युपनिषत्प्रतिपादकत्वादुपनिषत् । तर्हि मदन्तःकरणस्थिता इयमनुपपत्तिः कथं गच्छतीत्याकाङ्क्षायामाह **पूर्वेषां पूर्वजैर्धृते**ति धारणे संमतिः । एतादृशीं **श्रद्धया यो धारयेत्** स **त्वकिञ्चनः** सन् **क्षेमं गच्छेत्** सर्वसन्देहनिवृत्त्या भगवन्तं प्राप्नुयात् । अतः सर्वे संदेहाः उपनिषदर्थविचारेणैव निराकर्तव्या इति सिद्धान्त उक्तः ॥३॥

व्याख्यार्थ - यह 'उपनिषद' ब्रह्म विद्या की प्रतिपादिका श्रुति है, 'ब्राह्मी' है अर्थात् इसको ब्रह्म ने ही प्रतिपादन किया है । ब्रह्म ने इसको प्रतिपादन किया है, जिसमें प्रमाण है 'सा प्रसिद्धा' वह प्रसिद्ध है यदि ब्रह्म ने इसका परिपादन न किया होता तो यह इतनी प्रसिद्ध नहीं हो सकती थी, ब्रह्म प्रतिपादक अर्थ उचित ही है, इसमें यह हेतु है कि ब्रह्म के सिवाय दूसरा कोई भी पर ब्रह्म के इस अर्थ का विवेचन करने में शक्तिमान नहीं है, 'उपनिषद्' शब्द से ब्रह्म विद्या का निरूपण किया है, उपनिषद् पद में उप' उपसर्ग है जिसका भाव है कि जीव को प्रत्यगात्मा के पाम पहुंचा देना । 'नि' षद् का विशेषण है षद् पद षद्लृ धातु से बना है, जिसके तीन अर्थ है, १—विशरण, २—गति ३—पहुँचाना अर्थात् उसमें अवसान करा देना, सारांश यह है कि यह ब्रह्म विद्या जोवात्मा को पर ब्रह्म के पास ले जाने के लिए पूर्वभाव को अर्थात् जीव भाव को स्थिति को नाश कर पश्चात् संघात् से केवल जीव को निकाल ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति कराके उसमें हो उसका अवसान कराती है, जंपे अन्य सर्व अंश विशीर्ण हो जाते हैं, जिस प्रकार सर्व भाव से उसको प्राप्त हो जाता है, फिर जैसे वह कभी भी उसमें से लौटकर नहीं आता है, यह नि' पद का स्वारस्य है, इस प्रकार की विद्या ब्रह्म विद्या ही हो सकती है, वैसे ही यहाँ भी शुकदेवजी के वाक्य में रहो हुई ब्रह्म विद्या, सर्व अयोग्यता को दूर कर वेदों को ब्रह्म बताने वाला वना के ब्रह्म के साथ मिला कर ब्रह्म में ही लोन करतो है,

अर्थात् उपनिषद् जैसा ही अर्थ बताने वाली होके अयोग्यता दूर कर सिद्धान्त का स्थापन करती है, जिससे ब्रह्म विद्या (उपनिषद्) का प्रतिपादक होने से उपनिषद्' है, यों है, तो मेरे अन्तःकरण में स्थित जो यह अनुपपत्ति है वह कैसे नष्ट होगी इसके उत्तर में कहा है कि पूर्वेषां पूर्वजेर्धृता' पूर्वजों के भी पूर्वजों ने इसको धारण किया है, यों कह कर यह राय बताई है कि तू भी इसको धारण करेगा तो तेरी अनुपति नष्ट हो जाएगी, ब्रह्मा से अन्यों ने प्राप्त कर धारण की वैसे ही तूँ धारण कर, ऐसी ब्रह्म विद्या को जो श्रद्धा से धारण करे वह तो अकिञ्चन हो तो भी क्षेम पाता है, अर्थात् सर्व सन्देह निवृति हो जाने से भगवान् को पाता है अतः सर्व सन्देह, उपनिषद् के अर्थ का विचार करने से ही मिटाना चाहिए । यों सिद्धान्त कहा ।।३।।

आभास - स विचारो राज्ञा कर्तुमशक्य इति सर्वश्रुत्यालोडनं महतामपि दुर्घटमिति कृपया स्वयमेव पूर्वं विस्तरेण निर्णीतमिममर्थं वक्तुं प्रतिजानीते **अत्र ते वर्णयिष्यामीति** ।

आभासार्थ—वह विचार करने में राजा समर्थ नहीं है, क्योंकि सर्व श्रुतियों का मथन कर निर्णय करना महान् पुरुषों के लिए भी कठिन है, इसलिए कृपाकर स्वयं शुकदेवजी पहले निर्णय[1] किए हुए श्रुतियों के अर्थ को कहने की 'अत्रते' श्लोक में प्रतिज्ञा करते है,

श्लोक—**अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम् ।**
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ।।४।।

श्लोकार्थ—इस विषय को समझाने के लिए नारायण के सम्बन्ध वाली गाथा आपको वर्णन कर बताऊँगा, जिसमें नारद और ऋषि नारायण का संवाद है ।।४।।

सुबोधिनी - गाथा पूर्ववृत्तान्तप्रतिपादिका वाक्यपरम्परा, सा श्रुतिगीतारूपा । तत्रापि प्रमाणमाह **नारायणान्वितामिति** । आदि**नारायणेन** लक्ष्मीभुजान्तरगतेन उदारगुणवारिधिना संस्थापितोदरजगता शयानेनान्विता । तत्प्रबोधनार्थमेव प्रवृत्तेति । अयमप्यर्थः कुतो ज्ञात इत्याकाङ्क्षायामाह **नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्यचेति** । **अत्र ते वर्णयिष्यामीति** पूर्वेणैव संबन्धः। महता कृते निर्णये निरुक्ते च सर्वेषां संदेहनिवृत्तिर्भवति । न तु येनकेनचिदुदाहृते । अत एतदर्थं संवादं च कथयिष्यामि । चकारात्तेन प्रोक्तं जनलोकसंवादं चोदाहरिष्यामीति ज्ञापितम् ।।४।।

व्याख्यार्थ—'गाथा' पद का आशय है कि पहले जो वृतान्त हो गया है, उसको वाक्यों में कह कर बताना, वह श्रुति गीता[2] रूपा है, इसमें प्रमाण देते हैं कि 'नारायणान्विताम्' वह नारायण सम्बन्धी है, अर्थात् जिसमें भगवान् को जगाने का ही वृत्तान्त है जैसा कि लक्ष्मीजी की भुजाओं में आए हुए, उदार गुणों के समुद्र और समग्र जगत् को उदर में समा कर जो पोढे हुए हैं, उनको जगाने के लिए श्रुतियाँ प्रवृत हुई हैं, अतः यह 'गाथा'

---

[1] —सनन्दन आदि ने जो निर्णय कर दिया है, [2] —वेद स्तुति भी कहते है,

'श्रुति गीता' कही गई है, आपने यों कैसे जाना इस पर उत्तर देते है कि 'नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च' इसी प्रकार ऋषिनारायण और नारदजी का परस्पर संवाद हुआ है, यहाँ आप को वह वर्णन बताऊँगा महत्पुरुषों के किए हुए निर्णय और कहे हुए वचनों को सब मानते हैं, जिनसे उनके सर्व संदेह मिट जाते हैं, यदि ऐसा वैसा साधारण मनुष्य कहे तो संदेह नहीं मिटते हैं, अतः उसके लिए संवाद कहूँगा 'च' पद का तात्पर्य प्रकट करते हैं कि नारायणजी का कहा हुआ जन लोक का संवाद कहूँगा ।।४।।

आभास—संवादार्थं कथाप्रस्तावनामाह **एकदा नारदो लोकानिति** ।

आभासार्थ - संवाद कहने के लिए पहले कथा की प्रस्तावना 'एकदा' श्लोक से कहते हैं

श्लोक—**एकदा नारदो लोकान्पर्यटन्भगवत्प्रियः ।**
सनातनमृषि द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ।।५।।

श्लोकार्थ—किसी काल में भगवान् जिसको प्यारे हैं अथवा भगवान् के प्यारे, वैसे नारदजी लोकों में विचरण करते हुए सनातन ऋषि के दर्शनार्थ उनके आश्रम में पधारे ।।५।।

सुबोधिनी—लोकपर्यटनेनास्याः श्रवणे अधिकारनिरूपिका शुद्धिर्भवतीति सूचितम् । **एकदेति** कालस्तत्र न नियामकः । नारदस्य पर्यटने हेतुमाह **भगवत्प्रिय** इति । क्व भगवतो माहात्म्यं ज्ञातं भवति क्व भगवानिति प्रियान्वेषणार्थं परिभ्रमतीत्यर्थः । एवमेव च परिभ्रमणं कर्तव्यं यथा कौण्डिन्येन कृतम् । ततो भगवद्रूपं भगवत्प्रतिपादकं च नारायणमृषिं बदरीनाथं द्रष्टुं **नारायणाश्रमं ययौ** बदरीस्थाने समागतः ।।५।।

व्याख्यार्थ—नारदजी पर्यटन क्यों करते हैं ? जिसका आशय प्रकट करते हैं कि पर्यटन से 'श्रवण' का अधिकार प्राप्त होता है, और श्रवण में बाधक दोष नष्ट होने से शुद्ध होता है, इसलिए पर्यटन करते है 'एकदा' किसी काल में यों कह कर सूचित किया कि इस विषय में काल रूकावट करने वाला नहीं है, नारदजो के पर्यटन में अन्य हेतु है कि भगवत्प्रिय हैं, अर्थात् नारदजी को भगवान् के सिवाय अन्य कुछ प्रिय नहीं है, अतः घूमने से उस प्रिय के माहात्म्य का ज्ञान प्राप्त होता है, और भगवान् कहाँ मिलेगें ? इसलिए उनको ढूंढने के लिए घूम रहे हैं, और उसी प्रकार भ्रमण करना चाहिए जिस भाँति कौण्डिन्यों ने किया था, पश्चात् भगवद्रूप और भगवाद् के प्रतिपादक एवं उन्हे दिखाने वाले ऐसे ऋषि बदरीनाथ के दर्शनार्थ नारायणाश्रम को गए ।।५।।

आभास—स्थानस्याप्युत्कर्षमाह **यो वै भारतवर्षेऽस्मिन्निति** ।

आभासार्थ—स्थान का भी उत्कर्ष 'यो वै भारतवर्ष' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**यो वै भारतवर्षेऽस्मिन्क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।**
धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः ।।६।।

श्लोकार्थ—जो (नारायण ऋषि) इस भारतवर्ष में मनुष्यों के क्षेम और कल्याण के लिए कल्प के प्रारम्भ से धर्म, ज्ञान और शम से युक्त तप कर रहे हैं ।।६।।

सुबोधिनी—अस्मिन् भारते कर्मभूमौ एकेनापि तादृशं कर्म क्रियते येन जगदेव प्रलयं याति। अतस्तस्य रक्षा दुर्लभेति स्वयं तत् **क्षेमाय** उत्तरोत्तरकल्याणसिद्धये च सर्वेषामेव **नृणां आकल्पात्** कल्पप्रभृति **तप आस्थितः** ।।६।।

व्याख्यार्थ—यह भारत भूमि कर्म भूमि है, यदि एक भी ऐसा कर्म करे जिसमें जगत् का प्रलय हो जावे अतः उसकी रक्षा मनुष्य से कठिन समझ स्वयं उसके (जगत् के) उत्तरोत्तर कल्याण और वृद्धि के लिए कल्प के प्रारम्भ से धर्म, ज्ञान, और शम युक्त तप कर रहे है ।।६।।

आभास—तत्रापि तपःकुर्वाणं कार्यान्तरव्यग्रं एकान्तस्थितं प्रष्टुमशक्त इति सुगमावस्थां निरूपयति **तत्रोपविष्टमृषिभिरिति** ।

आभासार्थ—उस उत्तम स्थान में भी अन्य कार्य में रुके हुए एकान्त में स्थित ऋषि नारायण 'बदरीनाथ' से पूछने में नारद असमर्थ थे, इसलिए 'तत्रोपविष्टमृषिभिः' श्लोक से सुगमावस्था का निरूपण करते है,

श्लोक—**तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।**
परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ।।७।।

श्लोकार्थ—हे कुरु वंशोद्भव ! सर्व विद्यावाले ऋषियों से वेष्टित ऐसे विराजमान को प्रणाम कर नारदजी ने यह ही प्रश्न किया ।।७।।

सुबोधिनी—उपविष्टत्वादवैयग्र्यं कलापग्रामः सर्वविद्यानिधानभूतः कलाः पातीति **ग्रामस्तेषामपि** समूहरूपः सर्व एव कलापा इति । तैर्वेष्टित इति बहिःसत्त्वावस्था प्रतिपादिता । ततः स्वयं **प्रणतः** सन्न**पृच्छत्** । **इदमेव** यत्त्वया पृष्टम् । **कुरूद्वहेति** विश्वासार्थं माहात्म्यम् ।।७।।

व्याख्यार्थ—'विराजमान थे' यों कहने से बताया कि 'व्यग्रता' नही थी 'कलापग्रामः' पद का अर्थ है, सर्व कलाओं की पालना (रक्षा) करने वालों का समूह अर्थात् वहाँ जो ऋषि थे वे सर्व विद्याओ के भंडार थे, ऐसे ऋषियों से वेष्टित थे । जिससे बताया है कि वहाँ सत्त्वावस्था थी, पश्चात् नारदजी ने स्वयं प्रणाम कर वह प्रश्न किया कि जो तुमने पहले श्लोक में प्रश्न किया है, परीक्षित् का इस कथा में विश्वास हो तदर्थ, हे कुरुदहः यह सम्बोधन दे के विश्वास के लिए उसका माहात्म्य कहा है ।।७।।

श्लोक—**तस्मै ह्यवोचद्भगवानृषीणां शृण्वतामिदम् ।**
यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ।।८।।

श्लोकार्थ – ऋषियों के सुनते हुए जो ब्रह्मवाद जनलोक निवासियों को पहले कहा हुआ था, वह ब्रह्मवाद भगवान् ने नारदजी को कहा ।।८।।

सुबोधिनी - अत एव **तस्मै** नारायणो वृत्तान्तमवोचत् । **ऋषीणां शृण्वतामिति** अतिप्राकट्यात् निःसन्दिग्धता निरूपिता । तस्मा अपि भगवानिदमेव पूर्वं निरूपितवान् ।।८।।

व्याख्यार्थ—अत एव विश्वास दुर्लभ होने से नारदजी को, नारायण ने वृत्तान्त कहा। भगवान् ने जो कुछ नारदजी को कहा वह सब ऋषि सुन रहे थे, इस प्रकार स्पष्ट कहने से यह सूचित कर,या है कि मैं जो बात बता रहा हूँ उसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है, यदि संदिग्ध होता तो यों सबके आगे न कहा जाता. यह ब्रह्म वाद जन लोकवासियों को जो कहा था वह नारदजी को पहले संक्षिप्त में कहने से उनका सन्देह मिटा नहीं था, अतः प्रभु फिर नारदजी को वही ब्रह्मवाद अब स्पष्ट एवं विस्तृत रूप से समझाकर कहते हैं ।।८।।

आभास—ततः संक्षिप्तत्वात् यदा नारदस्यापि सन्देहो न गतः तदा नारायणः पुरावृत्तमाह **स्वायम्भुवेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् वह ब्रह्मवाद संक्षिप्त में कहे जाने से जब नारदजी का संशय नहीं मिटा, तब नारायण, पहले कहे हुए को फिर 'स्वायम्भुव' श्लोक में कहने लगे,

श्लोक—श्रीभगवानुवाच-**स्वायम्भुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत्पुरा ।**
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ।।९।।

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे स्वायम्भुव!पहले जनलोक में ब्रह्म सत्र हुआ था, मन से उत्पन्न ऊर्ध्वरेत वाले मुनि जो वहाँ (जनलोक में) रहने वाले थे, उन्होने यह सत्र किया था ।।९।।

सुबोधिनी—पूर्वं **जनलोके ब्रह्मसत्रमासीत्** । यथा कर्मसत्रं सप्तदशावरास्तुल्यफलास्तुल्यसाधनाश्च अहमहमिकया प्रधानगुणभावमाश्रित्य कर्म कुर्वन्ति, एवं निःसन्दिग्धब्रह्मज्ञानार्थं सर्व एव निर्णयार्थं प्रवृत्ताः तेषां विचारो ब्रह्मसत्रम् । तज्जनलोके आसीत् । महःपर्यन्तं कर्मफलमेवेति शुद्धब्रह्मविचारो न भवतीति जनलोकग्रहणम् । **स्वायम्भुवेति** संबोधनं विश्वासार्थम् । न स्थानोत्कर्षमात्रेण विचारः समीचीनो भवतीति विचारकाणां जन्मकर्माद्युत्कर्षमाह **तत्रस्थानामिति**, तत्रैव तिष्ठन्तीति कर्मसंबन्धिदोषाभावस्तेषामुक्तः। **मानसानामिति** ब्रह्मणो मनसा उत्पन्नानां सनकादीनाम् । अनेन जन्मोत्कर्षः सूचितः । तेषां कर्माह **मुनीनामिति** मननशीलानाम् । **ऊर्ध्वरेतसामिति** ब्रह्मविद्याया अधिकारः ।।९।।

व्याख्यार्थ—पहले जन लोक में ब्रह्म सत्र हुआ था, जैसे ब्राह्मण, समान फल चाहने वाले और समान साधन वाले, गुण प्रधान भाव को स्वीकार कर कर्म करते हैं, उसको 'कर्मसत्र' कहा जाता है, वैसे निःसदिग्ध ज्ञान भाव को समझने के लिए, सर्व ज्ञानेच्छु निर्णयार्थ प्रवृत्त हो, वहाँ जो

विचार हो 'ब्रह्म सत्र' है, वह 'ब्रह्मसत्र' जन लोक में हुआ था, कारण कि महर्लोक पर्यन्त कर्म फल ही होता है, इसलिए शुद्ध ब्रह्म विचार वहाँ नहीं हो सकता है अतः ब्रह्म-सत्र के लिए जन लोक ही पसन्द किया गया है, स्वायंभुव! संबोधन देकर सूचित किया है कि इस विषय पर विश्वास रखो, केवल स्थान की उत्तमता से 'विचार' सुन्दर फलदायी नहीं हो सकता है किन्तु विचार करने वालों में भी योग्यता होनी चाहिए अतः जन्म और कर्म आदि से उनका (विचार करने वालों का) उत्कर्ष कहते हैं, १—उनमें कर्म सम्बन्धी दोष नहीं है क्योंकि वे जन लोकों में रहते हैं, वहाँ रहने वालों में कर्म दोष नहीं होता है जन्म से भी उत्तम है, कारण कि ब्रह्मा के मन से उत्पन्न हुए हैं, अतः यह सनकादि जन्म से भी उत्कर्ष वाले हैं, उनके कर्म भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि सदैव ब्रह्म का ही मनन करते है, ब्रह्म विद्या के विचार के लिए अधिकार चाहिए, यदि वह नहीं होगा तो वह विचार निष्फल एवं गिराने वाला होगा, इनमें यह अधिकार भी है क्योंकि ऊर्ध्वरेता अर्थात् ब्रह्मचारी हैं तात्पर्य यह है कि विषयों से जो दूर हैं वे अधिकारी हैं ।।९।।

आभास—नन्वहं कथमिममर्थं न ज्ञातवान् तत्राह **श्वेतद्वीपं गतवतीति** ।

आभासार्थ–मैं इस अर्थ को क्यों नहीं जान सका ? इसका उत्तर 'श्वेतद्वीपं गतवति' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् ।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ।
तत्र हायमभूत्प्रश्नस्त्वं मां यं परिपृच्छसि ।।१०।।

श्लोकार्थ—तुम तो श्वेतद्वीपाधिपति श्री अनिरुद्ध भगवान् के दर्शनार्थ श्वेतद्वीप गए थे, उस समय जहाँ श्रुतियाँ शयन करती (स्थिति) हैं, वहाँ ब्रह्मवाद अच्छे प्रकार से हुआ था । जो प्रश्न मुझ से पूछ रहे हो, वह ही वहाँ पूछा गया था ।।१०।।

सुबोधिनी–क्षीरोदस्थानं भगवतोऽनिरुद्धस्य क्रीडासाधनम् । तत्र श्वेतद्वीपपतिं द्रष्टुं त्वयि गते ब्रह्मवादः सुसंवृत्त इति सम्बन्धः । अनेन सर्वे स्वस्वस्थाने यदा स्थिताः तदा ब्रह्मवादोऽजायत इत्यपि सूचितम् । पूर्णलोकानां स्थितत्वात् कर्मिणः सुखिनः । भक्ता अपि भगवद्दर्शनं कुर्वाणाः यदा सुखिनः तदा ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः ब्रह्मनिरूपणार्थं वादो वीतरागा कथा यत्र तादृशो विचारः सम्यङ्निष्पन्न इत्यर्थः । ननु तदपि स्थानं स्थानान्तरतुल्यमिति कथं तत्र निर्णय इति चेत् तत्राह श्रुतयो यत्र शेरत इति । श्रुतयः सर्वत्र भ्रमणं कृत्वा शयनार्थं तत्र गच्छन्ति । अतस्तासामपि विश्रामस्थानमिति तत्र स्थिताः श्रुतयः स्वाभिप्रायं निवेदयन्तीति श्रुत्यभिमानिनीनां देवतानां मूर्तिधराणां श्रुतीनां वा विचारे वाक्यं संवादीति तत्रत्यो निर्णयः अबाधितः ।

ननु तत्रत्यानां श्रुत्यभिप्रायपरिज्ञानान्निःसन्देहानां विचार एव कथं घटत इति चेत् तत्राह तत्र हायमभूत्प्रश्न इति । तत्रैव ह निश्चयेन अयं प्रश्नोऽभूत् तत्राप्ययं विचारः अपेक्षित इति विचारस्योत्तमत्वमुक्तम् । यन्मां त्वं परिपृच्छसि 'कथं चरन्ति श्रुतयः' इति । अत एव प्रश्नो न निरूपितः ।।१०।।

व्याख्यार्थ – श्वेतद्वीप को क्षीरोद भी कहते हैं, अर्थात् वहां क्षीर समुद्र है वह स्थान भगवान् अनिरूद्ध के क्रीड़ा का स्थान है. वा साधन है. उस क्षीरोद में भगवान् अनिरूद्ध के दर्शन करने के लिए जब तुम गए थे तब जनलोक में ब्रह्म पर अच्छे प्रकार से वाद हुआ था यों वाक्यों का सम्बन्ध है, इससे यह भो सूचित किया कि जब अपने अपने स्थान पर स्थित थे तब ब्रह्म वाद के ऊपर चर्चा हुई थी, कर्म करने वाले जो भूर्लोक से महर्लोक पर्यन्त रहते हैं वे सुखी हैं कारण कि उनकी रक्षा भगवान् नारायण कर रहे हैं. एवं भक्त जन भी भगवान् के दर्शन करने से सुखी थे तब शेष रह ज्ञानी सो वे सुखो नहीं थे, क्योंकि उनके लिए पूर्ण रोति से स्वरूप निर्णय नहीं हुआ था, इसलिए वहाँ ब्रह्म स्वरूप निर्णय के लिए, वाद होने लगा जिस वाद में ऐसी कथा हुई जिसमें राग नहीं है, इसी प्रकार का विचार अच्छी तरह से हुआ वहाँ निर्णय क्यों होने लगा ? वह भी अन्य स्थानों के समान होगा, इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि नहीं यह स्थान वह हैं, जहाँ श्रुतियाँ सर्वत्र भ्रमण करने के अनन्तर आके स्थिति करती हैं, अतः उनका भी यह विश्राम स्थान है, वहाँ स्थित होकर ही श्रुतियाँ अपना अभिप्राय प्रकट करती हैं ।

श्रुतियों के अभिमानी देवताओं का अथवा स्वरूपधारी श्रुतियों का परस्पर विचार जब बिना शङ्का वाला हो जाय, तब वह निर्णय ही सत्य होता है । श्रुतियों के अभिप्राय को जानने वाले वहाँ के निवासियों को जब संदेह ही नहीं रहा, तो फिर उनका विचार करने का कारण ही नहीं है, उनका परस्पर विचार करना बनता ही नहीं है, यों कहने पर उत्तर देते हैं कि 'तत्रहायमभूत् प्रश्न' वहाँ भी निश्चय से यह प्रश्न हुआ, जो तुम मुझसे कर रहे हो । अतः प्रश्न होने पर विचार करना अपेक्षित है, यों विचार करना उत्तम है । तुमने पूछा है कि 'कथं चरन्ति श्रुतयः', इसलिए यहाँ पुनः प्रश्न नहीं कहा है ।।१०।।

आभास—ननु प्रश्ने अज्ञोधिकारी उत्तरे च सर्वज्ञ इति कथं तत्र संवाद इति चेत् तत्राह **तुल्यश्रुततपःशीला** इति ।

आभासार्थ—जो अज्ञ होता है, वह प्रश्नकर्त्ता होता है और वह अधिकारी होकर प्रश्न करता है, जिसका उत्तर सवज्ञ अधिकारी देते हैं । इस प्रकार की अवस्था में वहाँ चर्चा कैसे हो सकी ? इसलिए 'तुल्यश्रुततपः' श्लोक कहकर इस शङ्का का निवारण किया है ।

श्लोक—**तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः ।**
अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ।।११।।

श्लोकार्थ—यद्यपि सब शास्त्राभ्यास, तपस्या एवं स्वभाव में समान थे और मित्र, शत्रु तथा तटस्थों में सम-बुद्धि वाले थे, तो भी उन्होंने अपने में से एक को वक्ता (उत्तरदाता) बनाया, शेष (अन्य) श्रोता बने ।।११।।

सुबोधिनी—तुल्यमेव श्रुतं अध्ययनं तपः शीलं च येषाम् । त्रयं समानमदृष्टजनकम् । एकतराभावेऽपि । शिष्टमप्रयोजकं स्यात् । तुल्यस्वीयारिमध्यमा इति । अन्तःकरणशुद्धिर्ब्रह्मज्ञानोपयिकी । एवं दृष्ट दृष्टप्रकारेण येऽधिकारिणः तेषां मध्ये एकं प्रवचनकर्तारं चक्रुः । प्रकर्षेण वचनं

सिद्धान्त निरूपणरूपं वचनं यस्येति । अपरे च शुश्रूषवो जाताः । 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इति न्यायेन ब्रह्मविचारावृत्तिं कुर्वन्तो जाता इत्यर्थः । ॥११॥

व्याख्यार्थ—जिनका पठन, तप और शील समान है, अदृष्ट को उत्पन्न करने वाले ये तीन गुण भी समान हैं, यदि इन तीन गुणों में से किसी एक का भी अभाव हो जावे तो शेष दो गुण निष्फल हो जावे, अर्थात् अदृष्ट को उत्पन्न न कर सके, सारांश यह है कि मित्र, शत्रु और तटस्थों में उनकी समान बुद्धि न हो सके । जिससे वे शुद्ध अन्तःकरण के अभाव से ज्ञान के अधिकारी न बन सके, किन्तु उन तीन गुणों के होने से ही इनका अन्तःकरणशुद्ध हो गया जिससे वे ज्ञान अधिकारी हुए, ऐसे दृष्टादृष्ट प्रकार से जो अधिकारी हुए, उन्होंने अपने में से एक को वक्ता[1] बनाया अन्य शेष श्रोता बन, 'आवृतिरसकृदुपदेशात्' इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार ब्रह्मस्वरूप के विचार की आवृत्ति करते हुए निर्णय कर निःसंशय हो के ज्ञान की प्राप्ति की ॥११॥

आभास—तत्र सनन्दनो वक्ता सनकादयः श्रोतार इति । सनन्दन आह । संदिग्धार्थनिर्णयार्थं श्रुतीनां वचनानि । तत्तस्य च प्रसङ्गार्थं स्वयमाह द्वाभ्याम् । वेदवाक्यैरेव वेदार्थनिर्णय इति मतम् । संदिग्धेषु वाक्यशेषादिति न्यायात् सर्वेषु वेदेषु तत्त्वनिरूपणप्रकारेणाष्टाविंशतिधा भिन्नेषु तत्तत्संदेहनिवृत्त्यर्थं वाक्यशेषरूपाः एतेष्टाविंशतिश्लोकाः । तेषां प्रकरणं नास्तीति तत्तत्प्रकरणेषु न पठिता इति अनारभ्याधीतानामपि निर्णायकत्वात् सर्वतत्त्वरूपे भगवति शयाने शुद्धरूपेणास्फुरणदशायां मुख्यस्फुरणार्थं तत्त्वभेदनिर्णयान्वदन्तः प्रकृते तात्पयरहिता बोधनमेव तात्पर्यविषयं ज्ञातवन्तः । नटा इव रसाभिनयेन अर्थनिरूपकौ शब्दार्थरूपौ वेदभगवन्तौ यथोचतुः तन्निरूपयितुं तादृशीमवस्थां निरूपयति ।

नाप्येतावता सर्ववेदसन्देहनिवृत्तिः किन्तु केषांचिदेव परार्थं प्रवृत्तानां वेदानां बोधकमेतदिति ज्ञापनार्थं वेदानां वैतालिकत्वं भगवतो राजत्वं च दृष्टान्तेन निरूप्यते । तेन निर्णायका अपि अदूरविप्रकर्षेणैव स्वप्रकरणसन्देहं वारयन्ति न तु भगवन्तं दृष्ट्वेति सूचितम् । वेदतत्त्वानां निवृत्तिरूपत्वं वक्तुं भगवतः पूर्वावस्था निरूप्यते **स्वसृष्टमिदमापीयेति** ।

आभासार्थ—वहाँ सनन्दन वक्ता हुए और सनकादि श्रोता बने संशय वाले अर्थ के निर्णयार्थ सनन्दन श्रुति वचन कहने लगे, वह सिद्धान्त जो शुकदेवजी ने कहा उसके प्रसङ्ग को सनन्दन स्वयं श्लोकों से कहते है—

---

[1] १—जिसके वचन शङ्का निवारक हो प्रमाण रूप माने जाए अर्थात् उसके वाक्य को सिद्धान्त माना जाय ।

वेदों के वचनों से ही वेदों के अर्थ का निर्णय होता है यह सिद्धान्त है।

जो सन्देह वाले वाक्य हो अर्थात् जिन वेद वाक्यों में विषय संदिग्ध हो उसका निर्णय शेष वेद वाक्यों से किया जाता है, इस न्यायानुसार जैसे २८ तत्व पृथक् पृथक् हैं उनका निर्णय भी पृथक् पृथक् २८ प्रकार से किया है, वैसे ही यहाँ भी २८ प्रकार से निर्णय करने के लिए श्रुतियों ने २८ श्लोक कह कर संशय मिटाके सिद्धान्त का निरूपण किया है, इस श्रुति गीता (वेद स्तुति) के श्लोकों का करण वेद में नहीं है, अर्थात् उन उन प्रकरणों में ये श्लोक नहीं पढे गये हैं, जिनका आरम्भ नहीं हुआ है,यदि उनका भी अध्ययन कियाजावे तो वे भी निर्णायक होते हैं। सर्व तत्व रूप[1] भगवान् जब पोढे हुए हैं तब कारण स्वरूप से स्फुरित नहीं होते हैं अतः मुख्य गुण कर्तृत्व की स्फूर्ति हो, तदर्थ तत्त्वों के भेद का निर्णय कहते हैं। यद्यपि स्वयं तात्पर्य से अनभिज्ञ है, तो भी अपने कहने का केवल इतना ही आशय है कि भगवान् जगकर अपने मुख्य गुण कर्तृत्व को कार्य रूप में लावें जैसे नट रस को प्रकट करने वाला वेष बनाकर राजा वा दर्शकों को आनन्दित करते हुए अपने कृतत्व करने में तत्पर कराता है, वैसे ये श्रुतियाँ भी शब्द रूप वेद और अर्थ रूप भगवान् जैसी स्थिति में है उसका निरूपण करने के लिए सनन्दन वैसी अवस्था का निरूपण १२वें-१३वें श्लोक में करते हैं इतने से भी वेद के सर्व सन्देह दूर नहीं होते है, किन्तु अन्यों के लिए प्रवृत्त हुए कितने ही वेदों के बोध कराने वाला यह वचन हैं, समझाने के लिए दृष्टान्त में वेदों को भाट और भगवान् को राजा कहा है, इससे यह सूचित किया है कि ब्रह्म का निर्णय करने वाले भी समीप और दूर से ही अपने प्रकरण का सन्देह मिटाते हैं, न कि भगवान् का दर्शन कर संदेह मिटाते हैं, वेदों के तत्व निवृत्ति[2] रूप है, जिसको कहने के लिए भगवान् की पूर्व अवस्था का निरूपण 'स्वसृष्टमिदमापीय' श्लोक में सनन्दन वर्णन करते हैं।

श्लोक—सनन्दन उवाच—**स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः।**
तदन्ते बोधयांचक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—सनन्दनजी ने कहा कि अपने रचे हुए इस जगत् को सम्पूर्णतया पान कर शक्तियों के साथ पौढे हुए प्रभु को प्रलयान्त में श्रुतियाँ उनके चिह्नों से जागृत करने लगी ॥१२॥

सुबोधिनी - सृष्टेरनादित्वं वक्तुं **स्वसृष्टमिति**। **इदं** जगत् परिदृश्यमानं तस्य सर्वतः पानं पूर्वसृष्टान् सर्वान्मुक्तान् विधायाग्रे स्वस्य कर्तव्याभावमिव ज्ञापयन् **शयान** एव भगवान् स्थितः, ततो वेदाः **सृष्टौ** तत्त्वभेदं विस्मृत्य तिष्ठन्तीति सदुक्तिभिः निःसन्देहप्रतिपादकैर्बोधयन्त इव जाताः। ननु कालात्मिकैव शक्तिः प्रबोधिका वर्तते किं वेदैरिति चेत् तत्राह **शक्तिभिः सहेति**। ततस्त**दन्ते** शयनान्ते प्रबोधसमये, अन्यथा बोधनमपराधायेति। तत्**लिङ्गैः** तत्त्वान्येव भगवतो लिङ्गानि तानि वीर्यापरनामानि भगवन्तं लीनमर्थं गमयन्तीति तैरेव **बोधयांचक्रुः**। यत एताः

---

[1] १- जब प्रभु पोढते हैं, तब सर्व तत्त्व आप में लीन होकर स्थित रहते हैं, अतः 'तत्त्व रूप' हैं।

[2] २- मोक्ष के लिए उपयोगी सृष्टि करने वाला स्वरूप।

श्रुतयः श्रवणमात्ररूपाः, न तु प्रत्यक्षदर्शिन्यः । तत्रापि न साक्षाद्बोधनं किन्तु बोधकमेवोपस्थापयन्ति ॥१२॥

व्याख्यार्थ - 'स्वसृष्ट' पद से अपनी बनाई हुई यह सृष्टि है यों कह कर यह सूचित किया है कि यह सृष्टि अनादि है, इस परिदृश्यमान् जगत् में—जो पैदा हुए हैं उनको मुक्त कर अपने में लीन कर दिया जिससे आपको कुछ भी कर्तव्य न रहा, यों जताते हुए कहा है कि मानो भगवान् सो गये हैं, पश्चात्, सृष्टि में जो तत्व भेद था, उसको भगवान् भूल गए हैं। यों समझ, वेद भगवान् को संदेह मिटाने वाली सदुक्तियों से मानो जगाने लगे, कालात्मिका शक्ति ही जगाने वाली होती है वेदों का इनको जगाने में कोई प्रयोजन नहीं है, यदि यों कहो, तो इस पर कहा गया है, कि 'शक्तिभि:सह' आप काल समेत सर्व शक्तियों को अपने में लीन कर पोढ़े हैं. अन्त:काल[1] शक्ति भी अब कार्य नहीं कर सकती है पश्चात् पोढने के अन्त में अर्थात् जगने के समय श्रुतियों ने जगाया अन्यथा[2] जगाना अपराध हो जावे, भगवान् के जगाने के जो चिन्ह २८ तत्त्व हैं, उनसे जगाती हैं, जिनका दूसरा नाम वीर्य है, ये श्रुतियाँ केवल श्रवणरूप है, जिस कारण मे श्रवण द्वारा ही प्रभु को केवल जगा सकती हैं, प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकती क्योंकि ये साक्षात् सेवा करने वाली नहीं हैं, जिससे वे साक्षात् प्रबोध नहीं करा सकती है किन्तु केवल प्रबोध करने वाले वीर्य के गुण[3] को ही आग स्थापित करती है ॥१२॥

आभास—एतासां श्रुतीनां पुनः स्वतन्त्रतयान्यार्थप्रतिपादकत्वे एतद्विचारोऽपि कर्तव्यो भवेदिति नैषां प्रकरणरूपेण बोधनमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **यथा शयानमिति** ।

आभासार्थ—यदि ये श्रुतियों स्वतन्त्र रूप से अन्य अर्थ की प्रतिपादक होवे तो इसका विचार भी करना उचित हो किन्तु ये प्रकरण रूप से बोध नहीं करती है, यों जताने के लिए 'यथा शयानं' श्लोक में दृष्टान्त कहा है,

श्लोक—**यथा शयानं सम्राजं बन्दिनस्तत्पराक्रमैः ।**
प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः ॥१३॥

श्लोकार्थ—जैसे सोते हुए चक्रवर्ती राजा को प्रातःकाल में उसके अनुजीवी बन्दीजन आकर उसके प्रशस्त कीर्ति युक्त पराक्रमों से जगाते हैं, वैसे ही श्रुतियाँ भी प्रभु को जगाने लगीं ॥१३॥

१—क्योंकि भगवान् को उस समय लक्ष्मीजी ने भुजाओं में लपेट लिया है अतः काल में जगाने की शक्ति नहीं।

२—जगाने का समय न हुआ हो

३—२८ तत्त्वों को

सुबोधिनी—तेषामनुवादकत्वात् न स्वातन्त्र्येण प्रतिपादकत्वम् । तथैता: श्रुतयो भगवन्तमेव तत्कृतान् पराक्रमान् श्रावयन्ति । तत्र हेतुमाह **बन्दिन** इति । प्रबोधनाधिकारिणस्ते विद्योपजीविनश्च । तत्त्वविद्या उपजीव्यैव अधिक फलनिर्णयार्थं प्रवृत्ता । प्रबुद्धो भगवान् कदाचित्साक्षात्कृतो भवेत् कदाचित्स्वानन्दं वा प्रयच्छेदिति तासामप्यभिलाषा । ता: पूर्ववृत्तान्तमेव जानन्ति नाग्रिमवृत्तान्तमिति ज्ञापयितुं त्रिशन्मुहूर्ते अहोरात्रे मुहूर्तद्वयात्पूर्वमेव समागता: तावदेव **बोधयन्ति** । यतस्ते **अनुजीविन**: सेवका: तदप्रबोधे तासां स्वरूपनाश एव स्यादिति सूचितम् । श्रुतयश्च प्रथमनि:श्वासोद्गता इति केचित् । न दृष्टान्तादिना विरुध्यते परं ता: पृथगेव तिष्ठन्ति दृष्टान्तानुरोधेन निरूप्यते ॥१३॥

व्याख्यार्थ—वे भाट केवल अनुवाद करने वाले होने से स्वतन्त्र रूप से निरूपण करने वाले नहीं है, उसी भाँति श्रुतियाँ भी, भगवान् ने जो स्वयं पराक्रम किए हैं, वे उनको सुनाती हैं जिसका कारण यह है कि जो भाट हैं, वे प्रबोधन कराने के अधिकारी और विद्योप जोवी हैं अर्थात् इनको आजीविकार्थ विद्या पर ही आधार है, वैसे ही अधिक फल के निर्णयार्थ प्रवृत्त श्रुतियों की तत्त्व विद्या ही उपजीव्या है, अत: श्रुतियाँ तत्त्व विद्या पर ही आधार रखती हैं ।

जैसे भाटों की अभिलाषा होती है, कि महाराजा प्रसन्न होगा, तो अवश्य पारितोषिक देगा, जिससे हम आनन्दीय भोग कर सकेंगे वैसी ही श्रुतियों की भी यह अभिलाषा थी कि भगवान् प्रबुद्ध[१] होगें तो कभी साक्षात्कार भी हो जाएँगे और कभी अपने आनन्द का भी दान करेंगे ।

वे (श्रुतियाँ) पूर्ववृत्तान्त को ही जानती हैं. होने वाले वृत्तान्त को नहीं जानती हैं. यो जताने के लिए तीस मुहूर्त वाली रात्रि और दिन है, जब शेष दो मुहूर्त रहते हैं, तब आकर जगाती हैं क्योंकि वे सेविकाएँ हैं, यदि वे सेवा कर प्रभु को न जगावे तो उनके स्वरूप का नाश ही हो जावे यह सूचित किया है, कोई कहते हैं कि 'श्रुतियाँ' प्रभु के प्रथम नि:श्वास से प्रकट हुई हैं, यह सिद्धान्त दृष्टांत से विरुद्ध नहीं है, किंतु वे 'श्रुतियाँ' भगवान् से पृथक् ही रहती हैं, यह दृष्टांत से समझाया है ।

आभास - एवं प्रसङ्गमुक्त्वा वाक्शेषरूपेषु प्रथमं प्रकृतिप्रतिपादिका: श्रुतय: किं स्वतन्त्रतया प्रकृतिं प्रतिपादयन्ति तथा सति शक्तेर्देवताया वा प्राधान्यं स्यात् । आहोस्विद्भगवद्रूपां भगवत्त्वेन निरूपयन्ति, आहोस्विज्जीवधर्मरूपेयं प्रकृतिरिति तेषामेव प्रयत्नेन स्वरूपज्ञानेन वा निवर्तनीयेति निरूपयन्ति, आहोस्विन्नि:स्वभावा शशविषाणवत् प्रतिभासत इति, आहोस्विदन्तरङ्गा इयं भगवच्छक्तिर्लक्ष्मीरूपा सत्या, अतस्तस्यामेव स्थितिर्युक्तेति प्रपञ्चनि:प्रपञ्चयोस्तुल्यतया प्रतिपादयन्ति । एवमनेकविधसन्देहोत्पत्तौ प्रकृतिप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयार्थमाह **जय जयेति** ।

आभासार्थ – इस प्रकार प्रसङ्ग का वर्णन कर शेष वाक्यों में प्रथम प्रकृति का निरूपण करने

---

[१] —इस अधिक फल के निर्णयार्थ प्रवृत्त हुई ।

वाली श्रुतियाँ प्रकृति के स्वरूप को किस प्रकार से वर्णन करती हैं, वह कहते हैं कि, १—क्या प्रकृति स्वतन्त्र है। यदि यों हैं तो शक्ति अथवा देवता की प्रधानता होगी।

२—वा प्रकृति को भगवद्रूप कहकर, उसका भगवत्व निरूपण करती है।

३—अथवा यह प्रकृति जीवों के धर्म रूप है, इसलिए उनके ही प्रयत्न से अथवा स्वरूप ज्ञान से उसको निवृत करना चाहिए यों निरूपण करती है,

४—अथवा शशविषाणवत् जिसका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसी भास रही है,

५—अथवा यह भगवान् की अन्तरङ्गा शक्ति, लक्ष्मी रूपा होने से सच्ची है, अतः उसमें ही स्थिति उचित है, जिससे प्रपञ्च होने के समय अथवा प्रपञ्च भाव के काल में उसका समान रूप से प्रतिपादन करती है, इस प्रकार अनेक सन्देहों के होने से प्रकृति पादक श्रुतियों के निर्णयार्थ 'जय जय' श्लोक में प्रकृति का स्वरूप कहा गया है।

श्लोक—श्रुतय ऊचुः—जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥१४॥

श्लोकार्थ—श्रुतियाँ कहने लगीं कि हे प्रभो! आपकी जय हो, जय हो! हे अजित[1]! स्थावर-जङ्गम जीवों की सम्बन्धिनी दोषार्थ ही जितने सत्त्वादिगुण धारण किए हैं, ऐसी निद्रा का आप त्याग कीजिए; क्योंकि आप स्वयं ही सर्व ऐश्वर्यादि भगों को अपने में रोक रखने वाले हैं। स्थावर और जङ्गमों की इन्द्रियों की सर्व शक्तियों को स्फूर्ति देने वाले भी आप ही हैं, आप सदैव स्वस्वरूप से ही क्रीड़ा करते हैं, अतः वेद आपकी सेवा कर रहे हैं, कभी किसी समय अजा से क्रीड़ा करते हो॥१४॥

सुबोधिनी—यथा 'शर्करा अक्ता उपदध्यात्' 'तेजो घृतम्' इति घृतपदश्रवणेनैव तैलमधुक्षीरादिनिवृत्तिः, एवं भगवत्समीपे मायास्वरूपगुणप्रतिपादनश्रवणेनैव सन्देहो निवृत्त इति न पुनस्तत्तत्पक्षनिराकरणार्थं युक्तयो वक्तव्याः। तथाप्युच्यन्ते। तत्र आदौ प्रकृतिनिराकरणार्थं भगवतः स्वरूपेण स्थितिं प्रार्थयन्ते। **जय जय** सर्वोत्कर्षेण वर्तस्वेति वीप्सया सर्वदा सर्वोत्कर्षप्रार्थना, अन्यथा अस्मांस्तत्संबन्धिनो हन्युः। अन्यदपि प्रार्थयन्ते **जह्यजामिति** निद्रां त्यज। ततस्तां मूलतो नाशय येन सम्यक् प्रबोधो भवतीति भावः। ननु तयैवाहं एतावत्कालं वशे

---

[1]- आपको कोई भी जीत नहीं सकता है।

नीतः कथं हन्तुं शक्येति चेत् तत्राहुः **हे अजिते**ति। त्वं न केनापि जितः। योगनिद्रा त्वया लीलयैव गृहीता, न तु जीव इव निद्रया अभिभूतः। भगवन्निद्रा माया सैव प्रकृतिरिति स्वरूपत्रयं एकमेव। अत एव मार्कण्डेयपुराणे ब्रह्मणा योगनिद्रा स्तुता। अनेन तस्या जगत्कर्तृत्वं सुतरामेव निवारितम्। स्वप्नसृष्टिः परं तया सृज्यते न तु सत्या अग्रे सत्यसृष्टेः उत्पत्तिप्रकारं वक्ष्यति। नन्वेषा कथं हन्तव्या यतो गुणवती सुषुप्तौ परमानन्दलक्षणं गुणं प्रयच्छतीति चेत् तत्राह **दोषगृभीतगुणाम्**इति, दोषार्थमेव स्वरूपाज्ञानार्थमेव गृहीता गुणा यया। इयमेव स्वशक्तिद्वारा जीवान् व्यामोहयति। तेषामपि निद्रालस्यादिरूपेण व्यामोहिका वर्तते। तत आह **अगजगदोकसाम्**इति स्थावरजङ्गमदेहस्थितानां जीवानामर्थे जीवानां संबन्धिनीं वा। ननु ममाप्येषा सुखदायिनी अतस्तिष्ठत्विति चेत् तत्राहुः **त्वमसी**ति। यद्यस्मात्कारणात् त्वमात्मनैव **समवरुद्धसमस्तभगोऽसि**! स एव क्षुद्रादिसुखमपेक्षते निद्रालस्यप्रमादोत्थं यस्य स्वरूपानन्दः सात्त्विकानन्दो न संभवति। बोधकत्वं तु तस्या निवर्तितमेव अजितेति पदेन। इष्टसाधकत्वं तु निराक्रियते। त्वमात्मनैव तदपेक्षाव्यतिरेकेणैव सम्यगवरुद्धाः **समस्तभगाः** अणिमादिसुखानि स्वरूपानन्दाश्च यस्य। अत एव तदपेक्षा केत्यर्थः। ननु सेवार्थं जीवा अपेक्ष्यन्ते तेषां चेन्द्रियवर्गः प्राकृतो भवति तत्प्रकृतिविनाशे सर्वमेव विनश्येतेति बाधकमिति चेत तत्राह अगजगदोकसामिति स्थावरजङ्गमानामखिलेन्द्रियाणां **शक्त्यवबोधक**स्त्वमेव, न प्रकृतिरिति। किञ्च। सुतरां ये ते स्थावरजङ्गमास्त्वदीयाः तेषां त्वमेवोद्बोधकः। प्राकृतानां तु विचारोऽप्यस्ति। ननु प्रकृतेर्नाशे तत्पुरःसरतया वेदा मद्बोधने प्रवृत्ताः कथं प्रवर्तिष्यन्त इति चेत्, तत्राह **क्वचिदि**ति। **निगमो** वेदः त्वामनुचरेदेव। क्वचिदेवाजया चरतः, सर्वदा आत्मनैव चरतः। चकारादजया चरणदशायामपि आत्मनैव चरसीति सूचितम्। अत एतदर्थमपि अजा न संरक्ष्या। निगम इत्येकवचनात् कश्चिदेव वेदः अजासंबन्धपुरःसरं बोधयति, तत्रापि स्वरूपस्थितस्यैव; नन्वेतादृशमेव वेदो बोधयतीति कुतो नोच्यते। मैवम्। अरूपमस्पर्शमित्यादिश्रुतयः तत्संबन्धाभावमेव प्रतिपादयन्ति, तथान्या अपि श्रुतयः स्वरूपानन्दबोधिकाः सृष्टिप्रतिपादकाश्च केवलब्रह्मपरा इत्यग्रे वक्ष्यते। अतो मोहिकां शक्तिं नाशयेति प्रार्थना॥

व्याख्यार्थ—'शर्करा अक्ता उपदध्यात्' इस श्रुति में शर्करा को मसलना कहा है, किन्तु किससे मसलना यह नहीं कहा है, दूसरी श्रुति में 'तेजो घृतम्' कहा है कि वहाँ घी को तेज रूप कहा है, किन्तु इसका कहाँ कैसे उपयोग करना चाहिए, यह नहीं कहा है, जिससे समझा जाता है, कि 'तेजो घृतम्' श्रुति उस 'शर्करा अक्ता उपदध्यात्' की शेष श्रुति है, जिसमें यह बताया कि शर्करा को घृत से मसलना चाहिए न कि तैल, क्षीर, मधु आदि से मसलना चाहिए. इस प्रकार भगवान् के समीप माया के स्वरूप भूत गुणों के प्रतिपादन का श्रवण करने से ही सन्देह निवृत होगा इसलिए उपयुक्त पक्षों के निराकरण करने के लिए फिर युक्तियों के कहने की आवश्यकता नहीं है, तो भी कही जाती है, उन युक्तियों में से प्रथम प्रकृति का निराकरण करने के वास्ते भगवान् को प्रार्थना करती हैं, कि आप अपने स्वरूप में स्थिति कीजिए, 'जय जय' जय हो, जय हो इन शब्दों से यह कहा है कि आप सबसे उत्कर्षपूर्वक विराजो, यों दो बार कहा, जिसका भावार्थ है कि सर्वदा आप सबमें उत्कर्ष पूर्वक बिराजो, अल्प समय के लिए नहीं ऐसी श्रुतियों ने पहले ही प्रार्थना की है यदि आप हमारी प्रार्थना स्वीकार न करोगे तो उस प्रकृति के सम्बन्धी हमारा नाश करेंगे दूसरी भी प्रार्थना करती हैं, कि 'जहि अजां' निन्द्रा का त्याग कीजिए, इन शब्दों से यह भाव प्रकट किया कि इसको जड़ से काट

डालो जिससे अच्छे प्रकार से प्रबोध हो, यदि आप कहो कि इतने समय तक मैं उनके वश में रहा हूँ, वह कैसे नाश किया जाए, तो इसके उत्तर में हमारा कहना है कि आप 'अजित्' हैं, अर्थात् आपको जीत कर, कोई भी आपको अपने वश में नहीं कर सकता है. इस अजा अर्थात् योग निद्रा को आपने लीला से ही ग्रहण किया है, न कि जीव के समान निद्रा के वश हुए हो। भगवान् की निद्रा वही माया वह ही प्रकृति है, यों तीनों स्वरूप एक ही हैं, इस कारण ही मार्कण्डेय पुराण में ब्रह्मा ने 'योग निद्रा' को स्तुति की है, यों कह कर यह सिद्ध किया है, कि 'योग निद्रा' जगत् कर्त्री नहीं है, वह स्वप्न सृष्टि रचती है, न कि यह सत्य सृष्टि बनाती है, इस सत्य सृष्टि की रचना का प्रकार आगे कहेंगे।

इसका नाश कैसे किया जाए जबकि यह गुण वाली है. सुषुप्ति में परमानन्द लक्षण वाले गुण का दान करती है, अर्थात् परमानन्द देती है, इसके उत्तर में कहती हैं कि 'दोष गृभीत गुणां' स्वरूप अज्ञान के लिए ही गुणों को धारण किया है, यह ही अपनी शक्ति से जीवों को मोहित करती है, उनको भी निद्रा और आलस्य आदि से मोहित करने वाली है, इससे ही 'अजजगदोकसां' यह विशेषण दिया हैं, जिसका तात्पर्य है कि, स्थावर और जङ्गम देहों में स्थित जीवों के के लिए मोह कर्त्री है, अथवा ऐसे जीवों के सम्बन्ध वाला है, यदि कहो कि यह मुझे भी सुख देने वाली है, अतः यह भले ठहरे अर्थात रहे, इसका उत्तर यह है कि, आप सर्व ऐश्वर्यादि भगों को सदैव अपने में रोक रखते हैं जिससे आपको अन्य से किसी प्रकार के सुख आदि प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है, वह ही निद्रा और आलस्य आदि से उत्पन्न क्षुद्र सुख की अपेक्षा करता है, जिसको स्वरूपानन्द, सात्विक आनन्द प्राप्त न होवे. 'अजित' इस सम्बोधन[1] से अजा का बाधकत्व निवृत करा दिया है, अर्थात् आप अजेय होने से अजा के बन्धन में नहीं आ सकते है, यह आपकी इष्ट सिद्धि करेगी जिसका भी 'समवरूद्ध समस्त भगः' पद से निराकरण करती है। आप उसकी अपेक्षा न रखते हुए स्वयं ही समस्त भगों को धारण कर रहे हैं, तो फिर उसकी अपेक्षा क्यों करें ? सेवा के लिए जीवों की अपेक्षा है, उनकी इन्द्रियाँ प्राकृत हैं, यदि प्रकृति का नाश होगा तो सबका नाश हो जाएगा यह नाश सेवा में बन्धन कारक होगा, इस प्रकार की शङ्का के निवारणार्थ कहती हैं, कि 'अगजगदोकसां' स्थावर और जङ्गमों की इन्द्रियों की शक्ति को जागृत करने वाले आप हैं, न कि प्रकृति है, और विशेष में स्थावर और जङ्गम जो भी हैं वह आपके ही हैं, उनके बोधक आप ही हैं, यदि वे प्राकृत होवे तो विचार भी करना पड़े वे प्राकृत हैं ही नहीं।

यदि प्रकृति का नाश हो जाए तो वेद प्रकृति को आगे कर मुझे जगाने के लिए जो प्रवृत होते हैं वे फिर कैसे प्रवृत होगें ? इस शङ्का के निवारणार्थ कहती हैं कि वेद तो आप को अनुसरण करेंगे ही, कदाचित् आप अजा से क्रीड़ा करते हैं, यों तो आप सदैव आत्म स्वरूप से खेलते हैं 'च' पद से यह सूचित किया है कि अजा से क्रीड़ा करने की दशा में भी आत्म स्वरूप क्रीड़ा कर रहे हैं, जिसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं होती, इसलिए अजा के रक्षण करने की आवश्यकता नहीं है. 'निगम' एक वचन से यह समझाया है कि कोई वेद अर्थात् कुछ श्रुतियाँ कहती हैं कि आप अजा को आगे कर क्रीड़ा करते हैं वे भी यों कहती है कि आप उस समय भी अपने स्वरूप में स्थित

---

[1] —अणिमादि सुख और स्वरूपानन्द

होकर ही क्रीड़ा करते हैं तो क्यों नहीं कहती हो कि ऐसे ही स्वरूप को वेद जगा रहे हैं, यों न कहिए 'अरूप' 'अस्पर्श' इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं कि आप प्रकृति सम्बन्ध रहित हैं. वैसे अन्य श्रुतियाँ भी जो स्वरूपानन्द बोध कराने वाली हैं और सृष्टि का प्रतिपादन करने वाली हैं, वे सब प्रकृति सम्बन्ध रहित ब्रह्म है, यों प्रतिपादन कर रही हैं वह आगे कहा जाएगा अतः इस मोह करने वाली शक्ति को नाम कीजिए यह हमारी प्रार्थना हैं।

कारिका—प्राकृताः श्रुतयः सर्वा भगवन्तमधोक्षजम् ।
स्तुवन्ति दोषनाशाय तत्राविष्टो भवेद्यथा ॥१॥१४॥

कारिकार्थ—जो प्राकृत श्रुतियाँ हैं वे सब अधोक्षज भगवान् को अजा के नाश[1] के लिए स्तुति करती हैं जैसे अजा नाश में जगत् में प्रविष्ट होवे ॥१४॥१॥

आभास—ततो ब्रह्मप्रतिपादनार्थं प्रवृत्ताः श्रुतयः, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इति मध्ये भूतभौतिकसृष्टिं संवादयन्ति ब्रह्मनिरूपणार्थम् । तासां किं ब्रह्मपरत्वं सृष्टिपरत्वं जगतो वा ब्रह्मत्वप्रतिपादकत्वं अध्यारोपापवादेन ब्रह्मावबोधस्थिरीकरणार्थं माहात्म्यप्रतिपादनार्थं वेत्यादि नानासन्देहे तन्निर्धारार्थमाह **बृहदुपलब्धमेतदिति** ।

आभासार्थ ब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिए प्रवृत श्रुतियाँ बीच में (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः' इनमें ब्रह्म को प्रतिपादन के लिए भूत भौतिक सृष्टि का सम्पादन कर रही है, इससे अनेक संदेह उत्पन्न होते हैं कि. ये श्रुतियाँ ब्रह्म परक हैं ? वा सृष्टि परक हैं ? अथवा जगत् को ब्रह्म रूप से प्रतिपादन करने वाली हैं अथवा अध्यारोपायवाद[2] से ब्रह्म का ज्ञान स्थिर करने के लिए है, या तो ब्रह्म का माहात्म्य प्रतिपादन

---

[1] १—अजा के नाश करने के लिए भगवान् को प्रार्थना करती हैं. जिसका भावार्थ है कि भगवान् प्रकृति को सर्वदा धारण नहीं करते हैं, किसी समय ही करते हैं, समग्र वेद का अर्थ ब्रह्म पर ही है, प्रकृति का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ वैसे ही अर्थात् प्रकृति को धारण किए हुए है, भगवान् ही की स्तुति करती हैं, साक्षात् स्वरूप को स्तुति न कर वैसे भगवान् की स्तुति क्यों करती हैं ? जिसके उत्तर में कहा है वह 'अधोक्षज' है अर्थात् उस साक्षात् स्वरूप को श्रुतियाँ भी अपनी सामर्थ्य से नहीं जान सकती हैं, इसलिए अजा के नाशार्थ भगवान् की स्तुति करता हैं, अजा के नाश से अपने (श्रुतियों के भी दोष नाश हो जाएँगे यह भाव है।

[2] २—**अध्यारोप**—किसी भी पदार्थ में समान गुणों के आभास से उसको अन्य पदार्थ मान लेना, अध्यारोप है, जैसे रस्सी में साँप के समान वक्र आदि गुणों के कारण रस्सी को सर्प मान लेना "अध्यारोप" है, 'अपवाद' फिर ये गुण इसमें वास्तविक नहीं है, अतः यह साँप नहीं बल्कि 'रस्सी' है यों समझना अपवाद है – वैसे ही ब्रह्म जगत् नहीं है, किन्तु ब्रह्म को जगत् मान लेना, यह ब्रह्म में जगत् का 'अध्यारोप' है पश्चात ज्ञान होने पर जान लेना कि ब्रह्म में जगत् नहीं है ऐसे अपवाद हो जाने पर सत्य ज्ञान हो जाता है श्रुति इस प्रकार सत्य ब्रह्म का ज्ञान कराती है ।

के वास्ते है,इन सन्देहों का निरासकर सिद्धांत का निर्धारण करने के लिए 'बृहदुपलब्धमेतत्' श्लोक में कहा है —

श्लोक — बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदिवाऽविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—यह दृश्यमान जगत् जिसका हम **अनुभव** कर रहे हैं, वह शेष रूप से सदैव रहता है, इसलिए इस जगत् को ज्ञानी अक्षर रूप जानते हैं; क्योंकि मिट्टी की भाँति अविकृत से विकार के उदय तथा अस्त रूप होते हैं, इसलिए ऋषि लोगों ने मन और वाणी के कार्य को आप में लगाया है। मनुष्यों के पाद जो पृथ्वी पर अङ्कित हो जाते हैं, वे झूठ नहीं होते हैं ॥१५॥

सुबोधिनी—यदा विश्वस्य ब्रह्मत्वं सिद्धं श्रुत्यनुभावाभ्यां तदा अन्याः श्रुतयः तदेकवाक्यतया योजिता एव भवन्तीति भगवन्माहात्म्यप्रतिपादनद्वारा सिद्धार्थप्रामाण्याः साक्षाद्भगवत्प्रतिपादिका इति फलिष्यति, तदर्थं प्रथमं जगतो ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते। एतदुपलब्धं चराचर जगत् बृहदित्येवावयन्ति ब्रह्मविदो वेदाश्च। नन्वेतदनित्यानात्मदुःखात्मकं, ब्रह्म तु तद्विपरीतमिति युक्त्या बाधात् प्रत्यक्षविरोधाच्च कथं ब्रह्मत्वमिति चेत् तत्राह **अवशेषतयेति**। अवशिष्यत इत्यवशेषः। तस्य भावस्तत्ता लोके यदवशिष्यते तस्यैव व्यपदेशः। यथा काचादिसंहिते सुवर्णे यदेवावशिष्यते तस्यैव मूल्यादौ व्यपदेश। यथा वा घृतार्थिनः तन्दुलार्थिनो वा दुग्धधान्यादिषु यदेवावशिष्यते तत्त्वेनैव व्यवहारः क्रयविक्रयादिः। तथा विकारसहिते जगति विकारेष्वपगतेषु ब्रह्मैवावशिष्यत इति। ब्रह्मत्वेनैव व्यपदिशन्ति धान्यमन्नत्वेनैव। नन्वशेष एव कथं ब्रह्मणो निरवशेषतयापि नाशसंभवात्। न ह्यग्निना जले आवर्त्यमाने सर्वशोषे किञ्चिदवशिष्यते। तस्मात्कथं ब्रह्मेति चेत् तत्राऽऽह **यत उदयास्तमयाविति**। 'यतो वा इमानि' इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मण एव जगदुत्पद्यते, ब्रह्मणि च लीयते। अतो मृदादिदृष्टान्तेन ब्रह्मावशेषोऽङ्गीकर्तव्यः। यथा सुवर्णाज्जाते कुण्डले सुवर्णे च लीने अवश्यं सुवर्णमेवावशिष्यते। अतः सुवर्णमेव कुण्डलमिति लोका जानन्ति। ननु जगत उदयास्तमयावेव न स्तः। जनी प्रादुर्भाव इति जननस्याविर्भावात्मकत्वात् 'णश अदर्शन' इति नाशस्यादर्शनरूपत्वाच्च दर्शनादर्शनरूपत्वमाविर्भावतिरोभावरूपत्वं वा जगतोऽवगन्तव्यं। उत्पत्तिप्रलययोः। नत्वसतः सत्ताध्वंसो वाङ्गीकर्तुं शक्य इति चेत् तत्राऽऽह **विकृतेरिति**। अस्तु धर्मिणो वार्ताविकाराः सर्वे पूर्वमविद्यमाना एव आश्रयमाश्रित्य उत्पद्यन्ते इत्यवगन्तव्यम्। अन्यथा ते अविकृता एव स्युः ब्रह्मत्वात्। अत उदयास्तमयावेव विकारजातस्याङ्गीकर्तव्यौ। तथा विकारेषु गतेषु ब्रह्मैवावशिष्यत इति। तत्र दृष्टान्तमाह **मृदि वेति**। यथा मृदवशिष्यते। यथा वा पार्थिवमुपलब्धं मृदेव। ननु मृदेव कथमवशिष्यते कपालादीनामवशेषदर्शनादिति चेत् तत्राऽऽह **अविकृतादिति**। अविकाराद्धेतोः न हि विकृत स्थिरं भवति, ततः कपालस्यापि विकृतत्वादविकृता मृदेवावशिष्यत इत्यर्थः। कुण्डले द्रव्यान्तर-

संबन्धोऽपि कदाचिद्भवेदिति मृदेव दृष्टान्तीकृता। ननु किमतो यद्येवमेवमेतदित्याह **अत ऋषयो दधुरिति**। ऋषयो वेदास्तद्दृष्टारो वा **त्वय्येव मनोवचनाचरितं दधुः**। यत्किञ्चिन्मनसा विभाव्यं यत्किञ्चिद्वाचा अनूद्यं तत्सर्वं त्वय्येव विषये भवति इति त्वय्येव दधुः। मनस्तु मनोरथ भावयतीति मिथ्याविषयमेव भवति तथा वागपि। अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोतीति 'अनृतं वै वाचा वदति अनृतं मनसा ध्यायति' इति श्रुतेः। यत्र वाङ्मनोविषयस्यापि ब्रह्मत्वं तत्र कात्स्न्येनाभिव्यक्तस्य जगतो ब्रह्मत्वे कः सन्देह इत्यर्थः। तेन ब्रह्मविदां सर्वे व्यवहारा ब्रह्मपरा एवेति न केनापि कर्मणा तेषां लेप इति सिद्धचति। नन्वसत्यस्य कथं ब्रह्मत्वमिति चेत् तत्राऽऽह **कथमयथा भवन्तीति**। यत्र क्वचित्स्थापितानि पदानि भुवि कथमयथा भवन्ति। भूमिं न व्यभिचरन्तीत्यर्थः। भूमावेव पतन्ति भ्रमादपि स्वीकृतो विषयः परमार्थतो भगवानेव भवतीत्यर्थः। भ्रमप्रतीतपदार्थानामपि ब्रह्मत्वात् तत्त्वेनैव तस्य भानात्। नहि ब्रह्मातिरिक्तो भासते। तन्तुभ्यः पटरूपेणाविर्भावे शुक्तिकायां वा रजतरूपेणाविर्भावे भगवदिच्छायां कश्चन विशेषोस्ति कार्यस्यापि प्रावरणस्य सुखस्य वा तुल्यत्वात्। अतो मूलभूतस्य सत्यत्वादन्यथाबुद्धचापि मनोवचनस्थापनं ब्रह्मविषयमेव भवतीत्यर्थः॥

व्याख्यार्थ—जब श्रुति तथा ब्रह्म के प्रभाव से सिद्ध है कि यह जगत् ब्रह्म है, तब अन्य श्रुतियों की भी अर्थ में वैसी ही योजना की जाती है, जिससे सबकी एक वाक्यता हो जाए इस प्रकार भगवान् के माहात्म्य प्रतिपादन द्वारा ब्रह्म में ये श्रुतियाँ प्रमाण रूप हैं, जिससे यह फलित होगा कि ये साक्षात् भगवान् की प्रतिपादिकाएँ है, इसलिए प्रारम्भ में जगत् का ब्रह्मत्व प्रतिपादन किया जाता है।

यह परिदृश्यमान चराचर जगत् 'अक्षर ब्रह्म' ही है यों ब्रह्म ज्ञानी और वेद जानते हैं। यदि कहो कि यह विश्व तो अनित्य, अनात्म और दुःख रूप है और ब्रह्म इससे विपरीत नित्य, आत्म रूप और आनन्दमय है, जगत् ब्रह्म है, जिसका इस युक्ति से बाध आता है, और प्रत्यक्ष से भी विरोधभास रहा है, तब जगत् का ब्रह्मत्व कैसे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'अवशेषतया' कहा है, अर्थात् लोक में जो शेष रहता है, उसको ही ब्रह्म रूप कहा गया है, जैसे सुवर्ण के आभूषणों में काचादि जड़े हुए होते हैं, किन्तु काचादि को त्याग जो शेष है, उसको ही सुवर्ण समझ उसका मूल्य कहा जाता है और घृत लेनेवाले हैं तथा चावल लेनेवाले हैं वे दुग्ध वारधि से जो शेष 'घृत' रहता है, उसको ही मूल्य देकर ग्रहण करते है, तथा चांवल लेने वाले भी मूल्य देकर शालियों से शेष रहते तण्डुलों को मूल्य देकर ग्रहण करते हैं, तात्पर्य यही है कि जैसे लोक में क्रय विक्रयादि उस शेष को ही लक्ष्य में रख कर होता है, वैसे ही विचार सहित जगत् में से विकारों को निकालकर जो शेष रहता है, वह ही ब्रह्म है, जैसे धान्य[1] को अन्न[2] कहते हैं वैसे ही जगत् को ब्रह्म रूप कहते हैं जगत् ब्रह्म रूप यदि माना जाए तो ब्रह्म निरवशेष रूप होने से भी उसके नाश को सम्भावना होगी, जैसे अग्नि से जल को उबाल लेने पर सर्व जल (पानी) जल जाता है, शेष कुछ नहीं रहता है, वैसे कुछ भी शेष न रहने से जगत् ब्रह्म नहीं है, ऐसा सिद्ध होने पर जगत् ब्रह्म कैसे ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है, 'यत उदया स्तमयौ' जिससे इस जगत् का उदय (उत्पत्ति) अस्त (नाश) होता है जैसा कि 'यतो वा इमानि भूतानि' इस श्रुति में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति और उसमें ही लीन होना कहा

---

[1] शालियों का [2] तण्डूल (चावल)

है यों कहकर उस उपरोक्त शङ्कार्थ दिया है अर्थात् विकार वाले जगत् का कुछ शेष नहीं रहता है, यह कहना असत् है, जगत् का नाश कहने से विकार का नाश कहा गया है, न कि जगत् का नाश कहा है, क्योंकि जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होने से अविनाशी है अतः ब्रह्म रूप जगत् शेष रहता है, जैसे मृतिका से उत्पन्न घट का नाश होता है तब उसका विकार नष्ट होता है, जिस मृतिका से बना है, वह मृतिका नष्ट न होकर शेष ही रहती है, और वह विकार भी मिथ्या नहीं केवल मृतिका में लय हो जाता है जिससे देखने में आता है, वैसे ही जगत् भी जिस कारण ब्रह्म से उत्पन्न हुवा वह कारण (ब्रह्म) रूप ही रहता है, इसलिए कहा गया है कि जगत् ब्रह्म रूप है दृश्यमान विकार भी ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्म रूप ही रहता है, अतः सम्पूर्ण जगत् शेषरूप से ब्रह्म हो है, दूसरा दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे सुवर्ण से बना हुआ कुण्डल जब नष्ट (सुवर्ण में लीन) होता है तब सुवर्ण ही शेष रहता है अतः सुर्वण ही कुण्डल है यो मनुष्य जानते हैं ।

जगत् की उत्पत्ति और नाश दोनों होते ही नहीं 'जनी' पादुर्भावे जन धातु का अर्थ प्रकट होना है, जिसका तात्पर्य है, जन्म लेना 'णश अदर्शने' धातु का अर्थ देखने में न आना है अतः जन्म और नाश उसका होता है, जिसकी प्रथम सत्ता होवे जगत् की ता सत्ता ही नहीं है तो उसका उदय (जन्म) अस्त नाश) कैसे होंगे इसका उत्तर देते हैं कि 'विकृतेः' जो धर्मी के विकार उत्पन्न होने से 'कार्य रूप में आने से पहले विद्यमान नहीं थे, वे विकार जगत् रूप कार्य का आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं, यों जानना चाहिए अर्थात् धर्मी की उत्पत्ति और नाश नहीं होता है, किन्तु विकार का होता है यदि विकार उत्पन्न न होवे तो अर्थात् 'कार्य' की उत्पति आदि न होवे तो वे अविकारी रहे, कारण कि ब्रह्म रूप होने से अतः जो भी विकार मात्र है, उसका उदयास्त मानना चाहिए, विकार कार्य रूप नष्ट (लीन) हो जाने पर ब्रह्म ही शेष रहता है, उसमें दृष्टान्त् देते हैं 'मृदिव' जैसे मृतिका ही शेष रहती है मिट्टी से बने घट आदि तिका ही शेष रहती है मिट्टी से बने घट आदि मृतिका ही है, वैसे जगत् ब्रह्म ही है, कैसे कहते हैं, कि घट टूटने पर मिट्टी शेष रहती है, घट टूटने पर तो कपाल अवशेष देखने में आते हैं, यदि यों कहो, तो उसका उत्तर देते हैं, कि 'अविकृतात् है तो' अविकार हेतु से कहा है, कि मृद् ही रहती है, क्योंकि जो विकृत है वह स्थिर नहीं होता है, अतः कपाल भी टूटने वाले होने से विकारी है, अतः दृष्टान्त में मिट्टी ही कहो है, कुण्डल में सुवर्ण के सिवाय दूसरा पदार्थ भो मिला हुआ रहता है, इसलिए मिट्टी का दृष्टान्त मुख्य रूप से दिया है ।

जो, यों होवे तो उससे क्या ऐसी जानने की इच्छा होने पर कहते है कि, 'मन्त्रदृष्टा ऋषि' मन वचन से जो क्रिया[1] करते हैं, वह सब आप में धरा है, मन में जो है वह तो मनोरथ ही करता है अतः मिथ्या विषय वाला ही होता है, वैसे वाणी भो, अत्यन्त असत् अर्थ में भी शब्द ज्ञान कराता है, जैसे श्रुति कहती है वाणी से अनृत बोलता है, मन से झूठा ध्यान करता है जहाँ वाणी और मन के विषय को भी ब्रह्मत्व है वहाँ पूर्ण प्रकट जगत् के ब्रह्मपन में कौनसा सन्देह है, इसमे ब्रह्म ज्ञानियों के सर्व व्यवहार ब्रह्म के परायण हो ह, इसलिए किसी भी कर्म से वे लिप्त नहीं होते हैं ।

---

[1] मन से जो कुछ विचारते हैं और वाणी से कहते हैं ।

'असत्य' पदार्थ को ब्रह्मत्व कैसे होगा इस शङ्का का दृष्टान्त देकर निवारण करते हैं कि, पृथ्वी पर कहीं भी स्थापित किए हुए चरण व्यर्थ वा भूठे कैसे होंगे ? अर्थात् वे चरण तो भूमि पर ही रहेंगे, अन्यत्र नहीं जाएंगे, भूमि पर ही पड़े रहेंगे यों भ्रम से स्वीकृत विषय, परमार्थ से भगवान् ही हो जाता है, क्योंकि भ्रम से प्रतीत पदार्थ भा ब्रह्म रूप होने से तत्व से हा उसका मान होता है. ब्रह्म से पृथक् अन्य कुछ है ही नहीं तो अन्य का भान व प्रकाश कैसे होगा !

तन्तु वस्त्र रूप से आविर्भूत होवे अर्थात् तन्तु से वस्त्र बन जावें और शुक्ति[1] रजत[2] रूप से दिखाई दे इन दोनों में भगवान् की अभेद (विशेष) इच्छा● है, वस्त्र अथवा सुख कार्य रूप से समान ही है. अतः मूल भूत पदार्थ सत्य होने से यदि अन्यथा बुद्धि से भी मन वचन की स्थापना की जावे तो वह भी ब्रह्म को ही विषय अर्थात् ग्रहण करेगी ।।१५।।

कारिका—सत्यो हरिः समस्तेषु भ्रमभातेष्वपि स्थिरः ।
अतः सन्तः समस्तार्थे कृष्णमेव विजानते ।।२।।१५।।

कारिकार्थ—जो सत्य पदार्थ है, और जो भ्रम से भासते हैं उन सबमें हरि ही स्थिर है अतः सत्पुरुष अर्थात् ज्ञानी भक्त समस्त पदार्थ कृष्ण के ही रूप हैं, यों विशेष रूप से जानते हैं ।

इस कारिका में कृष्ण को ही वस्तुरूप कहने से यह बताया है कि वेद स्तुति के इस "बृहदुपलब्ध" श्लोक में ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादक श्रुतियों का निर्णय है ।।२।।१५।।

आभास—एवं प्रकृतिप्रतिपादिकाः पुरुषप्रतिपादिकाश्च श्रुतयो निरूपिताः । साधनप्रतिपादिकास्तु 'शान्त उपासीत' इत्याद्याः किमहङ्कारप्रतिपादिकाः तद्द्वारा आत्मप्रतिपादिका वेत्यादिसन्देहे निर्णयमाह **इति तव सूरय** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रकृति प्रतिपादक और पुरुष प्रतिपादक श्रुतियों का निरूपण हुआ अब साधन प्रतिपादन करने वाली 'शान्तउपासीत'[3] इत्यादि श्रुतियाँ, क्या अहङ्कार प्रतिपादन करती है वा उसके[4] द्वारा आत्म का प्रतिपादन करती है, इत्यादि[5] संदेह निवारणार्थ 'इति तव सूरयः' श्लोक कहा है :

---

[1]—सोप [2]—चाँदी

[3]—विधान पक्ष में:— यदि यह श्रुति 'शान्त' पद से यों कहती हो कि शान्ति की प्राप्ति करनो चाहिए तो इसका आशय यह हुआ कि 'कर्ता' अहङ्कार वाला है, अतः यह अहंकार प्रतिपादन करती है ।
अनुवाद पक्ष में:— यदि कर्ता पहले ही शान्त है तो शान्ति के लिए कुछ करना नहीं है; क्योंकि वह निरभिमानी होता है जिससे उसको स्वतः ही आत्म स्फूर्ति होती है, तब श्रुतियाँ ब्रह्म प्रतिपादक हैं ।

[4]—अहङ्कार प्रतिपादन द्वारा,

[5]—आदि पद में यह कहा है कि पूर्व मीमांसा सिद्धान्त से अर्थवादत्व

● तन्तुओं से वस्त्र का दिखना सत्य भान है और सीप से चाँदी दिखना भ्रमयुक्त है, इसमें भगवान् की इच्छा में कोई भेद नहीं होता है । —'लेख'

श्लोक—इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः
परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे तीन लोक के अधिपति प्रभु ! साधन प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ भी ब्रह्म का ही निरूपण करती हैं, यों निश्चय कर आपके भक्त, सकल लोक के मल का नाश करने वाले कथा रूपी अमृतोदधि में स्नान कर तप आदि साधनों को छोड़ देते हैं । हे परम ! जिन्होंने अपने स्वरूप की स्फूर्ति से देह और काल के गुणों को दूर फैंक दिया है और जो निरन्तर सुख का ही जिसमें अनुभव होता है, वैसे पद को भजते हैं, उनका तो कहना ही क्या !। १६॥

सुबोधिनी—'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः' 'आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इत्यादिश्रुतयः अहङ्कारमेव प्रतिपादयन्ति, अन्यथा जीवस्य कर्तृत्वाभावात् एकस्य कर्मकर्त्रभावात् आत्मनः स्वप्रकाशत्वाच्च ।यो ब्रह्मविदमात्मानं मन्यते तस्याहङ्काराविष्टस्य वाक्यार्थध्यानकर्तुः मनोव्यापारोनूद्यते । शान्त इत्यत्रापि मनश्चाञ्चल्यनिराकरणं प्रयत्नसाध्यमपि साहङ्कारस्यैव तत्कृत्यम् । न हि निरहङ्कारः शान्तो भवति दान्तो वा । अन्तःकरणादावध्यासाभावात् । न हि पुत्ररहितः पण्डितपुत्रवान् भवति । तस्मादेतासां श्रुतीनां न शमादिविधौ तात्पर्यम् । किन्तु साहङ्कारस्य महान् क्लेश इति तत्क्लेशमनूद्य निरभिमानस्य स्वत एवाऽऽत्मस्फूर्तिरिति साधनश्रुतीनामपि भगवत्परत्वमेव । अस्मिन्नर्थे हेतुमाह इत्येव विनिश्चित्य **सूरयस्तपांसि जहुरिति** साधनक्लेशांस्त्यक्तवन्त इत्यर्थः । तर्हि कथं मोक्षसिद्धिरिति चेत् तत्राऽऽह **अखिललोकमलक्षपणकथामृताब्धिमवगाह्ये**ति । ननु कथावगाहनमात्रेणैव कथं कार्यसिद्धिः तत्तदंशभागिनां देवानां प्रीत्यभावात्, अतो विघ्नाभावाय तेषां प्रीत्यर्थं साधनानुष्ठानमपि कर्तव्यमिति चेत् तत्राऽऽह **त्र्यधिपत** इति । ननु वेदेन शमादिविधयः प्रतिपादिता इति अपेक्षाभावेऽपि विधिबलादपि शमादयः कर्तव्या इति चेत् तत्राऽऽह **सूरय** इति । ये अविद्यावन्तः तानेवोद्दिश्य श्रुतिः शमादिकं विधत्ते, न तु सूरीन् । अतः सूरयः परमानन्दरूपं साधनं गृहीत्वा साधनदशायामेव कृतार्थाः सन्तः दुःखसाधनेभ्यो निवर्तन्त इति । ननु विद्वांसोऽपि साधनेषु प्रवर्तन्त इति चेत् तत्राऽऽह तव सूरय इति त्वदीयास्तु न प्रवर्तन्त इत्यर्थः । **इती**ति । पूर्वोक्तसर्वब्रह्मत्वपक्षेऽपि साधनादीनां ब्रह्मत्वात् यदि सर्वमात्मैवाभूदिति न्यायेन साधननिवृत्तिर्युक्ता । तस्मिन्पक्षे तूत्तरत्रासङ्गतिः । तापाभावात् । तव च पण्डिताः त्वं च त्रिलोकाधिपतिरिति तेषां निर्भयत्वमुक्तं । भगवत्संबन्धिनामपहतपाप्मत्वात् य एव कथादिषु संबध्यते तस्यैव पापं दूरीकरोतीति अखिललोकमलक्षपणत्वम् । **तवेत्यत्रा**पि संबध्यते । कथैव अमृताब्धिः । कथाया अमृतत्वं तव कथामृतमित्यत्र निरूपितम् । कथायास्त्वब्धित्वं एकस्यां कथायां हृदि स्थितायां ततो भगवदीयाः कथाः सहस्रं भवन्ति । तत एवोत्पद्यन्ते । यथैकस्य वाक्यस्य बुद्धिमतां सहस्रार्थस्य स्फूर्तिः । यथा कस्यचिद्वचनम् । यस्य कस्यापि पद्यस्य शतमर्थान् प्रचक्ष्महे । हठादुक्तस्य तस्यैव सहस्रं संप्रचक्ष्महे । एवं यस्य हृदये सहस्रशो भगवत्कथा

स्फूर्तिः स समुद्रो विवक्षितः तत्रावगाहनं निरन्तर येषां हृदये भगवत्कथानन्त्यं स्फुरति तयैव निर्वृत्या **पूर्णाः क्लेशान्** जहुरित्युक्तम् । एतादृशा एव गुरवो भवन्तीति 'अथ ह वाव तव महिमा समुद्रविप्रुषा' इत्यत्रापि गुरूपदेशलक्षणः विप्रुट् वर्णितः । अत्र तु कथामात्रमिति समुद्रावगाहनोक्तिर्न विरुद्धयते । सिद्धान्तान्तराद्वा । अत्र तापनिवृत्तिरात्यन्तिकी । ततोऽपि क्लेशोक्तिर्न दोषाय । तपःप्रभृतिसाधनानीति विमर्शः । अयं भगवत्परोक्षे स्थितस्य साधनविचार उक्तः । यः पुनरपरोक्षे तिष्ठति वैकुण्ठस्थ इव उद्धव इव वा तस्य किं वक्तव्यमित्याह **किमुते**ति । प्रसङ्गादनवगतमाहात्म्या यथा यादवाः समागताः ते चरणतवका अपि पुष्टिविचारेण कृतार्थाः मर्यादायामकृतार्था उच्यन्ते । यथा यदवो नितरामिति । तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **स्वधामविधुताशयकालगुणा** इति । स्वस्यैव धाम स्फूर्तिः । तेनैव विधुताः दूरीकृताः आशयगुणाः कालगुणाश्च यैः । आशयगुणाः कामादयः कालगुणा जरादयः । यथा भगवत्कृपया कालगुणाभावो निरूपितः तथा स्वस्फूर्त्यैव येषामाशयकालगुणनिवृत्तिः ते मुख्या भगवत्सेवकाः मुक्तोपसृप्यो भगवानिति। ननु किं तेषां भजनेनेत्याशङ्क्याऽऽह **परमे**ति तेषामप्युत्तमः । यथा तेषामपि फलं भवति तादृश इत्यर्थः । अत एव ते **अजस्रसुखानुभवरूपं पदं भजन्ति** । अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमित्यन्तरेव तं ब्रह्मानन्दमनुभवन्तीत्यर्थः ॥

व्याख्यार्थ—शान्त,[1] दान्त,[2] उपरत[3] और तितिक्षु'[4] 'आत्मा[5] में ही आत्मा को देखे इत्यादि श्रुतियाँ अहङ्कार का ही[6] प्रतिपादन करती है यदि अहङ्कार का प्रतिपादन न करती हो तो जीव तो कर्त्ता है ही नहीं, कर्त्ता[7] तथा कर्म[8] दोनों एक ही नहीं बन सकता है तथा आत्मा स्वप्रकाश[9] होने से जो अपने को ब्रह्म वेत्ता समझता है एवं वाक्यार्थ का ध्यान करने वाले उस अहङ्कारी विष्ट के मन का वह व्यापार कहा जाता है शान्त' इस श्रुति में भी प्रयत्न साध्य मन की चञ्चलता भी निराकरण करना साहङ्कारी* का ही कृत्य है अहङ्कारी नहीं है, वह शाँत और दान्त कैसे बनेगा? क्योंकि उसके अन्तकरण आदि में अध्यास† है ही नहीं जिसको पुत्र नहीं है, वह विद्वान पुत्र का पिता कैसे बनेगा ? इसी से इन श्रुतियो का शमादि, विधि में तात्पर्य नहीं है, किन्तु अहङ्कारो का

१—अनुवाद पक्ष अर्थात् ये श्रुतियां अहंकार का ही अनुवाद करती हैं, अतः वह पक्ष ही सिद्धान्त है यों ये जनाती हैं, २—जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, ३—त्यागी,

४—सहनशील, ५—अपने में ही, ६—एव 'ही' पद से यह कहा है कि कर्तापन अहंकार में रहा है

७— दर्शन करने वाला आप

८—दर्शन देने वाला भी आप 'आत्मनि एव आत्मानं पश्येत्' अतः इसका भावार्थ है कि अहंकारा विष्ट का ही मनो व्यापार है अर्थात् वास्तव में भगवान् का दर्शन करता है केवल जीव अहंकार से समझता है कि मैं अपना दर्शन कर रहा हूं,

९—स्वप्रकाश स्वरूप को दर्शन का विधान नहीं किया जा सकता है, इसलिए 'आत्मनः' पद है ।

* अहङ्कारी को भगवान् का दर्शन साधन बल से नहीं होता है क्योंकि वे शमादि सिद्ध नहीं कर सकते हैं किन्तु भगवान् उन पर भी कृपा कर उनका उद्धार करते हैं ।

† अध्यास न होने से अन्तःकरण का मानो अभाव ही है तो फिर अभाव में अन्तःकरण कैसे शान्त होगा । दृष्टान्त से समझाते हैं कि जिसके पुत्र नहीं है वह विद्वान् पुत्र का पिता कैसे बनेगा ?

महान् क्लेश होता है, यों बताकर कहते हैं, कि जो अहङ्कार रहित हैं, उनको स्वतः ही आत्म स्फूर्ति होती है, यों साधन श्रुतियाँ भी भगवत् पर ही है, इस विषय को दृढ करने के लिए हेतु कहा है. कि इस प्रकार 'साधनश्रुतियाँ भगवत् परायण ही हैं यों' निश्चय कर ज्ञानी भक्तों ने साधनों[†] को त्याग दिया है, यदि उन्होंने साधन त्याग दिए तो उनका मोक्ष कैसे होगा ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'अखिललोक मलक्षपण कथामृतब्धिमवगाह्य' समस्त लोकों में मलों को नाश करने वाले कथा रूप अमृतोदधि में स्नान कर आनन्द[1] प्राप्ति करते हैं, केवल कथा के अवगाहन करने से ही कार्य (आनन्द वा मोक्ष) की सिद्धि कैसे होगी, तम आदि अंश वाले देव जब प्रसन्न नहीं तब मोक्ष सिद्धि में विघ्न पड़ेगे अतः विघ्नों को मिटाने के लिए और उन देवों के प्रसन्नतार्थ साधनों का करना भी आवश्यक है, इस पर कहते हैं कि 'अधिपते' आप तीनों लोकों के अधिपति हैं, जिससे आपके भक्तों के मोक्ष' में कोई देव भो विघ्न डालने में समर्थ नहीं, क्योंकि, वे देव भी आपके आज्ञाकारी सेवक हैं ।

शम[2] आदि विधिओं का वेद ने प्रतिपादन किया है, अतः अपेक्षा न होवें तो भी विधि के बल से उनका पालन करना चाहिए, यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है, कि 'सूरयः' जो इस विधि का पालन नहीं करते हैं वे विद्या वाले हैं. वेद अविद्यावालों के लिए ही शमादि का विधान करते हैं, न कि विद्या वालों के लिए आज्ञा देते हैं, अतः वे भक्त परमानन्द रूप साधन को पकड़ कर साधन दशा में ही कृतार्थ होने से दुखः रूप साधनों से निवृत हो जाते हैं. यदि कहो कि विद्वान भी साधन करते हैं तो इसका उत्तर यह है. कि वे विद्वान् आपके शरणागत् भक्त नहीं हैं. आपके भक्त तो साधन क्लेश नहीं करते हैं, इसलिए ही केवल 'सूरयः' न कहकर 'तव सूरयः' कहा है, तथा 'इति' शब्द से उसी अर्थ का समर्थन किया है एवं यदि 'सर्व ब्रह्म' ही है' यह पक्ष लिया जावे तो साधनादि भी ब्रह्म रूप होने से निवृत्ति उचित है. किन्तु यों मान लेने से पोछे के अर्थ को सङ्गति नहीं होती है, कारण कि सर्व ब्रह्म मान लेने से साधनों के करने में ताप नहीं होता है. किन्तु यहाँ तो साधनों को दुःखद अर्थात् ताप करने वाला जान कर छोड़ देते हैं यों असङ्गति होती है, वे विद्वान् (भक्त ज्ञानी)[*] आपके हैं, आप त्रिलोकाधिपति हैं, इस कारण से उनका निर्भयत्व कहा है, क्योंकि जो भगवान् के सम्बन्धी भगवदीय हैं भगवत्सम्बन्धो चरित्र हैं उनके संसर्ग वालों के पाप स्वतः नष्ट हो जाते हैं, जिससे आपके भक्तों के लिए आप की कथा ही अमृत सागर है इसलिए कहा है कि 'तव कथामृत' आपकी कथा अमृत है, 'कथा' समुद्र है. जिससे एक हो कथा को हृदय में स्थित कर लेने से उससे अनेक भगवच्चरित्र उत्पन्न होते हो रहते हैं, जैसे विद्वानों को एक हो वाक्य से सहस्त्र अर्थों की स्फूर्ति होती है, जैसे किसी विद्वान् ने कहा है कि 'यस्यकस्यापि पद्यस्य शतमर्थान प्रचक्ष्म है, हम किसी श्लोक के शत अर्थ कहते हैं, यदि हठ करें तो सहस्त्र भी कह

[†] साधनों के बल का (आश्रय का) त्याग कर उन्होंने वेदाश्रय लिया है,

[1] —मोक्ष

[2] —'शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति' अर्थ—शम द्वारा शान्ति को प्राप्तकर शिव (मोक्ष) प्राप्त करते हैं ।

[*] क्योंकि वैसे ज्ञानियों को साधनों का ताप क्लेश न होने से साधन त्याग कहना संगत नहीं, वे तो साधन करते हो नहीं हैं, किन्तु साधन क्लेशादि समझ जो त्याग करते हैं, वे अहङ्काराविष्ट हैं पूर्ण ज्ञानो नहीं हैं, भक्तों को सेवा में अध्यास होने से ताप की सम्भावना है,

सकते हैं. इस पर जिसके हृहय में हजारों भगवत्कथाओं की स्फूर्ति होती है, वह समुद्र कहा जाता है, उसमें अवगाहन, अर्थात् जिनके हृदय में भगवान् की अनन्तकथाओं की, स्फूर्ति हो रही है, उस स्फूर्ति से ही वे पूर्ण होके साधन क्लेशों का त्याग करते हैं, वैसे ही 'गुरु' होते हैं, यों कहा है, 'अथ हवाव महिमा समुद्र विप्रुषा इत्यत्रापि गुरूपदेशलक्षण: विप्रुट् वर्णित:' इस श्रीमद्भागवत के वाक्य में कहा है कि आपकी महिमा रूप समुद्र के बिन्दु से अर्थात् वहाँ तो गुरु के उपदेश रूप बिन्दु का वर्णन किया है. यहाँ तो सम्पूर्ण कथा कही हुई है, इसलिए समुद्र में अवगाहन की उक्ति का विरोध नहीं हैं, अथवा अन्य सिद्धान्त होने से भी उक्ति का विरोध नहीं है. इस शरणागत पक्ष में साधन क्लेश ताप की जो निवृत्ति होती है, वह सदैव के लिए होती है. फिर क्लेश का उदय नहीं होता है, कारण, कि यहाँ कथामृत सागर में अवगाहान हुआ है, ज्ञान मार्ग में बिन्दु से विषय सुख निवृत्ति की जाती है, इसलिए पुन: स्मृति होने से संसार क्लेश हो सकते हैं। आग को बुझाने के लिए अधिक जल डाला जाए, तो वह आग बुझकर फिर प्रदीप्त न होगी किन्तु यदि स्वल्प जल डाला जावे तो ऊपर से तो आग बुझी हुई दिखगी किन्तु भीतर जलती रहने से वायु का थोड़ा सा संसर्ग हुआ, तो वह प्रदीप्त हो जाएगी. इसी दृष्टान्त से इस ज्ञान और भक्ति के बल के तारतम्य को समझ लेना चाहिए, उससे भी क्लेश[1] की उक्ति का कहना दोषार्थ नहीं हैं. तपस्या आदि साधन हैं, उनका त्याग कर देना यह समीक्षा है ।

अब तक जो यह साधन विचार किया वह भगवत्परोक्ष में स्थित जीव का कहा जो जीव परोक्ष में नहीं है, किन्तु वैकुण्ठस्थ उद्धवजी के समान सान्निध्य में है उनके लिए तो क्या कहना ? इसलिए 'किनुत' पद दिया है ।

जिन यादवों ने भगवन्माहत्म्य न जान कर भी भगवान् के संसर्ग में आकर चरण सेवा की है, वे पुष्टि (अनुग्रह) के विचार से तो कृतार्थ हैं किन्तु मर्यादा मार्ग में ही अकृतार्थ कहे हैं, जैसे कि 'यदवो नितरां' कह कर उनकी अकृतार्थता दिखाई है उन (यादवों) की व्यावृति के लिए कहा है कि 'स्वधामविधुताशय काल गुणा' इति (आपकी स्फूर्ति से दूर कर छोड़े हैं, काम और जरा आदि गुण जिन्होंने ऐसे भक्त) जैसे भगवत्कृपा से भक्त में काल के गुणों का अभाव हो जाता है, वैसे ही स्वस्फूर्ति से ही जिनके काम और काल के गुणों की निवृत्ति हो जाती है. वे मुख्य भगवत्सेवक हैं कारण, कि भगवान के पास मुक्त[2] जीव ही जा सकते हैं ।

यदि वे मुक्त हैं, तो वे भजन क्यों करें ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'परम:' भगवान् उन मुक्तों से भी उत्तम हैं, अत: उनके लिए भी वे फल रूप हैं । अतएव सर्वदा ही अन्तर[3] रहित आनन्द रूप सुख का अनुभव करते रहते हैं, अन्तर्यामी और अवतार स्वरूप भगवच्चरण हैं, अत: वे भीतर अन्त:-करण में हा उस ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं ।।१६।।

---

[1] १—साधन करने में क्लेश होता है यो कहने में दोष नहीं है ।

[2] २—जिसके कामादि एवं जरादि दोष नष्ट हो गए हैं वे मुक्त हैं, अत: प्रथम स्वरूप योग्यता के लिए इस प्रकार से मुक्त होने की आवश्यकता है, मुख्य भक्तों को परम फलस्वरूप से मुक्ति की अपेक्षा नहीं है ।

[3] ३—बिना रुकावट के ।

कारिका—कथानन्त्योक्तिहृदयाः साधनानि न कुर्वते ।
साक्षात्ते पादसंश्लिष्टास्ते किं वाच्या महाशयाः ॥३॥१६॥

कारिकार्थ—जिनके हृदय में कथा के अनन्त वचन रमण कर रहे हैं, वे साधन नहीं करते, तो जो लोग साक्षात् भगवान् के चरणों का आश्रय लेकर बैठे हैं, उन महाशयों के लिए तो कहना ही क्या अर्थात् वे साधन न करें, तो कौनसा आश्चर्य है ? ॥१६॥३॥

आभास—एवं साधनविधीनां निर्णयमुक्त्वा ये देवतान्तरोपासनादिविधयः कर्मविधयो वा तेषां निर्णयो निरूप्यते । सूत्रात्मको महानिति । तेषां करणं किं विधिसामर्थ्यात् नियोगन्यायेनाहोस्वित्कामनायां सत्यामभ्यनुज्ञामात्रं क्रियते, आहोस्विन्निषेधार्थमनुवाद इति । अथ 'योन्यां देवतामुपास्ते' इत्यादिषु तेषां निर्णयार्थमाह **दृतय इव श्वसन्तीति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार साधनों की विधियों के निर्णय को करने वाली श्रुतियों का निरूपण कर, अब देवतान्तरों की उपासना की विधियों का और कर्म के विषयों का निरूपण किया जाता है; क्योंकि 'सूत्रात्मक महान् है' अर्थात् महत्तत्व जीवन रूप है, उन (अन्य देवोपासना और कर्म) का करना क्या शास्त्र की विधि की समर्थता से वा आज्ञा के नियम से अथवा किसी प्रकार को कामना होवे, तो केवल करना चाहिए, यों श्रुतियाँ आज्ञा करती हैं अथवा उपासना और कर्म नहीं करने चाहिए, एतदर्थ उनका वर्णन करती हैं, 'योऽन्यां देवतामुपास्ते' इत्यादि श्रुतियों में कहा है कि आगे के समय के विद्वान् अग्निहोत्र आदि नहीं करते थे । अतः कर्मादि नहीं करने चाहिए, इसलिए 'दृतय' श्लोक में उनका निर्णय कहते हैं—

श्लोक—**दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा**
महदहमादयोऽण्डमसृजन्यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—जो आपके सेवक हैं, वे ही प्राणधारी हैं, शेष अर्थात् जो आपका भजन नहीं करते, वे धौकनी की तरह केवल हवा ले रहे हैं । आपके ही अनुग्रह से महत्तत्व अहङ्कार आदि ने इस ब्रह्मांड को रचा है, जो आप अन्नमय आदि में अन्तिम हैं, वह आप ही देहों में पुरुषविध एवं अन्वय हैं । कार्य और कारण से भी जो परे हैं, वह भी आप ही हैं और जो ये सर्व कार्य-कारणात्मक वस्तु हैं, उनमें जो शेष रहता है, वह सत्य भी आप ही हैं ॥१७॥

सुबोधिनी—ये लौकिकाः कामनया प्रवृत्ताः तदर्थं श्रुतिर्व्यर्थेति साधनसंबन्धमात्रसार्थकत्वेऽपि इतरवैयर्थ्यापत्तेः नियोगपरतया तत्करणं मन्यन्ते। ते उभयेऽपि **दृतय इव श्वसन्ति**। एके प्राणपोषकाः तत्पोषार्थं श्रुत्युक्तं कुर्वन्ति। अत्र केवललौकिकाः प्रकरणेनैव निषिद्धा अत एव नोच्यन्ते। ब्रह्मविदामेव विचारविषयत्वात्। वैदिकाः सर्व एव ब्रह्मवादिनो भवन्तीति कामनापरत्वं विधिपरत्वं वा ये मन्यन्ते वेदानां ते निन्द्यन्ते प्राणपोषका इति प्राणोपाधिग्रस्ता इति च। दृतयो हि अतप्तानेव सर्वान् एव धातून् तप्तान् कुर्वन्ति। अतस्ते परतापकर्तारः बहिर्मुखाः समर्थाः सन्तः अन्यानेव पीडयन्तीति। सुतरां पशुघातकाः। 'यो नः शपादशपतः' 'यो नः सपत्नः' 'यो मां द्वेष्टि जातवेद' इत्यादिश्रुतिभिः अलौकिकप्रकारेणापि सर्वोपद्रवकर्तारः ते मृतप्राया एव इहामुत्रार्थफलरहिताः परोपद्रवार्थमेव जीवन्तीत्यर्थः। ये पुनः 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' इति प्रकारेण यज्ञादिभिः त्वदावरणत्वेन देवतान्तरोपासनां च कुर्वन्ति ते **त्वदनुविधाः**। ये त्वदनुविधाः अनु विदधतीत्यनुविधा भक्ताः ते एवा**सुभृतः** सफलप्राणाः। न तैः परोपद्रवः संभवतीति। किञ्च। ये पूर्वोक्ताः तेषां दूषणान्तरमुच्यते **महदहमादयः** इति 'कृतघ्ने नास्ति निःकृतिः' इति भगवदाज्ञया महदादिभिः कृते ब्रह्माण्डे तत्र स्थित्वा तैरेव निष्पादितं शरीरं परिगृह्य तेषां तत्स्वामिनो वा येऽनुविधानं न कुर्वन्ति ते कृतघ्नाः। अथ च ये भगवत्सेवकाः तेषां सर्वभावेन भगवद्भजनं युक्तमिति वक्तुं महदादयोऽपि भगवत्सेवार्थं भगवत्क्रीडाभाण्डं ब्रह्माण्डं ससृजुरिति निरूपितम्। करणेऽपि तेषां न स्वतः सामर्थ्यं किंतु यदनुग्रहादेव, अतो भगवच्छेषतया देवतान्तरभजने न कोऽपि दोष इत्यपि सूचितम्। प्रकारान्तरेणाप्युभयेषां निन्दास्तुती निरूप्येते **पुरुषविधोऽन्वयोत्र चरमोऽन्नमयादिषु य** इति। अत्र देहे पुरुषविधोऽन्वयः यश्च भगवान् अन्नमयादिषु चरमः। यथा भाण्डकर्तारः प्रथमतः आकृतिं कृत्वा पश्चाद्धातून् पूरयन्ति अन्यथा पूरित भाण्डनिर्माणं न भवति, तादृशो देहः। अन्ये तु घटादयः कृतिसाध्याः। ततोऽत्र देहे कश्चिदान्तरो वर्तते य एवंविधः यदुपरि समागताः अन्नरसादयो भवन्ति। अन्यथा भस्मोत्कर इव राशीभूताः स्युः। अतो योऽन्तःस्थितः प्रत्यहं तादृग्भावं संपादयति सोऽत्यन्तं मान्यो भवति 'तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः' इति श्रुतौ तस्य भगवतः पुरुषप्रकारमेव लक्षीकृत्य अयमन्नमयादिः पुरुषविध इति अस्य पुरुषविधत्वं भगवदन्वयेनैव निरूपितम्। पुरुषविधस्त्वन्वयः वंशन्यायेन समागत इत्यर्थः। नन्वन्नमयान्वय एव भगवतो भवतु को विशेष इति चेत्, तत्राह अत्र अन्नमयादिषु **यश्चरम** इति। अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयेषु चरम आनन्दमयः स तु सर्वान्तरः आनन्दमयत्वादेव न तस्य प्रयोजनमन्यदस्ति। अन्यं च नापेक्षत इति सूचितम्। अन्तःस्थितो ह्याकारसमर्पको भवति। तस्य पुरुषविधतामित्यत्र प्रकृतः षष्ठ्यन्तेनोच्यते तस्यैव पूर्वोक्तत्वात् पूर्वोक्त एव हि परामृश्यते। 'स वा एष पुरुषविध एव' इति पूर्ववाक्यम्, अयमिति सर्वत्रान्नमय एव ग्राह्यः। अनन्तरोक्तो वा, न तु पूर्वपुरुषविधत्वेनोत्तरस्य पुरुषविधत्वमिति कदाचिदपि मन्तव्यम्। भगवांश्चाऽऽनन्दमयः। अत्र केचित् कोशप्रतिपादकाः स्वार्थं शोकप्रतिपादका एव। आनन्दमयस्य त्यागे शोकस्यैवावशेषात्। मयट्प्रत्ययानुपपत्तिश्च सूत्रकारेणैव परिहृता प्राचुर्यादिति। 'द्व्यचश्छन्दसि' इति व्याकरणेऽपि विकारे आनन्दशब्दात् त्र्यचः मयड्विधानाभावः, तस्मात्साकारब्रह्मद्वेषादेव कैश्चित्तथा व्याख्यातम्। ब्रह्मपदश्रद्धया वा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति आनन्दमयस्य पुच्छत्वेन ब्रह्मनिरूपणात्। हंसाकृतित्वकथने पुच्छत्वं परमात्मनः' इति सिद्धान्तापरिज्ञानात्। अन्यथा ज्ञानभक्तिमार्गयोरेकफलत्वं न स्यात्। भगवच्चरणस्याब्रह्मत्वादित्यलं विस्तरेण। **भाष्ये** विस्तरस्योक्तत्वात्। अतः योऽन्तःस्थितः आनन्दं संपा-

दयति पुरुषत्वं चैतादृशं ये न मन्यन्ते ते कृतघ्ना इति किं वक्तव्यम्। ये वा भजन्ते तेषां युक्तमिति वा किं वक्तव्यमित्यर्थः। किञ्च। यत्किञ्चिज्जगति कार्यं तस्य सर्वस्य त्वमेव नियन्ता तदाह **सदसतः परं त्वमिति**। यत् सदसतः कार्यकारणयोः परं नियन्तृत्वेन विचारितं ब्रह्म तत् त्वमेवेत्यर्थः। किञ्च। न केवलं नियामकत्वमात्रं किंतु भिन्नप्रक्रमेण भेदं परिहृत्य एतद्रूपत्वेनैवोत्तरमुच्यते यदेष्ववशेषमिति। अवशिष्यत इत्यवशेषः। एतत् पूर्वमुपपादितम। यथा सर्ववस्तुष्वयं भगवानवशिष्यत इति। अतः पर्यवसानन्यायेन तस्यैवानुसरणं कर्तव्यं सर्वत्र नान्यस्य नश्वरस्येति हेतुरुक्त उभयत्रापि। किञ्च। **यदेषु ऋतं** तद्भगवानेव इत्यर्थः। अवशेषमात्रेण न कार्यं सेत्स्यति तस्यापि कालान्तरे नाशसंभवात् घृतादिवत्। अतो हेत्वन्तरमुच्यते ऋतमिति। एवं पञ्चहेतवो निरूपिताः स्तुतौ निन्दायां च॥

व्याख्यार्थ—जो लौकिक पुरुष हैं, उनकी पशु पुत्रादि कामनाओं की पूर्ति के लिए ही श्रुति ने उपासना कर्म करने की आज्ञा दी है, यों जान कर वे कर्म करते हैं और कामना से साधन करने वालों को श्रुति फल देती है.तो भी जो निष्काम हैं उनके लिए श्रुति निष्फल है,अतः निष्काम मानते हैं. कि वेद की आज्ञा है, कि उपासना और कर्म करने चाहिए इसलिए करने पड़ते हैं, इस प्रकार के ये दोनों पुरुष धौंकनी की तरह केवल श्वास लेते हैं, एक प्राणों के पोषक होने से श्रुति में कहे हुए कर्म आदि कामना से करते हैं, जो केवल लौकिक हैं वे प्रकरण से ही निषिद्ध हैं, इसलिए ही उनका यहां समावेश नहीं किया है, क्योंकि ब्रह्म वेत्ताओं के ही विचार का यह विषय है वैदिक सर्व ही ब्रह्मवादी होते है. जो यों मानते हैं कि श्रुति की आज्ञा कामना के परायण है अथवा विधि पर हैं, उनकी निन्दा की जाती है, कि वे प्राण पोषक अर्थात् प्राणोपाधि से ग्रस्त हैं, धौंकनी जो धातु ठन्डे है, उन सबको तपाती है, अर्थात् पीड़ा देती है, वैसे ही वे अन्यों को दुःख देने वाले बहिर्मुख तप आदि कर्म से समर्थ बनकर दूसरों को ही कष्ट देते हैं, विशेष कर पशुओं का घात करने वाले विशेष पीड़ा देते हैं 'हम शाप नहीं देते हैं तो भी वे हमको शाप देते हैं' 'जो हमारे शत्रु हैं 'जो वेदज्ञ होकर भी हमारा द्वेष करते हैं' इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि वे अलौकिक प्रकार से भी सर्व के लिए उपद्रव करने वाले होते हैं, अतः वे मरे हुए ही हैं, और इस लोक तथा परलोक दोनों में फलहीन है केवल दूसरों को पीड़ा करने के लिए ही धौंकनी के समान जीवन धारण करते हैं, और फिर जा 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' इस श्रुति के अनुसार यज्ञ से यज्ञ रूप विष्णु की सेवा करते हैं तथा देवों को आपका अंश रूप जानकर पूजते हैं वे ही आपके भक्त हैं। अतः वे भक्त ही वास्तव में प्राणधारी हैं उनका ही प्राण धारण करना सफल है उनसे कभी भी दूसरों का अहित नहीं होता है।

और विशेष कहते हैं, कि पूर्व कहे हुए दो प्रकार के पुरुषों के जो दूषण कहे उनके सिवाय दूसरे दूषण भी उनके बताते हैं, 'महदहमादयः इति' जिसके अनुग्रह से महत्तत्व और अहङ्कार ने इस ब्रह्मांड की रचना की उस ब्रह्माण्ड में रहकर उनसे ही यह शरीर धारण कर उनकी और उनके स्वामी की जो भक्ति सेवा नहीं करते हैं वे कृतघ्न हैं, कृतघ्न के पाप का नाश हो नहीं सकता है, ऐसी आज्ञा है. जो भगवान् के सेवक हैं उनको सर्वात्मभाव से भगवान् का भजन करना उचित है, यों कहने के लिए कहा है, कि महदादि ने भी भगवान् की सेवा के लिए भगवत्क्रीडाभाण्ड यह ब्रह्माण्ड बनाया है ब्रह्मांड बनाने में महदादि की सामर्थ्य नहीं थी किन्तु भगवदनुग्रह से ही सामर्थ्य

प्राप्त हुई तब जिससे वे बना सके अतः इससे यह भी सूचित किया है कि वे भगवदङ्ग हैं. यों जानकर अन्य देवों के भजन करने में दोष नहीं हैं।

दूसरे प्रकार से भी दोनों की निन्दा स्तुति निरूपण की जाती है, 'पुरुष विधोऽन्वयोत्र चरमोऽन्नमयादिषु य इति' जो भगवान् अन्नमय स्वरूपों में अन्तिम आनन्दमय स्वरूप है वह पुरुष विध ही इस देह में अन्वय है।

जैसे बर्तन आदि बनाने वाले पहले जिस वस्तु को बनाना होता है, उस आकृति का साँचा बनाकर फिर उसमें धातु पिघलाकर डाल देते हैं, जिससे वह वस्तु बन जाती है. यदि यों न करें तो वह वस्तु सिद्ध न हो सके वैसी हो यह देह है, घट आदि पदार्थ तो क्रिया से बनाए जाते है. किन्तु देह क्रिया से नहीं बनती है, इससे जाना जाता है, कि इस देह में भीतर कोई ऐसी वस्तु है जिस पर पड़ा हुआ अन्न, रस आदि बन जाता है, यदि ऐसी कोई वस्तु भीतर न होवे तो वह अन्न यों हो भस्म की राशि के समान वहाँ पड़ा रहे अतः जो भीतर स्थित होके नित्य ही अन्न का रसमयादि बनाकर शरीर पोषण कर रहा है, वह अत्यन्तमेव मान देने योग्य है, 'तस्य पुरुष विधतामन्वयं पुरुषविधः' इति उसके पुरुष प्रकार के कारण ही यह पुरुष प्रकार है. इस श्रुति में उस भगवान् के पुरुष प्रकार को ध्यान में लाकर ही यह अन्नमय आदि पुरुष प्रकार के हैं, यों इसका पुरुष प्रकार भगवान्[1] के सम्बन्ध से ही निरूपण किया है, पुरुष प्रकार का सम्बन्ध तो वैसे बताया जैसे वंश परम्परा का सम्बन्ध होता है, जैसे मनुष्य वंश में उत्पन्न मनुष्याकार ही होता है वैसे ही आनन्दमय के सम्बन्ध से उत्पन्न भी पुरुष विध ही होता है।

अन्नमय का सम्बन्ध भगवान् से और भगवान् का अन्नमय से सम्बन्ध भले ही हो किन्तु इसमें विशेष कौन वा क्या[2] है ? इस प्रकार की शङ्का का निवारण 'अत्र अन्नमयादिषुयश्चरमः' किया है कि, पाञ्च स्वरूप अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय हैं. इनमें से जो अन्तिम पाँचवाँ है, वह आनन्दमय हो है. आनन्दमय होने से सर्वान्तर अर्थात् सबके भीतर स्थित है, उसका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है और न दूसरे की अपेक्षा करता है, यों सूचित किया है, जो भीतर स्थित रहता है, वह ही आकृत्ति को देने वाला होता है, 'तस्य पुरुष विधत मन्वयं पुरुष विध' इस तैत्तिरीय श्रुति में कहा हैं कि उसके पुरुष प्रकार के कारण ही यह भी पुरुष प्रकार का है, वहाँ तस्यै इस षष्ठी विभक्ति से ही यह कहा है कि जिसकी पहले बात कही है, उसका हो यहाँ विचार किया गया है वह प्राणमय ही है, 'स वा एष पुरुषविध एव' यह पूर्वका वाक्य है. 'अयं' इससे यह सर्वत्र अन्नमय ही ग्रहण करना चाहिए अथवा जो पहले कहा है वह ही लेना चाहिए न कि यों मानना चाहिए कि पहला पुरुषविध होने से दूसरा भी पुरुष विध होता है. और भगवान् आनन्दमय हैं, यहाँ कितने ही 'आनन्दमय' को भगवान् न मानकर कोश मानते हैं,[3] जो यों कोश मानते है, वे

---

[1] १—आनन्दमय के, [2] २—प्रकार

[3] ३—इस श्लोक में यह दिखाया है कि जो अन्नमयादि में अन्तिम है, वह ही यहाँ पुरुष विध (प्रकार) है, वह अन्तिम में जो पुरुष है वह (आनन्दमय होने से पर ब्रह्म है, जिससे ही अन्नमय आदि में वंशक्रमानुसार पुरुष प्रकार है, अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय ये चार

(क्रमशः पृष्ठ १३९ पर)

अपने शोक का ही प्रतिपादन करते हैं, आनन्दमय के त्याग से शोक ही शेष रहता है, अर्थात् जो लोग भगवान् का त्याग करते है, भगवान् से विमुख हो कोशके सम्मुख होते हैं, वे शोक के सिवाय क्या प्राप्त करेंगे, 'मयट्' प्रत्यय विकारवाची है इस कथन की अयोग्यता तो सूत्रकार[1] ने ही यह (मयट्) प्राचुर्य अर्थ में है यों कह कर सिद्ध करदी है। व्याकरणानुसार भी 'मयट्' प्रत्यय विकार अर्थ वाला वहाँ होता है जहां दो अच् होने हैं, तीन अच् वाले शब्द में आया हुआ मयट् विचार वाची नहीं होता है बल्कि प्राचुर्य अर्थ में होता हे इससे ससझा जाता है कि मयट् को विकार वाची कहकर कोश का प्रतिपादन केवल ब्रह्म की साकारता के द्वेष के कारण ही किसी ने किया है, 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इससे ब्रह्म को आनन्दमय भगवान् की पुच्छ वा चरण कहा है, भगवान् की हंसाकृति के वर्णन में ब्रह्म का पुच्छपन सिद्ध है, इस सिद्धान्त के अज्ञान से भी 'कोश' कहा है. यदि ब्रह्म भगवान् के चरण न होवे तो भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग का फल एक न हो सकेगा, क्योंकि भगवच्चरण को अब्रह्मत्व होगा इतना ही प्रर्याप्त है. भाष्य में विस्तार से कहा है, अतः जो भगवान् भीतर स्थित हो के आनन्द का सम्पादन करते हैं और पुरुषत्व सम्पादन करते हैं, वैसे भगवान् को जो नहीं मानते हैं वे कृतघ्न हैं इसमें कहना ही क्या है ? और जो वैसे भगवान् को भजते हैं वे ही उचित कार्य करते हैं, इनके औचित्य के लिए क्या कहा जाए ? और विशेष यह है कि इस जगत् में जो कुछ कार्य है, उस समस्त कार्य को नियन्ता आप ही हैं, इसकी सिद्धि के लिए ही कहते हैं कि 'सदसत पर त्वमिति' कार्य और कारण से परे जो नियन्तापन से विचारित ब्रह्म है वह आप ही हैं, न केवल आप नियामक ही है. किन्तु दूसरे प्रकार से कहते हैं कि भेद को मिटाकर 'यदेषुअवाशेष्यते' जो इनमें से शेष रहता है वह भी आप ही हैं, यह पहले ही प्रतिपादन किया, जैसे सव पदार्थों में वह भगवान् ही शेष रहते हैं, यों कह कर शिक्षा दी कि परिणाम को देखकर विचार करना चाहिए न कि जो अवशिष्ट रहता है, उसका ही सर्वत्र अनुसरण करना चाहिए, न कि, जो दूसरे नश्वर हैं, उनका अनुसरण करना चाहिए इस प्रकार दोनों तरफ यह हेतु कहा है, और विशेष स्पष्ट करते हैं, कि केवल शेष कहने से भी कार्य की सिद्धि नहीं होगी क्योंकि वह शेष भी घृत की तरह नष्ट हो जाता है, इसलिए फिर कहा है कि 'यदेषुऋतं तद्भगवानेव' इन शेषों में भी जो सत्य है वह भगवान् है इस प्रकार स्तुति और निन्दा में पाँच हेतु निरूपण किए हैं।

कारिका—कृष्ण एव सदा सेव्यो निर्णीतः पञ्चधा बुधैः ।
शरीरदः प्रेरकश्च सुखदः शेषसत्यदः ॥४॥१७॥

(क्रमश: पृष्ठ १३८ से आगे)

विभूतिरूप से देह में स्थित हो अपना अपना कार्य करते हैं । इनके भीतर पाँचवा आनन्दमय भगवान् है जिनके द्वारा ही ये चार कार्य करने में समर्थ हो रहे हैं, आनन्दमय को भगवान् न कह कर जीव को ही आनन्दमय कहना वेद, व्यास सूत्रादि शास्त्रों में विरुद्ध हैं, इनको 'कोश' मानना शास्त्र और युक्ति से विरूद्ध है कोश का अर्थ करते हैं जोव के साथ सूक्ष्म शरीर के अन्वयव वे अन्न को रसमय नहीं बना सकते इत्यलम् ।

१—ब्रह्म सूत्र में : १-१-१२

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण शरीरदाता, प्रेरक सुख देने वाले, शेष और सत्त्व हैं, यों पाँच प्रकार से ज्ञानियो ने जिनका निर्णय किया है, वे श्रीकृष्ण ही सदा सेवा करने योग्य हैं ।।४।।१७।।

आभास—एवं देवतान्तरकर्मान्तरविधीनां निर्णयमुक्त्वा भगवदुपासकानामेव बहुविधानां तारतम्येन फलनिर्णयमाह **उदरमुपासत** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार श्रुतियों में कहे हुए अन्य देवों की उपासना की विधियों का और कर्मान्तर विधियों का निर्णय कह कर अब अनेक प्रकार के भगवान् के उपासकों को जो पृथक्-पृथक् फल मिलता है उनका निर्णय 'उदरमुपासते' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ।।१८।।

श्लोकार्थ—ऋषियों के मार्गों में अर्थात् वैदिक मार्गों में जो उदर (कर्म) की उपासना करते हैं, वे स्थूल दृष्टि वाले हैं और जो नाड़ियों का मार्ग जहाँ है, वैसे हृदय की उपासना करते हैं, वे अल्प प्रकाश वाले हैं अर्थात् स्वल्प देखते हैं । हे अनन्त ! आपका धाम उत्तम है,अतः त्रैलोक्य काल से भी उत्तम आपका जो सिर आधिभौतिक (ब्रह्मलोक) है, उससे भी ऊपर जाते हैं, वह आपका भगवत्स्वरूप ऐसा है, जिसको प्राप्त कर फिर काल के मुख में नहीं पड़ते हैं ।।१८।।

सुबोधिनी—भगवदुपासकास्त्रिविधाः कर्मिणो योगिनो ज्ञानिनश्चेति । तत्र ज्ञानिनः श्रेष्ठाः अन्ये तु प्रथममध्यमा इति । 'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्' इति वाक्याद्भगवद्भजनं बहुधा संभवति । केचिदिदं पद्यं योगपरत्वेनैव योजयन्ति तच्छ्रुतिनिर्णये विरुद्धमिव प्रतिभाति । ऋषिवर्त्मसु वेदोक्तमार्गेषु ये उदरमुपासते कर्मोपासत इत्यर्थः । वेदस्योदरं कर्मेति उदरपर्यवसानाच्च उदरशब्दस्योभयथापि लक्षणा । मणिपूरकचक्रपरत्वे कर्मपरत्वे वा षण्णां चक्राणामत्रानिरूपणात् प्राप्त्यभावश्च । पञ्चात्मकविचारेऽपि उदरं सोमो भवति निन्दार्थं चोदरपदम्, शिश्नोदरपरायणा लोके निन्दिता भवन्तीति । ते कूर्पदृशः स्थूलदृष्टयः । शर्कराः कूर्पशब्देनोच्यन्ते । अति स्थूलदृष्टय इत्यर्थः । कूर्पापेक्षया न्यूनं न पश्यन्ति । अथवा कच्छपपृष्ठं कूर्पं तत्र रेखाकारा भवन्ति ता दृष्टिवन्निरूप्यन्ते । तेन किमपि न पश्यन्तीत्युक्तं भवति 'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते' इति वचनात् निन्दा श्रूयत इति । एव प्रथमस्थितानुक्त्वा मध्यमानाह परिसरपद्धतिं हृदयमिति । परितः सरन्तीति परिसरा नाड्यः तासां पद्धतिः मार्गो हृदयमनेन तत्र स्थिता योगाभ्यासेनाधश्चोर्ध्वं च सर्वानेव मार्गान् शोधयन्ति । एवं योगिनः हृदये भगवच्चिन्तका निरुक्ताः । ते आरुणयः अरुणवदल्पप्रकाशयुक्ताः । अरुणस्य पुत्रः आरुणिः । दहर-

मिति अल्पं छिद्रमिति केचित् । दहरशब्दोऽल्पवाचको वेदे निरुक्तः 'दहरं वै सा पराभ्यां दोहाभ्यां दुहः' इति । अल्पप्रकाशाः स्वल्पं चोपासत इत्यर्थः । एवं सर्वात्मकस्य भगवतः केचन उदरं केचन हृदयं चोपासते । कर्मयोगौ गीतायाम् । योगप्रशंसा तु योगशास्त्रत्वात् बहिर्मुखोद्देश्यत्वाद्वा । तर्हि मुख्याः के इति जिज्ञासायामाह तत उदगादिति । तव धाम शिरः परमं 'तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् । विष्णोर्धाम' इति वाक्यात् । भगवतो बहूनि स्थानानि तेष्वप्यक्षरं परमम् । अक्षरपदप्रयोगादेव परमत्वं ज्ञातव्यम् । अतश्चैलोक्यात् कालादपि शिरः ऊर्ध्वमेवोदगात् । तस्यैवाधिभौतिकं रूपं ब्रह्मलोक इति तस्य शिरस्त्वम् । पूर्वात् फलतः तस्योत्कर्षमाह पुनरिह यत्समेत्येति । यत् भगवत्स्वरूपं प्राप्य प्राणिनः कृतान्तमुखे न पतन्ति । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' इति । अतो ज्ञानिन एवोत्कृष्टा इत्यर्थः ।

व्याख्यार्थ भगवान् की उपासना करने वाले तीन प्रकार के हैं, १—कर्मिष्ठ २—योगी और ३—ज्ञानी, इनमें ज्ञानी उत्तम है. शेष कर्मी और योगी अधम और मध्यम है. 'एकत्वेन पृथकत्वेन[1] बहुधा विश्वतो मुखम्' इस वाक्यानुनार भगवान् का भजन बहुत भाँति से होता है, कितने ही इस पद्य को योग पर लगाते हैं, वह उनका लगाना श्रुति के निर्णय से विरुद्धसा दिखता है । ऋषि मार्गों में अर्थात् वेदों में ऋषियों द्वारा कहे हुए मार्गों में स्थिर रह कर जो उदर यानि कर्म रूप भगवान् की उपासना करते हैं, वे स्थूल (मोटी) दृष्टि वाले हैं, वेद का उदर शब्द कर्म है, इससे कर्म की समाप्ति उदर में ही होती है । 'उदर' के अर्थ है लक्षणा विधि से ये दोनों ही होते हैं, उदर का शब्दा अर्थ तो 'पेट' है, किन्तु लक्षणा से उदर शब्द का अर्थ कर्म किया है, कारण कि वेद का 'उदर' कर्म है, कर्म का फल धनादि की पोषणार्थ प्राप्ति होने से भी उदर का अर्थ कर्म किया है, यदि उदर शब्द का अर्थ मणिपूरक चक्र अथवा कर्म किया जावे तो यहाँ पास वाले छः चक्रों का निरूपण नहीं किया गया है और कर्म शुद्धि के छः अंग भी नहीं कहे हैं, इस कारण से यह अर्थ संगत नहीं है, भगवान् यज्ञ पुरुष पञ्चात्मक हैं, वहाँ भी विचार करने से 'उदर' का अर्थ 'सोम' होता है, सारांश यह है कि यहाँ 'उदर' शब्द देकर सकाम कर्मियों की निन्दा ही की गई है, लोक में जो शिश्नोदर परायण हैं वे निन्दा के ही योग्य होते हैं, इम प्रकार जो, कर्मी हैं वे स्थूल दृष्टि वाले हैं, कूर्प शब्द का अर्थ कंकड है यानि पाषाण के छोटे टुकड़े उनको वे ही देख सकते हैं, सूक्ष्म तत्व को नहीं जान सकते हैं. अथवा 'कूर्प' शब्द का अर्थ कछुए की पृष्ठ (पीठ) पर जो चक्षुसम काले चिन्ह हैं, वे है, जिसका तात्पर्य है कि जैसे वे चक्षुसम काले चिन्ह देख नहीं सकते हैं, वैसे ही ये शिश्नोदर परायण भी तत्व को देख नहीं सकते हैं । 'इस तरह त्रेयी धर्म मनुप्रपन्ना[2] गतागतं काम कामा लभन्ते' इस वचन से उनकी निन्दा सुनी जाती है, इसी तरह कनिष्ठ कर्मियों की स्थिति कैसी है क्या होती है, यह बताकर, अब मध्यम जो योगी हैं उनकी स्थिति बताते हैं, 'परिसर पद्धतिं हृदयम्' इति, चारों तरफ जो सरण करती रहती हैं, वे नाडियाँ कही जाती हैं, उनका मार्ग है 'हृदय' इससे उस हृदय में स्थित होकर योगाभ्यास से नीचे ऊपर के सकल मार्गों को शुद्ध करते हैं. इस प्रकार योगी भगवान् का चिन्तन हृदय में करते हैं. वे योगी अरुण की तरह स्वल्प प्रकाश वाले होते हैं, अरुण का पुत्र 'आरुणि' दहर का अर्थ अल्प है, कितने ही इस दहर का अर्थ छिद्र करते हैं वेद में 'दहरं वै सा पराभ्यां दोहाभ्यां दुहः' इस श्रुति में 'दहर' शब्द का अर्थ अल्प कहा है,अतः जो स्वयं अल्प प्रकाशवाले हैं

१—एकपन, बहुपन और विश्वरूप बने हुए मेरा बहुत प्रकार से भजन होता है,

२—वेद के धर्म में आसक्त, सकाम पुरुष जन्म मरण के चक्कर में फिरते रहते हैं ।

वे अल्प की ही उपासना करते हैं, इसी भाँति स्वात्मक भगवान् की कितने ही 'उदर' कर्म रूप से और कितने ही 'हृदय' योगाभ्यास से हृदय में उपासना करते है, यों कर्म और योग को कहा है, गीता में योग की प्रशंसा तो योग शास्त्र होने से की है, अथवा बहिर्मुखों के उद्देश्य होने से को है।

यों है तब मुख्य उपासक कौन है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि, 'ततउदगात् इति, तवधाम शिरः परमं' आपका परम धाम जो शिर आधिभौतिक (ब्रह्म लोक) है उससे भी वे उपासक ऊंचे जाते हैं. जो सर्व कारणों का कारण है वह अक्षर ब्रह्म है, यों कहते हैं, जिसमें प्रमाण 'विष्णोर्धाम' वाक्य है, भगवान् के बहुत स्थान हैं उनमें भी अक्षर सबसे उत्तम स्थान है. 'अक्षर' पद के प्रयोग से ही उसका परमपन जाना जाता है, वा जानना चाहिए, इस कारण से ही तीन लोक से और काल से भी शिर ऊपर है, उसका ही आधिभौतिक रूप 'ब्रह्म लोक' है, इसलिए उसको शिर कहा है, पहले जो कहा उससे इस फल की उत्तमता कहते हैं कि प्राणी जिस भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर फिर लौट कर काल के मुख में नहीं पड़ते है. अर्थात् आवागमन के चक्कर से छूट जाते हैं, जैसा कि गीता में कहा है, 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' मुझे प्राप्त होजाने के अनन्तर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता है अतः ज्ञानी ही उत्तम है. यह तात्पर्य है ॥१८॥

कारिका—कर्मरूपं हरिं केचित् सेवन्ते योगरूपिणम् ।
तेभ्योऽप्यक्षररूपस्य सेवकाः संमताः सताम् ॥५॥१८॥

कारिकार्थ—कितने ही कर्म रूप हरि की उपासना करते हैं और कितने ही योगरूप हरि का सेवन करते हैं, इन सबसे भी अक्षर रूप हरि की सेवा करने वालों को सत्पुरुषों ने उत्तम माना है ॥१८॥५॥

आभास—एवमुपासनाभेदनिर्णयमुक्त्वा अनुप्रवेशश्रुतीनां निर्णयमाह **स्वकृतविचित्रयोनिष्विति** ।

आभासार्थ इस तरह उपासना के भेदों का निर्णय कह कर, अब अनुप्रवेश[1] श्रुतियों का 'स्वकृत विचित्र योनिषु' श्लोक में निर्णय कहते है,

श्लोक—**स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया**
तरतमतश्चकास्स्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं
विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—आप अपने रचे हुए विचित्र देव-मनुष्य आदि शरीरों में हेतुपनसे रहते

---

[1] १—कार्यों को रच कर फिर उनमें भगवान् प्रवेश करते हैं ।

हुए भी मानों भीतर प्रवेश करते हुए छोटे-बड़े आदि विविध प्रकार से वैसे प्रकाशमान हो, जैसे अग्नि काष्ठ में सीधी व वक्र आदि काष्ठसम भासती है और जो सर्व व्यवहारातीत ज्ञानी हैं, वे ही इन असत्य योनियों में आपका स्वरूप सत्य तथा एकरस है, यों जानते हैं ॥१९॥

सुबोधिनी—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' इत्यादिश्रुतिषु प्रवेशः श्रूयते। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनाद्' इति न्यायेनापि निर्णीतः। स च प्रवेशः सर्वथा बहिःस्थितस्य आहोस्विदन्तरेव स्थितस्य प्रकाशे लोकास्तत्र पश्यन्तीति लोकप्रतीतिमाश्रित्य प्रवेशोऽनूद्यत इति भवति विचारः। तत्र बहिःस्थितस्यैव प्रवेशे आत्मसृष्टिविरोधः अद्वैतविरोधश्च, निरवयवत्वशब्दकोपश्च। प्रवेशेऽपि उभयोः प्रवेशो न्यायेन निरूपितः। क्वचित् प्रविष्टस्य जीवब्रह्मभावः। पूर्वं तु भेदे कारणाभावादतो द्वयं निर्णेतव्यम्। किं बहिःस्थितः प्रविशति उभौ वा प्रविशत इति। एतदत्र क्रमेण श्लोकद्वयेन निर्णयं करिष्यति। स्वेनैव कृतेषु विचित्रयोनिषु भगवान् हेतुतया तत्र स्थित एव विशन्निव चकास्ति। अनेन दृष्टानुवादिका प्रवेशश्रुतिरिति निरूपितम्। कार्ये कारणस्यानुप्रवेशः पृथग्वर्तते इति केचित्। अन्यथा तत्र प्रतीतिर्न स्यादिति। अत उभय संग्रहार्थं इवेत्युक्तवान्। 'परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात्' इति। भागवतेऽपि कारणस्य कार्ये प्रवेश उक्तः। अतो हेतुतया उपादानत्वेन स्थितोऽपि पुनः प्रविशति। एवं प्रवेशमुक्त्वा 'सच्च त्यच्चाभवत्' इत्यादिभिः प्रविष्टस्य वैलक्षण्यश्रुतेः। तस्यापि निर्णयमाह तरतमतश्चकास्सीति। देवतिर्यङ्मनुष्यादिभावेन राजसादिभावेन च। नन्वेक एवान्तःप्रविष्टः कथं नाना भासते तत्राह अनलवदिति। अनेन जीवकृतं वैलक्षण्यमिति पक्षो निराकृतः। भगवांस्त्वन्तर्यामी सर्वत्रैकविध एव जीववैलक्षण्येन देवादिभेद इति। यथाग्निः सर्वत्र काष्ठेषु स्थित एव पुनस्तत्र प्रविशन् वर्णभेदं स्थलसूक्ष्मभेदं दीर्घवक्रादिकं च तनुते न त्वन्येन तस्य वैलक्षण्यमित्यर्थः। ननु दृष्टान्तमात्रमुक्तं न तूपपत्तिरिति चेत् तत्राह स्वकृतानुकृतिरिति। सर्वत्र भगवान् स्वकृतमनुकरोति। यथा शिक्षकः शिष्यविद्यामनुकरोति। एवं जगद्रूपेण भगवान् क्रीडितुं सर्वत्रानुप्रविष्टः तत्तद्रूपो जात इत्युक्तम्। तथा सति ये दोषास्तान् वारयति अथेति। 'अमूषु वितथास्वपि अवितथं तव धाम।' पाञ्चभौतिकानां वितथत्वे स्वस्य चावितथत्वे हेतुमाह सममिति। विषमाः पृथिव्यादयः उत्तरोत्तरदशगुणत्वात् प्रवेशे तेषां न समता संभवति। कठिनविरलावयवत्वेन वैषम्यावश्यंभावात्। आकाशस्याप्यनित्यत्वात् वैषम्यमेव परं सूक्ष्मत्वात् तदाकलयितुं न शक्यते। भगवांस्तु सम एव सर्वत्र प्रविष्टः 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' इति। ज्ञानादितारतम्यं तु जीवनिष्ठमित्युत्तरश्लोके वक्ष्यते। सर्वसमत्वमत्र विवक्षितम्। यत्र प्रविशति तत्समो भूत्वा तत्र प्रविशति। 'समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन' इत्यादिश्रुतेः। भगवतस्तुल्यांशप्रवेशे तु सर्वसमत्वं नोपपद्येत नन्वेवं सति कथं समता न प्रतीयते। अन्यथा भगवत्कार्येष्वपि वैषम्यप्रतीतिर्न स्यात्। भगवत्कार्याणि च 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्ताम्' इत्यादिना निरूपितानि तत्राह विरजधियोऽन्वयन्तीति। ये विरजधियः रजोगुणरहिताः ब्रह्मदृष्टयः त एव तद्वैलक्षण्यं जानन्ति। यथा यो रत्नपरीक्षकः स एव कृत्रिमं सहजं च जानाति। अनु भगवत्स्वरूपमन्वयन्ति जानन्तीत्यर्थः। ननु तेषामेव तदभिज्ञाने को हेतुस्तत्राह अभिविपण्यव इति। अभितः सर्वतः इह लोके परलोके च विगतपणयुक्ताः सर्वव्यवहारातीताः। यो हि

यदभ्यासं करोति स तं पश्यति । यथा व्यवहारनिपुणाः तोलनादिना दृष्ट्या वा पदार्थसमतां विषमतां वा जानन्ति । तथा ये व्यवहारं परित्यज्य सर्वथा ब्रह्मानुचिन्तकाः ते सर्वत्र ब्रह्मैव पश्यन्ति न तु विकारजातं तच्च सममेव । ननु ब्रह्मैव पश्यन्तुनाम सममेव पश्यन्तीत्यत्र को हेतुः । ब्रह्म सममेवेति चेत् एतदेव विचार्यते समं विषमं वेति । तस्मात्समत यां हेतुरतिरिक्तो वक्तव्य इति चेत् तत्राह एकरसमिति । रसस्त्वनुभवगम्यः सर्वत्रैव च तेषां रतिः समा । अन्यथा अनुभवविरोधे दृष्टिः समा न स्यात् । लोके रसवैलक्षण्याभिज्ञाः विलक्षणरसेषु पदार्थेषु तुल्यरूपेष्वपि विषमदृष्टय एव भवन्ति । 'ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने' इति वाक्ये समदृष्टेर्निरूपितत्वात् । अतो भगवान् सर्वसम एव सर्वानुस्यूतः प्रविष्ट इति जगद्रूपेण प्रविश्य क्रीडन्नपि निर्दुष्ट इति निरूपितम् ॥

व्याख्यार्थ— ततसृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' उसको रच कर अनन्तर उसमें प्रवेश किया 'स एव इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' वह यह, यहाँ (कार्य रूप में) नख से लेकर ऊपर मस्तक तक प्रविष्ट हुए हैं, इत्यादि श्रुतियों में प्रवेश कहा है यों सुनते हैं, 'गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ हि तद्दर्शनात्' हृदयाकाश रूप गुहा में दो आत्माएं (जीव और परमात्मा) प्रविष्ट हुए हैं यों उनके दर्शन से अर्थात् निरूपण से जाना जाता है. यों ब्रह्म सुत्र में भी इस न्याय से निर्णय किया हुआ है ।

इस पर विचार होता है कि यह प्रवेश सर्वथा बाहर स्थित का हुआ है, वा भीतर स्थित का लोगों को दर्शन होने से लोक दृष्टि से ही कहा जाता है कि प्रवेश हुआ है, इन विचारों से यदि बाहर रहे हुए का प्रवेश हुआ है, यह सिद्धान्त माना जाएगा तो 'स आत्मानं स्वयं अकुरुत' इत्यादि श्रुति प्रोक्त आत्म सृष्टि अर्थात् आप ही जगत रूप हुए हैं यह सिद्धान्त झूठा होगा और अद्वैत का भी विरोध होगा अर्थात् द्वैत हो जायगा, इससे भगवान् निरवयव हैं यह सिद्धान्त भो नष्ट हो जावेगा, प्रवेश भी एक का नहीं बल्कि दोनों का न्याय पूर्वक ब्रह्मसूत्र में कहा है, प्रवेश से प्रथम तो पृथक होने का कोई कारण नहीं था, प्रवेशानन्तर ही जीव और ब्रह्म भाव हुवा है, अतः दोनों के प्रवेश का निर्णय करना चाहिए, क्या? बहिःस्थित एक ही भगवान् प्रवेश करते हैं अथवा जीव और ब्रह्म दोनों समान रूप से प्रवेश करते हैं अर्थात् जैसे भगवान् सर्व पदार्थों के तुल्य होकर उनमें प्रवेश करते हैं, वैसे जीव भो समान होकर प्रवेश करते हैं अथवा अणु रूप से ही प्रविष्ट होते हैं, यह विचार जो यहां हुआ है उसका निर्णय दो श्लोकों में करेंगे, जिसमें जीव के प्रवेश के प्रकार का निर्णय २० वें श्लोक में कहा जायगा । यहां ब्रह्म प्रवेश का निर्णय करते हैं कि भगवान् अपनी ही बनाई हुई विचित्र योनिओं में कारणत्व से स्थित ही, मानो प्रविष्ट होते हैं यों भासते हैं, यों कहने से सिद्ध किया है कि ये प्रवेश श्रुतियां दृष्टानुवादिका है, अर्थात् जो देखा है उसका अनुवाद करती हैं, कोई कहते हैं कि कार्य में कारण का पीछे प्रवेश पृथक् होता है, जो पृथक् प्रवेश न होवे तो वहां वैसी प्रतीति जो हो रही है वह न होवे. इसलिए दोनों मतों का संग्रह करने के लिए 'इव' पद दिया है, भागवत के तृतीय स्कन्ध के २६वें अध्याय के ४६वें श्लोक, 'परस्थ

दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात्' में भी कहा है कि कारण का गुण कार्य में समन्वित देखने में आता है, अतः भगवान् कार्य में उपादान[1] रूप से विराजते हुए भी फिर प्रविष्ट होते हैं ।

इस प्रकार प्रवेश कह कर 'सत् और त्यत्' हुए इत्यादि वाक्यों में कहा है कि जो प्रविष्ट होता है वह ही पृथक होता है, यानि उसमें विलक्षणता हो जाती है यों श्रुति कहती है, उसका भी निर्णय कहा जाता है कि 'तरतमतश्च का स्सीति' उत्कृष्ट निष्कृष्ट भावों से भासते हो, अर्थात् देव, तुच्छ प्राणी, मनुष्य आदि भाव से और राजसादि भाव से भासमते हो । एक ही भीतर प्रविष्ट होके अनेक कैसे भासते है ? इसका उत्तर देते हैं कि 'अनलवत्'[2] अर्थात् अग्नि जैसे काष्ठ में प्रविष्ट होती है वैसे ही भासती है, किन्तु अग्नि में भेद नहीं है वैसे ही अन्तर्यामी में भी भेद नहीं है देव मनुष्यादि जैसी देह में प्रविष्ट है वैसा भासता है, यों कहकर जीव ने भेद किया है इस पक्ष का निराकरण किया है, भगवान् तो अन्तर्यामी हैं सर्वत्र ही एक प्रकार के ही है, जीवों को विलक्षणता से देवादि भेद हैं, जैसे अग्नि काष्ठ में पहले ही स्थित है फिर उसमें प्रविष्ट होकर वर्णभेद, स्थूल सूक्ष्म भेद, दीर्घ वक्र आदि भेद का विस्तार स्वयं करती है, उसकी यह विलक्षणता दूसरा कोई नहीं करता है, यह तो केवल दृष्टान्त दिया है, हेतु पूर्वक युक्ति देकर नहीं समझाया है. इस पर कहते हैं कि 'स्वकृतानुकृतिः' भगवान् सर्वत्र अपनी कृति का ही अनुकरण करते हैं, जैसे अध्यापक शिष्य शिक्षार्थ स्वयं शिष्यवत् पढकर शिष्य को विशेष ज्ञान योग्य करता है जिससे शिष्य प्रवीण होता है, वैसे ही भगवान् भी क्रीड़ा के लिए स्वयं जगत् रूप बनकर सर्व वस्तु मात्र में प्रविष्ट होकर तत् तत् रूप बनकर सबको खेलाने लगे हैं यो करने से जो दोष दीखते हैं, उनका निवारण करते हैं, 'अमूषु वितथास्वपि अवितथं तव धाम'इन झूठे पांच भौतिक पदार्थों में प्रविष्ट आपका तेज व स्वरूप सत्य है, कारण कि 'सम' अर्थात् एक रस हैं, पृथिवी आदि एक से एक दश गुणा विषम है जिससे उनमें समता हो नहीं सकती, कठिन और विरल अवयवत्व के कारण विषमता अवश्य होने वाला ही है, आकाश भी अनित्य होने से विषमता वाला है किन्तु सूक्ष्म होने से उनकी विषमता पहचानी नहीं जाती है, भगवान् तो सर्वत्र सम ही प्रविष्ट हुए हैं, जैस कहा है कि 'निर्दोषं ही समं ब्रह्म' ब्रह्म निर्दोष और सम है, ज्ञान आदि तारतम्य तो जीव में रहा है, यह आगे आने वाले श्लोक में कहा जायगा, यहां कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् सर्व सम है, जहां प्रविष्ट होते हैं वहां उसके समान हो जाते हैं, जैसे कहा है कि । सम प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन' इति श्रुतेः, भगवान् प्लुषी[3], मशक (मच्छर) और हस्ति (हाथी) के समान हैं, अतः उनके तुल्य हो प्रविष्ट होते हैं, अतः उनके तुल्य हो प्रविष्ट होते हैं, भगवान् यदि सर्वत्र समान अंश से प्रवेश करते हों तो सब के समान बन नहीं सकेंगे यों आपका कहना उचित नहीं क्योंकि भगवान् हस्ती में जितने अंश से प्रविष्ट होते हैं, उतने अंश से मच्छर में प्रविष्ट नहीं होते हैं बल्कि हस्ती में हस्ती के समान, मशक में मशक के समान प्रवेश करते हैं, अतः वैसे स्वभाव गुणवान् होते हैं, इससे ही भगवान् के कार्यों में भी विषमता प्रतीति होती है नहीं तो विषमता प्रतीति न होवे ।

१—जिस वस्तु से जो पदार्थ बनता है वह वस्तु उस पदार्थ का, उपादान कारण है, जैसे कुण्डल सुवर्ण से बनता है तो सुवर्ण कुण्डल का उपादान कारण है, वैसे भगवान् कार्य मात्र का उपादान कारण है ।

२—अग्नि की तरह

३—दीमग, उदई

भगवान् के कार्यों का निरूपण 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रस्तुप्ताम्' श्रुति में किया है कि, जो भगवान् भीतर प्रविष्ट होकर मेरी इस सोई हुई वाणी को जगाते हैं अर्थात् सोई हुई वाणी वाले पुरुष में सोई हुई वाणी मे प्रवेश करते हैं अन्यथा वाणी को जगा नहीं सके, इससे श्रुति ने सिद्ध किया है कि भगवान् कार्य के समान गुण वाले हो प्रविष्ट होते हैं. इस भगवान् की विचित्र लीला को कौन जानता है ? इस पर कहते हैं कि 'विरजधियोऽन्वयन्तीति' जिन्होंने रजोगुण का नाश कर हृदय को शुद्ध बना दिया है वैसे ब्रह्म दृष्टि वाले जो हैं वे ही इस विलक्षणता का जान सकते हैं क्योंकि भगवान् प्रविष्ट होने के अनन्तर सर्वत्र सर्वदा एक लीला नहीं करते हैं जिससे साधारण दृष्टि वाले इसको नहीं जान सकते हैं जैसे जौहरी ही सच्चे झूठे रत्न की परीक्षा कर सकता है, वैसे ही ब्रह्म दृष्टि वाले ही भगवान् को लीला समझ सकते हैं, वे हो जान सकते हैं, जिसका क्या कारण है ? इस पर कहते हैं कि 'अभिविपण्यैव' सर्व प्रकार जिन्होंने इस लोक तथा परलोक के व्यवहारों को त्याग दिया है और भगवद्विषय का हो अभ्यास करते रहते हैं अतः जो पुरुष जिस विषय का अभ्यास करता है, उसको उस विषय का पूर्ण ज्ञान हो जाता है, जिससे उसके दर्शन कर सकते हैं, जैसे जैसे व्यवहार में निपुण तोल आदि करने से अथवा देखने से हो पदार्थ का तोल बता सकते हैं कि यह वस्तु इतनी और वैसी है, वैसे ही जो लोक व्यवहार का त्याग कर सर्वथा ब्रह्म का ही चिन्तन करते रहते हैं, वे सर्वत्र ब्रह्म ही देखते हैं. न कि विकार से उत्पन्न पदार्थ देखते हैं, और वह 'सम' ही है, उनको तो ब्रह्म ही देखने में आना चाहिए न कि सम, वे सम देखते हैं जिसका क्या कारण है ? यदि कहो कि ब्रह्म सम हो है, तो यही विचारणीय विषय है कि ब्रह्म, सम है वा विषम है ? इसलिए सम है तो उसके वास्ते पृथक् हेतु देना चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'एक रसं' इति ब्रह्म एक रस है, यह विशेषण दिया है. 'रस' तो अनुभव से जाना जाता है, सर्वत्र उनकी 'रति'[1] समान है, जो यों न[2] होवे तो अनुभव में विरोध होते हो सर्वत्र समदृष्टि न रहे. लोक में रस की विलक्षणता जानने वाले, विलक्षण रस वाले तुल्य रूप पदार्थों में भी विषम दृष्टि वाले ही हो जाते हैं, किन्तु 'ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने'* इस वाक्य में समदृष्टि का हो निरूपण किया है अतः भगवान् सर्व सम होकर हो सर्वत्र जगद्रूप से प्रविष्ट होकर क्रीडा करते हुए भी निर्दुष्ट[3] है यों निरूपण किया है—

कारिका—सर्वत्र भगवांस्तुल्यः सर्वदोषविवर्जितः ।
क्रीडार्थमनुकुर्वन् हि सर्वत्रैव विराजते ॥६॥१९॥

कारिकार्थ—सर्व दोष रहित भगवान् सर्वत्र समान हैं, केवल क्रीड़ा के लिए अनुकरण करते हुए सबके भीतर विराजते हैं ॥१९॥६॥

आभास—एवं प्रवेशप्रसङ्गेन भगवतो दोषान् परिहृत्य द्वयोः प्रवेशस्य श्रुतत्वात् द्वितीयस्य का वार्तेति शङ्कां वारयितुमाह **स्वकृतपुरेष्विति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रवेश के प्रसङ्ग में भगवान् को प्रवेश करने से दोष नहीं लगता है

---

[1] —प्रेम, [2] —ब्रह्म सम न होवे, [3] —दोष रहित,

* ब्राह्मण ढेढ, अनयज और चोर में समदृष्टि बताई हैं ।

यों सिद्ध कर, अब इस श्लोक में दूसरे[१] के प्रवेश के विषय की शङ्काओं का निवारण करते हैं—प्रवेश दोनों–ब्रह्म और जीव का कहा हुआ है—

श्लोक — स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥२०॥

श्लोकार्थ—कवि आपके ही बनाए हुए इन देहों में जीव को अखिल शक्तिधारी आपका अंश कहते हैं, वह आपका अंश रूप जीव देह के गुण-दोष रूप आवरण से रहित है। इस तरह जीव की गति का विवेचन कर, वे (पृथ्वी पर भगवान् में विश्वस्त) कवि-वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं कि चरणारविन्द जन्मादि संसार को नष्ट करने वाला है, आपके वैसे चरणारविन्दों की भक्ति करते हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—भगवत्कृतेष्वेव देवतिर्यङ्मनुष्यादिशरीरेषु भगवदंशः पुरुषो जीवः बहिरन्तःसंवरणरहित एव तत्कृतगुणदोषरहित एव, अंशेन कृत इति विषमो भवति। अयमर्थः। जीवो नाम भगवतश्चिदंशः अत्यन्तं विरलात्मा स सर्वेषु पुरेषु प्रविशन् अन्तर्बहिश्चैतन्यगुणपूर्ण एव तिष्ठति तेन स्वभावतः सोऽप्यविषम एव। तथाप्यंशेन विषमभावापन्नेन तिरोहितानन्देन कृत इति स्वानन्दापेक्षार्थं पुरेषु प्रवर्तते। तत्र च सुखमप्राप्नुवन् विषम इव भवति इति। इयानेवार्थोऽत्र निर्णीतो भगवति जीवे च वैलक्षण्यहेतुः। भगवांस्तु आनन्दपूर्णः कस्मादप्यानन्दं न वाञ्छति। जीवस्तु तिरोहितानन्द इति यतः कुतश्चिदानन्दमपेक्षते तेन विषम इव भवतीति। अंशकृतपदेन चायमर्थः सूचितः। एवं जीववैलक्षण्यं ये जानन्ति ते भगवन्तं भजन्ते न त्वन्य इत्याह इति नृगतिं विविच्येति। आनन्दार्थमेव जीवस्य प्रवृत्तिः, आनन्दश्च भगवत्येवास्ति नान्यत्र। 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति' इति श्रुतेः। यत्र जीवानामेवानन्दस्तिरोहितः तत्र जडानामानन्दगन्धोऽपि नास्ति परं मरुमरीचिकावदत्यन्तनिर्जलभूमौ यथा जलप्रतीतिर्भ्रान्तानामेवं स्रक्चन्दनादिष्वपि आनन्दोऽस्तीति भ्राम्यति लोकः। सर्वो हि स्वस्मिन् विद्यमानं प्रयच्छति नत्वविद्यमानम। अतः पण्डिता इममर्थं ज्ञात्वा भगवत एवाङ्घ्रिमुपासते आनन्दनिधिम्। ननु परमानन्दो भगवति भवतु नाम स्वर्गाद्यानन्दस्त्वन्यत्रापि भविष्यतीत्याशङ्क्याह निगमावपनमिति। निगमाः आसमन्तादुष्यन्ते अस्मिन्नङ्घ्राविति। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति श्रुतेः। वेदानां प्रतिपाद्यो भगवदङ्घ्रिरेव स च फलसाधनरूपः अतो यागा अपि चरणरूपाः स्वर्गोऽपीति मुख्यः सिद्धान्तः। 'अस्यैवानन्दस्यान्यानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः। तथा सति 'एष एवानन्दयाति' इत्येवकारोऽपि संगच्छते। अतो वेदोक्त्यापि भगवच्चरणारविन्दादन्यत्र नानन्द इत्यर्थः। नन्वस्याप्युत्पत्त्यादिना विरुद्धधर्मसमवायात् जीववदानन्दतिरोभावो भविष्यतीति चेत् तत्राह अभवमिति। कदाचिदप्युत्प-

---

१ - जीव

त्यादिरहितं प्रत्युत अन्येषामपि तन्निवर्तकमित्यर्थः । स्वर्गादौ सामग्रीदर्शनात् विशेषादर्शनाच्च आनन्दशङ्कापि भवेत् भुवि तु संभावनापि नास्तीत्याह भुवि विश्वसिता इति । तीर्थादिसंभावनया वा शुद्धान्तःकरणाः सन्तः भूमौ भगवति विश्वासं कुर्वन्ति, अन्यत्र भोगाभिनिवेशात् न विश्वासो जायत इत्यर्थः ।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के बनाए हुए, देव मनुष्य पशु आदि शरीरों में, जो जीव हैं वह भगवान् का अंश है, देहों में रहते हुए भी उनके गुण और दोषों से अलिप्त ही है, किन्तु अंश होने के कारण उसमें विषमता प्रतीत होती है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहने हैं कि, जीव, भगवान् का चैतन्य अंश है, अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप से सर्व देहों में प्रविष्ट होते हुए भी अंदर और बाहर चैतन्य गुण से पूर्ण है, इससे वास्तव में वह भी विषम नहीं है अर्थात् 'सम' है तो भी आनन्दांश के तिरोहित होने से और अंश[1] होने से विषम भावापन्न जैसा हुआ है अर्थात् अणु है इस कारण से अपने आनन्द की प्राप्ति की इच्छार्थ देहों में प्रवृत्ति करता है, अर्थात् देहों में आनन्द प्राप्त्यर्थ घूमता रहता है, वह आनन्द न मिलने से विषम जैसा दीखता है, भगवान् और जीव में विलक्षणता का कारण इतना ही है यों बताया, भगवान् तो आनन्द पूर्ण हैं इसलिए किसी से भी आनन्द की याचना नहीं करते हैं, जीव का आनन्द तो तिरोहित हो गया है, इसलिए जहां कहां से आनन्द की अपेक्षा करता है इससे विषम के समान प्रतीत होता है, यह अर्थ 'अंशकृत' पद से सूचित किया है । इसी तरह जो मनुष्य भगवान् और जीव की विलक्षणता[2] जानते हैं वे ही भगवान् की भक्ति करते हैं, न कि दूसरे अर्थात् जो इस विलक्षणता को नहीं जानते हैं वे भगवद्भजन नहीं करते हैं ।

जीव की यह प्रवृत्ति आनन्द को ढूंढने के लिए ही है, वह आनन्द तो भगवान् में ही है, दूसरे किसी में भी, जैसा कि श्रुति कहती है कि 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'एष ह्येवानन्दयति' यदि यह आकाश न होवे तो कौन श्वास ले सके और जीवन धारण कर सके क्योंकि आनन्द तो आकाश ही देता है ।

जब जीवों में से आनन्द तिरोहित हो गया है तो जड़ो में उसकी गन्ध भी न होवे तो क्या आश्चर्य है ? अर्थात् उनमें आनन्द की गंध मात्र भी नहीं है, किन्तु जैसे भ्रान्त पुरुषों को मरुमरिचिका की तरह अत्यन्त निर्जल भूमि में भी जल की प्रतीति होती है वैसे ही पुष्प चन्दनादि[3] में भी आनन्द है यों मान मनुष्य भ्रमित होते हैं, 'सर्व मनुष्य अथवा पदार्थ' जिसके पास है वही दे सकता है, उसके सिवाय दूसरा कुछ भी दे नहीं सकता है इसलिए इस तत्व को जानने वाले पण्डित भी जानते हैं कि, आनन्द निधि भगवान् हैं, उनसे ही आनन्द मिलेगा वे ही आनन्द दे सकेंगे अतः वे भगवान् के चरणों की ही उपासना करते हैं ।

भले, परमानन्द भगवान् में होवे, किन्तु स्वर्ग आदि का आनन्द तो अन्यत्र भी होगा, इस

---

[1] १—अंशेन, यह तृतिया विभक्ति देकर ऐक्य दिखाया है—अर्थात् अंश अलग विभाग नहीं बल्कि अंश जैसा, यानि आनन्दांश छिपने से अंश है ।

[2] २—भेद,

[3] ३—आदि पद से स्त्री, पुत्र, धनादि में भी आनन्द प्रतीति भ्रान्तों को होती है,

प्रकार की शङ्का पर कहते हैं कि, निगमा वपनं' समस्त वेद भगवान् के चरणों में ही आनन्द कहते हैं अतः वेद भी चरणों को ही प्रणाम करते हैं जैसे कि श्रुति में कहा है कि 'सर्व वेदा यत्पदमामनन्ति' अतः वेद भी भगवान् के चरणों की भक्ति का प्रतिपादन करते हैं, वह चरण ही फल तथा साधन रूप है. अतः यज्ञ भी चरण रूप है. स्वर्ग भी वैसा ही है, यह मुख्य सिद्धान्त है । 'अस्यैवा नन्दस्यान्यानिमात्रामुपजीवन्ति श्रुतिः' यह श्रुति कहती है कि इसके ही आनन्द को मात्रा से अन्य, जीवन धारण करते हैं, 'एष एवानन्दयाति' यह हो आनन्द प्राप्त कराते हैं, 'एव' पद से यह दृढ सिद्धान्त सिद्ध किया है कि वेद के कथन से भी भगवान् के चरणारविन्द के सिवाय दूसरो जगह आनन्द नहीं है । यदि कहो कि इसका (भगवान् व भगवच्चरण का) भी उत्पत्ति आदि से आनन्द के विरूद्ध जो धर्म है उनके साथ सम्बन्ध हो जाने से जीव की भांति आनन्द तिरोहित हो जायगा, तो उनका भी जीववत् जन्म होगा, जिसका उत्तर यह है कि **भगवच्चरण** दूसरों के जन्म को भी जब नष्ट कर देते हैं तब उनका जन्म कैसे होगा ? स्वर्ग आदि में आनन्द की सामग्री के दर्शन होने से, स्वर्ग के सुख तथा आनन्द में भेद का ज्ञान न होने से आनन्द को शङ्का भी हो सकती है, पृथ्वी पर तो ऐसी शङ्का हो नहीं सकती है क्योंकि भुवि विश्वसिताः' पृथ्वो पर तीर्थ आदि हैं उनसे व उपासना आदि से शुद्धान्तःकरण हो जाने से भूमिस्थ जीवों का भगवान् में विश्वास हो जाता है, दूसरे स्वर्गादि लोकों में भोगों में आसक्ति होने से भगवान् में विश्वास नहीं रहता है—

कारिका—गुप्तानन्दा यतो जीवा निरानन्दं जगद्यतः ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्माज्जीवैः सेव्यः सुखार्थिभिः ॥७॥२०॥

कारिकार्थ—जीवों का आनन्द तिरोहित हो गया है, जगत् में आनन्द नहीं है, इसीलिए जिन जीवों को आनन्द प्राप्ति की चाहना है उनको भगवान् की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि भगवान् पूर्णानन्द हैं, अतः यह ही आनन्द दान कर सकते हैं ॥७॥२०॥

आभास—एवं प्रवेशश्रुतिप्रसङ्गविचारेण जीवानां स्वरूपमुक्त्वा तेषां आनन्दाकाङ्क्षायां भगवत्सेवैव कर्तव्येति निश्चित्य तत्रासंभावनाविपरीतभावनाव्युदासार्थं भगवत्यपि कदाचिदानन्दो न भवेदिति को वा भगवान् यः पूर्णानन्द इति च संदेहद्वयं वारयितुमाह **दुरवगमात्मतत्त्वनिगमायेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् कार्यों में प्रवेश करते हैं इस प्रसङ्ग वाली श्रुतियों से जोव स्वरूप कहकर, उनको (जीवों को) आनन्द प्राप्ति के लिए भगवत्सेवा ही करनी चाहिए, यों निश्चय कर, अब, जीव को असम्भावना और विपरीत भावना के कारण दो शङ्काएँ (१—कदाचित् भगवान् में भी आनन्द न होवे और २ - भगवाद् जो पूर्णानन्द है, वह कौन है ?) उत्पन्न होती है तदर्थ उन दो भावनाओं को मिटाने के लिए 'दुरवगमा' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-**
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।

न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥२१॥

श्लोकार्थ—जिस आत्म तत्त्व का ज्ञान पाना अति कठिन है, उसका ज्ञान देने के के लिए जिस आपने अवतार धारण किया है, वैसे आपके चरित्र रूप महान् अमृत सागर में बहुत अवगाहनार्थ परिश्रम करने वाले कोई ऐसे विरले भक्त हैं, जो हे ईश्वर ! मोक्ष सुख को भी नहीं चाहते हैं, कारण कि उनको आपके चरण-कमल के आश्रय करने वाले हँसों (परम भगवदीयों) के सङ्ग में भगवच्चरित्र-चर्चा करते, जो परमानन्द प्राप्त होता है, वह मोक्ष में भी नहीं दीखता है, इसलिए ही उन्होंने गृह आदि सबका त्याग कर दिया है ॥२१॥

सुबोधिनी भगवत्यानन्दोऽस्ति न वेति शङ्कापि न कर्तव्या नापि को वा भगवानिति, नापि जीववज्जनने आनन्दतिरोभावः शङ्कनीयः। यतोऽवतीर्णस्य कृष्णस्य चरित्रमात्रश्रवणेऽपि तादृश आनन्दो जायते येन विचारकाः अपवर्गमपि परमानन्दप्रापकं न परिलषन्ति कदाचिदपि न वाञ्छन्ति। न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम व्याघातात्। एतस्याप्यभिज्ञापकमन्यदस्तीत्याह चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहा इति। गृहे हि महत्सुखं भवति। तत्सिद्धं विद्यमानं तदपि परित्यजन्ति। यदि भगवति सहस्रांशेनाऽप्यानन्दसंदेहो भवेत् तर्हि विद्यमानं को वा त्यजेत्। अतो भगवति आनन्दे कोऽपि संदेहो न कर्तव्य इत्यर्थः। अवतारोऽपि भगवतो ज्ञानार्थं इति विपरीतार्थतां वदन् संव्यवहार्यस्यापि पूर्णानन्दत्वमिति स्थापयति दुरवगमो य आत्मा केनापि ज्ञातुमशक्यः यश्चक्षुष्मान्न पश्यति तत्रोपायः कठिनः। यः स्वात्मानमेव न जानाति तं को वा बोधयेत्। तथापि न बुध्यते स्वात्मा एवं सति कीदृशोऽयमात्मेति भवति संदेहः। तस्य च तत्त्वमपि दुर्ज्ञेयं किं रूपं तस्य परमार्थभूतमिति। एतादृशस्य ज्ञानं यदि लोके प्रसिद्धं स्यात् तदेतावता कालेन सर्वे मुक्ताः स्युः अत आत्मतत्त्वज्ञानार्थं लोकावगतं कारणं नास्तीति भगवानाविर्भूतः नितरां गमो ज्ञानम्, देहग्रहणमज्ञानकार्यं भगवतश्चेदमद्भुतचरित्रं अज्ञानकार्यसदृश गृह्णन् प्रकटीकुर्वन् सर्वेषां ज्ञानं संपादयतीति। अतोऽद्भुतकर्मणो भगवतश्चरित्रमेव महानमृताब्धिर्महत्त्वं लोकसिद्धसमुद्रापेक्षयाप्यधिकमिति। अयं समुद्रः कथंचिच्छोषं पानं बन्धनमुल्लङ्घनं वा प्राप्नोति स तु न केनाप्येतत्कर्तुं शक्य इति। अब्धित्वं तूपपादितमेव अमृतत्व च। तत्र परिवर्तनं परिवर्तः बहुधा आलोडनं तदर्थं परितः श्रमो येषाम्। येषां तादृशचरित्रालोडने सामर्थ्यं भवति ते महारसपानमत्ता इव स्वयं प्राप्तं केनचिद्दीयमानं वा अपवर्गं न गृह्णन्तीति किं वक्तव्यम्। बहुधा प्ररोचनायामपि तेषामिच्छापि नोत्पद्यत इत्यर्थः। ईश्वरेतिसंबोधनात् त्वया दीयमानमपि न गृह्णन्तीति सूचितम्। ननु परमानन्दस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् कथासमुद्रे अवगाहनक्लेशाधिक्यात् किमित्यपवर्गं न वाञ्छन्तीति चेत् तत्राह ते चरणेति। यथा लोके एकाकी यथा रसानुभवं करोतीति तदपेक्षया सर्वैर्योग्यैः सह रसानुभवः सुखाधिक्यहेतुर्भवति एवं परमानन्दोऽपि। ते चरणसरोजैकाश्रया ये हंसास्तेषां कुल समूहस्तेषां सङ्गार्थं विसृष्टं स्वगृहं यैस्तैः सह परमानन्दो बहुधा भोक्तव्य इति मोक्षापेक्षयापि भगवत्कथाश्रवणरसोऽधिको निरूपितः। गृहस्य प्रतिबन्धकत्वात् भगवत्सेवकानां च संमत्यभावात्त्यागः ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् में आनन्द है अथवा नहीं है ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए और यह भी शङ्का न करनी चाहिए कि भगवान् कौन है ? भगवान् भी जीव की तरह जन्म लेते हैं, अतः उनका भी आनन्द तिरोहित होता होगा ऐसी भी शङ्का नहीं करनी चाहिए. क्योंकि अवतारी* श्रीकृष्ण के केवल चरित्र श्रवण करने से ही श्रोता को ऐसा परम आनन्द प्राप्त होता है, जिसके आगे मोक्ष के महान् आनन्द को भी वे विचारक, नहीं गिनते हैं. अर्थात् कभी भी मोक्षानन्द नहीं चाहते हैं, देखे हुए पदार्थ में कुछ अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि उसमें किसी प्रकार सन्देह नहीं है, इसका भी जताने वाला दूसरा है, उसको कहते है -'चरणसरोजहंस कुल सङ्गविसृष्टगृहा' चरण कमल के आश्रित जो हंस हैं उनके सङ्गार्थ जिन्होंने गृह छोड़ दिया है, गृह में तो महान् सुख मिल रहा है वह विद्यमान और सिद्ध है, उसकी प्राप्ति में अथवा उसके होने में कोई सन्देह नहीं है. उसको भी जो, छोड़ देते हैं, यदि भगवान् में आनन्द होने में सहस्रांश भी संशय होता तो गृह सुख, जो मौजूद है, उसको कौन छोड़ सकता है, अतः भगवान् में आनन्द है, जिसमें कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिए, भगवान् का जन्म, ज्ञान देने के लिए है, यह कहना भी विपरीत अर्थ प्रकट करता है क्योंकि देह तो अज्ञान का परिणाम रूप है, अज्ञान रूप देह ज्ञान का कारण कैसे ? इसलिए यों कहना विपरीतार्थ वाला दीखता है, जिस शङ्का को मिटाते हैं कि 'संव्यवहार्यस्यापि पूर्णानन्दत्वमिति भगवान् का जो भी व्यवहार हो रहा है वह पूर्णानन्द वाला है, यों कहते हैं कि, जो आत्मा किसी से भी जानी नहीं जाती है, जिसको नेत्र वाला नहीं देख सकता है उसको जानने का उपाय कठिन है, जो अपने को ही नहीं जान सकता है, उसको दूसरा कौन ज्ञान करा सकेगा ? ज्ञान नहीं होता है अपनी आत्मा समझ में नहीं आती है, यों होने पर यह आत्मा कैसी है ? ऐसा संशय होता है, उसका तत्त्व भी दुर्ज्ञेय है और उसका परमार्थतः कौनसा रूप है ? ऐसे परमात्मा का ज्ञान, यदि लोक में प्रसिद्ध अर्थात् सबको हो जावे तो इतने समय में सब मुक्त हो जाते, इसलिए आत्म तत्त्व के ज्ञान के लिए कोई भी साधन लोक को मालुम नहीं है, इसलिए ही जीव कल्याणार्थ आत्म तत्व के ज्ञान देने के लिए भगवान् को अवतार धारण करना पड़ा है। 'निगमाथ आत्ततनौ'ज्ञान के लिए देह धारण की,जो देह धारण का कार्य अज्ञान का है,यों विरुद्ध धर्म दिखाने वाला चरित्र होने से ही भगवान्का यह चरित्र अद्भुत है,अज्ञान कार्य समान देह को प्रकट करते हुए सब को ज्ञान देते हैं, अतः अद्भुतकर्मा भगवान् का चरित्र ही महान् अमृत सागर है, जिससे लोक सिद्ध समुद्र की अपेक्षा अधिक है, यह समुद्र तो कैसे ही सूख भी जाता है, पिया[१] भी जाता है, बान्धा भी जाता है, उसका उल्लङ्घन भी हो सकता है, चरित्रामृताब्धि को तो कोई ऐसा नहीं कर सकता है । अब्धित्व और अमृतत्व तो प्रतिपादन किया ही है, उन चरित्रों के अमृताब्धि में बिलोडने (मथन) का परिश्रम कर, जो महारस पान से मत्त होगए हैं, वे स्वयं प्राप्त व किसी के दिया हुआ मोक्ष नहीं लेते हैं । इस विषय में क्या कहा जाय? 'परिलषन्ति' में जो 'परि' उपसर्ग है उसका भावार्थ है कि ऐसे भक्तों को कितने ही लोभ आदि दिए जावे तो भी, उन पदार्थों के लेने की इच्छा भी मन में उत्पन्न नहीं होती है. हे ईश्वर ! इस संबोधन से यह सूचित किया है कि आप देवें, तो भी नहीं लेते हैं वहां दूसरों का दिया कैसे

---

* ३७ वां अध्याय, २१ श्लोक –'तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टत मिश्रदृग्भ्यः' इस श्लोक में कहा है कि भगवान् ने अवतार लेकर जीवों को अपने आत्म तत्व का ज्ञान कराया है, उनकी दृष्टि से अज्ञान के पर्दे हटा दिए हैं, तदनुसार यहां आचार्य श्री ने कहा है कि 'अवतीर्णस्य श्रीकृष्णस्य'

[१] —अगस्त्य ऋषि ने समुद्र पान कर डाला ।

लेंगे ? मोक्ष और कथामृताब्धि दोनों में परमानन्द है तो, फिर कथामृताब्धि के बिलोड़ने में अधिक क्लेश भोगने की क्या आवश्यकता है क्यों न मोक्ष चाहते हैं, यदि यों कहो तो, इसका उतर यह है कि, अकेले रसानुभाव करने की तुलना में बहुत योग्यों के साथ रसानुभव में अधिक सुख प्राप्त होता है, इसी तरह परमानन्द होते हुए भी मोक्ष में अकेले रसानुभव किया जाता है, चरित्र श्रवण में बहुतों के साथ अनुभव करने से परमानन्द का विशेष सुख प्राप्त होता है, अतः कहा है कि 'चरण सरोज हंस कुल सङ्ग विसृष्ट गृहाः' चरण कमल के आश्रित जो हंस कुल (भगवदीय जन) हैं उनसे सङ्ग करने के लिए छोड़ दिया है गृह जिन्होंने, अर्थात् ऐसे भगवदियों के साथ सङ्ग करने से, भगवच्चरितामृत पान से अनेक प्रकार का रसानन्द भोगा जा सकेगा, वैसा मोक्ष में भो नहीं मिलेगा, यों कह कर सूचित किया है कि मोक्ष से भी अधिक रस प्राप्ति कथा श्रवण में होती है, गृह, चरित्र श्रवण में प्रतिबन्धक है अतः भगवत्सेवकों को गृह में रहने के लिए सम्मति नहीं है जिससे उन भक्तों ने प्रत्यक्ष सुखदाता गृह त्याग कर दिया है ।।२१।।

कारिका – कृष्णे हरौ भगवति परमानन्दसागरः ।
वर्तते नात्र संदेहः कथा तत्र नियामिका ।।८।।२१।।

कारिकार्थ—भगवान्, हरि कृष्ण में परमानन्द का सागर है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है, क्योंकि उसमें कथा नियामक है ।।८।।२१।।

आभास – एवं जीवानां परमानन्देप्सूनां भगवानेव सेव्य इति निरूप्य तत्सिद्धयर्थं तत्प्रतिबन्धकं विशेषतो निर्दिशति **त्वदनुपथमि**ति ।

आभासार्थ—इसी तरह परमानन्द की चाहना वाले जीवों को भगवान् की ही सेवा करनो चाहिए यों निरूपण कर उस सेवा में जो रुकावट डालने वाला असत्सङ्ग है, उसके स्वरूप का विशेष रूप से इस 'त्वदनुपथ' श्लोक में वर्णन करते हैं कि जिससे भक्त सावधान रहें, तो सेवा प्रेम से निर्विघ्न कर सकें ।

श्लोक—**त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियव-**
च्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ।।२२।।

श्लोकार्थ—यह देह आपकी सेवा के लिए है, अतः आत्मवत्, मित्रवत् और प्रियवत् आचरण करती है और जो आप हित करने वाले, प्रिय एवं आत्मा हैं, उसके सन्मुखता के योग्य ब्राह्मणादि शुद्ध देह होते हुए भी आपकी सेवा करते हुए आप में रमण नहीं करते हैं, आपका आनन्द नहीं लेते हैं, वे असतों* की उपासना से अपनी

---

* असत् सङ्ग से अथवा क्षुद्र देवोपासना से ।

आत्मा का हनन करते हैं और जिससे वे दुष्ट शरीर वाले होकर महान् भयदायी संसार में भटकते हैं, इसलिए आश्चर्य तथा खेद है ।।२२।।

सुबोधिनी—स्वाभिलषितस्यैव प्रतिबन्धकत्वं नान्येषामिति वक्तुमन्येषां प्रतिबन्धकतां निराकरोति । तत्र प्रथमं शरीरप्रतिबन्धकता निराक्रियते । शरीरं हि सर्वदोषदुष्टं असमर्थमालस्ययुक्तं च । अतो भगवद्भजने इदं प्रतिबन्धकं भविष्यतीति शङ्का निराक्रियते तव अनुपथं अनुगुणं सेवकरूपं सर्वेन्द्रिययुक्तं बलविवेकादियुक्तं च । इन्द्रियवत्त्वमेवाधिकारिविशेषणमिति तादृशे चेद् अहन्ताममता दृढा वा स्यात् तया भगवदर्थं व्यापृतं न कुर्यादिति तदर्थमाह कुलायमिति । कुलाय: पक्षिणां नीडं पक्षयो: समागतयो: तत्र ते न तिष्ठन्ति । शरीरं पुत्रादिभ्यश्च भिन्नं तथा यै: स्वशरीरं ज्ञातमस्ति केवलमिदं गृहरूपं तत्राप्यविवेकिनामेव हितकारीन्द्रियादिभ्योऽपि भिन्नं विवेके जाते सर्वदा त्यक्तव्यमिति यैरवगतम् । तत्रापि स्त्रीदेहश्चेत् सेवकदेहो वा भिन्नस्वभावेन द्वेषिदेहो वा भवेत् तदा कार्यं न सिद्ध्यतीत्याह आत्मसुहृत्प्रियवच्चरतीति । आत्मवत् सुहृद्वत् प्रियवच्चेति । आत्मा स्वाधीनो भवति । तेनास्य स्त्रीदेहवत् सेवकदेहवद्वा न भवतीति निरूपितम् । तत्तु पराधीनम् । तथापि धर्मकार्ये चेद् असहिष्णुर्न क्षम भवेत् तथापि कार्यं न सेत्स्यति तदर्थमाह सुहृद्वन् मित्रवत् । मित्रं हि स्वस्य हितमेव करोति तथेदमपि धर्मकार्यादिसमर्थम् । किञ्च । प्रियो यथा स्नेहविषयो भवति एवं स्नेहपात्रम् । न तु महापातकयुक्तमिव द्विष्टम्, चण्डालादिदेहवन्मन:पीडाजनकम् । एवं देहस्य प्रतिबन्धकता निवारिता । कदाचिद्भजनीयो भगवान् प्रतिबन्ध कुर्यात् तदा का गतिरिति चेत् तत्राह तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि चेति । भगवानपि ब्राह्मणादिदेहमुत्पाद्य स्वसेवार्थं कदा मत्सेवां करिष्यतीत्युन्मुखोऽस्ति । किञ्च । हितकारी यदा तस्य देहस्य विघातकं किञ्चिदापतति प्रमादात्तदा पालयति सुहृत्कृत्यमेतत् । तथा भगवान् प्रिय: प्रीतिविषय: न हि प्रियकार्यं कुर्वन् कश्चित् खिन्नो भवति । आत्मा चास्य देहस्य सर्वेषामात्मा आवश्यक इति । एवं साधने सेव्ये चानुगुणे यो न सेवते तत्र हेतु: असदुपासनयेति । असतामुपासनया, दुष्टसङ्गान्न भजतीत्यर्थ: । उपासनापदेन च बाह्यदेवता: परिगृहीता: तेषामपि सकृदपि सङ्गे भगवद्भजनं न नश्यतीति ज्ञापितम् । नन्वसत्सङ्गं सर्वपुरुषार्थनाशकं किमिति कुर्वन्ति इत्याशङ्क्याह आत्महन इति । ते पूर्वकृतपापादात्महनो जाता यद्वशादसत्सङ्गस्तेषां जात इति । असतामिन्द्रियाणां वा उपासना । तत: किमत आह यदनुशया: यस्मिन्नसत्सङ्गे अनुशययुक्ता: । उरुभये संसारे कुशरीरं प्राप्य अनेकजन्मसु परिभ्रमन्ति । न तु कदाचिदपि सुखलेशं प्राप्नुवन्तीत्यर्थ: ॥

व्याख्यार्थ भगवत्सेवा में प्रतिबन्धक वे हैं जिनकी● हम चाहना करते हैं उनके सिवाय दूसरे प्रतिबन्धक नहीं है यह सिद्ध करते हैं, उनमें पहले यह बताते है कि शरीर भगवद्भजन में प्रतिबन्धक नहीं है, अत: उसकी प्रतिबन्धकता का निराकरण करते हैं, यह शरीर सर्व दोष निधि होने से दुष्ट है, असमर्थ है और आलस्यवाला है, अत: भगवद्भजन में रुकावट डालने वाला होगा, ऐसी शङ्का का उत्तर देते हैं कि, यह शरीर आपके मार्ग पर चलने वाला सेवक, सर्व इन्द्रियों से

● अहंता ममता के कारण स्त्री, पुत्र, धन आदि और उनकी एवं स्वर्गादि प्राप्त्यार्थ अन्य देवोपासना

युक्त और बल तथा विवेक वाला है, जिससे वह भगवत्सेवा का प्रतिबन्धक नहीं है. इन्द्रियादि के होने से ही शरीर भगवद् सेवा के योग्य होता हैं, यह ही उसका, अधिकारी होने में कारण है, ऐसे भगवत्सेवा के योग्य शरीर में यदि अहन्ता ममता दृढ हो जाय तो उससे यह शरीर भगवत्सेवा में नहीं लगाया जाता है,इसलिए कहते हैं कि इस शरीर में अहन्ताममता नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह शरीर पक्षियों के घोंसले के समान है, जैसे पक्षी पांख आते ही घोंसला छोड़ देते हैं उसमें ममता नहीं रखते हैं वैसे ही मनुष्य को भी ममता न रखकर इस शरीर को भगवत्सेवा का ही साधन समझना चाहिए, जिन्होंने शरीर को पुत्र आदि से पृथक् जाना है और केवल आत्मा के रहने का ही स्थान है यों जाना है. तथा इन्द्रियादि से भी अलग हैं केवल अविवेकी ही इसको अपने लिए हितकारी जानते हैं, इस प्रकार का विवेक रखकर सर्वदा इसका (मोह) त्याग करना चाहिए यों जिन्होंने जानलिया है, उनके लिए यह शरीर, भगवत्सेवा में प्रतिबन्धक नहीं है, उसमें भी यदि स्त्री देह, सेवक देह अथवा भिन्न स्वभाव के कारण द्वेषी देह होवे तब कार्य[1] सिद्ध नहीं होता है इसका स्पष्टीकरण करने के लिए कहते हैं कि 'आत्मसुहृत्प्रियवच्चरति इति' आत्मा की तरह, सुहृत् की तरह और प्रिय की तरह आचरण करता है, आत्मा[2] अपने आधीन होता है वैसा स्त्री और सेवक का शरीर अपने आधीन नहीं रहता है, उनका[3] शरीर तो दूसरे के आधीन रहता है, तो भी यदि धर्म कार्य करने में समर्थ न होवे तो भी सेवा सिद्ध न होगी, इसलिए कहा है कि शरीर मित्र की तरह आचरण करता है, मित्र अपने का हित ही करता है वैसे ही यह शरीर भी धर्मादि कार्य में समर्थ होने से मित्रवत् आचरण करता है अर्थात् हित ही करता है सारांश यह है कि सेवा में सदैव प्रेरणा ही करता है. और विशेष यह है कि केवल मित्रवत् आचरण नहीं करता है किन्तु प्रेमी की तरह प्रिय भी करता है, इसलिए यह शरीर प्रिय, स्नेह का विषय होने से प्रेम का पात्र होता है. अर्थात् इस शरीर से स्नेह करना चाहिए, न कि लौकिक विषय सम्बन्धी मोह करना चाहिए, महा पातकी के समान द्वेष के योग्य नहीं है. चांडाल आदि देह की तरह मन की पीड़ा उत्पन्न करने वाला नहीं है. इस प्रकार भगवान् की सेवा में देह प्रतिबन्ध है इस शङ्का का निवारण किया।

यदि मन में यह शङ्का होवे कि कदाचित् भगवान् सेवा में विघ्न करे तो, क्या गति होगी ? इस शङ्का के मिटाने के लिए कहा है कि 'तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च, भगवान् तो अपनी सेवा कराने के लिए ही सेवा योग्य ब्राह्मणादि देह देकर, यों सामने देख रहे हैं कि यह मेरी सेवा कब करेगा ? भगवान् मित्र है अतः कदाचित् भगवत्सेवा करने वाले को सेवा करने में किसी प्रकार देह का कष्ट होता है तो भगवान् उसको मिटाकर सेवक का हित करते हैं जिससे वह सेवा कर सकता है. भगवान् भक्त का प्रिय भी है, प्यारा अपने प्रेमी का कार्य करते हुए कभी भी खिन्न नहीं होता है, और भगवान् जैसे सब की आत्मा हैं वैसे ही इस देह की भी आत्मा है, इस प्रकार सेवा का साधन शरीर भी हो, सेव्य भगवान् भी अनुगुण हो तो भी जो मनुष्य सेवा नहीं करता है, जिसका कारण 'असदुपासना'[4] है, दुष्टों की उपासना (सङ्ग) करने से सेवा नहीं करता है 'उपासना' पद से यह जताया है कि अन्यदेवाश्रय से भी सेवा से विमुखता आती है, उनका एक बार भी

---

[1] सेवा, [2] शरीर,

[3] स्त्री शरीर पति के आधीन और सेवक का स्वामी के आधीन होता है

[4] दुष्ट इन्द्रियों की आधीनता, अभक्तों का सङ्ग, अन्याश्रय

सङ्ग (आश्रय) किया तो भगवद्भजन करना छूट जाता है, जब असत्सङ्ग सर्व पुरुषार्थों का नाश करने वाला है तो क्यों करते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं 'आत्महनः' वे आत्मघाती हैं उनके पूर्व जन्म कृत ऐसे पाप हैं जिनके वश होने से उनको असत्सङ्ग प्राप्त हुआ जिससे वे आत्म हत्यारे बने हैं, अथवा दुष्ट इन्द्रियों की उपासना से भजन नहीं करते हैं, दुष्ट इन्द्रियों की उपासना से क्या होता है ? इस पर कहते हैं कि 'यदनशयाः' उस उपासना से असत्सङ्ग में ही दृढ स्थिति हो जाती है, जिससे वासना विशेषों के कारण बहुत भय देने वाले संसार में दुष्ट शरीर प्राप्त कर अनेक जन्मों में चक्कर काटते रहते हैं, कभी भी स्वल्प सुख भी नहीं पा सकते हैं ।।२२।।

कारिका—असत्सङ्गो न कर्तव्यो भक्तिमार्गस्य बाधकः ।
देहे ह्यनुगुणे कृष्णे नेन्द्रियाणां प्रियं चरेत् ।।६।।२२।।

कारिकार्थ—असत्सङ्ग नहीं करना चाहिए क्योंकि, सेवा में प्रतिबन्ध डालने वाला है अतः श्रीकृष्ण की सेवा में देह अनुकूल हो तो सेवा ही करनी चाहिए, इन्द्रियों के प्रिय विषयों में चित्त नहीं लगाना चाहिए ।।६।।२२।।

आभास – एवं भगवद्भजनमेव जीवानामवश्यकर्तव्यमिति निरूपितं तत्र केन प्रकारेण भगवान् भजनीय इति विशेषजिज्ञासायां निर्णयार्थमाह **निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुज** इति ।

आभासार्थ—भगवान् का भजन ही जीवों का आवश्यक कर्त्तव्य है, यों निरूपण किया, वह किस प्रकार करना चाहिए, इस विशेष जिज्ञासा के निर्णयार्थ 'निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्
मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ।।२३।।

श्लोकार्थ – अच्छी रीति से धारण किए हुए वायु, मन और इन्द्रियों से जिन्होंने योग की सिद्धि प्राप्त की है, वैसे मुनि लोग अपने अन्तःकरण में उपासना करते हैं, वह आपका चरण शत्रुओं ने भी स्मरण से प्राप्त किया है तथा शेष की काया के समान आपके भुजदण्डों में आसक्त बुद्धि वाली स्त्रियाँ और हम भी सम दृष्टि वाले आपको समान ही हैं; क्योंकि आपके चरण-कमलों को सब अच्छे प्रकार से धारण करने वाले हैं ।।२३।।

सुबोधिनी—'तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्' इति भगवच्चरणपरतैव प्रयोजिका न तु प्रकारविशेषः प्रयोजक इति वक्तुं मर्यादामार्गेण निषिद्धमार्गेण, पुष्टिमार्गेण, प्रवर्तकमार्गेण वा ये भगवदुपासकास्ते सर्वे भगवद्विचारेण समा एव साधारणधर्मस्य प्रयोजकस्य सर्वत्र विद्यमानत्वात्तत्र विहितमर्यादामार्गेण ये सेवन्ते तान् प्रथमतो निर्दिशति नितरां भृतः मरुद्वायुः मनः अक्षाणि च, प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं चोक्तम् । एवं त्रिभिः कृत्वा ये दृढयोगयुजः योगेन निरन्तरं भगवच्चिन्तकाः । हृदि भगवन्तं मानसपूजादिना उपासते भगवति दृढं मनः स्थापयन्ति । तदेव भगवत्स्वरूपं तदरयोऽपि स्मरणाद्ययुः । सर्वात्मना यत्रैव मनो निविशते तदेव प्राप्नुवन्तीति विहितानां निषिद्धानां च तुल्यैव गतिरुक्ता । अनेन भगवति प्रमेयबलमेव मुख्यं न प्रमाणबलमित्यपि सूचितम् । उभयेषामेषामन्तर्मुखता वर्तत इति । बहिर्मुखानप्याह स्त्रिय इति । उरगेन्द्रस्य शेषस्य भोग इव काय इव यौ बाहू तत्र च विषक्ता धीर्यासां तादृश्यो गोप्यः अतिबहिर्मुखाः वयं च श्रुतयः अन्तर्मुखाः सर्वादरणीयाः । एवं पुरुषाः स्त्रियश्च सर्वं एव ते समाः । यतो भगवान् समदृक् सर्वानेव स्वकीयान् समत्वेन मन्यते । साधारणं तेषां धर्ममाह अङ्घ्रिसरोजं सुष्ठु धारयन्तीति । मुनीनां चरणधारणं स्पष्टम् । द्वेषिणां तु मारणार्थं समायातीति भावनायां चरणदर्शनमेव दृढं भवति । समागमनमेव तेषां भावनीयमिति । गोपिकानामपि तथा अभिसारप्रेप्सूनां, वयं च श्रुतयः । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति ॥

व्याख्यार्थ—इससे किसी भी उपाय से मन को कृष्ण में प्रवेश करना चाहिए, यों भगवच्चरण के परायण होना ही प्रयोजक है, न कि कोई प्रकार प्रयोजक है यों स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि मर्यादा मार्ग, निषिद्ध मार्ग वा पुष्टि मार्ग इनमें से किसी भो मार्ग से, जो भगवान् की उपासना करते हैं वे सब भगवद्विचार से समान हैं अर्थात् भगवान् की दृष्टि में समान ही हैं, क्योंकि प्रयोजक साधारण धर्म, (भगवदुपासना) सर्वत्र विद्यमान है, उनमें से वेदविहित मर्यादा मार्ग से जो उपासना करते हैं उनका प्रकार पहले बताते हैं, अच्छी प्रकार से निरुद्ध किया है १—वायु २—मन और ३—इन्द्रियाँ जो इस प्रकार सदैव योग द्वारा भगवान् का चिन्तन करते हैं, १—वायु से प्राणायाम, २—मन से प्रत्याहार और ३--इन्द्रियों से धारणाध्यान कहा है, इस प्रकार इन तीन साधनों से योग द्वारा निरन्तर भगवान् का चिन्तन करते रहते हैं, हृदय में भगवान् की मानस पूजादि से उपासना कर भगवान् में मन को दृढ स्थापित करते हैं, उस ही भगवत्स्वरूप को उन (भगवान्) के शत्रुओं ने भी स्मरण मात्र से प्राप्त किया है, सर्वात्म भाव से जिसमें ही मन प्रविष्ट हो जाता है उसको ही प्राप्त करते हैं, इस प्रकार शास्त्र विहित प्रकार और निषिद्ध प्रकार से उपासना करने वालों की गति तुल्य ही कही है, इससे यह सूचित किया है कि भगवान् में प्रमेय बल ही मुख्य है, प्रमाण बल मुख्य नहीं है, कारण कि इन दोनों प्रकार वालों में अन्तर्मुखता है, अब बहिर्मुखों को भी कहते हैं 'स्त्रिय इति' शेष नाग की देह के समान भुजाओं में जिनकी बुद्धि आसक्त है, वैसी गोपियाँ बहुत बहिर्मुख हैं और हम श्रुतियां अन्तर्मुख है अतः सब हमारा आदर करते हैं, इस प्रकार पुरुष और स्त्रियां सब आपकी दृष्टि में समान हैं, क्योंकि भगवान् समदृष्टि वाले हैं अतः भगवान् सबको ही अपना और समान मानते हैं, उन सब का साधारण धर्म कहते हैं कि सब, भगवान् के चरण कमल को अच्छे प्रकार से धारण करते हैं, मुनि लोगों का तो चरण धारण करना स्पष्ट ही है, शत्रुओं (दुष्मनों) को तो जब मारने के लिए पधारते हैं तब उनकी ही भावना ध्यान स्मरण होने से स्वरूपदर्शन दृढ हो जाता है, उनकी तो भगवान् पधारेंगे यही भावना रहती,

हैं भगवान् की अभिसारिकाएँ भी उनसे मिलने की ही चाहना करती हैं, और हम जो श्रुतियां ही, जिससे ही कहा गया है कि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' सर्व वेद जिसके चरण को ही प्रणाम करते हैं ध्यान धरते हैं ॥२३॥

कारिका—सर्व एव हरेर्भक्तास्तुल्या यान्मन्यते हरिः ।
अतः कृष्णो यथात्मीयान्मन्यते भजनं तथा ॥१०॥२३॥

कारिकार्थ—भगवान् जिनको अपना मानते हैं वे सब भक्त भगवान् को समान है अतः श्रीकृष्ण जैसे उनको आत्मीय (अपना) मानते हैं, वैसे ही भजन भी मानत हैं ॥१०॥२३॥

आभास—एवं भक्तानां तुल्यता निरूपिता तत्र शास्त्रविरोधमाशङ्क्य परिहरति क इह नु वेदेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भक्तों की समानता का निरूपण किया, उसमें शास्त्र के विरोध को शङ्का कर उसका परिहार 'क इह नु वेद' श्लोक से करते हैं--

श्लोक—क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये ।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥२४॥

श्लोकार्थ—जिससे ब्रह्मा उत्पन्न हुए, उसके बाद दोनों प्रकार के देव पैदा हुए, उन सबसे पहले विद्यमान को, पीछे उत्पन्न तथा लय प्राप्त हुए—यह कैसे जान सकेंगे ? यह विचारणीय है और फिर जब सबका आकर्षण कर शयन करते हैं, तब वहाँ कार्य तथा कारण एवं मन और काल वेग भी नहीं रहता है और कोई शास्त्र भी नहीं होता है ॥२४॥

सुबोधिनी—ननु 'ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्' 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्युपक्रम्य 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' इति ज्ञानिनः प्रशंसाश्रवणान्मुनीनां स्त्रीणां द्विष्टानां श्रुतीनां च कथं तुल्यतेति चेत् तत्राह क इह नु वेदेति । इयं ज्ञानप्रशंसा यो जानामीति मन्यते तद्बुद्धिमाश्रित्य निरूपिता न तु परमार्थतः कश्चिज्जानाति तत्र हेतुः इहास्मिन् संसारे को वा भगवन्तं जानाति यतो वयमपि न जानीमः । अत एव श्रुतिः 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' इति । ननु कथमज्ञानं प्रमाणस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह अग्रसरं, सर्वप्रमाणात् पूर्वमेव सिद्धम् । ज्ञाता च अवरजन्मलयः मध्य एवोत्पद्य गतः । भगवान् प्रथमत एव सृष्टिमुत्पाद्य तिरोहितो जातः, मध्ये सृष्टौ जीवा उत्पन्नाः श्रान्ताश्च, पश्चात् प्रलयार्थं समायास्यति । यदि वा अयं प्रथमत एव स्थितः स्यात् प्रलयपर्यन्तं वा तिष्ठेत्, तदा सृष्टेर्व्यवधाय-

कत्वाभावात् भगवन्तं जानीयात्, 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव' इति श्रुतेः। अतः सृष्टेर्व्यवधाकत्वान्न कश्चित्सृष्टावुत्पन्नो भगवन्तं ज्ञातुं शक्तः। यत उदगादिति यतः त्वत्तः ऋषिर्ब्रह्मा उत्पन्नः। तं ब्रह्माणमनु उभये आध्यात्मिका आधिदैविका देवगणा उत्पन्नाः। ननु प्रलयानन्तरं व्यवधायकत्वाभावात् कथं न ज्ञायत इति चेत्, तत्राह तर्हि न सन्न चासदिति। यर्हि भगवान् सर्वमेवावकृष्य शयीत तर्हि ज्ञानसामग्री कापि नास्ति, प्रथमतो न सत् सन्वा ज्ञाता, नासत् ज्ञापकमिन्द्रियादि कार्यं वा हेतुभूतम्। नाप्युभयम् इन्द्रियसन्निकर्षः व्यापारो वा, उभौ यातीत्युभयम्, सदसदात्मकं मनो वा 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' इति मन्त्रव्याख्याने उभयात्मकं मनो निरूपितम्। तथैवाग्निरहस्ये उभयात्मकं मनो निरूपितम्। केचिदुभयात्मकं जगदित्याहुः 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इति प्रयोजकस्य मनसा निषेधः। कालवेगोऽपि मात्रास्वरादिनियामकः सत्त्वगुणप्रेरको वा यो ज्ञानमुत्पादयति। न वा किमपि शास्त्रं वेदपुराणादि। यतः सर्वमवकृष्य शयनं करोति। अतो ज्ञानसामग्र्याः सर्वस्या एवाभावात् कस्यापि नापरोक्षं भगवज्ज्ञानमित्यर्थः। कदाचिद्भगवत्साक्षात्कारस्तु तावन्मात्रज्ञापको नाशेषविशेषं बोधयति। अवतारे तु मर्यादावादी आनन्दमयं देहं मन्यते। आत्मसाक्षात्कारे तु न भगवद्वैभवपरिज्ञानम्, योगजधर्मजनितत्वाच्च स्वप्नवन्न तस्य वस्तुनियामकत्वं, प्रमाणसंवादस्तु नानाविधानुभवान्न निर्विचिकित्सं ज्ञानमुपपादयति तस्मात्सृष्टिदशायां प्रलयदशायां वा सर्वथा ज्ञानसामग्र्यभावान्न कोऽपि ज्ञाता। प्रशंसा तु प्रवर्तिका यथाकथंचिच्चित्तशुद्ध्यर्थं प्रवर्तयति। ततः शुद्धो भगवद्भजनं कुर्यादिति भावः॥

व्याख्यार्थ—जब कि शास्त्र कहता है, कि, 'ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्' 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्युपक्रम्य 'तेषां ज्ञानी नित्य युक्त एक भक्तिर्विशिष्यते' इति ज्ञानिनः प्रशंसा श्रवणान्मुनीनां स्त्रीणां द्विष्टानां श्रुतीनांच कथं तुल्यतेति चेत्तत्राह क इह नु वेद इति' अर्थात् ज्ञानी मुझे विशेष प्यारा है, क्योंकि ज्ञान से वह मेरा भजन करता है, चार प्रकार के पुरुष मेरा भजन करते हैं, इस वचन से प्रारम्भ करके अन्त में कहते हैं कि नित्य योगवान् और मुझ एक की ही भक्ति ही करने वाला विशेष है अर्थात् उत्तम है, इस प्रकार शास्त्रों में ज्ञानो की प्रशंसा सुनी जाती है तो उसके विरुद्ध यहां मुनि, स्त्रियां, शत्रु और श्रुतियां सब प्रकार के समान कैसे कहे गए हैं? इसका उत्तर देते हैं कि, यह जो ज्ञान की प्रशंसा की है वह, जो कहता है कि मैं जानता हूँ अर्थात् ज्ञानी हूँ केवल उसकी बुद्धि को ध्यान में रखकर ही बड़ाई की है, वास्तव में वह कुछ नहीं जानता है, जिसमें कारण बताते हैं कि, इस संसार में भगवान् को कौन, जानता है? क्योंकि हम भी नहीं जानती हैं, इसलिए ही श्रुति कहती है कि जो कहता है कि मैं नहीं जानता हूँ, उसने ही जाना है, और जो कहता है कि मैंने जान लिया उसने नहीं जाना है, अर्थात् वह परमात्मा किसी से भी जाना नहीं जाता है क्योंकि प्रमाणों के होते हुए भी जानने में नहीं आता है, कारण कि 'वह' प्रमाण आदि सब से प्रथम विद्यमान है, जानने वाला, पीछे उत्पन्न होकर लय भो हो जाता है, अतः जो आदि और अन्त में नहीं केवल मध्य में है वह कैसे जान सकेगा? भगवान् स्वयं तो सृष्टि उत्पन्न कर छिप जाते हैं, बीच में सृष्टि में, जीव उत्पन्न हुए फिर लय को भी प्राप्त हो गए, छिपे हुए आप फिर प्रलय के लिए आएँगे, यदि यह जीव सृष्टि से पहले स्थित हो और प्रलय में भी होवे तो सृष्टि के पड़दे न होने के कारण जान भी सके, जब मध्य में है तब सृष्टि रूप पड़दा रुकावट डालने वाला मौजूद है इसलिए जीव नहीं जान सकता है, 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्मा-

कमन्तरं बभूव' इति श्रुतेः अर्थ—जिसने इस सृष्टि को उत्पन्न किया है, उसको तुम जोव) नहीं जान सकते हो कारण कि वह आप से अन्य प्रकार का है, यों यह श्रुति इसका स्पष्ट निषेध करती है कि जीव भगवान् को जानता है ।

क्योंकि आप से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, उस ब्रह्मा के अनन्तर आध्यात्मिक आधिदैविक देवगण उत्पन्न हुए, सृष्टि के समय सृष्टि का अन्तराय था किन्तु सृष्टि के बाद अर्थात् प्रलय के बाद तो कुछ भी रुकावट नहीं थी उस समय क्यों न जाना जाता है, जिसके उत्तर में कहते हैं कि प्रलय के बाद अर्थात् जब भगवान्, सबका अपने में आकर्षण कर (लय कर) सो जाते हैं, तब जिससे ज्ञान हो वैसा कोई पदार्थ नहीं रहता है अर्थात् सत्, जानने वाला, नहीं और असत् जिन इन्द्रियों से जाना जाय वे भी नहीं रहती हैं, दोनों इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं और व्यापार भी नहीं रहता है, दोनों सत्, असत्, और सत् असत् रूप मन भो नहीं होता है 'नासदासीन्नो सदा सीत्तदानीम्' प्रलय काल में उभयात्मक अर्थात् असत् सत् दोनों रूप मन को कहा है वह भी नहीं है, इसी तरह अग्नि रहस्य में भी मन को उभयरूप अर्थात् सदसद्रूप कहा है, कोई कहते हैं कि जगत् उभय (सदसद्रूप) है ।

'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' मन से ही जानना चाहिए, यों जानने में कारण जो मन, वह भो उस समय नहीं रहता है, जो मात्रा स्वरादि का नियामक सत्व गुण का प्रेरक काल वेग है, वह भी तब नहीं है, और कोई भी शास्त्र पुराण आदि भी नहीं बचता है, क्योंकि सब का अपने में आकर्षण कर सोते हैं इसलिए सम्पूर्ण ज्ञान सामग्री के ही अभाव हो जाने से किसी को भो भगवान् का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है ।

श्रुति ने जो कहा है कि किसीधीर ने प्रत्यगात्मा का दर्शन किया, तो. कैसे कहा जाता है कि भगवान् का ज्ञान नहीं होता है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि कदाचित् किसी धीर को भगवद्दर्शन जो होता है वह उतने ही का ज्ञान करता है, न कि, भगवान् के सर्व विशेष गुणों का ज्ञान कराता है ।

अवतार समय में भगवान् जिस देह को धारण करते हैं उसको मर्यादावादो आनन्दमय[1] मानते हैं आत्मा के (जीव के) साक्षात्कार होने पर भगवान् के वैभव का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है और वह, साक्षात्कार, योग द्वारा प्राप्त गुण से होने के कारण, स्वप्न को तरह वह ज्ञान, वस्तु का नियामक नहीं हो सकता है, तथा प्रमाणों का संवाद (कहना) तो अनेकविध अनुभव कराता है, जिससे संदेह रहित ज्ञान वह (प्रमाणों का संवाद) भी नहीं करा सकता है, इसी कारण से सृष्टि दशा में अथवा प्रलय दशा में सर्वथा भगवद्ज्ञान सामग्री के अभाव से कोई भी ज्ञाता (भगवान् को साधन से जानने वाला नहीं है, ज्ञान की प्रशंसा तो ज्ञान में प्रवृत्ति होवे इसलिए की है, प्रवृत्ति तो

---

[1] १—अवतार की देह सत्त्वगुण वाली होती है, उसमें पुरुषोत्तम का आविर्भाव होने से वह आनन्दमय बन जाती है, अतः सत्व का प्रमाण से ज्ञान होता है किन्तु भगवान् का ज्ञान तो अनुग्रह से होता है, तब आवरण रहित पुष्टि स्वरूप के पूर्ण दर्शन होते हैं—

चित्त की शुद्ध्यर्थ आवश्यक है, उससे शुद्ध होकर भगवान् का भजन करे, जिससे भगवान् प्रसन्न होके अनुग्रह करे।

कारिका—ज्ञानमार्गो भ्रान्तिमूलस्ततः कृष्णं भजेद्बुधः ।
प्रवर्तकं ज्ञानकाण्डं चित्तशुद्ध्यै यतो भवेत् ॥११॥२४॥

कारिकार्थ—ज्ञान मार्ग का मूल भ्रान्ति है, इसलिए उसमें न फँस कर बुद्धिमान पुरुष को भगवान् का भजन ही करना चाहिए, क्योंकि ज्ञान काण्ड की प्रवृत्ति, केवल चित्त शुद्धि के लिए हैं ॥११॥२४॥

आभास—एवं ज्ञानकाण्डस्यापि भगवद्भजनपरत्वं निरूप्य येऽन्ये वादिनः भगवद्भजनं न सहन्ते अन्यथा च शास्त्रं वदन्ति तान्निषेधति **जनिमसत** इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार वेद का ज्ञान काण्ड भी भगवान् के भजन परत्व ही है, यों निरूपण कर, अब जो दूसरे मत वाले वादी भगवद्भजन को सहन नहीं कर सकते हैं जिससे शास्त्र का अर्थ उल्टा करते हैं, उनके मतों का 'जनिमसतः और सदिव मन' इन दो श्लोकों से निराकरण करते हैं—

श्लोक—**जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां**
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥२५॥

श्लोकार्थ—असत्[1] से (जो नहीं है, उससे) उत्पत्ति मानते हैं, सत्[2] का नाश मानते हैं, जीवों[3] में भेद मानते है, फिर[4] दूसरे कर्म फल को सत्य मानते हैं—ये सब आरोपित भ्रमों से ही यों निरूपण करते हुए उपदेश देते हैं कि यह पुरुष त्रिगुणवान् है, इस प्रकार भेद अज्ञानकृत है, ज्ञान रस रूप आप में वह अज्ञान हो नहीं सकता है; क्योंकि आप उससे परे हो ॥२५॥

सुबोधिनी- ते प्रतिकूला द्विविधाः अर्धवैनाशिकाः सर्ववैनाशिकाश्च । तत्र प्रथममर्धवैनाशिकान्निराकरोति, ते चत्वारो वादिनः । नैयायिकाः, वैशेषिकाः, मीमांसकाः, सांख्यैकदेशिनश्चेति, तन्मतं हसन्त्य इव श्रुतयो निरूपयन्ति, तत्र नैयायिकाः असत एव घटादेः जनि वदन्ति । असन्नेव पश्चाज्जननेन सद्भवतीति । एतदसङ्गतम् । सत्तायाः संबन्धस्य च नित्यत्वे कथं घटस्यासत्त्वं स्यात् सत्त्वासत्त्वयोर्विरोधात् । नाप्यसत्त्वस्य जातित्वं तत्समवायो वाङ्गीक्रियते

---

[1] नैयायिक [2] वैशेषिक—आत्मा का [3] मीमांसक—जीव अनेक हैं
[4] साङ्ख्य के एक देशी और योगी

येन कालव्यवस्थया घट उभयं प्राप्नुयात्। अतः केवलमदर्शनमात्रेणासत्त्वं वदन्तो भ्रान्ता एव नैयायिकाः। एवं सति भक्तिमार्गो विरुध्यते। भगवत्कृपादीनां नित्यत्वे भजनेन कृपा न स्यात्। इच्छादीनामपि नित्यत्वादिच्छयावतारो न स्यात्। परमानन्दस्य च सुखत्वेनानित्यत्वात् पूर्णानन्दो भगवान्न स्यात्। अत इदं मतं निराक्रियते। वैशेषिकादयस्तु सतो मृतिमाहुः। सङ्घातः सन्नेव पश्चान्म्रियते तथा सति तस्याग्रे परलोकचिन्ता न कर्तव्या। सङ्घातस्यैव देवदत्तशब्दवाच्यत्वात्। बाह्यानां मुख्योऽयं सिद्धान्तः। भोगव्यवस्था तु तादृशान्येव तानि भूतानि स्वभावादेव भवन्ति। एतत्पक्षे तु ज्ञानभक्त्यादिमार्गाः सर्व एव तिलापःकृताः। अत एतन्निराकर्तव्यम्। सङ्घातादिन्द्रियवर्गसहितः आत्मा उत्क्रामति 'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि' इति वाक्यात् ब्रह्मविदामनुभवोऽस्त्येव। जातिस्मराणामपि लोके संभवात्, अन्यथा तेषामप्यहिंसादिविधिर्व्यर्थः स्यात्। ज्योतिःशास्त्रप्रामाण्याच्च संवादित्वेनापि तन्मतं व्यर्थं स्यात् 'अनन्तं नाम' इति श्रुतेः। अर्थाश्रयत्वश्रवणाच्च नित्यसिद्धोऽर्थः देवतारूपो वा आधिदैविको वा देवदत्तशब्दवाच्यः। एतदुपपादितं चतुर्थे कर्मनिर्णये देहस्योपलक्षकत्वमेव न तु विशेषणत्वमिति। यथावस्थान्तरेण पाकादिसाधनमुत्पाद्य पुनरन्यावस्थापन्नः पुनरन्यद्भोगं करोतीति सिद्धम्। नामकरणं च तत्रत्यात्मन एव न तु देहसहितस्यैव शास्त्रीयत्वात्। केशादिवद्वस्त्रादिवद्वा देहस्यापि सहभावमात्रत्वात्। अतः सत आत्मनः मुख्यसङ्घातस्य वा परलोकाद्यन्यथानुपपत्त्या न मृतिः, तस्मिन् सति पूर्वोक्तन्यायेन भक्तिमार्गः सेत्स्यति। मीमांसकादयः आत्मनां जीवानां भेदमङ्गीकुर्वन्ति आत्मनीश्वरे यज्ञादिरूपे वा, तथा सत्येक ईश्वर इति पक्षो न सङ्गच्छते। अन्यथा एकश्चेदीश्वरः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः स कथं विषम जीवेभ्यः फल दद्यात् कुतो वा विषमं कर्म कारयेत्। कारयिष्यन्वा वैषम्यनैर्घृण्ये वा कथं न प्राप्नुयात्। तस्मादीश्वर एव नास्ति कर्मातिरिक्तः। स चानेक इति प्रतिनियतं कर्मैव कर्तव्यमिति मन्यन्ते। तन्मतमपि निराकर्तव्यम्। अन्यथेश्वराभावे कस्य प्रणिधानं स्यात्। तेऽप्यारोपादेव तथा मन्यन्ते। कर्म कुर्वाणाः फलं प्राप्नुवन्ति। दातारं तु न पश्यन्तीति। अन्याधीने फले अवश्यं दातुरपेक्षा। साक्षादजन्यफलेषु राजभित्तिनिर्माणादिषु तथा-दर्शनात्। न हि यागः स्वर्गं पाक ओदनमिव साधयति येनेश्वरापेक्षा न स्यात्। स्वर्गश्च ब्रह्माण्डाधिपत्यधीनो लोकात्मकः। सुखसाधनान्यपि तदधीनानि। अन्यथा तदानीमेव स्वर्गः कुतो न भवेत्। अत ईश्वरे अवश्याङ्गीकर्तव्ये एकेनैव महाराजवत् कार्यसिद्धौ प्रतिनियतेश्वरकल्पना व्यर्था, गौरवात्। जीवानां तु भेदो नात्रोद्दिष्ट इति प्रतिभाति एकवचनप्रयोगात् प्रकृतानुपयोगाच्च। जीवभेदः प्रत्युत भक्तिसाधकः न तु बाधकः। सोऽपि बहुधा निराकृतो निराकरिष्यते च। अन्ये पुनः सांख्यैकदेशिनो योगिनश्च विपणं कर्मफल नित्यं मन्यन्ते 'योगेन साधितो योऽर्थः स नित्यो हि निगद्यते। वैदिकेनाप्यक्षयात्मा लोकः स्यान्नित्यकर्मणा' तस्मिन्नपि पक्षे नेश्वरप्रयोजनम्। स्वसाध्येनैव कार्यसिद्धेः तदपि निराकर्तव्यम्। आरोपैरेव प्रशसावाचकशब्दानां सत्यत्वारोपकबुद्ध्यैव तत्संभवात्। 'अपाम सोमममृता अभूम' इति सोमप्रशसावाक्यम्। 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्' इति तु सुकृतप्रशसा। तस्माद्भ्रमसिद्धान्ता तत इति नैतद्वाक्यानुरोधेन पूर्वोक्तसिद्धान्ते दूषणमाशङ्कनीयमिति भावः। ननु भक्तिमार्गोऽपि त्वदुक्तन्यायेन न सङ्गच्छते विष्णुर्हि सेव्यः शिवो ब्रह्मा वा एते गुणाभिमानिनः प्रतिनियतकार्यकर्तारः स्वस्वाधीनमेव स्वभक्ताय कार्यं कुर्वन्ति। अतस्त्रिगुणमयोऽयं पुरुषः नारायणो ब्रह्माण्डाभिमानी गुणैः कृत्वा सत्त्वरजस्तमोभिः भिन्नः सन्नुपाधिभेदेन जीवभेदेन वा स्थित्यादिकं करोतीति अल्पदातृत्वात् किं भक्तिमार्गेणापि गुणमयत्वाच्च सोऽपि

तिरोहितानन्द इति राजसेवकवदन्योन्योपधावनमपेक्षते। दृश्यते च तथा पुराणे लोके चेति यत्स्मार्तानां मतं तदपि निराकर्तव्यम्। अन्यथा पूर्वोक्तमार्गो न सिद्ध्येदिति त्रिगुणमयः पुमानिति। यो भजनीयभेदः सोऽपि यदबोधकृतः भगवत्स्वरूपाज्ञानादेव जायते यतः। स्म प्रसिद्ध्या आर्ताः स्मार्तशब्दवाच्याः। ते यमाचक्षते सा त्वेका भगवद्विभूतिः। न तु तावन्मात्रो भगवान् भक्तिमार्गप्रतिपाद्यः किंतु पुरुषोत्तम इति बहुधा निरूपितम्। ननु पुरुषोत्तमत्वपक्षेऽपि यद्यज्ञानं स्यात् मूलभूतस्य तदा स दोषस्तदवस्थः। अत एव केचिन्मूलभूतमेव ब्रह्म अज्ञानाश्रयो विषयश्चेत्याहुः।

व्याख्यार्थ—वे[1] प्रतिकूल दो प्रकार के हैं, १—अर्धवैनाशिक और २—दूसरे सर्व वैनाशिक हैं, इनमें से पहले अर्धवैनाशिकों का खण्डन करते हैं, वे चार प्रकार के हैं, १—नैयायिक, २—वैशेषिक, ३—मीमांसक, ४—सांख्य के एकदेशी, इनके मतों का मानो उपहास करती हुई श्रुतियाँ, इनका मत कहती है कि, उनमें से प्रथम नैयायिकों के मत को वर्णन करती है कि वे कहते हैं कि जो पदार्थ प्रथम नहीं है उसका जब जन्म होता है तब वह सत् होता है, जैसे घट प्रथम नहीं था अर्थात् असत् था पीछे बना, जब बन गया तब सत् हो गया, यों उनका कहना अघटित है, क्योंकि सत्ता और सम्बन्ध दोनों नित्य है, अतः सत्ता का घड़े के साथ सम्बन्ध नित्य रहता है यदि घट असत् होवे तो उसका सत्ता के साथ सम्बन्ध कैसे होगा क्योंकि सत्ता और असत्ता दोनों परस्पर विरुद्ध हैं और वे[2] असत्‌रन जाति है, उसमें घड़े का समवाय सम्बन्ध है, जिससे काल की व्यवस्था से घट सत् और असत् दोनों हो सकता है. यों भी नहीं मानते हैं अतः केवल देखने में न आने से घट असत् है यों कहने वाले नैयायिक भ्रान्त ही हैं यदि नैयायिकों के इस भ्रान्त मार्ग को माना जाय तो भक्ति मार्ग में विरोध आता है अर्थात् भक्ति मार्ग सिद्ध नहीं होता है क्योंकि भक्ति मार्ग में आविर्भाव तिरोभाव मानकर सबकी सत्ता सदा सत्य मानी गई है, तब ही सत्ता और सम्बन्ध नित्य है यह शास्त्रीय सिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है।

अब नैयायिकों के मत में सिद्धान्त से जो विरोध है वह स्पष्ट करते हैं, भगवान् की कृपा तब होती है जब जीव भजन करता है. यदि कृपा नित्य प्रकट है अर्थात् स्वतः होती है यों माना जाय तो भजन करने से कृपा का मानना असत्य होगा, तथा भजन करने का कोई भी प्रयोजन नहीं रहता है, इसी तरह भगवान् की इच्छा भी यदि नित्य प्रकट मानी जाय तो भगवान् का अवतार नित्य होना चाहिए किन्तु यों होता नहीं, जब भक्त प्रार्थना करता है तब अवतार लेने को इच्छा का प्रादुर्भाव होता है और तब ही अवतार होता है।

यदि परमानन्द केवल सुखरूप होवे तो गुण रूप होने से अनित्य होता है जिससे भगवान् पूर्णानन्द नहीं रहते हैं उनको भी काल की मर्यादा वाला होना पड़ता है, इसलिए यह नैयायिक मत खण्डन कर अविर्भाव तिरोभाव शक्तियों का स्वीकार किया जाता है।[3]

---

[1] १—भगवद्भक्ति करने के विरुद्ध, [2] २—नैयायिक

[3] ३—इन शक्तियों के स्वीकार से, भगवान् की कृपा नित्य होते हुए भी जब भजन किया जावे तब उसका अविर्भाव होता है, इसलिए भजन करना चाहिए यह सिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है.

(क्रमशः पृष्ठ १६३ पर)

वैशेषिक मत वाले तो, सत् का भी नाश मानते हैं, यह देह सत् है वह नष्ट हो जाती है अतः उसके परलोक की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि देह ही, देवदत्त नाम से कही जाती है, अर्थात् देह का ही देवदत्त नाम है, देह नाश हो गई तो देवदत्तभी नाश हुआ फिर परलोक किसका, जिसकी चिन्ता की जावे ? यह वेद बाह्यों का सिद्धान्त है, उनकी भोग व्यवस्था तो वैसे वे भूत स्वभाव से ही कर लेते हैं. इस सिद्धान्त में, ज्ञान, भक्ति आदि सन्मार्गों को निरर्थक माना है, इसलिए इस मत का निराकरण करना चाहिए 'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि' इस गीता के वाक्यानुसार, जीव, इन्द्रियों के समूह के साथ देह से बाहर निकलता है, और ऐसा ब्रह्मविदों का अनुभव भी है ही, लोक में ऐसे मनुष्य भी मौजूद हैं जिनको पूर्व जन्म का स्मरण है, यदि परलोक नहीं होवे तो उनके लिए, किसी की हिंसा न करनी' ऐसी शास्त्र की विधि भी व्यर्थ हो जावे, ज्योतिष[1] शास्त्र में जो ग्रहादि से परलोक आदि फल प्राप्ति लिखी है, वह शास्त्र भी व्यर्थ हो जावे ।

'अनन्तं नाम' इति श्रुतेः, यह श्रुति कहती है कि नाम अनन्त हैं, 'नाम' सदैव पदार्थ का आश्रय लेकर ही रहता है, वह पदार्थ देवदत्त शब्द वाच्य, देवता रूप हो चाहे आधिदैविक रूप हो, किन्तु नित्य सिद्ध है, यह 'नाम' केवल देह का ही परिचय[2] कराने वाला है किन्तु, कोई विशेष गुण नहीं है, यों ब्रह्मसूत्र के कर्म निर्णय नामक चतुर्थ प्रकरण में प्रतिपादन किया है कि यह नाम (देवता) देह का उपलक्षक है, न कि विशेषण है. जैसे, एक अवस्था में साधनों द्वारा पाक की सिद्धि की जाती है, पाक सिद्ध हो जाने के बाद दूसरी अवस्था प्राप्त का भोग होता है ज्यों यह बात सिद्ध है वैसे ही वह भी स्पष्ट है कि नाम करण जीव का ही होता है, न कि देह सहित जीव का, अर्थात् देह जिसका गुण है वैसे जीव का नाम करण नहीं किया जाता है, क्योंकि नामकरण शास्त्रीय है. जीव के साथ देह उस समय ऐसी है, जैसे देह के साथ वस्त्र, केश आभूषणादि उस समय साथ में होते हैं अतः सत् आत्मा तथा मुख्य संघात का नाश नहीं होता है, यदि उनका नाश माना जायगा तो परलोक होने की उपपत्ति[3] हो नहीं सकेगी, जब उनका[4] नाश न माना जायगा तब पृथक् कहे हुए न्याय के अनुसार भक्ति मार्ग सिद्ध होगा ।

मीमांसक आदि जीवों में अनेकत्व तथा भेद[5] मानते हैं, यदि ईश्वर कर्म रूप है यों

(क्रमशः पृष्ठ १६२ से)

भगवान् की इच्छा नित्य होते हुए भी भक्त जब प्रार्थना करते हैं तब उसका आविर्भाव होता है, जिससे भगवान् अवतार धारण करते है अतः प्रार्थना करनी भी आवश्यक है, परमानन्द धर्म रूप होते हुए भी नित्य है जिससे भगवान् नित्य पूर्णानन्द हैं, इन दो शक्तियों के मानने से जगत् का भी आविर्भाव तिरोभाव सिद्ध होना स्वीकृत होता है, किन्तु असत् का जन्म मानना यह मत असङ्गत है और दोष पूर्ण है ।

[1] यद्यपि वेदांग होने से ज्योतिष को प्रमाण नहीं मानते हैं, परन्तु गणित का फल आकाश में ग्रहण आदि से प्रत्यक्ष होने के कारण वे भी प्रमाण मानते हैं ।

[2] स्थूल देह के बाद सूक्ष्म देह का धर्म जाग्रत कर उसका परिचय करा देता है ।

[3] हेतुपूर्वक सिद्धि, [4] सत् आत्मा तथा मुख्य संघात का, [5] भगवान् से अन्य

माना जावे तो ईश्वर एक है यह सिद्ध न हो सकेगा, वह मत झूठा मानना पड़ेगा इस पर मीमांसकों का कहना है कि, यदि ईश्वर एक है और वह कर्तुं, अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं समर्थ भी है, वह जीवों को विषम फल कैसे देंगे ? और उनसे विषम कर्म कैसे कराएगा ? यदि यों कराते हैं तो वह वैषम्य और नैर्घृण्य दोष वाला क्यों न माना जाता है ? इसलिए कर्म के सिवाय अन्य कोई ईश्वर ही नहीं है, वह कर्म रूप ईश्वर अनेक हैं, अतः प्रत्येक को अपने नियत यज्ञ कर्मरूप कर्म ही करने चाहिए, इन मीमांसकों के मत का भी निराकरण करना चाहिए ।

यदि यों माना जावे कि ईश्वर है ही नहीं तो, भक्त किसका ध्यान धरे, वे मीमांसक भी आरोप पूर्वक ईश्वर का ध्यान करते हैं और उससे कर्म करने वाले फल प्राप्त करते हैं, किन्तु फल दाता को देखते नहीं, इस कारण से कर्म को ईश्वर मानते हैं ।

जब फल देना दूसरे के आधीन है, कर्म के आधीन नहीं है तब देने वाले की तो अपेक्षा रहती ही है, जैसे साक्षात् जिसका फल नहीं मिलता है, वैसे स्वयं राजमहल बनाने पर कारीगरों को फल देने वाले राजा की आवश्यकता रहती है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है जैसे पाक (भोजन बनाने की क्रिया) ओदन को सिद्ध करता है, वैसे याग स्वर्ग को सिद्ध नहीं करता है, जिससे ईश्वर की अपेक्षा न पड़े, और स्वर्ग एक लोक है जो ब्रह्माण्डाधिपति के आधीन है, सुख के साधन भी उनके आधीन हैं, यदि उनके आधीन फलादि न होवे तो यज्ञ करते ही स्वर्ग, क्यों न स्वतः उस समय ही प्राप्त हो जावे ? अतः ईश्वर का अङ्गीकार अवश्य करना चाहिए, एक ही महाराजा की भांति कार्य की सिद्धि हो जाने से हरेक कर्म का फल दाता ईश्वर पृथक् मानना व्यर्थ है और उससे केवल गौरव बढता है, जीवों का भेद यहां नहीं कहा गया है, यों भासता है, क्योंकि एक तो एक वचन दिया है और प्रकृत विषय में उसका उपयोग नहीं है जीवों का भेद तो भक्ति में साधक है, न कि बाधक है, जीव पृथक् पृथक् हैं यह मत भी खण्डन किया है और आगे इसका विशेष निराकरण करेंगे ।

दूसरे वादी जो साङ्ख्य के एक देशी और योगी हैं, वे, कर्म द्वारा प्राप्त फल को नित्य मानते हैं, योग से जो पदार्थ प्राप्त किया जाता है वह नित्य है यों कहते हैं वैदिक नित्य कर्म से भी जो लोक प्राप्त होता है उसको अक्षय रूप मानते हैं, उस पक्ष में भी ईश्वर का प्रयोजन नहीं माना जाता है, कर्म से प्राप्त फल द्वारा ही कार्य की सिद्धि हो जाती है, वह मत भी निराकरण के योग्य है क्योंकि वह मत, केवल प्रशंसा वाचक शब्दों में सत्यत्व की बुद्धि का आरोपण करने से ही उत्पन्न होता है, जैसे कि 'अपाम सोमममृता अभूम' सोम पीकर हम अमर हो जाएंगे ये प्रशंसा वाक्य है, तथा 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतम्, चातुर्मास्य यज्ञ करने वालों का पुण्य अक्षय है, इसी भांति सुकृत की प्रशंसा की गई है, ये सिद्धान्त भ्रम वाले हैं, इससे इन भ्रमित सिद्धान्तों के वाक्यों के अनुरोध से पूर्व कहे हुए सिद्धान्तों में शङ्कित नहीं होना चाहिए ।

आपके इस न्याय से तो भक्ति मार्ग की संगति भी सिद्ध न होगी सर्व वैनाशिक इस प्रकार स्मार्त मत का निरूपण कर इसको असत् सिद्ध करना चाहता है । उसका कहना है कि भक्ति मार्ग में विष्णु, शिव वा ब्रह्मा सेव्य हैं, वे गुणाभिमानी देव हैं इसलिए जितना गुणानुसार नियमित कार्य करना है उतना ही कर सकते हैं, अपने अपने गुणाधीन रहकर ही अपने भक्त के लिए कार्य करते हैं अतः त्रिगुणमय यह पुरुष ब्रह्माण्डाभिमानी नारायण, सत्त्व, रज और तमो गुणों द्वारा पृथक् हो

उपाधिभेद[1] से वा जीवभेद[2] से स्थिति आदि करते हैं, यों अल्पदाता होने से भक्ति मार्ग से भी क्या लाभ ? गुणमय होने से वह नारायण भी तिरोहित आनन्द वाला है, इस कारण से राज सेवक की तरह एक दूसरे के ध्यान करने की इनको आवश्यकता पड़ती है, यों पुराणों में तथा लोक में देखा जाता है, इसलिए स्मार्तों का मत भी निराकरण करने योग्य होने से, निराकरण करना चाहिए, नहीं तो पूर्वोक्त मार्ग सिद्ध न हो सकेगा। 'त्रिगुणमय: पुमान्' पुरुष त्रिगुणात्मक है, यों कहकर, सेव्य स्वरूप में जो भेद किया गया है वह भी भगवत्स्वरूप के अज्ञान द्वारा ही होता है, इसलिए ही उनको स्मार्त कहा है जिसका भावार्थ है कि वे 'स्म' प्रसिद्ध 'आर्ता:' आर्त यानि दु:खी हैं, वे जिसको सेव्य कहते हैं, वह तो भगवान् की एक 'विभूति' है, भक्ति मार्ग में प्रतिपाद्य भगवान् इतने ही नहीं हैं, किन्तु 'पुरुषोत्तम:' पुरुषोत्तम है यों बहुत प्रकार से निरूपण किया है, यदि पुरुषोत्तमत्व पक्ष में भी अज्ञान माना जावे तो मूल भूतस्वरूप में भी वही दोष वैसा ही रहेगा, अतएव कितनों को यों कहना पड़ता है कि मूलभूत ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय और विषय है, जैसाकि कहा है।

कारिका—'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचर:' इति ।।

कारिकार्थ—आश्रयत्व और विषयत्व के सम्बन्ध वाला और जिसमें विभाग नहीं है, वैसा केवल ज्ञान ही हैं, वह ही ब्रह्म हैं; क्योंकि जो पीछे होता हैं, वह पहली वस्तु का आश्रय और विषय बन नहीं सकता हैं अर्थात् जाना नहीं जाता हैं ।।

सुबोधिनी—अयमपि पक्षो निराकर्तव्य:। अन्यथा भक्तिमार्ग: परमार्थपर्यवसायी न स्यादतो निषेधति त्वयि न तत: परत्र स भवेदवबोधरस इति। त्वयि पुरुषोत्तमे स अबोध: कथमपि न प्रवर्तते। तत्र हेतुद्वयम्, तत: परत्रेति अवबोधरस इति च। 'आदित्यवर्णं तमस: परस्तात्' 'य: सर्वज्ञ: सर्वशक्ति:' इति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति 'स्वप्रकाशश्चिदात्मा' इत्यादिश्रुतिसहस्रै: अज्ञानसंबन्धो निराक्रियते। ज्ञानस्यापि यो रस: परमानुभवरूप: स एव आत्मा स्वरूपं यस्येति। अतो मतान्तराणाँ भ्रान्तिमूलत्वात् निर्दुष्टत्वाच्च भगवन्मार्गस्य भगवान् सेव्य इति सिद्धम् ।।

व्याख्यार्थ—अत: उनका सिद्धान्त है कि जगत् का मूल जो ब्रह्म है वह ही अज्ञान का आश्रय और विषय है, जिसके कहने का फलितार्थ यह ही होता है कि ब्रह्म अज्ञान का विषय हैं अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान अज्ञान से ही हो सकता है, इसलिए इस मत का भी निराकरण करना चाहिए, यदि इस मत का खण्डन न किया जाएगा तो, भक्ति मार्ग का परिणाम परमार्थ देने में समर्थ नहीं हो सकेगा, इसलिए निषेध करता है कि 'त्वयि न तत: परत्र स भवेदवबोध रस' आप जो रस रूप सब से परे हो उसमें

१—सत्वोपाधि से विष्णु बनकर स्थिति करते हैं, रजोपाधि से ब्रह्मा बनकर सृष्टि करते हैं, तमोपाधि से रुद्र बन कर संहार करते हैं—'लेख'

२—सात्त्विक जीवों की विष्णु पालना करता है, तामस जीवों का संहार रुद्र करता है, राजस जीवों की उत्पत्ति ब्रह्मा करता है—'लेख'

यह 'अज्ञान' हो ही नहीं सकता है जिसमें दो हेतु दिए हैं, १—आप सब से परे हो, जैसा कि कहा है 'आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्' श्रुतिः आप अज्ञान से बहुत दूर उस तरफ हो और आदित्य जैसे वर्ण वाले हो, 'यः सर्वज्ञ सर्व शक्तिः' ब्रह्म, सब कुछ जानते हैं और सर्व शक्तिमान हैं, (उसमें अज्ञान कैसे ?) 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म, सत्य, ज्ञान और अनन्त है, (इससे भी सिद्ध है कि उसमें अज्ञान नहीं है) 'स्वप्रकाशश्चिदात्मा' आप ही प्रकाश स्वरूप और ज्ञान स्वरूप हैं, इत्यादि अनेक श्रुतियों से यह सिद्ध है कि ब्रह्म से अज्ञान का सम्बन्ध किञ्चिन्मात्र भी नहीं है, इसलिए इन श्रुतियों से इस पक्ष का भी निराकरण किया गया है, ज्ञान का भी जो रस परमानुभव रूप है वह ही जिसका स्वरूप है, अतः अन्य मत भ्रान्ति मूल है, भक्ति मार्ग ही दोष रहित है जिससे भक्ति मार्गानुसार भगवान् ही भजनीय है, यों सिद्ध हुआ ।

कारिका—भ्रान्तिमूलतया सर्वसमयानामयुक्तितः ।
न तद्विरोधात् कृष्णाख्यं परं ब्रह्म त्यजेद्बुधः ।।१२।।२५।।

कारिकार्थ—सर्व मतों की जड़ भ्रान्ति है और उनमें कोई शास्त्रीय तर्क नहीं हैं । अतः ऐसे भ्रान्त, युक्तिरहित मतों के विरोध से बुद्धिमान् को कृष्ण के भजन का त्याग नहीं करना चाहिए ।।१२।।२५।।

आभास—एवं सिद्धान्तान्तराणि परिहृत्य भक्तिमार्गे स्थापितेऽपि जगत्कर्तृत्व-सर्वाश्रयत्वादिधर्माणां माहात्म्यार्थमङ्गीकरणे तद्गतो दोषः प्रसज्येत । तत्र परःसहस्रं दूषणानां संभवेऽपि दूषणद्वयं मुख्यं जगदाश्रयत्वेन जगत्संबन्धिदोषसमूहः उपादानत्वाच्च भगवत्येव भवति, जीवस्य च भगवत्त्वे कामक्रोधादिसर्वे दोषाः भगवति भवन्ति । एतदुभयपरिहारार्थमाह **सदिव मन** इति ।

आभासार्थ—यद्यपि इसी प्रकार अन्य सिद्धान्तों में दूषण देकर उनका परिहार करते हुए भक्ति मार्ग को स्थापित तो किया किन्तु जगत् कर्तापन और सर्वाश्रयत्वादि[1]धर्म,माहात्म्य के लिए भगवान् में मानने से उनके दोष भगवान् में आते हैं,जिसमे अनेक सहस्र दोष होने पर भी दो मुख्यदोष तो हैं ही १—जगदाश्रय और उपादान कारण होने से, इनमें जो दोष यानि जगत् में जो दोष हैं, उनका सम्बन्ध होने से वे दोष और उपादान कारण के दोष भी भगवान् में ही आ जाएँगे, २—जीव,[2] भगवान् है अतः उसके (जीव के काम क्रोध आदि सर्व दोष भो भगवान् में आते हैं, इन मुख्य दोनों दोषों के मिटाने के लिए 'सदिव मनः' श्लोक कहा है—

श्लोक—**सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्**
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः ।

---

[1] १—सर्वाश्रय होने से, शरीर धारी बनना पड़ता है, शरीर धारण करना यह प्रथम दोष है—लेख

[2] २—जीव बनने से उत्पन्न दोष—लेख

न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—तृणस्तम्ब से लेकर मनुष्य पर्यन्त सब में असत् और तीन गुण वाला यह मन आप में सत् जैसा भास रहा है। आत्म ज्ञानी इस सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म रूप से सत् ही जानते हैं। जैसे सुवर्ण के व्यापारी सुवर्ण के विकार (कुण्डलादि) को सोना ही समझ खरीदते हैं; क्योंकि उस विकार में सुवर्ण ने ही प्रवेश किया है, वैसे ही भगवान् ने अपने में से बनाए इस जगत् में प्रवेश किया है, जिससे यह जगत् भी उसी तरह ब्रह्ममय होने से ज्ञानी आत्मवेत्ताओं ने इसको ब्रह्म रूप से निर्धार किया है ॥२६॥

सुबोधिनी - आदौ जीवभावे यानि दूषणानि तानि परिह्रियन्ते। मनस एव ते दोषाः न तु जीवस्य तच्चासदेव विशेषतो निरूपयितुं न शक्यत इति। 'नासदासीन्नो सदासीत्' इति मन(स)स्तादृशं रूपं सदसदात्मकमिति। तत्रापि तस्यासत्त्वं सहजम्। सत्त्वं तु आगन्तुकमिति श्रुत्यादिना ज्ञायत इति सदिवेत्युपमया निरूपितम्। तस्योभयात्मकत्वे हेतुमाह त्रिवृदिति गुणत्रयवेष्टितम्। तत्र सत्त्वांशे सत्त्वं संभवति, अंशद्वये त्वसत्त्वमिति। एतादृशस्य प्रकाशः न जीवसंबन्धात् किंतु **त्वय्येव विभाति**। 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव नान्यस्य मनो वशमन्वियाय। भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्' इति श्रुतिः मनसो माहात्म्यमाह। नह्येतन्माहात्म्यं जीवाश्रयत्वे घटते। नन्वस्तु भगवदाश्रयत्वेनैव तस्य माहात्म्यं तथापि तद्दोषसंबन्धः स्यादेवेति चेत् तत्राह **आमनुजादि**ति। मनुष्यपर्यन्तमेव परिभ्रमणे तस्य मनसः स स्वभावः तृणस्तम्बमारभ्य महत्तत्त्वपर्यन्तं जीवगणाः। तत्र मनुष्यो मध्यस्थः। मनश्च सर्वेषामर्थे भगवता नियुक्तं सर्वत्र परिभ्रमति। यथा तस्य परिभ्रमणं संभवति तथांशभेदाः सामर्थ्यं वा कल्पनीयम्। उत्पत्तौ तस्यैकत्वप्रतिपादनात्। अतो मनुष्यपर्यन्तमेव यावत् परिभ्रमति तावद् असत् सदिव प्रतिभाति। अग्रे तु सदिव क्वचिदसदिव प्रतिभाति। तस्मात्कामादिदोषाणां मनोमूलत्वात् मनसश्च तत्स्वाभाविकं न भवतीति न तद्दोषेण भगवति दोषः। द्वितीयं परिहरति **सदभिमृशन्ती**ति। **अभिमर्शो** ज्ञानम्। आत्मविदोऽत्यन्तं प्रमाणभूताः। इदमशेषं जगत् सर्वं नानाप्रकारेण भ्रान्तदृष्ट्या भासमानमपि आत्मतयैव सदेवेत्यभिमृशन्ति सर्वं ब्रह्मेत्येव जानन्ति। मनसोऽप्यत्र दोषः परिहृतः। यथेन्द्रजालिकस्य अन्यथाप्रदर्शनसामर्थ्यं गुणः न तु दोषो भवति तथा मनसोऽपि कामादिभासनं गुण एव कौतुकार्थत्वात्। वस्तुतस्तु ब्रह्मैव। **आत्मविद** इति वचनात् तेषां ज्ञानमात्मनि पर्यवसितम्। अत आत्मा परमार्थसत्यः स एव यदि सर्वं कथमसत्यता आशङ्क्येतेत्यर्थः। तथापि युक्तिर्वक्तव्येति चेत् तत्राह **न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतये**ति। **कनकस्य विकृतिं** कुण्डलादिकं कनकार्थिनो वणिजः किं त्यजन्ति अपि तु गृह्णन्त्येव। तत्रापि हेतुस्तदात्मतयेति कनकात्मतया। ननु कनकमुपादानमिति मध्ये द्रव्यान्तरापूरिते विकृते कनकतया ग्रहणं युक्तम्। जगत्तु जडोपादानकं जीवसामग्र्या पूरितं कथं भगवानिति चेत् तत्राह **स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमि**ति। स्वेनैव कृतं आत्मोपादानकं 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' इति श्रुतेः।

स्वेनैव चानुप्रविष्टं 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति । अतो जगत्तत्र स्थिता च सामग्री भगवानिति । **इदं सर्वमात्मतयैवावसितम्** । ततः सर्वस्यापि ब्रह्मत्वात् कस्य दोषः कुत्र भवेत् मतान्तर एव दोषाणां दोषत्वं ब्रह्मवादे तु ब्रह्मत्वमेवेति सर्वमविरुद्धम् ॥

व्याख्यार्थ - प्रथम उन दोषों का परिहार किया जाता है, जो दोष, जीव बनने पर भगवान् में अज्ञ लोग मानते हैं, वे दोष मन के ही हैं न कि जीव के दोष हैं, उस मन का पूर्ण रीति से वर्णन नहीं किया जा सकता है, कारण कि 'असत्' है, श्रुति मन के लिए स्पष्ट स्थिति का वर्णन न कर कहती है कि 'नासदासीन्नो सदासोत्' वह मन न 'असत्' था और न 'सत्' था, इसलिए मनका सदसदात्मक रूप है, इनमें भी इसका असत् रूप तो सहज ही है, सत्व रूप तो आगन्तुक है अर्थात् कभी हो जाता है इसलिए श्लोक में 'सत्' न कहकर 'सत् इव' कहा है, वह (मन) उभयात्मक है जिसमें कारण देते है कि त्रिवृत्' तीन गुणों से वेष्टित है, अतः जब सत्व गुण बढता है तब सत् होता है, रज तम की वृद्धि से असत् रह जाता है, ऐसे मन का प्रकाश जीव के सम्बन्ध से नहीं हो सकता है. किन्तु आप में ही वह प्रकाश पा सकता है, 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव नान्यस्य मनो वशमन्वियाय । भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्' इति श्रुतिः, 'यह सर्व मन के वश में हुआ किन्तु मन किसी के वश में न आया' 'भीष्म (भयकारी) देव तेज वाले से विशेष तेजस्वी होता है; ये श्रुतियां इस प्रकार मन का माहात्म्य कहती हैं, मन का यह माहात्म्य तब घटता है जब उसको भगवदाश्रय प्राप्त होता है, जीव के आश्रय से नहीं, भगवदाश्रय से भी यदि उसका माहात्म्य माना जावे तो भी उसके दोषों का सम्बन्ध तो होगा ही ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि 'आमनुजात्' अर्थात् इसका यह माहात्म्य, मनुष्यों तक ही चल सकता है, तृण स्तम्ब से लेकर महत्तत्व पर्यन्त सब जोव गण है, उनमें मनुष्य मध्य में स्थित है, भगवान् ने मन को सबके लिए ही नियुक्त किया है अतः सर्वत्र परिभ्रमण करता रहता है, उसका परिभ्रमण संभव हो तदर्थ उसके अंशों को अथवा सामर्थ्य की कल्पना करनी चाहिए क्योंकि इसकी उत्पत्ति के समय यह एक है यों प्रतिपादन किया गया है अतः मन सूक्ष्म होने से इतने अंशवाला नहीं हो सकता है जो बहुत दूर भी जा सके, इसलिए उसमें इतनो सामर्थ्य है यों मानना चाहिए, मन बहुत हैं यों मानना अनुचित है. इससे यह मन जब मनुष्य पर्यन्त भ्रमण करता है तब असत् होते भी सत् वत् भासता है, आगे[1] तो, कहीं सत् जैसा वा कहीं असत् जैसा भासता है, इस कारण से कामादि दोषों की जड़ मन है, किन्तु वह दोष मन का स्वाभाविक नहीं है, इसलिए उसके दोष से भगवान् में दोष नहीं आते हैं ।

अब दूसरे दोष को मिटाते हैं 'सदभिमृशन्ति' इति 'अभिमर्श' पद का अर्थ है 'ज्ञान', आत्मज्ञानी अत्यन्त प्रमाण[2] भूत हैं, इसलिए, वे, ज्ञानी, इस समग्र जगत् को जो भ्रान्त दृष्टि के कारण नाना त्रिध भासता है, तो भी उसको आत्म रूप से सत् ही जानते हैं अर्थात् सर्व ब्रह्म ही है यों समझते हैं, इसी तरह यहां मन के दोष का भी खंडन हुआ है, जैसे जादूगर में एक वस्तु को दूसरी वस्तु दिखाने का सामर्थ्य, गुण कहा जाता है न कि दोष, वैसे ही कामादिका भासना भी मन का गुण ही है, क्योंकि वह दिखावा आनन्द के लिए ही करता है, वास्तव में तो वह ब्रह्म ही है,

---

[1] —जब देवादि के लिए परिभ्रमण करता है तब ।

[2] —सत्य ज्ञान को ही ग्रहण करने वाले होने से ।

'आत्मविद' पद से यह सूचित किया है कि उनका (आत्मज्ञानिओं) का ज्ञान आत्मा में ही परिणमित होता है, अतः आत्मा वास्तविक सत्य है, वह सत्यरूप आत्मा ही जब सर्व बनता है तो फिर असत्यत्व की शङ्का ही कैसे ? यद्यपि असत्यता की शङ्का नहीं होनी चाहिए, तो भी इसकी सत्यता में युक्ति बतानी चाहिए, इस पर कहते हैं कि सुवर्ण को खरीदने वाले व्यौपारी क्या सुवर्ण की विकृति को (कुण्डलादि को) खरीदते नहीं हैं ? खरीदते ही हैं जिसका कारण यह है कि वे जानते हैं कि यह विकार यानि कुण्डलादि सुवर्ण ही है क्योंकि यह विकार, कुण्डलादि, स्वर्ण से ही बने हैं, इसमें अन्य द्रव्य न होने से सुवर्ण ही होने से व्यौपारी को ग्रहण करना उचित ही है किन्तु जगत् का उपादान तो जड़[1] है और जीव सामग्री से भरा हुआ है, ऐसा जगत्, भगवान् कैसे माना जाय ? जिसका उत्तर है कि 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' इस श्रुति के अनुसार यह जगत्, भगवान् आप ही बने हैं, अतः आप ही इसका उपादान है, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुत्यानुसार आप ही अपने में से जगत् रूप बनाकर उसमें प्रविष्ट हुए, अतः जगत् और उसमें स्थित सर्व पदार्थ, भगवान् ही है अतः ज्ञानियों ने यह सब आत्मा रूप ही समझा है, यों होने पर अर्थात् सब ही ब्रह्म है तो किसका दोष कहाँ हो ? अन्य मतानुसार ही दोष दोषरूप होते हैं, ब्रह्मवाद में तो सर्व ब्रह्म ही है इसलिए सर्व सम होने से सब विरोध रहित है।

कारिका—जीवानां ब्रह्मरूपत्वाद्दोषा अपि च मानसाः ।
जगच्च सकलं ब्रह्म ततो दोषः कथं हरौ ॥१३॥२६॥

कारिकार्थ—जीव और समग्र जगत् ब्रह्म है, तो दोष मानसिक है फिर हरि में दोष किस तरह होगा ? ॥१३॥२६॥

आभास—एवं भगवति दोषान् परिहृत्य भक्तिमार्गे भगवान्निर्दुष्टो निरूपितः । इदानीं फलतो दोषं परिहरन्त्यः भक्तानां दोषं निराकुर्वन्ति **तव परि ये चरन्तीति** ।

आभासार्थ—इसी तरह भगवान् में दोष नहीं है यों सिद्ध करने से, यह निर्णय किया है कि भक्ति मार्ग में भगवान् दोष रहित हैं अतः भक्ति मार्ग भी निर्दोष है, अब 'तव परि ये चरन्त्यखिल श्लोक में सिद्ध करते हैं कि भगवान् मृत्यु का उल्लङ्घन रूप फलदान देते हुए भी निर्दोष हैं, तथा भक्त भी निर्दोष हैं, क्योंकि भक्त, आपकी सेवासक्त होने से दुःखानुभव करते ही नहीं हैं—

श्लोक—**तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया**
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि
तांस्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥२७॥

---

[1] १—समष्टि रूप 'विराट्' उपादान है

श्लोकार्थ—जो आपको सकल प्राणि मात्र का स्थान जानकर सेवते हैं, वे ही मृत्यु के सिर का तिरस्कार कर, उस पर पैरों को धर कर, उस (मृत्यु) को उल्लङ्घन कर जाते हैं, जो मृत्यु से भी उत्कृष्ट देव हैं, उन प्रसिद्ध देवों को भी आप वाणी से बाँधते हैं, किन्तु जिन्होंने आप से सौहार्द्र कर लिया है, वे तो समस्त जगत् को पवित्र करते हैं, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है, जो आप से विमुख तपस्वी आदि हैं, वे इस प्रकार जगत् को पवित्र नहीं कर सकते हैं ॥२७॥

सुबोधिनी—ये त्वां परिचरन्ति उत त एव निर्ऋतेर्मृत्योः शिरः पदा आक्रमन्ति। तत्रापि नाज्ञानात् किंतु ज्ञात्वैवा**विगणय्य**। अनेन भगवतो दानं तिष्ठतु सेवामात्रेणैव मृत्योर्जयो भवतीत्युक्तम्। सर्वस्यापि द्वयमभीष्टं दुःखहानिः सुखावाप्तिश्चेति तत्र सुखं भगवतैव सिद्ध्यति नान्यथेति निरूपितम्। दुःखहानिरपि भगवत्सेवयैव नान्यथेति निरूप्यते। दुःखानामवधिर्मृत्युः स कर्मानुसारेण प्राणिभ्यो दुःखं प्रयच्छति। सर्वकर्मापेक्षयापि दुःखदातुरवज्ञा महांश्चातिक्रमः शिरोमर्दनरूपः बह्वेव दुःखं प्रयच्छति। तदपि चेत्तेषां भगवद्भजनसाधन ततः कुतस्तेषां दुःखम्। स्पष्टमेव मृत्योर्मूर्ध्नि पददानं ध्रुवे निरूपितम्। ये हि निरन्तरं सेवां कुर्वन्ति ते सेवार्थं वैकुण्ठेऽप्यपेक्ष्यन्त इति देहान्तरादिनिर्माणे कदाचित्संस्कारनाशो विलम्बश्च भवेदिति तदेव शरीरं गृहीत्वा ते सेवार्थं द्रुतं गच्छन्ति तदा मध्ये प्रतिबन्धकत्वेन मृत्युश्चेदायाति तदा तं दृष्ट्वा अभीता एव तस्यावगणनां कृत्वा आरोहे निःश्रेणिकामिव तच्छिरस आक्रमणं कुर्वन्ति। मृत्योः शिरो महासाहसानि तेषां करणं पदा शिरसोधिरोहणम्। आधिभौतिकव्यवस्थैषा। आध्यात्मिके तु देहदैहिकवैदिकादिधर्मान् सर्वानुल्लङ्घ्य विरुद्धानपि कृत्वा भगवत्सेवां कुर्वन्तीत्यर्थः। सेवायां विशेषमाह **अखिलसत्त्वनिकेततये**ति। बहिर्मुखानां सेवा निवारिता। अखिलसत्त्वेषु निकेतः स्थानं यस्य, सर्वत्र भगवानस्तीति ज्ञात्वा सर्वाविरोधेन ये परिचरन्तीत्यर्थः। 'सर्वं तद्धिष्ण्यमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो ह्यसौ' इति वाक्यात् तथा दर्शनमपि तोषहेतुर्भवति अन्यथा दोषश्रवणाच्च 'कुरुतेर्चाविडम्बनम्' 'भस्मन्येव जुहोति सः' इत्यादिवत्। **तवे**ति षष्ठ्या त्वत्संबन्धिनं पदार्थं यं कञ्चन परिचरन्ति परं सर्वात्मभावोऽपेक्ष्यते 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति भेददर्शन एव मृत्युपराक्रमश्रवणात्। ननु सर्वातिक्रमे कथं दोषो न स्यात्। तेषां वा क्रोधो धर्मरक्षकाणां तत्राहुः **परिवयस** इति। **तान्** प्रसिद्धानपि **विबुधान् पशून् इव** परिवयसे बध्नासि। यत्र स्वस्वामी मृत्योरपि श्रेष्ठान् देवान् बध्नाति। तत्र तत्सेवकानां मृत्योरवगणनायां का शङ्केत्यर्थः। **किञ्च। गिरा** भगवान् बध्नाति साक्षात्तु बन्धन तत्सेवका एव कुर्वन्ति, यथा राजाज्ञया राजसेवकाः। अतस्तेषां तदतिक्रमः अभ्यासप्राप्त इति न शङ्कामुत्पादयति। पशूनिवेति यथा पशवः शकटादिषु योजनार्थं निरूप्यन्ते तत्र सेवका एव निरूपकाः। तान् भगवत्सेवायां योजयन्ति। अतः सेवां प्राप्य कृतार्था एव ते भविष्यन्तीति न तेषां कोऽपि मनःक्लेशः। अतः सेवकानां देवापेक्षयाप्युत्कर्षो निरूपितः। ननु तथापि सेवकानाममर्यादत्वान् निन्दितत्वमशुद्धत्वं च स्यादित्याशङ्क्याह त्वयि कृतसौहृदा इति। त्वय्येव कृतसौहृदाः जगत्पुनन्ति न तु तपस्विनोऽन्ये वा धार्मिकाः यतस्त्वयि विमुखाः। अयमर्थः। शुद्धिर्द्विविधा। दोषनिर्हरणात्मिका गुणाधानकर्त्री च। तत्र गुणानामुत्कर्षः भगवत्सेवावधिः 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' इत्यत्र निरूपितम्। दोषाणामवधिर्भगवदवज्ञा॥

व्याख्यार्थ—जो आपकी सेवा करते हैं, वे ही मृत्यु के शिर का अपने पाद से आक्रमण करते हैं, किन्तु जान कर मृत्यु की परवाह न कर अर्थात् तिरस्कार पूर्वक करते हैं, इससे यों सिद्ध किया कि भगवत्सेवक केवल सेवा से ही मृत्यु को जीत लेते हैं, भगवान् कृपया ऐसी शक्ति का दान करे वह बात तो पृथक् है, जगत् में सबको दो बातों की चाहना रहती है १—दुःख न मिले, २—सुख की प्राप्ति होवे. इनमें यह बता दिया कि, सुख, भगवान् के द्वारा ही प्राप्त होता है अन्यथा नहीं, और दुःख की हानि भी भगवान् की सेवा से ही होती है अन्य प्रकार से नहीं होती है, दुःखों की अवधि मृत्यु है, वह कर्मानुसार प्राणी मात्र को दुःख देती है, सर्व कर्मों की अपेक्षा, कर्म के फलदाता अर्थात् जो दुःखदाता हैं उनका अपमान विशेष दुःखदायी होता है, शिर पर पाद धरना यह महान् अतिक्रम है अर्थात् तिरस्कार है, जिससे वह बहुत दुःख देता है, वह दुःख भी यदि भक्तों के लिए भजन का साधन होता है तो फिर उनको दुःख किसका, ध्रुव भक्त के चरित्र में मृत्यु के शिर पर पाद धरना स्पष्ट लिखा हुआ है जो भक्त भगवान् की सेवा करते हैं उनको वैकुण्ठ में भी अपेक्षा (आवश्यकता) है, इसलिए उनको वहां शीघ्र जाना चाहिए. कदाचित् दूसरी देह के बनने में देरी लगे क्योंकि जब संस्कार नाश होवे तब अन्य देह बने, इसलिए उसी ही शरीर से वहां (वैकुण्ठ) में शीघ्र जाते हैं तब बीच में मृत्यु प्रतिबन्धक आ जाता है तो उसको देख निडर हो उसका तिरस्कार कर मस्तक पर यों पादों को धरते हैं जैसे सीढ़ीपर पैर धरे जाते हैं, यों मृत्यु का उल्लङ्घनकर वैकुण्ठ को चले जाते हैं।

यहां 'शिर' कहने का भावार्थ है बड़े-२ साहसों के कर्म अर्थात् भक्तलोग महान् साहसिक कर्म करने में भी नहीं डरते हैं, ऐसे साहसिक बड़े २ कर्म करना ही मृत्यु के शिर पर चढना है, यह आधिभौतिक व्यवस्था है, इस प्रकार भक्त मृत्यु के शिर पर पाद धरते अर्थात् बड़े बड़े २ साहसिक कर्म करते हुए भी सुखी ही रहते हैं, अब आध्यात्मिक व्यवस्था में क्या होता है वह बताते हैं, भक्त लोग, देह दैहिक और वैदिक आदि धर्मों का उल्लङ्घन कर और विरुद्ध कर्म करते हुए भी भगवान् की सेवा को करते रहते हैं अर्थात् भक्त लोग भगवत्सेवा को ही मुख्य एवं स्वधर्म समझते हैं जिससे अन्य धर्मों के उल्लङ्घन शास्त्र विरुद्ध धर्म करने में भी हिचकते नहीं, सेवार्थ ही यों करते हैं, यह भावार्थ है।

'अखिल सत्त्वनिकेतनतया' यों कह कर यह सूचित किया है कि 'बहिर्मुख' सेवा के अधिकारी नहीं है, किन्तु जो भक्त, समस्त प्राणियों में हरि का स्थान है अर्थात् भगवान् सर्वत्र है, यों समझते हैं वे अधिकारी हैं और वे बिना किसी से विरोध किए भगवत्सेवा करते हैं, 'सर्वं तद्धिष्ण्यमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो ह्यसौ' जब आप भगवान् को सर्व में स्थित जान कर सेवा करोगे तब भगवान् आप पर प्रसन्न होंगे इस प्रकार सेवा करने से तथा दर्शन भी यों करने से भगवान् प्रसन्न होंगे, अन्यथा यदि यों न कर सेवा करोगे तो उससे दोष लगता है, जैसा कि कहा है 'कुरुते अर्चाविडम्बनम्' 'भस्मन्येव जुहोति' जो भगवान् को ऐसा न जानकर सेवा करता है वह सेवा की हँसी करता है और जो कुछ करता है वह ऐसे व्यर्थ जाता है जैसे भस्म में होम किया हुआ पदार्थ व्यर्थ जाता है, 'तव' षष्ठी पद देने का भावार्थ यह है कि, केवल आपकी परिचर्या से नहीं किन्तु आपके सम्बन्धी किसी भी पदार्थ की परिचर्या से उसमें निर्भयता आजाती है जिससे वह मृत्यु के शिर का आक्रमण करने से डरता

नहीं किन्तु इसमें सर्वात्मभाव[1] की अपेक्षा है, कारण कि जो यहां सर्व पदार्थों को पृथक् पृथक् देखता है अर्थात् यह दूसरा है वह दूसरा है इस दृष्टि से देख भेद भाव करता है वह मृत्यु को भी जो मृत्यु है उसको प्राप्त होता है, जब इस तरह भेदभाव होता है तब ही मृत्यु अपना पराक्रम दिखा सकती है।

सब का अतिक्रमण करने पर दोष क्यों न होगा ? अथवा धर्म रक्षा करने वालों को क्रोध कैसे न होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'परिवयस' उन प्रसिद्ध विबुधों को भी पशुओं की तरह बांधते हो ।

जहां अपने स्वामी, मृत्यु से भी उत्तम देवों को बांधते हैं वहां उनके सेवक यदि मृत्यु की अवगणना करे तो कौनसा आश्चर्य है, परन्तु आप वाणी से बांधते हैं किन्तु जैसे राजा केवल आज्ञा देता है साक्षात् बान्धने का कार्य तो राजा के सेवक ही करते हैं वैसे ही भगवान् के सेवक ही मृत्यु का उल्लङ्घन करते हैं कारण कि उनको यों करने का अभ्यास है जिससे उनमें भय उत्पन्न नहीं होता है जैसे सेवक ही गाड़ी में पशुओं को जोतते हैं जिससे वे पशु प्रसन्नता से सेवा करने में लग जाते हैं क्योंकि वे इसको (सेवा को) अपना धर्म समझते हैं, इसी प्रकार भक्तजन ही इनको भगवत्सेवा में लगाते हैं अर्थात् जोड़ते हैं, अतः भक्त सेवा प्राप्त कर कृतार्थ ही होंगे, इसलिए उनको मन में किसी प्रकार क्लेश नहीं होता है, इसी तरह सेवकों का देवों से भी उत्कर्ष बताया है, तो भी सेवकों में मर्यादा के अभाव से उनकी निन्दा और अशुद्धता होगी, इस शङ्का के होने पर कहते हैं कि 'त्वयि कृत सौहृदा खलु पुनन्ति न ये विमुखाः' जिन्होंने आपसे सौहार्द किया है वे ही जगत् को पवित्र करते हैं न कि तपस्वी व दूसरे प्रकार के धर्मात्मा जगत् को पवित्र करते हैं, क्योंकि वे (तपस्वी व दानी आदि धर्म करने वाले) आपसे विमुख हैं ।

अयमर्थः:य ह अर्थ है 'शुद्धि' दो तरह की है-१—दोषों को निकालने वाली २—गुणों को देनेवाली, गुणों में सबसे उत्कृष्ट गुण को सीमा 'भगवत्सेवा' है जिससे उत्तम अन्य कोई गुण नहीं है जैसा कि कहा है 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' जिसकी भगवान् में निर्गुण प्रेमलक्षणा अनन्य भक्ति है उस भक्त में सब देव, सब गुणों सहित निवास करते हैं, दोषों की अवधि(सीमा) यानि सबसे महत्तम दोष भगवान् की अवज्ञा है जैसा कि कहा है—

कारिका—'ब्रह्महत्यासहस्रस्य पापं शाम्येत्कथञ्चन ।
न पुनस्त्वय्यवज्ञाते कल्पकोटिशतैरपि' इति वाक्यात् ।

कारिकार्थ--हजार ब्रह्म हत्या का पाप कदाचित् मिट भी जावे किन्तु हे भगवान् ! आपकी अवज्ञा से उत्पन्न पाप करोड़ों कल्पों के सहस्त्रों वष बीत जाने पर भी नष्ट नहीं होते हैं।

सुबोधिनी—ततश्च ये गुणवन्तो भवन्ति तैरेव गुणलेशैः निवर्तितदोषाभासाश्च त एवान्येषां दोषान् दूरीकृत्य गुणाधाने समर्था भवन्ति। न तु ये दोषपूर्णाः तदंशैरेव निवर्तितसर्वगुणाः ते शुद्धिं कर्तुं शक्नुवन्तीत्यर्थः। खल्विति प्रमाणम् ॥

---

[1] १- सब में वही आत्मा है, ऐसा भाव ।

व्याख्यार्थ—जो गुण वाले होते हैं वे ही अपने गुणों के अंशों से दोष तथा दोष सम आचारादि को मिटा देते हैं, इतना ही नहीं किन्तु दोषों को मिटाकर उनमें गुणों को स्थापित करने की शक्ति वाले भी वे ही हैं ।

जो दोषपूर्ण है उन दोषों के अंशों से सर्व गुण जिनके नष्ट हो गए हैं, वे शुद्धि नहीं कर सकते हैं, 'खलु' निश्चयवाचक पद देने का भावार्थ है कि जो यहां कहा है वह प्रमाण है ।

कारिका—सर्वथा सर्वतः शुद्धा भक्ता एव न चापरे ।
अतः शुद्धिमभीप्सद्भिः सेव्या भक्ता न चापरे ।।१४।।२७।।

कारिकार्थ—भक्त ही सर्वथा सर्व प्रकार शुद्ध हैं, अन्य शुद्ध नहीं है, अतः शुद्धि की चाहना वाले को भक्तों की सेवा करनी चाहिए दूसरों की सेवा नहीं करनी चाहिए ।।२७।।

आभास—एवं भजनीयदोषान् भक्तदोषान् परिहृत्य भजने स्थिरीकृतेऽपि प्रातीतिकदोषैरभजनमाशङ्क्य निराकरोति **त्वमकरण** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भजन करने योग्य (भगवान्) और भक्तों के दोषों का परिहार कर, उनको निर्दोष सिद्ध किया तथा भजन की भी दृढता स्थिर की, किन्तु जो दोष प्रतीति हो रहे हैं उनको देख कोई भजन करेगा नहीं, 'त्वमकरणः' श्लोक से उस शङ्का का निराकरण करते हैं ।

श्लोक—**त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधरस्तव**
बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयाऽनिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ।।२८।।

श्लोकार्थ - आप इन्द्रिय रहित हैं, स्वयं प्रकाश करने वाले हैं, समस्त क्रिया-कलापों (कारकों) की शक्ति को धारण करने वाले हैं, अतः देव माया से आपकी बलि को धारण करते हैं और खाते हैं । जैसे चक्रवर्ती राजा की आज्ञा अनुसार खण्डपति राजा लोग 'कर' लेकर वह चक्रवर्ती को देते हैं, शेष आप लेते हैं और जो ब्रह्मादि आपने नियत किए हैं, वे आपसे डरते हुए नियत कार्य पूर्णतया करते रहते हैं ।।२८।।

सुबोधिनी ननु भगवानवतारे इन्द्रियवान् प्रतीयते तानि चेन्द्रियाणि नान्यार्थक्लृप्तानि भवन्ति तथा सत्यधर्मत्वं तत्कार्यबाधश्च स्यात् । नापि मुक्तानां जीवानां न्यायसिद्धान्त इव तानि स्वीकर्तुं शक्यानि 'वाङ्मनसि संपद्यते' इत्यादि-श्रुतिभिर्लयश्रवणात् 'वागग्निरभवत्' इति आधिदैविकभावाच्च तस्मादवैदिकैरेव तादृशः सिद्धान्तः श्रोतुं शक्यः । अत ईश्वरस्येन्द्रियाणि

तन्नियतानि नित्यानि। जीवानामदृष्टैर्वा कृतानि सर्वथा तानीन्द्रियाणि भगवदीयानि भगवदर्थमेव कृतानि प्रतिनियतानीति मन्तव्यम्। ततस्तैः सह स्वाभाविको वा, आध्यासिको वा संबन्धो वक्तव्यः। ततस्तद्द्वारा दोषसंभव इति चेत् तत्राह त्वमकरण इति। तव करणानीन्द्रियाणि कथमपि न सन्तीत्यर्थः। ननु तथा सति कथमिन्द्रियकार्याणीति चेत् तत्राह स्वराडिति स्वेनैव राजते। सर्वसमर्थं स्वरूपमेव तस्य, अन्यथेन्द्रियाणां तत्सामर्थ्यं कुत आगच्छेत्। मूलभूतेन्द्रियकल्पनायां त्वद्वैतविरोधः। किञ्च। अखिलकारकशक्तिधरस्त्वम्। सर्वेषां कारकाणां षण्णामप्याधारादिशक्तयः तेषां शब्दाश्रयत्वादनित्यत्वात् जातिवन्नियतशक्तिमत्त्वे कार्यान्तरानुदयात् सर्वशक्तिमत्त्वे एकेनैव सर्वकार्यसंभवात् शुद्धब्रह्मत्वापत्तेः अनेककृतिवैयर्थ्याच्च सर्वाः शक्तीः कारकाणां भगवानेव सर्वदा बिभर्ति। तत्तदवसरे तां तां तत्र स्थापयतीति च मन्तव्यम्। अस्मिन्नर्थेऽन्यथानुपपत्तिरूपं हेतुमाह तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषा इति। यदि अनिमिषाणां स्वतः शक्तिः स्यात् स्वाधीना वा। तदा भगवते बलिं दत्त्वा तच्छेषं स्वयं न गृह्णीयुः। सृष्टौ तथा प्रार्थना च श्रूयते। 'यावद्बलिं तेऽज हराम काले' इति वाक्ये। किञ्च। अजया व्याप्तास्ते प्रकृत्या वशीकृताः कथ स्वतन्त्रा भवेयुः। लोके हि अजारक्षका अपि स्वामिने सेवां कुर्वन्ति। अजामात्रपरिग्रहा वा एते अत्यल्पाः। यत्रेन्द्रियस्वामिनामप्येषा गतिः तत्रेन्द्रियशक्तयः कथमिन्द्रियेषु स्थास्यन्तीत्यर्थः। एतदल्पानां कृत्यमित्याशङ्क्य विश्वसृजां महतामप्येतदिति ज्ञापयितुं अल्पान्तररूपं दृष्टान्तमाहुः वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिवेति। नव वर्षाणि जम्बूद्वीपे तथान्येषु सप्त सप्त वर्षाणि। तत्र एकैकोऽधिपतिर्भवति। ते सार्वभौमस्य सेवां कुर्वन्ति स्वनिर्वाहार्थम् तथैकैकेन्द्रियस्वामिनः सर्वसङ्घाताधिपतेः सेवां कुर्वन्ति। नाप्येते अप्रयोजकाः किंतु विश्वसृजः। किञ्च। वर्षाधिपतयः कदाचित्स्वतन्त्रा अपि भवन्ति। एते तु केवलं त्वदधीना एवेत्याहुः विदधति यत्र ये त्वधिकृता इति। सुतरां भगवतः सकाशाद्भीताः सन्तः तथा तथा कुर्वन्ति। अन्यथा अनभिप्रेते न प्रवर्तेरन्।

'दुर्गन्धे दुष्टशब्दे च विरसे च भयानके।
खरस्पर्शे दुःखपुञ्जे वर्तन्ते खानि यद्भयात्।'

सुतरां मलोत्सर्गादौ लोकनिन्दिते अधिकारं न गृह्णीयुः॥

व्याख्यार्थ—भगवान् अवतार समय में इन्द्रियों वाले प्रतीत होते हैं, वे इन्द्रियां जीवों को फलदान करने के लिए धारण की हुई नहीं है, यदि यों माना जायगा तो अधर्मपन होगा और इन्द्रियों[१] का कार्य उनसे हो नहीं सकेगा, नैयायिकों के सिद्धान्तानुसार, मुक्त जीवों की इन्द्रियां हैं यों भी स्वीकार करना उचित नहीं, क्योंकि 'वाङ्मनसि संपद्यते' इस श्रुति में कहे अनुसार, वाणी मन में लीन हो जाती है, जिससे सिद्ध है इन्द्रियों का लय हो जाता है और 'वागग्निरभवत्' (वाणी अग्नि हो गई) इस श्रुति में वाणी का आधिदैविक स्वरूप हो जाना कहा है अतः जो अवैदिक है अर्थात् वेद सिद्धान्त नहीं मानते और न जानते हैं वे ही न्याय सिद्ध स्वीकार कर सकते हैं, वैदिक नहीं स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु वैदिक तो उनका सिद्धान्त सुनना भी नहीं चाहते है, अवैदिक ही सुन सकते हैं, अतः ईश्वर की इन्द्रियां अपना अपना कार्य करने में समर्थ और नित्य हैं, जीवों की इन्द्रियां उनके अदृष्ट से बनी है, वे इन्द्रियां जो भगवान् की हैं, वे तो भगवदर्थ ही बनी है, जिससे

१- इन्द्रियाँ जिस देह में स्थित होती हैं, उसमें ही ज्ञान और क्रिया उत्पन्न कर सकती हैं—दूसरे में नहीं। इस प्रकार का कार्य भगवान् को ये इन्द्रियाँ नहीं करती हैं।

वे प्रत्येक कार्य करने के लिए नियत की हुई है यों मानना चाहिए, इसलिए उन इन्द्रियों के साथ भगवान् का स्वाभाविक वा अध्यास से हुआ सम्बन्ध कहना चाहिए, यदि कहो कि इससे भगवान् में दोष का सम्भव होगा, तो उसका जवाब है कि 'त्वमकरणः' आपकी इन्द्रियां है ही नहीं, यदि इन्द्रियां नहीं हैं तो इन्द्रियों का कार्य कैसे करते हैं ? इसका उत्तर है कि 'स्वराट्' उनका स्वरूप हो सर्व समर्थ है, वह स्वरूप से ही सर्व कार्य करने में समर्थ हैं, उनको इन्द्रियों की आवश्यकता हो नहीं यदि यों आप में सर्व सामर्थ्य न हो तो इन्द्रियों में सामर्थ्य कहां से आवे ? यदि इन्द्रियां मूलभूत है अर्थात् पहले ही थी यों माना जावे तो 'अद्वैत' सिद्धांत की हानि होती है, द्वैत हो जाता है ।

और विशेष, आप सर्वकारक, जिन शक्तियों को धारण करते हैं वे सब शक्तियां आप एक ही धारण करते हैं, जिससे सिद्ध हुआ कि जब भगवान् कारकों का कार्य भी कर सकते हैं तो भगवान् को इन्द्रियों के कार्य करने में क्या है ? वह सर्व समर्थ होने से सब कुछ कर सकते हैं, वे छ कारक आधार आदि शक्तियों वाले हैं, वे कारक शब्दों के आश्रित होने से, अनित्य होने से और जाति की भांति नियत(मुकर्र)शक्तिवाले होने से अन्य कार्य कर नहीं सकते हैं और जो सर्वशक्तिमान् है उस एक से ही सर्व कार्य का होना बनसकता है,जिससे शुद्ध ब्रह्मत्व होजाता है इससे अनेक कारक होने की कृति व्यर्थ सिद्ध होती है, कारकों की सर्व शक्तियाँ सर्वदा भगवान् ही धारण कर, जब जब जिस शक्ति की आवश्यकता होती है तबतब उस शक्ति को उनमें स्थापित करते हैं,यों माननाचाहिए, इस विषयमें अन्यथाऽनुपपतिरूपं'हेतु कहते हैं'तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषा इति'सावधानदेव प्रथम आपको बलि देकर, शेष आप खाते हैं, यदि देवों में स्वतः स्वसामर्थ्य होती और वे, स्वतन्त्र होते तो भगवान् को बलि देने के बाद शेष बलि (उच्छिष्ट) स्वयं न लेते, सृष्टि प्रसंग में ऐसी प्रार्थना की है, जैसे कि 'यावद्बलिं तेऽज हराम काले' इस भागवत के श्लोक में लिखा है कि हे अजन्मा ! 'समय पर जब तक आपके लिए बलि ले आए' और विशेष वे प्रकृति के वशीभूत होने से, स्वतन्त्र बन नहीं सकते हैं लोक में भी देखा जाता है कि जो बकरियों की पालना करते हैं वे भी स्वामी के लिए ही सेवा करते हैं, अथवा जिनका धन केवल बकरियाँ ही हैं, वे बहुत अल्प हैं, जहां इन्द्रियों के स्वामिओं की भी यह दशा है तो वहां इन्द्रियों की शक्तियां कैसे इन्द्रियों में रह सकेगी ? ये दृष्टान्त तो अल्पों के कृत्य का दिया है यदि ऐसी शङ्का हो तो उस पर महानुपुरुषों का भी यही कृत्य है यह समझाने के लिए थोड़े अन्तर से दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि 'वर्षभुजोऽखिलाक्षितिपतेरिवेति' खंड खंड के राजा चक्रवर्त्ती राजा के आधीन रहते हैं वैसे, जंबूद्वीप में नव खंड हैं, इसी तरह अन्य द्वीपों में सात सात खंड है, उस उस खंड में एक एक खंड का स्वामी पृथक् पृथक् है, वे खंडाधिपति अपने-२ निर्वाह[1] के लिए चक्रवर्ती की सेवा करते हैं, वैसे प्रत्येक इन्द्रियों के स्वामी सर्व संघात के स्वामी की सेवा करते हैं, पुनः वे इन्द्रियों के स्वामी निर्वीर्य नहीं हैं किन्तु विश्व की रचना करने वाले हैं, और विशेष यह भी है कि खंड के राजा कभी स्वतन्त्र भी हो जाते हैं किन्तु ये तो केवल आपके ही आधीन हैं यों कहने के लिए कहते हैं कि 'विदधति यत्र ये त्वधिकृता' इति, जिस अधिकार पर उनको स्थापित किया वहाँ वे आज्ञानुसार कार्य करते रहते है, भगवान् से भयभीत होने से वैसा वैसा कार्य करते हैं जैसी २ जिस समय आज्ञा पाते हैं, यदि भगवान्

---

[1] हमारा खण्ड राज्य सुरक्षित रहे, इसके लिए ।

का डर न होता तो, जिस कार्य करने की चाहना नहीं, उसमें भी प्रवृत्ति न करते, अब तो इन्द्रियां जिसके भय से दुर्गन्धवाले, दुष्ट शब्दों वाले, रस रहित पदार्थ में, और भयानक, कठिन स्पर्श वाले, तथा दुःख पूर्ण कार्य में भी प्रवृत्त होती हैं, यदि निर्भय होती तो मल के त्याग जैसा कार्य जो लोक में निन्दित है, उस कार्य करने का अधिकार कदापि न लेती।

कारिका—सुवर्णप्रतिमेवासौ सर्वानन्दमयोऽधिराट् ।
सवसेव्यो नियन्ता च निर्दुष्टः सर्वथैव हि ॥१५॥२८॥

कारिकार्थ-सुवर्ण की प्रतिमा के समान, यह (श्रीकृष्ण) सर्वानन्दपूर्ण, सार्व भौमराजा, सर्व, जिनकी सेवा करते हैं, सबको अपने वश में रखने वाले, सर्वथा ही दोषों से रहित हैं ॥१५॥२८॥

आभास—एवं धर्मधर्मिप्रकारेण भजनार्थं दोषाभावमुक्त्वा कार्यद्वारा प्राप्तं दोषं निराकुर्वन्ति **स्थिरचरजातयः स्युरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार यह सिद्ध किया है कि भजन करने में, धर्म वा धर्मी प्रकार से कोई दोष नहीं है, अब 'स्थिरचरजातयः' श्लोक से कार्य द्वारा प्राप्त दोषों का निराकरण करते हैं—

श्लोक—**स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो**
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च
भवेद्वियत इवापदश्च तव शून्यतुलां दधतः ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे माया सम्बन्ध से विमुक्त ! जब आप पर पुरुष की क्रीड़ा करने की इच्छा होती है, तब स्थावर और जङ्गम जातियाँ स्वयं ही उत्पन्न होती हैं और साथ में वे इच्छा प्रकृति से उत्थित कर्म भी धारण करती हैं।

अक्षर से भी आगे विराजमान आप से कोई अन्य पर या अपर नहीं है; क्योंकि स्थान रहित आप आकाश के समान शून्य की समानता धारण करते हैं ॥२९॥

सुबोधिनी-ननु यदि भगवान् पूर्णानन्दः सर्वदोषविवर्जितस्तर्हि किमर्थं तदंशाः नानाविधां योनिं प्राप्नुवन्ति । अतो ज्ञायते भगवानेव तानुत्पादयति स्वहितार्थम् । अन्यथा तेषामुत्पत्तिर्न घटेतेति चेत् तत्रोच्यते । यदि तव विहरः विहारः स्वानन्देन क्रीडा, यथा राज्ञः स्वगृहे रममाणस्यापि तदानन्दोद्रेकात् बहिर्गमनेच्छा भवति तथा भगवतोऽपि कदाचिद्विहारः । तदा स्थिरचरजातयः स्थावरजङ्गमभेदाः स्वयमेवोत्पद्यन्ते यथा वर्षाकाले जीवाः । नहि पर्जन्यः वर्षणादधिकं किञ्चित्कार्यं करोति जीवानामुत्पत्त्यर्थम् । तथा भगवानपि केवल एव विहरति । ततश्चेच्छायामुद्गतायां स काल इति तेन प्रकृत्यादिशक्तयः प्रेरिता भवन्ति । यथा राजनि निर्गते सेवका अप्रेरिता अपि कार्येषु प्रवर्तन्ते तथा कालो गुणक्षोभं कृतवान् । तथा प्रबलाग्नौ उद्गते विस्फुलिङ्गा इव

जीवा अपि निःसरंति । ततः कालेन क्षुब्धा गुणाः साक्षात्परम्परया च सर्वमेव कार्यजातमुत्पादयन्ति । ततस्ते जीवाः भगवतः सकाशान्निर्गताः प्रकृतिमुपगृह्य यत्र क्वचित्कामवशात् निमित्तं, कर्म, अज्ञानं वा समाश्रित्य नानाविधयोनीः प्राप्नुवन्ति । यथा विस्फुलिङ्गा अग्नेर्निर्गताः वायुमालिङ्ग्य तेन यतःकुतश्चिन्नीयमानाः तृणादिषु पतिता उद्भवं प्राप्नुवन्ति । जले पतिताः निर्वीर्या भवन्ति । भूमौ पतिताः मध्यभावेन तिष्ठन्ति । नत्वत्र मूलभूतो वह्निः कमपि विस्फुलिङ्गं क्वचिद्योजयति । तथेदमिति निरूपयन्ति अजया प्रकृत्या उत्थिताः सन्तः तयैवोत्थितं कर्मापि निमित्तं युञ्जत इति । विहार एव तत्र निमित्तम् । केवलक्रियाशक्तेर्निमित्तत्वमाशङ्क्य ज्ञानशक्तिमप्याहुः उदीक्षयेति । यदा उद्गता ईक्षा भवति तया सहितश्च विहारः ज्ञानपूर्विका क्रीडेत्यर्थः । ननु विहारोऽप्यजया भवतु तथासति प्रकारान्तरेणापि दोषः स्यादत आह परस्येति । अजायाः परो नियामकः । ननु भार्ययैव तया मोहोऽस्तु आसक्तिर्वा तस्याम् । हे ततो विमुक्तेति । तया सह संबन्ध एव नास्ति । यतः सा किञ्चिदपि कार्यं कुर्यात् । यथा राज्ञः प्रेरिका क्षुद्रा दास्यो न भवन्ति क्वापि विहारे । ननु मा भवतु प्रकृतिगुणाः कालो वा अन्या एवान्तरङ्गाः शक्तयस्तत्प्रेरिका भवन्तु ताभिरेव दोषसंबन्धः स्यादत आह न हि परमस्येति । परमस्यातिपरस्य अक्षरादप्यग्रे स्थितस्य लोकवार्तानभिज्ञस्य कश्चिदपि पदार्थः अपरः हीनः पर उत्कृष्टो वा न भवेत् विहारार्थमेव राजदृष्टान्तः न तु प्रेरणार्थः तं प्रेरयति कश्चित् यस्य प्रेर्यो विषयो भवति यथान्तःकरणं चक्षु श्रोत्रे बोधनार्थं ततोश्वशस्त्रादिक्रियार्थं, तत्रान्तरङ्गः सामग्रीसम्पादकः प्रेरको वा भवति । यस्तु केवल एवानन्दः सर्वसम्बन्धरहितो भवति तं कथं कश्चित्प्रेरको भवेत् । तत्र भगवतः सामग्र्यभावमाह, सामग्री पञ्चविधा स्वरूपं, स्थानं, विशेषाकृतिः, उत्कर्षापकर्षभावापन्नाः पदार्थाश्च ते केऽपि भगवति न सन्ति यतः सर्वेभ्यः परम उत्कर्षापकर्षभावरहितः सर्वविलक्षणः । अत एव तस्य कोऽपि नावरः परोपि न । नकारद्वयं पृथगेव निर्दिशति । सर्वनिषेधानां स्वतःसिद्ध्यर्थं अपदश्च स्थानरहितोऽपि भवति । चकारात्तत्सामग्रीरहिश्च । ननु पदार्थः सर्वोऽपि साधारो भवतीति कथमयं निराधार इति चेत् तत्र दृष्टान्तमाह वियत इवेति । आकाशसदृशस्य कयापि क्रियया अव्यापृतस्य, अनेन सर्वविशेषरहित उक्तः । स्वरूपमपि न कस्यचित्प्रत्यक्षमित्याह शून्यतुलां दधत इति । शून्यवादव्युदासाय तुलापदम् । एतदेवाहुः 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' 'अरूपमस्पर्शम्' इत्यादिश्रुतयः । केवलम् 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः'' अत एतादृशं को वा जानीयाद् यतः प्रेरयेत् ॥

व्याख्यार्थ—यदि भगवान् पूर्णानन्द हैं, सर्व दोषों से रहित हैं, तो उनके अंश (जीव) अनेक योनियों में क्यों भटकते हैं ? इससे जाना जाता है कि भगवान् ही अपने हित के लिए उत्पन्न करते हैं, नहीं तो उनकी उत्पत्ति हो नहीं सकती, इस शङ्का का निराकरण करने के लिए कहा जाता है कि 'यदि तव विहर उदीक्षया' जैसे अपने महल में आनन्द से रमण करते हुए भी राजा को कभी बाहर घूमने व खेलने की इच्छा होती है वैसे आपको भी बाहर आनन्द से क्रीड़ा करने की इच्छा होती है तब स्थावर और जङ्गम जातियां वैसे ही स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे वर्षा काल में जीव स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं, उन जीवों की उत्पत्ति के लिए वर्षा होने के सिवाय अन्य कोई प्रयत्न नहीं किया जाता है वैसे ही भगवान् भी केवल क्रीड़ा करने के लिए इच्छा करते हैं, इच्छा का उत्पन्न होना ही काल है, वह काल प्रकृति आदि शक्तियों को प्रेरित करता है, जैसे राजा को बाहर घूमने निकलते देखकर ही बिना कहे, सब सेवक काम में लग जाते हैं, वैसे ही काल भी गुणों में क्षोभ (घबराहट)

उत्पन्न करता है वैसे ही अग्नि जब प्रचण्ड रूप धारण करती है, तब उसमें से चिनगारियां उत्पन्न होती हैं, त्यों जीव भी उस समय उत्पन्न हो जाते हैं, और काल से घबराहट को प्राप्त गुण, साक्षात् वा परंपरा से, सर्व कार्य मात्र को पैदा करते हैं, पश्चात् जो जीव भगवान् से चिनगारियों की भांति निकलते हैं वे प्रकृति से मिलकर, कामनाओं के वश निमित्त, कर्म अथवा अज्ञान का आश्रय कर जहां कहीं अनेक प्रकार की योनियों को ग्रहण करते हैं ।

जैसे अग्नि से निकली हुई चिनगारियां वायु से मिलती है तो फिर वह वायुउन्हेंजहाँ कहाँ भी लेजाती है तो वहां उनको विवश होने से जाना ही पड़ता है, यदि जाते हुए तिनकों पर पड़ती है तो बढ़ जाती है और कदाचित् जल में गिर पड़ी तो बुझ जाती है, पृथ्वी पर गिरने से मध्यास्थिति हो जाती है, मूलभूत अग्नि, जिससे चिनगारियां उत्पन्न होती है, वह अग्नि किसी चिनगारी को कहीं भी नहीं जोड़ती है वैसे ही ये जीव जिससे उत्पन्न हुए हैं वह मूलभूत अक्षर इनके प्रेरक नहीं है, किन्तु प्रकृति से उत्थित होते हुए और उस अजा से उत्थिक कर्म ही निमित्त बन जाते हैं, विहार (क्रीड़ा) ही निमित्त है, केवल क्रिया शक्ति निमित्त कैसे होगी ? इस शंका के मिटाने के लिए ज्ञान शक्ति को भी कहा है कि 'उदीक्षया' जब इच्छा उत्पन्न होती है तब इस इच्छा के होते ही क्रीड़ा की जाती है, यह ही ज्ञान शक्ति है, अर्थात् इसी तरह जो क्रीड़ा होती है वह ज्ञान पूर्वका क्रीडा है, इस प्रकार ज्ञान पूर्वक क्रीडार्थ ही जीव का भगवान् से निर्गमन हुआ है ।

विहार, अजा के साथ होने पर भी प्रकारान्तर से भगवान् में दोष होता है, इस शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि 'परस्थ' वे प्रकृति से पर हैं अर्थात् उसके नियामक हैं । ठीक है, आप नियामक हो किन्तु, वह प्रकृति जो भार्या हैं उससे मोहित होने से उसमें आसक्ति तो होगी ही; जिस शङ्का की निवृत्ति करते हैं कि, हे ततो विमुक्त! उस प्रकृति से आपका सम्बन्ध ही नहीं है, जिससे वह आपको वश में करने का कुछ भी कार्य कर सके, क्योंकि वह आपकी दृष्टि में तुच्छ सेविका है, जैसे राजा के विहार में क्षुद्र दासियाँ नहीं होती हैं, वैसे ही यह भी आपके विहार में नहीं है । ये प्रकृति के गुण, वा काल, भले ही प्रेरक नहीं हो किन्तु दूसरी अन्तरङ्ग शक्तियां तो उनको प्रेरणा करने वाली होती है, उनसे ही दोष सम्बन्ध होना चाहिए, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'न हि परमस्य' अर्थात् जो अक्षर से भी उच्च उत्कृष्ट है और लौकिक वार्ताओं से सर्वथा अनभिज्ञ है, उससे जो कोई पदार्थ ही नहीं है वह उत्कृष्ट हो नहीं सकता है, राजा का दृष्टान्त विहार के लिए ही है, न कि प्रेरणा के लिए है, जिसको भोग के लिए किसी विषय (पदार्थ) प्राप्त करने की इच्छा होती है उसको ही कोई प्रेरणा करता है, जिसको भोगेच्छा ही नहीं उसको कोई प्रेरणा नहीं कर सकता है, जैसे राजा, भोग पदार्थ के जानने वा सुनने की इच्छा करता है तब अन्तःकरण उसके लिए आंख और कान को प्रेरणा करता है, प्रेरणा होते ही राजा उस पदार्थ को देखनेएवं जानने के लिए तैयार होता है,पश्चात् राजा अश्व शस्त्रादि से विहारक्रिया करना चाहता है तो उसका अन्तरङ्ग सेवक वह सामग्री तैयार करता है और उसका प्रेरक बनता है, किन्तु जो भगवान् केवल[1] आनन्दमय है और सर्व सम्बन्ध रहित होने से भोगादि की इच्छा ही नहीं करते हैं, उनको कोई कैसे प्रेरणा कर सकता है ? वहां भगवान् के लिये इसलिए सामग्री[2] नहीं है, यह बताते हैं । सामग्री पांच प्रकार की होती है, १—स्वरूप, २—स्थान, ३—विशेषाकार, ४—उत्कर्ष

१- इन्द्रिय रहित ।   २- भोग जिससे किया जा सके, ऐसी सामग्री ।

और ५—अपकर्ष, भाव को प्राप्त पदार्थ, इनमें से कोई भी पदार्थ भगवान् में नहीं है. क्योंकि सबसे आप उत्तम हैं, जिससे उत्कर्ष और अपकर्ष भाव से रहित हैं. अतः सबसे विलक्षण हैं, इसलिए उनसे उच्च वा नीच कोई नहीं है। श्लोक में दो 'न' शब्द देकर यह सूचित किया है कि भगवान्, सबसे पृथक् हैं, सकल पदार्थों से भगवान् विलक्षण प्रकार के हैं इसकी स्वतः सिद्धि होने के लिए 'अपदश्च' पद से कहा है कि स्थान रहित भी होते हैं और 'च' से उस सामग्री से भी रहित हैं, प्रत्येक पदार्थ आधार वाला ही होता है, फिर यह निराधार कैसे हो सकता है ? इस शङ्का को दृष्टान्त देकर मिटाते हैं कि 'वियत इव' जैसे आकाश किसी भी क्रिया में व्यापृत नहीं है, वैसे ही भगवान् भी सर्व प्रकार क्रिया मात्र से अव्यापृत है, इससे भगवान् को सब विशेषां से रहित कहा है, स्वरूप को भी अप्रत्यक्ष कहा है, 'शून्यतुलां दधत' इस पद से शून्य वाद का भी निराकरण किया है, यदि शून्यवाद कहना होता तो केवल 'शून्य' पद कहते 'तुला' समानता पद देकर शून्यवाद का तिरस्कार किया है, इसलिए ही 'असङ्गो ह्ययं पुरुष.' 'अरुपमस्पर्शम्' इत्यादि श्रुतियां कहती हैं, कि 'यह पुरुष संग रहित है' 'रूप और स्पर्श रहित है' 'मात्र' भगवान् है, इतना ही जानने योग्य है, अतः ऐसे भगवान् को कौन जान सकता है, यह ऐसा है कि वैसा है जिससे प्रेरणा कर सके ।।२८।।

कारिका—सर्वभावनिविर्मुक्तः पूर्णः क्रीडार्थमुद्गतः ।
निमित्तं तं समाश्रित्य जायन्ते जीवराशयः ।।१६।।२९।।

कारिकार्थ—सर्व लौकिक भावों से रहित, पूर्ण प्रभु श्रीकृष्ण, क्रीडा के लिए जब तैयार होते हैं, तब क्रीड़ा रूप काल के किए हुए गुणों की घबराहट का आश्रय व निमित्त लेकर जीव समूह चिनगारियों की तरह उनसे निकलते हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं ।।१६।।२९।।

आभास—एवं जीवानां नानाविधयोनिसंबन्धेन प्राप्तो दोषः परिहृतः, अधुना प्रसङ्गाद् भगवतो माहात्म्यसिद्धचर्थं जीवानां भगवदधीनत्वं स्थापयितुं स्वातन्त्र्य-पक्षमनूद्य निराकुर्वन्ति **अपरिमिता ध्रुवा** इति ।

आभासार्थ—इसी तरह जीव में अनेक योनियों के सम्बन्ध से जो दोष आता है वह भगवान् में नहीं है, यह सिद्ध कर भगवान् में जब दोष नहीं है तो भगवान्-माहात्म्य भी विशेष होगा, ऐसे प्रसङ्ग में भगवान् का माहात्म्य सिद्ध करने के लिए और जीव भगवान् के आधीन हैं यह भी स्थापन करने के वास्ते 'अपरिमिता' श्लोक में जीव स्वतन्त्र है इस सिद्धान्त का वर्णन कर बाद में निराकरण करते हैं—

श्लोक—**अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि**
न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ
भवेत्सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ।।३०।।

श्लोकार्थ—यदि अगणित नित्य जो जीव हैं, वे व्यापक होवें तो नियम्य नहीं हो

सकते हैं अर्थात् उनके ऊपर किसी का भी नियम नहीं रह सकता है;क्योंकि नियम्य और नियामक भाव तब रह सकता है कि जब एक अणु होवे, दूसरा व्यापक होवे। यह कहने का तात्पर्य है कि जब जीव अणु हो और भगवान् व्यापक हो, तब नियम्य व नियामक भाव बन सकता है, ब्रह्ममय होकर ही जीव रूप से प्रकट हुए हैं, किन्तु यदि वे ब्रह्मात्मता का त्याग न करे, तो फिर नियन्ता कौन होगा? अर्थात् कोई नहीं। ब्रह्म सर्वत्र सम है इसलिए नियम्य-नियामकत्व भाव जो लोग नहीं मानते हैं, उनका मन दोष पूर्ण होने से अमत है अर्थात् मान्य करने योग्य नहीं है ।।३०।।

सुबोधिनी—जीवानां व्यापकत्वे स्वरूपतो भगवन्नियम्या न भवेयुः । भोगमोक्षदुःखाभावार्थं तदपेक्षा व्यापकत्वे न भयिष्यतीति अग्रे वक्तव्यम् । अतो यदि श्रौत एव न्यायः विस्फुलिङ्गरूपः अङ्गीक्रियते तदैव नियम्यनियामकभावो भवति न स्मार्तपक्षे व्यापकत्वे, तदर्थं व्यापकता निराक्रियते । केचन नैयायिकादयः जीवं व्यापकं मन्यन्ते । तेषामयमभिप्रायः, नित्यः अणुर्वा व्यापको वा भवति । नावान्तरपरिमाणवान् अवान्तरपरिमाणमनित्यत्वेन व्याप्तम् । अणुपरिमाणत्वे सर्वशरीरव्यापिचौन्तयोपलम्भो न स्यात् । किञ्च । देशान्तरे यद्द्रव्यमस्मद्भोगायोत्पद्यते तत्रास्मददृष्टं कारणत्वेन वक्तव्यम् । अत उत्पत्तिदेशे अदृष्टवदात्मसंयोगः कारणं वर्तत इत्यात्मनो व्यापकत्वसिद्धिः । तेन आत्मानो देशपरिच्छेदरहिताः । ध्रुवा इति कालपरिच्छेदरहिताः । यद्यात्मा अनित्यः स्यात् । अनिर्मोक्षः स्यात् । व्यापकस्य चानित्यत्वमसिद्धम् । किञ्च । सर्वगतास्ते सर्वत्र तेषां सकलमूर्तद्रव्यसंयोगो वक्तव्यः । अन्यथा तेषां भोगसाधनाय तानि द्रव्याणि न भवेयुः । न ह्यनादिसंसारे कश्चित्पदार्थः कस्यचिन्न भवतीति सिद्धम् । एवमात्मनः परिच्छेदद्वयाभावः सकलमूर्तद्रव्यसंयोगश्च अवश्यमङ्गीकर्तव्य इति तन्मतमनूद्य परिहरति तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि न शास्यतेति नियमः । अत्र शासनं न कर्मनिमित्तं तत्तु यमादिकार्यं किंतु दासस्वामिवत् नियम्यनियामकभावः । व्यापकत्वे जीवानां दासत्वं न स्यादित्यर्थः । तथासति नेश्वरश्च सेत्स्यति प्रयोजनाभावात् । सर्वत्रात्मनः कारणत्वेन विद्यमानत्वात् स्वभोगस्तेनैव सम्पादयितुं शक्यते, अदृष्टनियामकं तु कर्मैव भोगस्त्वदृष्टनियम्यः, कर्म प्रयत्ननियम्यमतो जीवार्थमीश्वरापेक्षाया अभावान्नेश्वरोऽपि सेत्स्यति नियम्यनियामकभावो दूरे । यच्छ्रुतय एवमाहुः नियम्यनियामकभावो न सेत्स्यतीति । तासामयमभिप्रायः भोगनियामकः परमेश्वर एव । अन्यथा भोगनियमो न स्यात् । दृश्यते च भोगनियमः बहुषु विद्यमानेष्वेकस्मिन् शरीरे सर्वेषामेव संबन्धस्य तुल्यत्वात् एकशरीरे आम्रफले भक्षिते कथमेकस्यैव सुखं भवेत् । तददृष्टेन जनितमिति चेत्तस्यैव तददृष्टं नान्यस्येत्यत्र को नियमः । आत्मसंयोगस्य तुल्यत्वात् ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामपि तुल्यत्वापत्तिः । नचेश्वरव्यतिरेकेण कश्चिदन्यो नियामकोऽस्ति येन प्रतिनियतभोगदर्शनस्य नियमः सिद्ध्येत् । ईश्वरे तु नियामकेऽङ्गीक्रियमाणे एक एव भुङ्क्तां नान्य इति ईश्वरनियमनात् नियमः सङ्गच्छते । तथा अदृष्टेऽपि । अतोऽवश्यं भोगनियमार्थं ईश्वरो नियामको वक्तव्यः । तच्च व्यापकत्वे न सङ्गच्छते । महत्त्वेन तस्याभिमानात् तुल्यत्वाच्च न भगवन्तं मन्यते । ईश्वरेणैव चेद्भोगः सेत्स्यति प्रतिनियतस्तर्हि व्यापकता न वक्तव्या । अणुपरिमाणस्यापि आदेहव्यापी चौतन्यगुणः सम्भवति गन्धवत्, आश्रयाविच्छेद एव गन्धस्य युक्तो दृष्टत्वात् यत्र

निरन्तरोत्पत्तिर्मृग्यते। अन्यथा आश्रयमपि परित्यज्य पत्रपुष्पादिवदन्यत्र गच्छतीत्येव मन्तव्य वायोर्गन्धवाहत्वप्रसिद्ध्यै। 'यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद्गन्धो वाति' इति श्रुतेश्च। अवयवगतिकल्पना तु योजनगन्धायां बाधिता॥

व्याख्यार्थ—यदि जीव व्यापक है यों माना जायगा तो जीव अपने को व्यापक जानकर भगवान् के वश में नहीं रहेगा, भोग और मोक्ष के लिए तथा दुःखों के अभाव होने के वास्ते जीवों को भगवान् की अपेक्षा न रहेगी, यों आगे कहा जायगा, अतः यदि श्रुति में जो सिद्धान्त कहा गया है कि जीव चिनगारी रूप है, इसको माना जायगा, तब ही नियम्य नियामक भाव सिद्ध हो सकेगा, न कि स्मार्त पक्षानुसार जीव को व्यापक मानने से सिद्ध होगा, श्रौत सिद्धान्त ही सम्पूर्ण है, इसलिए ही हम जीव की व्यापकता का निराकरण करते हैं।

कितने ही नैयायिक आदि मत वाले जीव को व्यापक मानते हैं, उनका यह अभिप्राय है, नित्य पदार्थ वह होता है, जो अणु हो अथवा व्यापक होवे, जो मध्यम परिमाण वाला पदार्थ है वह नित्य नहीं होता है, क्योंकि अवान्तर (मध्यम) परिमाण अनित्यपन से आवृत,[1] यदि जीव को अणु माना जायगा तो सर्व शरीर में जो चैतन्य व्याप्त दीखता है, वह नहीं होना चाहिए, और विशेष, देशान्तर में हमारे भोग के लिए जो द्रव्य उत्पन्न होता है, उसका कारण हमारा अदृष्ट[2] कहना चाहिए, अतः उत्पत्ति वाले प्रदेश में अदृष्ट की तरह आत्मा का संयोग भी कारण है, इससे सिद्ध है कि 'जीव' व्यापक है, इससे जीव देशपरिच्छेद[3] रहित है और ध्रूव होने से काल परिच्छेद रहित है, जो जीव को अनित्य मानें जायेंगे, तो जीव मुक्त न हो सकेंगे, और जो व्यापक है, वह अनित्य हो नहीं सकता है, 'सर्वगतास्ते' उनका सकल मूर्त द्रव्यों के साथ सर्वत्र संयोग है यों कहना चाहिए, जो, यों नहीं माना जायगा तो उनकी[4] भोग पूर्ति के लिए जिन द्रव्यों की आवश्यकता है, वे उत्पन्न ही न हो क्योंकि, इस अनादि संसार में कोई भी पदार्थ किसी के लिए नहीं है, यों सिद्ध नहीं होता है, अर्थात् सर्व पदार्थ सब अपने भोग में ला सकते हैं, इसी प्रकार आत्मा (जीव) में दो[5] परिच्छेदों का अभाव और सकल मूर्तद्रव्यों का सम्बन्ध अवश्य अङ्गीकार करना चाहिए. इस प्रकार नैयायिकों का मत कह कर, अब उसका निराकरण करते हैं।

'तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि न शास्यतेति नियमः' व्यापक होने से जोवों का सर्व पदार्थों से सम्बन्ध होगा, अतः वे किसी के नियम में नहीं रह सकते हैं, यह नियम है, इस विषय में जो नियम्य नियामक भाव है, वह कर्म निमित्त जो शिक्षा आदि मिलती है, उसके समान नहीं है, क्योंकि कर्म फल से जो शिक्षा आदि देने का शासन है, वह यम आदि देवों का कार्य है, किन्तु यहां तो दास और स्वामी की तरह नियम्य और नियामक भाव की स्थिति है। यदि जीव व्यापक माने जावेंगे, तो उनमें दासत्व नहीं बनेगा, यदि वे दास नहीं रहेंगे तो उनको नियामक का प्रयोजन नहीं होगा, जिससे ईश्वर की सिद्धि भी नहीं हो सकेगी। सर्वत्र जीव ही सर्व विषयों में कारण हो जाने से अपना भोग

१—व्याप्त, घिरा हुआ है, २—प्रारब्ध,
३—सीमा रहित, अर्थात् जीव के लिए देश अथवा काल की सीमा नहीं है क्योंकि व्यापक है,
४—जीवों की ५—देश, काल

आदि भी आप ही सम्पादन करते रहेंगे, अदृष्ट का नियामक तो कर्म ही है भोग तो अदृष्ट से नियम्य है और कर्म प्रयत्न से नियम्य है, अतः जीव के लिए ईश्वर की अपेक्षा न होने से जब ईश्वर भी सिद्ध न हो सकेगा तो नियम्य[1] और नियामक[2] की बात तो दूर रहो ।

श्रुतियाँ कहती हैं कि नियम्य और नियामक भाव सिद्ध नहीं होगा अर्थात् नहीं बन सकता है, श्रुतियों के यों कहने का अभिप्राय यह है कि, भोग का नियामक तो ईश्वर ही है, नहीं तो भोग का नियम रहेगा नहीं, और भोग का नियम तो प्रत्यक्ष निश्चित् हुआ देखने मे आ रहा है ।

नैयायिक सिद्धान्तानुसार जीव अनेक हैं और वे सब व्यापक हैं, जिससे सबका सब पदार्थों से समान सम्बन्ध है, जब एक शरीर, फल खाता है तब सब शरीरों को तो उस फल भोग का सुख प्राप्त नहीं होता है, केवल उस एक शरीर को ही प्राप्त होता है दूसरों को नहीं, यों क्यों होता है ? यदि कहो कि अदृष्ट से यों होता है तो, यह बतलाइए कि वह इस एक का ही अदृष्ट है दूसरे का नहीं है, जिसके लिए कौनसा नियम है? उस अदृष्ट के साथ संयोग तो व्यापक होने से सबका समान है, इसलिए सबका ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न भी समान होने चाहिए, ईश्वर के सिवाय दूसरा कोई नियामक नहीं बन सकता है, जिससे प्रत्येक को नियम से भोग की प्राप्ति होती देखने में आती है, ईश्वर के नियामक होने से, एक ही भोग करता है दूसरा कोई भी उसका भोग नहीं कर सकता है, यह नियम तब तक चल रहा है, जब ईश्वर के हाथ में नियामकत्व है, अदृष्ट के सम्बन्ध में भी यों ही समझना चाहिए, कि उसका भी नियामक ईश्वर है, अतः भोग के नियम के लिए अवश्य ईश्वर का नियामकत्व स्वीकार करना चाहिए, वह नियामकत्व जीव का व्यापकत्व मानने से सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि जीव को व्यापकत्व से, महानता और तुल्यता का अभिमान हो जाता है, जिससे वह भगवान् को नहीं मानता है, यदि भोग का ईश्वर से ही मिलना नियमित माना जाएगा तो जीव की व्यापकता न रहेगी, अर्थात् जीव व्यापक नहीं है, यों स्वीकार करना पड़ेगा, 'अणु' मानने से जीव का चैतन्य गुण सारी देह में जो व्याप्त दीखता है वह नहीं होना चाहिए, इस शङ्का का निराकरण करते हुए कहते हैं कि 'गन्धवत्' जैसे पुष्पकी गन्ध दूर दूर फैलती है वैसे अणु जीव का चैतन्य भी समग्र देह में व्याप्त रहता है,जब गन्ध की उत्पत्ति की खोज की जाती है तो देखने में आता है कि गन्ध अपने आश्रय से पृथक् नहीं होती है, बाहर फैलते हुए भी उसमें ही रहती है, वह उचित ही है, यदि यों माना जाय कि गन्ध के अवयव उत्पन्न होते हैं वे दूर दूर चले जाते हैं, वह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यों होवे तो पत्र पुष्पादि की भाँति गन्ध भी अपने आश्रय का त्याग कर दूसरे स्थान पर जावे वह तो होता नहीं, अर्थात् वह (गन्ध) अपने आश्रय का त्याग करती नहीं है, वायु द्वारा गन्ध दूर जाती है यह प्रसिद्ध है, जैसे भगवती श्रुति कहती है कि 'यथा वृक्षस्य सपुष्पितस्य दूराद्गन्धो वाति' फूलों से भरेहुए वृक्ष की गन्ध को वायु दूर ले जाती है, अवयव भले नवीन उत्पन्न न हों किन्तु वे ही अवयव दूर दूर चले जाते हैं यह कहना भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि योजन पर्यन्त गंध जाती है, इस वाक्य से वह कहना बाधित है, कारण कि—

कारिका—यादृशः प्रकटो गन्धः पुष्पाणां सन्निधौ भवेत् ।
एकस्मिन्नपि तत् पुष्पे तथा घ्राणगते न हि ॥

१—जीव वश में रहने वाला २—ईश्वर वश में रखने वाला

कारिकार्थ—फूलों की गन्ध पुष्पों की सन्निधि में जैसी प्रकट होती है, वैसी गन्ध एक फूल को नाक में डालने पर भी नहीं आती है अर्थात् जब एक फूल से वैसी गन्ध नहीं प्राप्त होती है, तो सूक्ष्म अवयवों से गन्ध किस प्रकार आवेगी ?

सुबोधिनी—तस्माद्गन्धवच्चैतन्यमपि सर्वदेहव्यापि तिष्ठति लोके च परिच्छिन्न एव नियम्यनियामकभावः। ननु नियामकोपि परिच्छिन्नोऽस्तु को दोष इति चेत् तत्राह हे ध्रुवेति यो निश्चलः स व्यापक एव भवति। प्रकारान्तरेण ध्रुवता तु भूम्यादावपि न दृश्यत इति ईश्वरो व्यापक एव। 'तस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति श्रुतेः। 'आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः' इति 'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्' इति न्यायाच्च। इतरथा जीवस्य व्यापकत्वे भगवतः अणुत्वे एकदेशस्याप्यन्यथात्वे वा नियम्यनियामकभावो नोपपद्यत इति भावः। नन्वत्र न काचिद्दृढोपपत्तिः व्यापकत्वमप्यस्तु नियम्यत्वमप्यस्तु को दोषः। अल्पेनापि बालकेन सिंहेन महागजो नियम्यते। सूक्ष्मेणापि राज्ञा सर्वे लोका नियम्यन्ते, सूक्ष्मेणाप्यग्निकणेन सर्वे गृहा दह्यन्ते इति न स्थूलपरिमाणवान् नियामक इति, नापि सूक्ष्मपरिमाणवान् नियम्य इति। अतो व्यर्थ आग्रह इति चेत् तत्राह अजनि च यन्मय तदविमुच्य नियन्तृ भवेदिति। यद् यन्मयमजनि तदविमुच्य तदत्यक्त्वा नियन्तृ किं भवेत् अपि तु न भवेदेवेत्यर्थः। बाध्यबाधकभावो दाह्यदाहकभावश्चान्यः नियम्यनियामकभावस्त्वन्यः राज्योत्पन्नाः प्रजा राज्यमया भवन्ति। राज्यं च राज्ञोऽङ्गमिति राजमया एव प्रजाः। तथा जीवा अपि भगवन्मयाः व्यापकाश्चेत् कथमपि न तन्मया भवन्ति। नियतान्वये विद्यमानेऽपि अप्रयोजकत्वं वदन् साहसी भवति। तस्मात्तन्मयत्वान्यथानुपपत्त्या न व्यापकत्वं जीवस्येति सिद्धम्। ननु वेदान्तिनोऽपि आत्मैकत्वं वदन्तः नियम्यनियामकभावं नाङ्गीकुर्वन्ति सर्वत्र तुल्यदर्शनात्। अतो वेदान्ते नियम्यनियामकभावो नास्तीति ये वदन्ति तदनूद्य परिहरन्ति सममनुजानतां यदमतमिति। ये सर्वत्र ब्रह्म सममनुजानन्ति॥

व्याख्यार्थ—इससे यह मत निश्चित है कि गन्ध की तरह चैतन्य गुण भी सर्व देह में व्याप्त हो जाता है, लोक में नियम्य और नियामक भाव परिच्छिन्न में ही होता है।

नियम में रखने वाला ईश्वर) भी भले परिच्छिन्न होवे इसमें कौनसा दोष है ? इसके उत्तर में 'हे ध्रुव' संबोधन दिया है, जो निश्चल है वह व्यापक ही होता है, दूसरी तरह तो अर्थात् स्वल्प समय के लिए स्थिरता भूमि आदि में भी है इसलिए उसमें व्यापकता नहीं दीखती है, इसलिए 'ईश्वर' व्यापक ही है, 'तस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्च इति श्रुतेः' उसमें[1] आकाश पूर्ण ओतप्रोत[2] है, 'आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः श्रुतिः' अणु के समान दूसरा भी देखने में आया है, यदि कहो कि जीव अणु नहीं है क्योंकि श्रुति के अनुसार वह व्यापक है, तो उसके उत्तर में ब्रह्मसूत्र 'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्' दिया है, यह व्यापक श्रुति ब्रह्म के विषय में है कि ब्रह्म अणु नहीं है बल्कि व्यापक है, दूसरी तरह अर्थात् जीव को व्यापक वा भगवान् को अणु मानने से, अथवा एक भाग का भी अन्यथात्व कहां जायगा तो नियम्य और नियामक भाव बन नहीं सकेगा,

---

[1]—ईश्वर में, [2]—गुंथा हुआ है,

इस विषय में किसी तरह की दृढ उपपत्ति[1] नहीं है, अतः यदि व्यापकत्व भी हो और नियम्यत्व भी होवे तो कौनसा दोष है ? जैसे छोटा सिंह का बालक भी बड़े हस्ती को अपने नियम में रख सकता है, राजा का शरीर छोटा है वह सकल लोगों को अपनी आज्ञा में चला सकता है, छोटा सा अग्नि का कण[2] समस्त गृहों को जला सकता है, इससे यह आवश्यक नहीं है कि स्थूल परिमाण वाला ही नियामक हो सकता है और सूक्ष्म परिमाण वाला नियम्य ही बने अतः आपका यह व्यर्थ आग्रह है, यदि यों कहा जावे तो, उसके उत्तर में कहा है कि 'अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेदिति। अर्थ—जो जीव ब्रह्ममय ही उत्पन्न हुआ है वह उस ब्रह्मात्मकता को छोड़े बिना क्या नियंता हो सकता है? नहीं हो सकता है अर्थात् नियन्ता तो ब्रह्म ही हो सकता है। भगवन्मय जीव नियन्ता न होकर नियम्य ही होता है, बाध्य[3] और बाधक भाव,[4] दाह्य[5] दाहकभाव[6] दूसरा है और नियम्य तथा नियामक भाव दूसरे प्रकार का है, अब इसको स्पष्ट समझाने के लिए दृष्टान्त देते हैं कि राज्य में उत्पन्न प्रजाएँ राज्यमय होती हैं और राज्य, राजा का अङ्ग है इसलिए प्रजा राजामय ही है वैसे ही जीव भी भगवन्मय हैं यदि व्यापक होवे तो भगवन्मय नहीं बन सकते।

जीव का ईश्वर के साथ सदैव सम्बन्ध होते हुए भी भोग का नियम करने में ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं है, वह भोग का नियम अदृष्ट कराती है, यों कहने वाला साहसी[7] है। इस कारण से जीव का भगवन्मयत्व दूसरे प्रकार से सिद्ध नहीं होने से जीव में व्यापकत्व नहीं है, यही सिद्ध हुआ। वेदान्ती भी आत्मा (ब्रह्म) और जीव का एकत्व कहते हुए नियम्य व नियामक भाव स्वीकार नहीं करते हैं; क्योंकि सर्वत्र समानता देखते हैं, यों कहकर जो वेदान्त में नियम्य-नियामक भाव नहीं मानते हैं, इनका मत कहकर अब उनका खण्डन करते हैं। 'सममनुजानतां यद मतं' उनका मत ब्रह्मवादी समदृष्टि वाला है।

कारिका—'ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पण्डितो मतः' इति ॥

कारिकार्थ—ब्राह्मण, ढेढ, चोर, वेदज्ञ सूर्य, अग्नि के कण अक्रूर और क्रूर; इन सब में जो समान दृष्टि वाला होता है, वह पण्डित ज्ञानी समदृष्टि वाला है ॥

सुबोधिनी—ब्रह्मविदः समदृश इति। तेषामप्येतदननुमतं तेऽपि नियम्यनियामकभावमङ्गीकुर्वन्त्येव। अन्यथा भगवान् मुक्तोपसृप्यो न स्यात्। 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इति ज्ञानिनोऽपि भजनश्रवणाच्च। नन्वस्त्वनियम्यता ज्ञानमार्गे को दोष इति चेत् तत्राऽऽह मतदुष्टतयेति। मते ब्रह्मवादे अयमर्थो दुष्ट इति। 'एष सर्वेश्वर एष लोकपाल एष भूताधिपतिः' इति। सर्वत्रोपनिषत्सु भगवतो नियामकत्वश्रवणात्। 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः' इत्यादिश्रुतिभिः स्पष्टमेव प्रशासनं दृश्यते 'सा च प्रशासनात्' इति न्यायेन च निर्णीतः। तस्माद्भगवतः प्रशासनं सर्ववादिसंमतं तच्च व्यापकत्वे न घटते। अतन्मयत्वप्रसङ्गादिति ॥

---

[1] हेतुपूर्वक युक्ति
[2] चिनगारी
[3] बाँधा हुआ
[4] बाँधने वाला
[5] जलाने लायक
[6] जलाने वाला—ये दोनों भाव दूसरे है
[7] बलात्कार करने वाला

व्याख्यार्थ—ब्रह्मवादी समदृष्टि वाले है, उनको यह मान्य नहीं है, वे भी नियम्य और नियामक भाव अङ्गीकार करते हैं, यदि अङ्गीकार न करें, तो भगवान् मुक्त जीवों के पास जाते हैं अर्थात् उनको प्राप्त होते हैं वह शास्त्र वचन झूठे हो जाते, जैसा कि कहा है 'चतुर्विधा भजन्ते माम्'—गीता, इसमें ज्ञानी भी भजन करते हैं, कहा है, ज्ञान मार्ग में भले अनियम्यता होवे, इसमें कौनसा दोष है ? जिसके उत्तर में कहा है कि 'मतदुष्टया' ब्रह्मवाद में यों मान लेना दोष पूर्ण है 'एष सर्वेश्वर एष लोकपाल एष भूताधिपतिः' इति, यह सबके ईश्वर हैं, यह लोकपाल हैं, यह भूतों के अधिपति हैं, यों सर्व उपनिषदों में भगवान् का ही नियामकत्व सुना जाता है, 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवि विधृते तिष्ठतः' इत्यादि श्रुतियों में स्पष्ट भगवान् का नियामकत्व दीखता है । हे गार्गी ! इस अक्षर की आज्ञा से ही पृथ्वी और आकाश धारण किए हुए खड़े हैं, 'सा च प्रशासनात्' इस ब्रह्मसूत्र में भी यह ही निर्णय किया है कि उनकी आज्ञा से धारण किए हैं अर्थात् भगवान् सबको अपने वश में रखते हैं जिससे वे ही नियामक हैं, इससे भगवान् का प्रशासन सब वादी मानते हैं, वह यदि जीव व्यापक होगा तो घटेगा नहीं, क्योंकि भगवन्मय न होने का प्रसङ्ग होगा, अतः जीव अणु नियम्य ही है, इति सिद्धान्तः ।।३०।।

कारिका—नियन्ता जीवसङ्घस्य हरिस्तेनाणवो मताः ।
जीवा न व्यापकाः क्वापि चिन्मया ज्ञानिनां मताः ।।१७।।३०।।

कारिकार्थ—जीवों के समूह को वश में रखने वाले हरि हैं, जिससे जीव अणु माने गए हैं, जीव कभी भी व्यापक नहीं है ज्ञानी भी उनको चिन्मय मानते हैं ।।१७।।३०।।

आभास—एवं भक्तिसिद्ध्यर्थं नियम्यनियामकभावो निरूपितः । तत्र हेतुश्च तन्मयत्वमुक्तम् । तेन यन्मयं यत् तत्तस्य नियम्यं भवतीति फलति । एवं सति देहादिसङ्घाताविष्टे जीवे जडांशस्य प्रकृतिमयत्वाच्चिदंशस्य पुरुषमयत्वाच्च प्रकृतिपुरुषनियम्यतैव युक्ता न पुरुषोत्तमनियम्यतेत्याशङ्क्य परिहरति न **घटत उद्धवः प्रकृतिपूरुषयोरजयोरि**ति ।

आभाषार्थ--इस प्रकार भक्ति की सिद्धि के लिए, नियम्य और नियामक भाव का निरूपण किया, जिसमें हेतु यह कहा कि जीव भगवन्मय है, यों कहने से यह सिद्ध होता है कि जो पदार्थ, यन्मय होता है वह उससे ही नियम्य रहता है, यों होने पर, देह, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण सहित जीव का जडांश प्रकृतिमय होने से और चैतन्यांश पुरुषमय होने से, प्रकृति पुरुष की ही नियम्यता उचित है, न कि पुरुषोत्तम की नियम्यता उचित है, इस शङ्का का 'न घटत उद्धवः' श्लोक से परिहार करते हैं—

श्लोक—**न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो-**
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ।।३१।।

श्लोकार्थ—अजन्मा प्रकृति पुरुष से उत्पत्ति का होना घटता नहीं है, जीव प्रकृति पुरुष के संयोग मात्र से उत्पन्न होते हैं। जैसे जल के बुदबुदे जलवायु के संयोग से बनते हैं; क्योंकि सबका कारण आप ही हैं, इससे आप में ही ये जीव विविध नाम गुणों के साथ लीन रहते हैं। जैसे नदियाँ समुद्र में और सर्व रस मधु में लीन होते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—तदात्मकता तदा घटते यद् यद्रूपेणाविर्भवितुमर्हति। जीवास्तु विस्फुलिङ्गन्यायेन भवन्तीति तदात्मकता युक्ता। सङ्घातस्तु न प्रकृत्यात्मकः नापि पुरुषात्मकः नाप्युभयात्मकः उभयोरप्यजत्वेन कार्यरूपाविर्भावाभावात्। तदाह न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयोरिति। तर्हि कथं सङ्घातोत्पत्तिरिति चेत् तत्राह उभययुजा भवन्त्यसुभृत इति। उभययुजा उभययोगेन प्रकृतिपुरुषसम्बन्धेनासुभृतः सङ्घाता देवतिर्यगादयो भवन्ति। ननु यत्केवलाभ्यां न जायते तत्तत्संयोगे सति कथं जायत इति तत्राह जलबुद्बुदवदिति। न केवलं जलेन वायुना वा बुद्बुदा जायन्ते उभययोगेन तु जायन्त इति तथा प्रकृतिपुरुषसंयोगेन सङ्घाता जायन्त इति न काप्यनुपपत्तिः। किमतो यद्येवम्। एवमेतदित्याह त्वयि त इम इति। असुभृतः इमे परिदृश्यमानाः सर्वे ततः कारणात्त्वय्येव। अयमभिप्रायः, अजयोः संयोगो नेष्यते। उभयोरप्यजत्वेन व्यापकत्वेन च क्रियावत्त्वाभावात् संयोगाभावः। तादृशयोः संयोगः अघटमानः सन् भगवद्रूपो वा भगवता वा सिद्धो भवति। अद्भुतकर्मा भगवानेव भवतीति, अतो भगवदात्मकतैव सर्वेषां सङ्घातानामतो भगवत्येव ते सर्वे पर्यवसिता भवन्ति नान्यत्रेति निर्णयः। किञ्च। विविधनामगुणैरिति। एकरूपाश्चेत्सङ्घाताः भवेयुः तदा कथञ्चित्प्रकृतिपुरुषात्मकतापि कल्प्येत तत्तु नास्ति। किञ्च विविधानि नामानि रूपाणि गुणाश्च परस्परविलक्षणाः सर्वेषां भवन्ति। अतस्तैर्ज्ञायते भगवत एव भवन्ति। अचिन्त्यशक्तिरनन्तमूर्तिश्च भगवानेवेति। नन्वर्वाचीनयोरपि प्रकृतिपुरुषयोः कथं नानन्तशक्तितेत्याशङ्क्याह परम इति। परम एव ते धर्मा नान्यस्येति सिद्धान्तादित्यर्थः। किञ्च। त एव तदात्मका भवन्ति ये यत्रैकतामापद्यन्ते यथा सर्वाः सरितः अर्णवे भवन्ति। अर्णवादेव मेघद्वारा उत्पद्यन्ते अर्णवे च प्रविशन्ति। ततोऽर्णवस्य जलात्मकस्य नद्योऽपि जलात्मिकास्तदात्मिका भवन्ति। न तु पर्वतात्मिका भूम्यात्मिका वा। अतः सच्चिदात्मका एते सच्चिदात्मके भगवति एव प्रतिष्ठिता भवितुमर्हन्ति नान्यत्रेत्यर्थः। ननु यदि भगवदात्मकं विश्वं भवेत्तर्हि भगवति विश्वं प्रतीयेत। यस्य यस्य भगवत्साक्षात्कारो भवति तस्य तस्यानुभवे विश्वस्फूर्तिः स्यात्। ततश्चानीक्षापि प्रसज्येतेति चेत् तत्राह मधुनि लिल्युरशेषरसा इति। यथा अशेषरसाः मधुनि लीना भवन्ति तथापि भिन्नतया न प्रतीयन्ते। अयममुकपुष्पस्य रसोऽयममुकपुष्पस्य रस इति, किन्त्वेकतामापन्ना मधुत्वेनैव प्रतीयन्ते तथा भगवत्यपि सर्वे सूक्ष्मरूपेण तिष्ठन्ति न तु भिन्नतया प्रतीयन्त इत्यर्थः॥

व्याख्यार्थ—जिस रूप से (वस्तु से) जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह पदार्थ उसका ही रूप होता है, जैसे मृत्तिका से घट उत्पन्न होता है तो वह मृत्तिकामय कहलाता है वैसे ही जीव, विस्फुलिंग न्याय से ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं अतः वे ब्रह्ममय हैं, इसलिए उनकी (जीवों की ब्रह्मात्मकता उचित ही है, देह आदि संघात तो प्रकृत्यात्मक नहीं है क्योंकि उसका प्रकृति उपादान कारण नहीं है, और पुरुषात्मक भी नहीं, कारण कि पुरुष भी उसका उपादान कारण नहीं है तथा वह संघात प्रकृति

पुरुषात्मक भी नहीं है जिसका हेतु है कि वे दोनों. संघात के उपादान कारण नहीं हैं, दोनों (प्रकृति पुरुष) अज हैं जिससे दोनों का कार्य रूप से आविर्भाव नहीं होता है, इससे कहा है कि 'न घटत उद्भव: प्रकृतिपुरुषयोरजयोरिति' यदि इन दोनों का कार्य रूप से आविर्भाव नहीं होता है तो संघात की उत्पत्ति कैसे होती है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'उभय युजा' प्रकृति पुरुष के संयोग से उसकी[1] उत्पत्ति होती है. परन्तु प्रकृति पुरुष उसके उपादान कारण नहीं हैं, जैसे धान्य की उत्पत्ति में भूमि और जल का संयोग एक प्रकार का साधारण निमित्त कारण है, न कि उपादान कारण है, उपादान कारण तो धान्य का बीज ही है, वैसे ही यहां भी संघात का मूल उपादान कारण ब्रह्म ही है. प्रकृति पुरुष का संयोग एक प्रकार का साधारण निमित्त कारण ही है ।

यदि संघात अकेले प्रकृति वा पुरुष से उत्पन्न नहीं हो सकता है तो दोनों के संयोग से कैसे उत्पन्न होंगे ? जिसके उत्तर कहते हैं कि 'जल बुद्बुदवत्' जैसे जल में बुद्बुदा केवल जलसे वा केवल वायु से उत्पन्न नहीं होता है बल्कि जल और वायु दोनों के संयोग से बुद्बुदों का जन्म होता है, वैसे ही यहां भी प्रकृति पुरुष के संयोग से संघात का जन्म होता है इसलिए यों मान लेने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं हैं अर्थात् उपपत्ति[2] है ।

प्रकृति से संघात नहीं बना, यों मान लेने से क्या सिद्ध हुआ ? जिसका उत्तर है कि इससे यह सिद्ध हुआ कि वह भगवद्रूप है, क्योंकि उसका उपादान कारण ब्रह्म है. कहता है कि वह यों है, 'त्वयित इमे' ये जो सर्व प्राणी जो दीख रहे हैं वे सब आप में ही हैं क्योंकि उनका उपादान कारण आप ही हैं, इस प्रकार कहने का भावार्थ यह है—प्रकृति और पुरुष दोनों अजन्मा हैं, व्यापक हैं, जिससे उनमें क्रियापन का अभाव रहता है, अत: उनका संयोग नहीं होता है तो फिर उनके संयोग से संघात की उत्पत्ति का कहना असंगत है, जिसका उत्तर देते हैं कि, ऐसे उन दोनों का संयोग बन नहीं सकता है, फिर भी वह हुआ, जिसका हेतु है कि, वह संयोग भगवद्रूप है अथवा भगवान् ने सिद्ध किया है, इस प्रकार के अद्भुत[3] कर्म करने वाले ही, भगवान् हैं अत: सब संघातों की भगवदात्मता है, जिससे वे सर्व संघात भगवान् में अवसान पाते हैं अर्थात् इनमें ही पूर्ण होते हैं, न ।१. दूसरे में यह ही निर्णय है ।

पुन: 'विविधनामगुणै:' पद से इसकी पुष्टि करते हैं कि यदि संघात एक ही प्रकार के नाम गुण वाले होते तो जैसे तैसे प्रकृति पुरुषात्मकता की कल्पना की जा सकती, किन्तु, यों नहीं है, बल्कि, प्रत्येक के नाम, रूप और गुण, विविध प्रकार के पृथक् पृथक् दीखते हैं अत: इनसे जाना जा सकता है, ये भगवान् से ही हुए हैं, कारण कि, अचिन्त्य शक्तिमान् और अनन्त मूर्ति वाले भगवान् ही है ।

अर्वाचीन होते हुए भी प्रकृति पुरुष में क्यों न अनन्त शक्तिता हो ? जिस पर कहते हैं कि 'परम' भगवान् सब से उत्कृष्ट हैं अत: उनमें अनन्त शक्तिपन और अनन्त मूर्तित्व आदि विविध विरुद्ध धर्म रहते हैं, अन्य किसी में नहीं, यों वेदादि शास्त्रों का सिद्धान्त है और विशेष कहते हैं कि,

---

[1] – संघात-देवतिर्यगादिकों की देह आदि, [2]—हेतु पूर्वक सिद्धि है. अर्थात् योग्यता है.

[3]—अज होते हुए भी कार्य रूप से अपना प्रादुर्भाव करना,

वे ही तद्रूप होते हैं जो जिसमें लीन होते हैं, जैसे सब नदियां समुद्र में लीन होती है, अतः वे नदियां समुद्र जलात्मक ही हैं, क्योंकि मेघों द्वारा समुद्र से ही लाए हुए जल से नदियां उत्पन्न होती हैं फिर, वह नदी जल समुद्र में ही लीन हो जाता है, इसलिए उनको अर्णवात्मक कहते हैं न कि भूम्यात्मिका वा पर्वतात्मिका कहते हैं. अतः ये, संघात भी, सच्चिदानन्दात्मक होने से सच्चिदानन्द रूप भगवान् में ही प्रतिष्ठित होने के योग्य बनते हैं, न कि दूसरे किसी स्थान पर।

यदि विश्व भगवदात्मक हो तो भगवान् में विश्व की ही प्रतीति होनी चाहिए, जिस जिसको भगवान् का साक्षात्कार होवे, उस उसके अनुभव में विश्व की स्फूर्ति होनी चाहिए, यदि यों होवे तो भगवान् को सृष्टि करने की इच्छा ही नहीं होवे. जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'मधुनि लिल्युरशेषरसाः' जैसे मधु (शहद) में सर्व पुष्पों के रस लीन हैं, वे भी भिन्न प्रतीत नहीं होते हैं, अर्थात् यह रस इस (गुलाब) पुष्प का है वा उस पुष्प (मोगरे आदि) का है इसकी प्रतीति नहीं होती है किन्तु एक पन को वे प्राप्त हो एक सम रस देते हैं, जिसको 'मधु' कहा जाता है, वैसे भगवान् में भी सब विश्व सूक्ष्म रूप से रहता है जिससे उनकी भिन्न प्रतीति नहीं होती है. अतः दर्शकों को विश्व रूप का अनुभव भगवत्स्वरूप में नहीं होता है. बल्कि उस आनन्दमय भगवान् का ही आनन्दानुभव होता है. विश्व भीतर लीन होने से लीलार्थ बाहर प्रकट करने की इच्छा होना स्वाभाविक और उचित ही है—यही तात्पर्यार्थ है—

कारिका—नामरूपप्रपञ्चं हि देवतिर्यङ्नरात्मकम्।
कृष्णादेव समुद्भूतं लीनं तत्रैव तन्मयम् ॥१८॥३१॥

कारिकार्थ—देव, जन्तु और मनुष्य रूप एवं नाम रूप सर्व जगत् कृष्ण से ही उत्पन्न हुआ है, तन्मय होने से उनमें ही लीन हो जाता हैं ॥१८॥३१॥

आभास–एवं नियम्यत्वाय भगवदात्मकता प्रत्येकसमुदायाभ्यां जीवसङ्घातयोर्निरूपिता। तेनावश्यं भजनीयत्वं निरूपितम्। एवं भजनीयत्वे ज्ञातेऽपि भजनार्थं प्रवृत्तावपि भक्त्युन्मुखान् कालश्चेद्भक्षयेत् तदा भजनं कथं सिद्ध्येदिति शङ्कां निराकर्तुमाह **नृषु तव माययेति**।

आभासार्थ—इसी तरह यह सिद्ध किया है कि जीव और सङ्घात दोनों अथवा प्रत्येक भगवद्रूप है, जिससे वे भगवान् के वश में रहते हैं, इसलिए जीवों को अपने नियामक भगवान् की भक्ति अवश्य करनी चाहिए, तदनुसार जीव भक्ति करने लगे, तो काल उनका भक्षण करे अर्थात् उनकी बुद्धि को बिगाड़ दे, तो भजन कैसे हो? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'नृषु तव मायया' श्लोक कहा है—

श्लोक—नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम्।

कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः
सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—ये मनुष्य आपकी माया के कारण ही आपको भूल जाते हैं, जिससे वे बार-बार नाना योनियों में भ्रमण करते हैं, यों जानकर जो बुद्धिमान हैं, वे श्रेष्ठ बुद्धि होने से आप में भाव अर्थात् रति करते हैं, उनको संसार का भय कैसे होगा? आपका भ्रुकुटि रूप काल तो उनको बार-बार भय उत्पन्न करता है, जिन्होंने आपकी शरण नहीं ली है ॥३२॥

सुबोधिनी– भगवान् सृष्ट्यादौ कालं मायां च सृष्टवान्। ये मायया मुग्धा भविष्यन्ति तान् कालो ग्रसिष्यति। ये तु लोकान् भगवन्मायाग्रस्तान् ततः कालेन ग्रस्तानालोक्य मायापगमे निस्तारे च भगवद्भजनमेव गतिरिति ये भगवन्तं सेवन्ते तेषां पुनर्मायामोहः सर्वथा न सङ्गच्छते। ततः कालग्रासाभावोऽपि सिद्धः। यदि कथञ्चिद्भक्तिमार्गे विषयाणां विद्यमानत्वात् कदाचिन्मोहः स्यादपि तदापि कालग्रासो न भवेत्। तत्र हेतुः कथमनुवर्ततां भवभयमिति। तत्रापि हेतुः यस्मात्कारणात्तवैव भ्रुकुटिः अभवच्छरणेषु भय सृजति। अतो भक्तिमार्गस्य सर्वथा कालनाशकत्वं मनुष्याधिकारित्वाच्छास्त्रस्य कर्माधिकारादन्येषां भोगदेहित्वात् मनुष्यशरीरानन्तरमेव पुनर्नानाविधयोनिसम्बन्धः। 'स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च' इति वाक्यात्। अतो नृणां भ्रममित्युक्तम्। अतो ये सुधियः स्वयमपि नरत्वं प्राप्ताः यदि प्रमत्ता भवेयुः तदा पुनः कालचक्रेण हीनत्वमुत्तमत्वं वा प्राप्ताः कृतार्था न भविष्याम इति निस्तारार्थं यतमानाः तादृशं गुरुमेव भजन्ते। स च गुरुर्भगवानेव भगवानेव वा गुरुः। शक्तिद्वयं तत्रैव ज्ञातमिति प्रवर्तकत्वं भजनीयत्वं च। ननु 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इति न्यायेन कालान्तरे तत्त्वं सिद्ध्यति। सोऽपि चेत्पुनरुत्पद्येत तदा को विशेष इति शङ्कायामाह अभव इति। भिन्नगुरुपक्षेऽपि भगवदीयत्वान्न तस्यापि भवः। ननु कियत्प्रभृति भगवद्भजनं कर्तव्यमिति चेत् तत्राह अनुप्रभवमिति। प्रकृष्टो भवो बुद्धिसहितं जन्म यदैव भगवति सद्बुद्धिर्भवति। तत आरभ्यैव भगवति भावः कर्तव्य इत्यर्थः। अनुवृत्तिश्च कर्तव्या। कालो हि बाह्यः न केवलमान्तरेण भावेन पीडातो निवर्तते अपि तु पीडयत्येव। अत एव ज्ञानिनामान्तरभक्तानां बहिर्मुखात् क्लेशः स च जडभरते वर्णितः। तेन क्लिष्टाः कदाचिन्मुग्धा अपि भवेयुरिति प्रथमत एव बाह्याप्यनुवृत्तिः कर्तव्या। एवं बाह्याभ्यन्तरभेदेनानुवर्तमानान् वस्तुतः सेवकभूतान् जीवान् कामात् सेवामकुर्वतः शिक्षार्थमेव दण्डं कुर्वाणः कालः कथं भयं तेषां कुर्यात् हन्याद्वा। कालस्य भ्रूरूपत्वं पूर्वं वर्णितम्। ननु कालेनाल्पो दण्डः कर्तव्यः ततो लौकिकभयवत्सोऽप्यल्पमिति कथं भजनं सिद्ध्येदित्याशङ्क्याह मुहुरिति। ननु कालो न दृश्यते दृष्टादेव हि लोका बिभ्यतीत्यत आह त्रिणेमिरिति सवत्सरात्मकः प्रत्यक्ष एव कालः। यस्य शीतातपवर्षाख्यास्त्रयो नेमयः तल्लोके प्रकटीकुर्वन् स्वपराक्रमं ज्ञापयतीत्यर्थः। न विद्यते भवान् शरणं येषां 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति शरणत्वेन न स्वीकृतवन्त इत्यर्थः॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने सृष्टि की उत्पत्ति करते हुए प्रथम काल और माया बनाई। काल उनको खा जायगा, जो माया के फंदे में फँसेंगे और जो मनुष्यों को भगवान् की माया में फँसने से

कालग्रस्त जानकर यह निश्चय समझते हैं कि, माया में न फँसने से काल का ग्रास न बनेंगे, इसलिए माया में न फँसने का मार्ग भगवान् का भजन ही है, अतः वे भगवान् का भजन ही करते हैं, उनको कभी भी माया से मोह सर्वथा नहीं होता है, उससे काल ग्रास का अभाव भी सिद्ध है, अर्थात् काल उनका भक्षण नहीं कर सकता है जिससे वे भक्त भ्रमण से बच जाते हैं।

जो कभी, भक्ति मार्ग में विषयों के विद्यमान होने से कभी मोह हो भी जावे, तो भी काल का ग्रास न बनना पड़ेगा, जिसमें कारण देते हैं कि 'कथमनुवर्ततां भव भयं' जो आपकी शरण ले भजन करते हैं उनको 'भव भय' जन्म मरण का भय कैसे होगा ? उसमें भी हेतु देते हैं कि 'तवैव भ्रुकुटिः अभवच्छरणेषु भयं सृजति' आपका भ्रुकुटि रूप काल उनको ही भय देता है जो आपकी शरण नहीं आए हैं, अतः भक्ति मार्ग, सर्वथा काल का नाशक है।

शास्त्र में कहे हुए कर्म करने का अधिकार मनुष्य शरीर को ही है, क्योंकि मनुष्य के सिवाय जो योनियां (देह) हैं वे भोग देह हैं उनको कर्म करने का अधिकार ही नहीं है, इससे ही मनुष्य शरीर के अनन्तर ही अनेक प्रकार की योनिओं से सम्बन्ध होता है, तात्पर्य यह है कि भोग योनियों में नियमित समय भोग भोगकर अन्त में क्रमशः फिर मनुष्य योनि मिलती है, उसमें कर्माधिकार प्राप्त होने से जीव जैसा २ कर्म करता है वैसी योनि प्राप्त करता है, जैसा कि कहा है 'स्वर्गापवर्गयोद्वारं तिरश्चां पुनरस्य च' मनुष्य देह ही, स्वर्ग, मोक्ष और पशु पक्षी तथा फिर मनुष्य देह प्राप्ति का द्वार है, इसलिए 'नृणां भ्रमं' मनुष्यों का ही भ्रमण होता है यों कहा है, अतः जो बुद्धिमान हैं एवं जिन्होंने मनुष्य देह प्राप्त की है, वे समझते हैं कि यदि इस मनुष्य देह को प्राप्त करके भी प्रमत्त (मतवाले, लापरवाह) बने रहेंगे और अपना कर्तव्य (भगवद्भजन) नहीं करेंगे तो फिर काल चक्र से हीनत्व आदि योनियों में जाने से कृतार्थ नहीं हो सकेंगे, इस झंझट से अपना निस्तार हो इसलिए गुरु की ही सेवा करते हैं, और वह गुरु ही अपने निस्तार करणार्थ भगवान् हैं, अथवा भगवान् ही गुरु हैं यों मान उनकी सेवा कर अपना निस्तार कराते हैं, कारण, कि प्रवृत्ति कराने की और भजन योग्य होने की दोनों शक्तियाँ उसमें ही जानी गई है।

'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' जो जिसमें जैसी श्रद्धा रखता है वह उसके लिए वैसा ही है, इस गीता वाक्य के अनुसार बहुत समय के बाद तद्रूपता (गुरु रूपता) प्राप्त होती है, वह (गुरु भी यदि फिर जन्म ले तब विशेष कौन हुआ ? यह शङ्का गुरु को भगवद्रूप न जानने से हुई है। जिसका उत्तर देते हैं कि, 'अभव' पद देकर समझाया है कि, गुरु भगवान् ही हैं अतः उनका जन्म होता ही नहीं है, यदि गुरु को भगवान् न माना जावे तो भी वह भगवदीय तो है ही, जिससे भी उसका जन्म नहीं होता है।

कब और कितने समय तक भजन करना चाहिए, इस पर कहते है कि 'अनुप्रभवं' जब से भगवान् में सद्बुद्धि उत्पन्न हो, उस समय से लेकर भगवान् में सदैव भाव (प्रेम) करते ही रहना चाहिए।

काल, बहिर्मुख है, अतः केवल आन्तरिक भाव होने से, पीड़ा से निर्वृत्त नहीं करता है, किन्तु पीड़ा देता ही रहता है, इससे ही ज्ञानी और आन्तर भक्ति वालों को बाहर ही महान्

क्लेश है,भीतर तो आनन्द ही है,जैसे जड़ भरत के प्रसंग में वर्णित है,उस दुःख से दुःखी होकर कदाचित् मोह को भी प्राप्त होवे अतः आरम्भ से भीतर की तरह बाहर भी भजन की अनुवृत्ति करनी चाहिए, इसी प्रकार बाह्य और भोतर दोनों प्रकार से भगवान् का अनुसरण करने वाले सच्चे सेवक, जो कामना से सेवा नहों करते हैं तो उनको शिक्षार्थ ही दंड करने वाला काल, उनको भव भय कैसे दे ? उनका भक्षण कैसे करे ? अर्थात् उनको काल न भव भय देता है और न भक्षण करता है, काल का भूरूपत्व पहले वर्णन किया है ।

काल अल्प दण्ड करे, जिससे लौकिक भय के समान वह अल्प दण्ड भी अल्प भय देने वाला होने से भजन की सिद्धि नहीं करा सकेगा, अर्थात् भजन में प्रवृत्ति नहीं कराएगा, इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'मुहुः' बार बार अर्थात् थोड़ी थोड़ी शिक्षा बार बार देकर स्मरण कराता है कि अरे मनुष्य ! भजन कर, काल तो देखने में नहीं आता है. जो देखने में आता है उससे ही लोक डरते हैं, इस पर कहते हैं कि 'त्रिणेमिरिति' तीन नेमी वाला काल है, १—शोत, २—आतप और ३—वर्षा, ये काल की तीन नेमियां है, वह काल संवत्सर रूप से प्रत्यक्ष है, और उन तीन नेमियों, ठंड, धूप और वर्षा से अपना पराक्रम प्रकट करता है, जिन मनुष्यों ने आपकी शरण नहीं ली है, उनको ही काल भय देता है, जैसा कि कहा है 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' जो मेरी शरण जिस प्रकार आते हैं मैं भी उनका वैसे ही भजन करता हूँ ॥३२॥

कारिका – नृणां दुर्गतिमालोक्य ये सेवन्ते दृढव्रताः ।
कृष्णं तद्भ्रुकुटिः कालो न तान् हन्ति कदाचन ॥१६॥३२॥

कारिकार्थ—जो लोग मनुष्यों की दुर्गति देख, निश्चयपूर्वक अनन्य होकर श्रीकृष्ण का भजन करते हैं उनको भगवान् कृष्ण का भ्रुकुटि रूप काल कभी हनन नहीं करता है ॥१६॥३२॥

आभास—एवं भजनमुपपाद्य योगादिना भजनं न कार्यसाधकम् । योगशेषत्वादिति स्वतन्त्रमेव भक्तिमार्गानुसारेण भजनं कर्तव्यमित्यभिप्रायेण योगपक्षं निन्दति विजितहृषीकवायुभिरिति ।

आभासार्थ – इस प्रकार प्रेमपूर्वक भजन करने का प्रतिपादन कर, योग आदि द्वारा जो भजन किया जाता है, उस भजन से कार्य की सिद्धि नहीं होती है; क्योंकि वह भजन योग का शेष है, अतः स्वतन्त्र भक्तिमार्गानुसार ही भक्ति करनी चाहिए । इस अभिप्राय से योग पक्ष को 'विजितहृषीकवायुभिः' श्लोक से गौण कहते हैं अर्थात् उससे वह फल नहीं मिलता है, जो स्वतन्त्र भक्ति से प्राप्त होता है ।

श्लोक — **विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं**
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥३३॥

श्लोकार्थ—जो मनुष्य इन्द्रिय और वायु को स्वाधीन कर अति चञ्चल और जो काबू में नहीं है, ऐसे मन रूप घोड़े को रोकने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे साधन करते-करते ही थक जाते हैं; क्योंकि उन साधनों में बहुत कष्ट है। हे अज! वे कष्ट पाते हुए क्यों थक जाते हैं? जिसका कारण यह है कि वे गुरु-चरणों का समाश्रय नहीं लेते हैं, जिससे वे सैकड़ों व्यसनों में ऐसे फँसे रहते हैं, जैसे व्यापारी बिना कर्णधार वाली नौका में बैठकर समुद्र में गोते खाते रहते हैं ।।३३।।

सुबोधिनी—पूर्वश्लोके गुरुद्वारा भजनं निरूपितम् । तदेव फलपर्यवसायि । योगस्तु सर्वथा न कस्यापि सेत्स्यति । स्वतः प्रवृत्तस्य मनसः प्रतिबन्धकत्वात् । मनो ह्यसत् भगवता लब्धशक्ति ईश्वरगुरुप्रसादयुक्तश्चेत् किं योगेन, साधनेनैव कृतार्थत्वसम्भवात् । अतो लौकिका इव योगिनोऽपि संसार एव परिभ्रमन्ति न कृतार्था भवन्तीति निरूप्यते । ननु योगमार्गः कथं कृत इति चेदुच्यते ॥

व्याख्यार्थ—पूर्व श्लोक में गुरु द्वारा भजन करना चाहिए, यह निरूपण किया। वह भजन हो फल देने वाला होता है, योग तो सर्वथा किसी से भी सिद्ध नहीं हो सकता है, कारण कि योग में स्वतः प्रवृत्त मन अर्थात् गुरु आश्रय बिना प्रवृत्त मन, उस (योग सिद्धि) में प्रतिबन्धक होता है, दूसरा कारण यह है कि मन असत् अर्थात् दोषपूर्ण चञ्चल है, जिससे वह स्वतः कुछ नहीं कर सकता है। यदि उस पर ईश्वर और गुरु की कृपा हो जावे, जिससे शक्ति प्राप्त हो, तब कार्य सिद्धि कर सके, यदि ईश्वर और गुरु-कृपा से शक्ति प्राप्त कर कार्य (फल) सिद्धि हो सकती है, तो फिर योग की क्या आवश्यकता है? साधन (भजन एवं ईश्वर तथा गुरु-कृपा) से ही कृतार्थता प्राप्त हो जाती है, अतः लौकिकों की तरह योगी भी संसार में ही परिभ्रमण करते हैं—कृतार्थ नहीं होते हैं, यों इस श्लोक में निरूपण किया जाता है।

जब यों है, तो योग मार्ग किस लिए? आचार्य श्री यह शङ्का स्वयं उत्पन्न कर उसका उत्तर निम्न कारिकाओं में देते हैं—

कारिका—अणिमादिसुखार्था ये ये चात्यन्तबहिर्मुखाः ।
क्लेशकार्यरता ये च तदर्थं योग उच्यते ।।१।।
परम्परासाधनं वा फलार्थं वा निरूपितः ।
योगः साक्षान्न मोक्षाय निषेधाद्व्याससूत्रतः ।
'एतेन योगः प्रत्युक्तः' प्रशंसार्था फलश्रुतिः ।।२।।

कारिकार्थ—जिनकी इच्छा है कि हम अणिमा आदि सिद्धियों के सुख का स्वाद लेवें और जो भगवान् से सर्वथा बहिर्मुख हैं एवं जो क्लेश कार्यों में सुख मानते हैं, ऐसों के लिए योग कहा है ॥१॥

अणिमादि सिद्धि के इच्छा वालों के लिए, यह योग परंपरा से साधन है, और सिद्धि रूप फल के लिए योग का निरूपण है, योग साक्षात् मोक्ष फल देने वाला नहीं है किन्तु उससे किञ्चित् सुख की प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि व्यासजी ने अपने ब्रह्म सूत्रों में योग से मोक्ष प्राप्ति का निषेध किया है, जैसे कि 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इससे योग का उत्तर दिया, इस सूत्र में मोक्ष की प्राप्ति का निषेध किया है ॥२॥

सुबोधिनी—अतः स्वतन्त्रयोगस्य निषेधार्थमिदमुच्यते। विशेषेण जितानि हृषीकाणीन्द्रियाणि वायुश्च यैः। अनेन प्रत्याहारपर्यन्तं सिद्ध्यतीति निरूपितम्। अन्यथा योगाङ्गेषु प्राथमिकेष्वसिद्ध्यमानेषु प्रवर्तमानस्य शङ्का स्यात्। अतो बोध्यते पञ्चाङ्गान्येव सेत्स्यन्ति नाधिकानीति बोधयति। मनसो निग्रहाशक्यत्वे हेतुमाह अदान्तेति। स्वभावत एव अदान्तम्। प्रतिनियतेन्द्रियपक्षे येषां मनः स्वभावतो दान्तं सात्त्विकप्रकृति तेषां योगः सिद्ध्येदपीति ज्ञापितम्। येषां त्वदान्तमेव मनः तदपि तुरगरूपम्। तस्मिन्नारूढो जीवो भवति मनोविलासाकाङ्क्षी तस्य त्वशक्य एव निग्रह इति ज्ञापितम्। स्वयं च इह लोकानुसारेणैव स्थितो यन्तुं वाञ्छति। ननु तुरगोऽपि कथञ्चिन्नियम्यते तद्वन्मनोनियमनमपि भविष्यतीति चेत् तत्राह अतिलोलमिति। प्रयत्नेन ग्रहीतुमेवाशक्यम्। ननूक्तं 'यतो यतो निःसरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्' इति चञ्चलस्यापि निग्रहे साधनमुक्तमिति चेत् तत्राह उपायखिद इति। उपाय एव खेदं प्राप्नुवन्ति। योगशास्त्रे ततः पूर्वं पञ्चाङ्गानि निरूपितानि। तान्येव मनसोऽतिचाञ्चल्ये साधयितुमशक्यानि। नहि विक्षिप्तमनस्यासनं सिद्ध्यति यमादिकं वा। अतः सर्वथाऽदान्ते योगारम्भ एव न कर्तव्यः। किञ्च। महता कालेन यमादिसाधनानुष्ठाने चित्तशुद्धौ सत्यां कदाचित्साधनान्तरं सिद्ध्येदपि तदपि नास्तीत्याह व्यसनशतान्विता इति। उत्पन्नस्य प्राणिनो विक्षिप्तमनसः प्रतिक्षणमनेकानि व्यसनानि भवन्ति। ननु प्रथमं व्यसननिराकरणाय साधनान्तरं कर्तव्यमिति चेत् तत्राह समपहाय गुरोश्चरणमिति। आदौ व्यसनापगमे गुरुरेवैकं साधनं 'एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या' इति वाक्यात् सम्यक् त्यागः साधनत्वेनापि। गुरुसेवायां तु तेनैव कृतार्थत्वाद् योगो व्यर्थ इति भावः। ततस्तेषामुभयभ्रंशमाह वणिज इवाज सन्तीति। सांयात्रिकाः कर्णधारमप्यकृत्वा जलधावेव सीद्यमाना भवन्ति। न तु कार्येऽप्यसिद्धे गृहमागच्छन्ति। जलधित्वात्तत्र महान् क्लेशः सूचितः। तथा योगे शरीरशोधनं कृत्वा स्थितः महान्तं क्लेशमेव प्राप्नोतीत्यर्थः॥

व्याख्यार्थ—इसलिए इस श्लोक में स्वतन्त्र योग से मोक्ष फल नहीं मिलता है यह कहा जाता है।

मन को वशीभूत करने के लिए, इन्द्रिय और वायु को प्रथम जीत लेते हैं, जिससे यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पांच अङ्ग सिद्ध होते हैं, विशेष नहीं, यदि ये पांच भी सिद्ध न होवे तो, योगाभ्यास से प्रवृत्ति करने वालों के मन में शङ्का उत्पन्न हो जावे, जिससे कोई भी योग में प्रवृत्त न होवे। मन वश में नहीं होता है, जिसका कारण कहते हैं कि 'अदान्त' मन, स्वभाव से ही ऐसा है जो, किसी के काबू में नहीं रहता है, यों कहकर यह सूचित किया है कि शास्त्रानुसार प्रत्येक जीव की इन्द्रियाँ और मन पृथक् पृथक् स्वभाव वाला है अर्थात् किसी का तामस, किसी का राजस और किसी का सात्विक है, अतः जिस जीव का मन सात्विक है वह

मन दान्त होता है, ऐसे जीवों का योग, सिद्ध भी हो जावे, और जो सात्विक नहीं उनका मन अदान्त होने से तुरंग (घोड़े) के समान है, ऐसे मन रूपी अश्व पर आरूढ (चढ कर। जीव विषयाभिलाषी होता है, जिससे उस जीव का वह मन रोकना अशक्य ही होता है, और स्वयं (खुद) तो इस जगत् में लोकानुसार से ही रह, वश करने के लिए इच्छा करता है, किन्तु जैसे तुरंग कभी वश भी हो जाता है, वैसे वह वश में नहीं आता है क्योंकि 'अति लोलं' तुरंग से भी विशेष असीम चञ्चल है, इससे प्रयत्न करते हुए भी वश में आना अशक्य है, यों आप कैसे कहते हो ? गीता 'यतो यतो निःसरितमनश्चञ्चलमस्थिरम्' श्लोक से चञ्चल मन को वश करने का साधन बताती है, इस पर कहते हैं कि गीतादि शास्त्र साधन बताते है यह सत्य है किन्तु 'उपायखिदः' उन साधनों के करने में ही खेद को प्राप्त होते हैं, इस कारण से ही योगशास्त्र में प्रथम पांच अङ्ग यम, नियम, आसन, प्रणायाम और प्रत्याहार, बताए हैं वे पांच साधन भी मन की अति चंचलता के कारण सिद्ध नहीं हो सकते हैं, जब तक मन विक्षेपों से युक्त है तब तक आसन वा यमादिक सिद्ध नहीं हो सकते हैं अतः मन सर्वथा अदान्त हो तब तक योग का आरम्भ ही नहीं करना चाहिए, यदि कहो कि शीघ्र न होगा विशेष समय लगेगा तो यों विशेष समय लगाकर यमादि साधनों का अनुष्ठान करने पर चित्त की शुद्धि हो जायगी ऐसा भी हो नहीं सकता है, क्योंकि 'व्यसन शतान्विता' प्राणी मात्र के विक्षिप्त मन में प्रति क्षण अनेक व्यसन उत्पन्न होते ही रहते हैं जिससे विशेष समय साधानानुष्ठान बन नहीं सकता है, यदि यों है तो प्रथम व्यसनों को निकालने के जो साधन हैं वे करने चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'समपहाय गुरोश्चरणं' योगाभ्यास करने वाले प्रथम तो गुरु चरणों का आश्रय त्याग, योग में प्रवृत्त होते हैं, इसलिए उनके व्यसन मिटते नहीं, अतः समझ लेना चाहिए कि, व्यसनादि के निराकरण के लिए और कार्य सिद्धचर्थ गुरु हो एक परमोत्तम साधन है, जैसे 'एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या' श्रीमद्भगवत के श्लोक में कहा है , तात्पर्य यह है, गुरुचरणाश्रय रूप भक्ति भो साधन समझकर नहीं करनी क्योंकि उस (गुरु सेवा) में हो कृतार्थता हो जाती है, अतः योग व्यर्थ है, कहने का यों भाव है. हे अज ! वे दोनों तरफ से भ्रष्ट हो जाते हैं अर्थात् गुरु शरण व भक्ति नहीं करते जिससे पूर्णानन्द की प्राप्ति नहीं पाते हैं और योग के क्लिष्ट साधनों से खेद पाकर आगे नहीं बढ सकते है, जिससे उनकी दशा बिना नाविक वाली नौका में बैठकर समुद्र में यात्रा (मुसाफरी) करने वाले बनियों की सी हो जाती है, अर्थात् वे बनिये कार्य सिद्ध न होने से घर को भी लौट नहीं सकते है तथा समुद्र होने से महान् क्लेश भोगते हैं, वैसे योगाभ्यास करते हुए शरीर को कृश करते हुए क्लेश को ही प्राप्त होते हैं-इत्यर्थ : यही सार है ।।३३।।

कारिका—अदान्ते मनसि ज्ञाते योगार्थं न यतेद्बुधः ।
गुरुसेवापरो भूत्वा भक्तिमेव सदाभ्यसेत् ।।२०।।३३।।

कारिकार्थ—मन, वश होने वाला नहीं है यों जानकर बुद्धिमान को योग के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए, किन्तु गुरु सेवा परायण होकर, सदा भक्ति ही करनी चाहिए ।।२०।।३३।।

आभास—एवं भजने प्रकारान्तरं निराकृत्य वैराग्यमोहापगमाभावे भक्तिर्न सेत्स्यतीति वैराग्यमुपदिशन्त्य आहुः **स्वजनसुतात्मेति** ।

आभासार्थ—भक्ति मार्ग के सिवाय जो भजन करने के नमूने हैं, उनका निराकरण कर, अब श्रुतियां कहती है कि मोह के नाश होने और वैराग्य के उदय हुए बिना भक्ति नहीं हो सकेगी, अतः 'स्वजन सुतात्म' श्लोक में वैराग्य का उपदेश देती हैं—

श्लोक—स्वजनसुतात्मदारधनधामधराऽसुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति कोन्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥३४॥

श्लोकार्थ—जब शरणागत पुरुष को सर्व रस रूप आप आत्म रूप से स्फुरित होते हैं, तब ऐसे आश्रित मनुष्यों को स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, गृह, धरा आदि प्राण रूप वाहकों से कौनसा प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं । इस प्रकार की जो सत् वस्तु है, उसको जो नहीं जानते हैं और विषय सुख के लिए स्त्री को साथ में लेकर जो फिरते रहते हैं, उनको स्वतः ही टूट-फूट गए और उत्तम सामग्री रहित गृह में कौन सुख देने वाले हैं ? ॥३४॥

सुबोधिनी—स्वजनानां प्रयोजनमावश्यक तदर्थं स्वजनानामपेक्षा कर्तव्यैय । अपेक्षापरित्यागस्तु स्वात्मस्थितिव्यतिरेकेण न भवति । अतो ज्ञानोत्तरमेव वैराग्यं स पक्षः प्रकृते नोपपद्यते । अतः प्रयोजनमङ्गीकृत्यैव साधनान्तरेण तत्सेत्स्यतीति पूर्वसिद्धसाधनान्येव निराकुर्वन्ति । यथाकथञ्चिल्लोकसिद्धसाधननिवृत्तौ प्रयोजनं भगवता क्रियमाणमलौकिकमेव भवतीति मुख्यतुल्यमेवैतदपि वैराग्यम् । स्वजनानामिह लोके उपयोगः । ऐहिकप्रतिष्ठादिस्तैरेव सिद्धयतीति । सुतस्य परलोकोपयोगः । आत्मनो देहस्य तु परलोकसाधककर्मकरणार्थमैहिकभोगार्थं चोपयोगः । दाराणां बाधककामनिवृत्त्यर्थं सुखार्थं चोपयोगः । ततो धनधामधराः धनगृहभूमयः सुखस्थितिनिर्वाहकाः । एत एव असवः प्राणभूताः । एतद्विघाते प्राणांस्त्यजन्तीति । अश्वरथैरिति वा पाठः । गतिसाधनान्येतानि सुखकरणानि । अष्टविधान्येतानि यावन्तं उपकारं करिष्यन्ति स सर्वोऽप्युपकारः कोटिगुणितो भगवता क्रियते । यदि सुखमेवापेक्षते तदा स्वयमेव सुखं प्रयच्छति । यदि साधनपुरःसरमपेक्ष्यते तदा ह्यलौकिकानि साधनान्यपि प्रयच्छतीति भावः । नृणामिति काममयत्वं विवेकवत्त्वं च प्रतिपादितम् । ननु कदाचिद्भगवान्न कुर्यात्तदा का गतिरिति चेत् तत्राह श्रयत आत्मनीति । यस्त्वाश्रयते तस्यात्मत्वेनैव प्रकाशते । यथा स्वस्य हितं स्वयं करोति तथा भगवानपि करोतीत्यर्थः । ननु विषयांश्चेद् भगवानपि दद्यात् तदोपस्थितपरित्यागे किं कारणमिति चेत् तत्राह सर्वरस इति । सर्वे रसाः कीर्त्यादयो भगवत्येव भवन्ति । एते च रसाः प्रकटा एव न तु मधुनीवाव्यक्ताः । ननु किमत्र युक्तं भगवति विद्यमाना रसाः किं भोक्तव्याः स्वसिद्धा वेति । तत्रावश्यकत्वाल्लाघवाद् भार्यादिभिः सहैव भगवद्भजनं कर्तव्यं न तु सर्वपरित्यागेनेति चेत् तत्राह इति सदजानतामिति । अत्र पूर्वोक्तौ न भगवान् स्वजनाश्च समतया निरूपिताः । किंत्वेते दुःखदाः भ्रमादेव सुखाभाससम्पादकाः । भगवांस्तु निर्दोषानन्दसम्पादक

इति । एवं वैलक्षण्ये ज्ञाते संदेह एव नोत्पद्यते । अतो वैलक्षण्यज्ञानार्थं सुतादीनां स्वरूपं निरूपयन्ति । इत्येवं प्रकारेण सत् परमार्थंतत्त्वं ये न जानन्ति स्वजनादेर्भगवतश्च तारतम्यम् । रतये च मिथुनतश्चरन्ति ग्राम्यसुखाय सर्वत्र मिथुनीभूय चरन्ति । यथा स्वोपवेशनार्थं कश्चित् स्थूलं मञ्चकं नयति पथिकः । तथेमे निमिषार्धमात्ररत्यर्थं सर्वथा शृङ्खलाबद्धा इव तया सह चरन्ति । एवमतिक्लिष्टानां को वा अर्थः सुखयेत् । नह्यत्यन्तपीडितं विषयाः सुखयन्ति । स्वजनानां तु सुखजनितवार्तापि दूरे । साधनान्तरेणापि भगवतापि तेषां सुखं न भवतीत्यर्थः । नु इति वितर्के । अस्माभिः सर्वमन्विष्टं तादृशस्य क्वापि न सुखदातोपलब्धः । किञ्च । कश्चित्सुखं दास्यतीति शङ्का न कर्तव्या । यतोऽस्मिन् जगति स्वत एव विहते पतितगृह इव विशीर्णे । तत्रापि निरस्तभगे उत्कृष्टपदार्थरहिते शून्ये अमेध्यादियुक्त इव को वा सुखदातापि तादृशे स्थाने सुखं ददातीत्यर्थः । अत्र परित्यागावस्था अधिकरणत्वेन विवक्षिता । जगत्पक्षेऽपि भगवत्सेवकः यत्र क्वचिदपि सेवमानो वैकुण्ठे एव सेवते । न तु जगतीति ज्ञातव्यम् ॥

व्याख्यार्थ—अपने आवश्यक प्रयोजन के वास्ते स्वसम्बन्धियों की अपेक्षा रहती ही है, उनकी अपेक्षा का परित्याग तब तक हो नहीं सकता है, जब तक अपनी आत्मस्वरूप में स्थिति न हो जावे, अतः ऐसे ज्ञान होने के अनन्तर ही वैराग्य हो, यह पक्ष चालू प्रसंग में उपयोगी नहीं है, अर्थात् भगवान् की भक्ति में तो प्रथम वैराग्य की आवश्यकता है, अतः प्रयोजन कौनसा है इसका निर्णय करके ही फिर वह प्रयोजन कौनसे साधन से सिद्ध होगा, यों जानना चाहिए, इसलिए श्रुति यह सिद्ध करती है कि जो पहले स्वजन आदि साधन प्राप्त हैं वे व्यर्थ हैं. प्रत्येक प्रकार के लोक में प्राप्त साधन नाशवान् हैं इससे उन नाशवान् साधनों से सिद्ध प्रयोजन भी लौकिक होने से नाशवान् होगा, वे लौकिक साधन जब निवृत्त हो जायंगे तब भगवान् के द्वारा प्राप्त प्रयोजन अलौकिक ही होगा, जिससे इस प्रकार हुआ वैराग्य भी मुख्य वैराग्य के समान ही है ।

स्वजनों का, इस लोक में उपयोग है, इस लोक की प्रतिष्ठा आदि उनसे ही सिद्ध होती है, पुत्र का परलोक के लिए उपयोग है, देह का तो परलोक के साधक कर्मों के करने के लिए तथा इस लोक के सुख भोगने के लिए उपयोग है, स्त्रियों का उपयोग, बाधक काम के कष्ट को मिटाने के लिए तथा सुख भोग के लिए है । धन, गृह तथा पृथ्वी इन तीनों का उपयोग सुख और स्थिति सहित निर्वाह के लिए है, ये सर्व साधन प्राण रूप बने हैं क्योंकि वे न होवें तो प्राण रहे ही नहीं. यदि 'असुरथैः' के स्थान पर 'अश्वरथैः' पाठ लिया जावे तो उसका अर्थ यों होगा कि ये कहे हुए साधन, गति और सुख के साधन है, इसलिए पहले कहे हुए सात अश्व रूप होने से गति के साधन हैं और आठवां रथ रूप होने से सुखदाता है, ये आठ ही मिलकर जितना उपकार करेंगे, उससे कोटि गुणा उपकार भगवान् करते हैं, यदि सुख की अपेक्षा है तो भगवान् सुख देते हैं और यदि सुख के साधनों की आवश्यकता है तो पहले अलौकिक साधनों का दान करते है. 'नृणां' पद देकर यह सूचित किया है कि इनमें कामना और विवेक दोनों हैं, यदि कदाचित् भगवान् यों सुख अथवा साधनों का दान न करें तो फिर कौनसी गति होगी ? इस शङ्का का परिहार करने के लिए कहते हैं कि 'अयत आत्मनि' उनका जो आश्रय करता है उसका आप आत्मा बन जाते हैं, जैसे आप अपना हित करता है वैसे ही भगवान् भी आत्मा बनने से हित करते हैं ।

यदि भगवान् भी विषयों को देवें तो फिर उपस्थित विषयों, के त्याग का क्या कारण है ? यदि यों कहो तो उत्तर यह है कि, 'सर्व रसे' सब कीर्ति आदि रस भगवान में ही हैं, और ये रस भगवान् में प्रकट ही है, मधु की तरह अव्यक्त नहीं है, इस विषय में क्या करना उचित है ? भगवान् में विद्यमान रसों का उपभोग करना चाहिए, अथवा अपने से प्राप्त रसों का भोग करना चाहिए ?

यदि कहो कि भजन करना आवश्यक है, इसलिए लाघवता[१] के वास्ते स्त्री आदि के साथ रहते हुए भी भगवद्भजन करना चाहिए, न कि, सबका त्याग कर भजन करना उचित है, इस पर कहते हैं कि 'इति सद जानतां' सत्य नहीं जाने वालों का यों कहना है, यहां जो पहले भजन के प्रकार कहे हैं उनमें भगवान् और स्वजनों की समानता नहीं बताई है, किन्तु स्वजन तो दु:ख देने वालों को जीव भ्रम से ही सुख देने वाले मान बैठा है, वास्तव में उनसे प्राप्त सुख नहीं है बल्कि सुखाभास है, भगवान् तो जो आनन्द देते हैं वह दोष रहित सदानन्द है, जब दोनों में इस प्रकार विलक्षणता का ज्ञान होता है, तब फिर संदेह उत्पन्न ही नहीं होता है, अतः विलक्षणता समझाने के लिए सुतादि के स्वरूप का निरूपण करते हैं, इस प्रकार जो परमार्थ तत्व को नहीं जानते हैं और भगवान् और स्वजन आदि का तारतम्य नहीं समझते हैं तथा ग्राम्य सुख के लिए सर्वत्र स्त्री के साथ घूमते रहते हैं, कैसे घूमते हैं ? वह बताते हैं कि जैसे कोई पथिक अपने बैठने के लिए लिया हुआ मञ्च[२] सिर पर धर के फिरता है,वैसे यह भी क्षण मात्र सुख के लिए शृङ्खला[३] में बन्धे हुए की तरह स्त्री के साथ फिरते रहते हैं, इसी तरह अतीव दु:खियों को कौनसा पदार्थ सुख देगा, अत्यन्त पीड़ित को कोई भी विषय, सुख नहीं दे सकते हैं, सगे सम्बन्धी सुख देंगे, ऐसी सुख जनित मात्र भी दूर है, अर्थात् स्वजनों से तो सुख की आशा करनी भी व्यर्थ है, जिनका सुख प्राप्ति के लिए अन्य साधनों पर आश्रय है उनको भगवान् भी सुख नहीं देते है, 'नु' यह पद वितर्क में दिया है, अर्थात् श्रुतियां कहती हैं कि हमने सर्वत्र जांच करली है, किन्तु कोई कहीं भी ऐसे पुरुष को सुख देने वाला नहीं मिला, कोई सुख देगा. ऐसी शङ्का (विचार) ही नहीं करनी, क्योंकि इस जगत् में टूटे फूटे, उत्तम पदार्थों से रहित शून्य और अभेध्य पदार्थ जिसमें पड़े हैं ऐसे घर में रहने वाले को सुख देने के लिए वहां नहीं जाता है, वैराग्य की अवस्था कहने का तात्पर्य यह है कि, भगवद्भक्त जगत् में रहकर भी यदि सेवा करता है तो उसके लिए जगत् भी वैकुण्ठ है, क्योंकि उसका वास स्थान वैराग्य होने से उसको सर्वत्र वैकुण्ठ ही दीखता है ।

कारिका—पुत्रादीन् संपरित्यज्य कृष्णः सेव्यो न तैः सह ।
तत्सुखं भगवान् दाता ते तु क्लिष्टेतिदु:खदाः ।।२१।।३४।।

कारिकार्थ– पुत्र आदि का त्याग[४] कर श्रीकृष्ण की सेवा करनी चाहिए, उनको सुख भगवान् देंगे । वे दु:ख के समय में विशेष पीड़ाकारक होते हैं ।।२१।।३४।।

१– सुविधा २– बड़ी खाट या चारपाई ३– सांकल या जञ्जीर

४– उनसे मोह-ममता निकालकर उनके पालन-सुख आदि की चिन्ता छोड़ दे और यों निश्चय रखे कि इनको भगवान् ही सुख देंगे ।

आभास—एवं सर्वपरित्यागेन भगवद्भजनं कर्तव्यमिति निरूपितम्। तत्र प्रथमं किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां क्रमं निरूपयन्त्य आहुः भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनानीति।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्व का त्याग कर भगवान् का भजन करना चाहिए, यों निरूपण किया। उस भजन में पहले क्या करना चाहिए? ऐसी आकांक्षा होने पर उनका क्रम निरूपण करती हुई श्रुतियाँ 'भुवि पुरुपुण्य' श्लोक कहती हैं—

श्लोक—भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदास्त
उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥३५॥

श्लोकार्थ—जिनका चरण जल पापों को नाश करने वाला है, भगवान् के ऐसे चरण-कमल जिनके हृदय में विराजमान हैं, ऐसे मद रहित ऋषि बड़े पुण्य वाले जो गङ्गा, कुरुक्षेत्रादि तीर्थ हैं, उनको और गुरुओं के गृहों को ही सेवते हैं, ऐसे जिन्होंने नित्य सुख रूप आप में एक बार भी मन लगा दिया है, वे फिर विवेकादि हरण करने वाले गृहों में कभी रहना नहीं चाहते हैं ॥३५॥

सुबोधिनी—आदौ भूमिसमाश्रयणं कर्तव्यम्। भूमिर्हि भगवच्चरणारविन्दरूपा। तत्र मञ्चकपादुकादिपरित्यागेन भूमावेव निरन्तरं तिष्ठेत्। अनेन सर्व एव भोगा व्यावर्तिताः। ततस्तीर्थाश्रयणं कर्तव्यं विशेषतश्चरणारविन्दस्फूर्त्यर्थम्। गङ्गा सर्वतीर्थानां मुख्या चरणारविन्द एव तिष्ठतीति गङ्गातीरे चरणारविन्दस्फूर्तिः आधिदैविकपक्षे आवेशपक्षे च स्फुटा। तत्रापि पुरुपुण्यानि तीर्थानि सेव्यानि कुरुक्षेत्रादीनि। न केवलं तान्येव तीर्थानि सेव्यानि किंतु गुरुरूपाण्यपीत्याह तीर्थसदनानीति। तीर्थानां गुरूणां सदनानि गृहाणि भुवि वर्तन्ते। अतस्तानि सेव्यानीत्यर्थः। ननु के ते इत्याकाङ्क्षायामाह ऋषय इति। ते हि मन्त्रद्रष्टारः। तदुद्धारकालौकिकप्रकारं जानन्ति अतस्तेषु गत्वा मन्त्राद्यलौकिकं भगवद्भजनसाधनं शिक्षणीयमित्यर्थः। ननु तेषु को विशेष इति चेत् तत्राह विमदा इति। मदो गर्वः येन स्वपरज्ञानं न भवति। अनेन ऋषीणामभिज्ञानमपि निरूपितम्। ननु केवलं मदाभावे सात्त्विकाः कर्मिणोऽपि सेव्या भवेयुः देवतान्तरोपासका वा तत्राह ते पुनः भवत्पदाम्बुजहृदो भवन्ति। तेषामन्तर्बहिर्माहात्म्यं निरूप्यते। अन्तस्तेषां हृदये भगवान् भवति भक्तिमार्गप्रकारेण बहिश्च ते भगवदाज्ञाकारिणो भवन्ति॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के भजन करने के उत्सुकों को पहले भूमि की शरण लेनी चाहिए; क्योंकि भूमि भगवान् की चरण रूपा है, अतः खाट पर न सोकर भूमि पर ही सोना चाहिए और पैरों में खड़ाऊ आदि भी नहीं पहननी चाहिए अर्थात् नंगे पांवों से अटन करना चाहिए, यों करने से सदैव भूमि से हो सम्बन्ध बना रहेगा और इससे यह भी सूचित किया कि सर्व पदार्थों के भोग का त्याग करो, पश्चात् भगवच्चरणारविन्द की विशेष स्फूर्ति होवे, इसलिए तीर्थों का आश्रय करना

उचित है। तीर्थों में मुख्य श्री गङ्गाजी है, कारण कि वह भगवान् के चरणारविन्द में बिराजती है, इसलिए गङ्गाजी के तट पर भगवच्चरणारविन्द की स्फूर्ति होती है। यह कार्य आधिदैविक[1] और आवेश[2] पक्ष दोनों में प्रकट है।

भूमि का आश्रय करते हुए भी विशेष में भूमि पर भी बहुत पुण्य वाले कुरुक्षेत्र आदि तीर्थ सेव्य हैं। वे केवल तीर्थ समझ कर सेव्य नहीं है, किन्तु वे गुरु रूप भी हैं, इसलिए भी सेव्य हैं। ये कुरुक्षेत्र आदि पृथ्वी पर गुरुओं के गृह हैं; क्योंकि वहाँ रहने से हृदय का अज्ञान नष्ट हो जाता है, जिससे भी वे अवश्य सेवनीय हैं अथवा जैसे तीर्थ सेव्य हैं, वैसे ही गुरुओं के गृह भी सेव्य हैं, वे भी पृथ्वी पर ही हैं। वे गुरु कौन हैं? जिस पर कहते हैं कि जो मन्त्रद्रष्टा हैं, वे ऋषि हैं। वे ऋषि मन्त्रों में जो उद्धार करने का अलौकिक प्रकार बताया गया है, उस प्रकार को जानते हैं, अतः उनके पास जाकर मन्त्रादि में कहा हुआ अलौकिक भगवद्भजन का साधन सीखना चाहिए।

उनमें कौनसी विशेषता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'विमदाः' वे अहङ्कार रहित होने से 'स्व' और 'पर' भेद से दूर हैं, जिससे वे ज्ञानी हैं। यह भी सूचित किया है कि यदि केवल मदाभाव ही उत्तमता का लक्षण है, तो सात्त्विक कर्म करने वाले अथवा अन्य देवों के उपासक हैं, वे भी सेव्य समझने चाहिए? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे केवल निरभिमानी ही नहीं, किन्तु वे उस गुण के साथ आप (प्रभु) के चरण-कमलों को हृदय में धारण करने वाले हैं, जिससे उनका भीतर और बाहर का माहात्म्य बताया है। भीतर उनके हृदय में भक्ति मार्ग के अनुसार भगवान् विराजते हैं और बाहर वे भगवान् की आज्ञानुसारी रहते हैं। आज्ञा पालन कैसे करते हैं? यह निम्न कारिका में कहते हैं—

कारिका—सर्वलोकोपकारार्थं कृष्णेन सहितास्तु ते।
परिभ्रमन्ति लोकानां निस्ताराय महाशयाः॥

कारिकार्थ—वे महाशय समस्त लोगों के उपकार करने के लिए और उनको मोक्ष देने के लिए श्रीकृष्ण के साथ परिभ्रमण करते हैं॥

सुबोधिनी—अत एव सर्वेषामघं भिनत्ति यदङ्घ्रिजलं तादृशं येषाम्। ततस्तच्चरणारविन्दजलेन पापक्षयः। तदुपदेशेन तद्धृदयस्थभगवच्चरणारविन्दं सङ्क्रामतीति सूचितम्। ननु तत्सेवायां कृतायां भगवति च हृदये निविष्टे यदि शीघ्रमेव देहपातो भवेत्तदा न काचिच्चिन्ता। यदि विलम्बः तदा कालादिना बुद्धिभ्रंशे पुनर्गृहासक्तिः स्यात् ततः कृतं सर्वं व्यर्थं भवेदित्या-

---

[1] गङ्गाजी के तट पर भक्ति से किसी काल में देवता, मूर्ति रूप से दर्शन देती है, यह प्रत्यक्ष दशन 'आधिदैविक पक्ष' है। भगीरथ को भक्ति से ही गङ्गाजी ने स्वरूप से दर्शन दिया था, वह आधिदैविक गङ्गा का स्वरूप भगवद्रूप है। —'लेखाशय'

[2] श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की रज बाहुल्य से "गङ्गाजल" 'श्रीकृष्णावेश' वाला है, जिससे वह तीर्थ कहलाता है, इसलिए श्लोक में 'तीर्थ' पद दो बार(१. पुरुपुण्य तीर्थ और २. तीर्थ सदनानि) लेना चाहिए। —'लेख'

शङ्क्याह दधति सकृन्मन इति। ये गुरूपदेशादिना त्वयि सकृदपि मनो दधति। यथा कामिनां स्त्रीविशेषे सकृच्चित्तं तत्सर्वथा अननुभूय न निवर्तते। तथा स्नेहे जाते भगवद्रसाभिनिवेशे यदा भगवति चित्तं भवति तादृशः कदाचिदपि गृहं न सेवते। अदृष्टपूर्वः सेवेतापि दृष्टपूर्वस्तु न सेवत एवेत्यर्थः। ननु तादृशः पूर्णार्थः गृहेऽपि समागतः भगवन्तं न त्यक्ष्यतीति गृहे समागते को दोष इति चेत् तत्राह पुरुषसारहरावसथानिति। विवेकधैर्यादिकं पूर्वावस्थां च सर्वमेव गृहा हरन्तीत्यर्थः॥

व्याख्यार्थ—अत एव पापों के नाशकारी अपने चरण जल से सबके पापों को धो डालते हैं; क्योंकि वे पाप क्षय करने का अलौकिक प्रकार जानते हैं और उनके उपदेश से उनके हृदय में स्थित भगवच्चरणारविन्द उपदेश्य के अन्तःकरण में आ जाते हैं—यह भी सूचित किया।

उन (ऋषियों) को सेवा करते हुए जब भगवान् हृदय में पधार जावें, अनन्तर यदि शीघ्र देह का पात हो जाय, तो कोई चिन्ता नहीं है।

कदाचित् देह-पात में बिलम्ब होने से काल आदि द्वारा बुद्धि का नाश हो जाय, तो गृहासक्ति हो जायगी, जिससे किया हुआ सर्व भजन वृथा हो जायगा ? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि जिन्होंने गुरु उपदेश से आप में एक बार भी मन लगा दिया है, जिससे आप में स्नेह हो गया है, स्नेहानन्तर आसक्ति हो गई है। आसक्ति होने से भगवान् में चित्त प्रवण हो गया है, वैसे फिर कभी भी गृह का आश्रय नहीं करते हैं। जैसे कामीजनों का यदि किसी स्त्री विशेष में एक बार भी चित्त आसक्त हो जाता है, तो वे कामी उस स्त्री से कामोपभोग का अनुभव किए बिना उसे नहीं छोड़ते हैं, वैसे ही भगवान् में जिनका मन एक बार भी आसक्त हो गया है, वे उनका त्याग कर गृह में आसक्त नहीं हो सकते हैं। जिन्होंने मन में कभी भगवान् का ध्यान नहीं किया है वा अनुभव नहीं किया है, वे कदाचित् घर का सेवन कर भो लें, किन्तु जिन्होंने प्रभु का आनन्द लिया है, वे कभी भी घर में रहना नहीं चाहते हैं।

जो भगवान् के रस को प्राप्त कर कृतार्थ हो गया है, वह यदि गृह में आकर भी भगवान् से प्रेम नहीं छोड़ता है। ऐसी अवस्था में गृह में आकर रहने में कौनसा दोष है ? इस पर कहते हैं कि 'गृह' विवेक-धैर्यादि जो भक्ति करने की अवस्था में सिद्ध हुए थे, उन सबको हर लेते हैं, अतः गृह में किसी भी अवस्था वाले को नहीं रहना चाहिए॥

कारिका—परिभ्रमन् तीर्थनिष्ठो गुरुलब्धहरिस्मृतिः।
न सेवते गृहान् दुष्टान् सद्धर्मात्यन्तनाशकान् ॥२२॥३५॥

कारिकार्थ--जो भक्त तीर्थों में निष्ठा वाला है वह सदैव पुण्य स्थानों में भ्रमण करता रहता है। गुरु से जिनको हरि की स्मृति का ज्ञान प्राप्त हो गया है, वैसा भक्त सद्धर्म का अत्यन्त नाश करने वाले दुष्ट गृहों का सेवन नहीं करता हैं ॥२२॥३५॥

आभास—एवं सर्वप्रकारैर्भगवद्भजनं निरूप्य सम्यग्मार्गानुसारेण स्थिरीकृत्य भजनीयनिर्द्धारार्थं यतमानाः सच्चिदानन्दो भगवान् भजनीय इति वक्तुं लोके सच्चिदानन्दा धर्मा एकत्र न सन्तीति किं वक्तव्यम्। प्रत्येकमपि क्वचिदपि धर्मा न सन्तीति

कथनार्थं षड्भिः श्लोकैः द्वाभ्यामेकैकस्य लोके जडे सत्त्वम् । चेतने चित्त्वं स्वर्गादावानन्दत्वं च नास्तीति निराकुर्वन्ति । तत्र प्रथमं द्वाभ्यां जगति सत्त्वं निराक्रियते अन्यथा भगवानेव सन्नित्यर्थो नोपपद्येत । भजनीयनिर्धारे गौणसत्त्वस्याप्रयोजकत्वात् । ज्ञानार्थं दोषाभावार्थं वा तदुपयोगः । असत्सेवया पूर्वं नाशो निरूपितः । सत्सेवया कृतार्थता च । यदि जगत्यपि सत्त्वं स्यात् तदा तत्रापि भजनं भवेत् । भजने वा दोषो न स्यादिति । तदवश्यं निराकर्तव्यम् । तत्र जगतः ये सत्त्वं वदन्ति तन्मतं वादमुद्रया निराकुर्वन्ति तत्रैवं संशयः ।

आभासार्थ –यों सर्व प्रकार से भगवान् का ही भजन करना चाहिए यह निरुपण किया और भक्तिमार्गानुसार उसको अच्छी तरह स्थिर किया, किसका भजन करना चाहिए ? इसका जो, निर्णय कराने का प्रयत्न करते हैं, उनके लिए कहते हैं कि 'सच्चिदानन्द भगवान्' ही सेव्य है, किन्तु लोक में सच्चिदानन्द धर्म, एक ही पदार्थ में कहीं भी नहीं दीखते हैं, इसलिए तो क्या कहें, किन्तु एक एक धर्म कहीं[1] भी दृष्टिगोचर नहीं होता है, जिसके लिए छ श्लोकों से स्पष्टता करते हैं, दो दो श्लोक से एक एक धर्म का वर्णन करते हैं,–जड़ में सत्व धर्म नहीं है अर्थात् जड़ में सत्त्व धर्म तिरोहित है जिससे वह[2] 'असत् 'कहलाता है, चेतन में (चित्पन) यानि चित्व धर्म नहीं है, अर्थात् ज्ञान स्वरूप जीव होते हुए भी उसका ज्ञान धर्म तिरोहित हो जाने से वह[3] अज्ञ कहलाता है, स्वर्ग आदि में आनन्दत्व नहीं है यानि 'धर्म रूप' आनन्द वहां[4] नहीं है, जिससे वहां भी ईर्षा आदि रहते हैं, अतः वे सेव्य नहीं है, इसलिए इनके[5] सत्व आदि का निराकरण करते हैं, प्रथम दो श्लोकों से जगत् में सत्व का निराकरण करते हैं, यों जगत् में सत्व का निराकरण न किया जाय तो भगवान् ही सत् हैं यह अर्थ सिद्ध न हो सके, जगत् में जो सत्व है वह गौण है, गौण सत्व भजनीय के निर्धार के लिए प्रयोजक नहीं है, उस गौण सत्व का, ज्ञान के लिए और दोषाभाव के लिए उपयोग है, यह पहले ही बताया गया है कि, असत् की सेवा से नाश होता है और सत् की सेवा से कार्य की सिद्धि होती है, यदि जगत् में भी पूर्ण मुख्य सत्व होवे तो वह (जगत्) भी सेव्य हो जाना चाहिए और उसके भजन में कोई दोष नहीं होना चाहिए, इसलिए जगत् का सत्व अवश्य निराकरण करना चाहिए, इस विषय में जो वादी जगत् में सत्व कहते हैं उनके मत का प्रश्नोत्तर[6] रीति से खंडन करना चाहिए, इस विषय में यों संशय है, जिसका वर्णन 'सत श्लोक में किया है ।

श्लोक—**सत इदमुत्थितं सदिति चेन्न नु तर्कहतं**
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥३६॥

---

[1] किसी पदार्थ में भी, [2] जड़, [3] जीव [4] स्वर्गादि में, [5] जड़, जीव और स्वर्गादि
[6] वादी-प्रतिवादी बनकर

श्लोकार्थ—यदि कहो कि यह जगत् सत् से उत्पन्न हुआ है, अतः 'सत्' है, तो यों (सत्) भी नहीं है; क्योंकि तर्क से यों सिद्ध नहीं हो सकता है और कहीं व्यभिचारी हो जाता है एवं किसी स्थल पर झूठा भी होता है, यदि कहो कि सद-सदात्मक जगत् है, तो वैसा भी नहीं है। यह कल्पना व्यवहार के लिए अन्ध परम्परा से मानी गई है। आपकी यह वेद-वाणी नानावृत्तियों से कर्मासक्तों को भ्रम में डालती है ॥३६॥

सुबोधिनी – यदस्य जगतः सत्त्वमुच्यते तत्किं प्रतीत्यनुरोधात् आहोस्विद्व्यवस्थापकं कारणमस्ति आहोस्वित्प्रमाणमस्तीत्याशङ्क्य निराकुर्वन्ति। प्रथमतः कारणवशादस्य सत्त्वमिति पक्षो निराक्रियते। तदा जगतः सत्त्वं अनुमानात्सेत्स्यति। तत्र पूर्वपक्षे अनुमानं इदं जगत्सदेव सत उत्पन्नत्वात्। यो यादृशादुत्पद्यते स तादृश एव भवति। यथा सुवर्णादुत्पन्नं कुण्डलं सुवर्णमेव भवति। तथा ब्रह्मणोऽप्युत्पन्नं जगत्सदेव। 'कथमसतः सज्जायेत' इति श्रुत्या सतः कारणत्वे कार्यमपि सदेव भवतीति निरूपितम्। तद्दूषयति इति चेन्नेति। दूषणे प्रमाणं दूषणं चाह। नु इति वितर्के। अनेन तर्कबाध उक्तः। यतः पूर्वपक्षिणापि व्याप्तिबलं प्राप्तेन तर्केणैव पदार्थो निर्णीयते तर्कः शङ्कावधिरिति तदेवाह तर्कहतमिति। अयमर्थः यज्जगति सत्त्वं साध्यते तत्किं कारणसत्त्वमेव कार्ये समायातीत्युच्यते ! आहोस्विदारम्भन्यायेन कार्ये सत्त्वान्तर जन्यते। तत्र नाद्यः पक्षः साधीयान्। यतस्तर्केण हन्यते। यदि कारणसत्त्व कार्ये समागच्छेत्। कारणमसत्स्य तु स्वनाशे आशङ्क्यमाने कार्यमपि न जनयेत्। अतः स्वसत्त्वनाशशङ्कया भगवान् जगदपि न कुर्यात्। नापि सत्त्वलक्षणो गुणः क्वचित्कारणे स्थितः कार्ये समागत इति आवयोः संप्रत्तिपत्तिरस्ति तस्माद्बहुतर्कपराहतत्वात् न कारणसत्त्वं कार्ये समायातीत्यर्थः। अथ द्वितीयः पक्षः सत्त्वान्तरमारभ्यत इति। तदप्यसत्। व्यभिचारित्वात् सतोऽप्यङ्गाद्वेनः असन्नेव जातः। न च वक्तव्यं तत्रासदंशः सङ्क्राते स्थित इति। तथा सति तावन्मात्रमेव कार्येऽप्यसत् स्यात् न तु स्वभावादिः अतिरिक्तोऽपि। ननु बीजे स एव संक्रान्त इति चेत्तर्हि ततः पृथोराविर्भावो न स्यात्। तस्मात्कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यात् न कारणसत्त्वेन नियमेन कार्ये सत्त्वमुत्पाद्यते ननु कारणमात्रं कार्ये सत्त्वमुत्पादयति किंतु समवायिकारणमेव। बीजं तु निमित्तकारणम्। तत्र योनिदोषात्स्वभावदोषाच्च स तथा जातः। बीजं तु गुणभूतमपि बलवता दोषेण तिरोहितम्। समवायिकारणं तु तत्तदवयवा भिन्ना एवेति न व्यभिचार इति चेत् तत्राह क्व च मृषेति। शुक्तिकातः भ्रान्तप्रतिपन्नं रजतमुत्पद्यते। शुक्तिकायाः सत्त्वेऽपि न तत्सत्यं भवति शुक्तिकाश्रयत्वात् तद्रजतस्य शुक्तिकैव समवायिकारणं तस्माद्व्यभिचारः सिद्धः। ननु न केवला शुक्तिस्तत्रोपादानं किंतु दोषसहिता। चाकचक्यादिदोषाद्विशेषादर्शनसहकृतात्तद्रजतं जायते। न तु केवलाश्रयात्। ननु तथापि एकांशेन रजत सत्यं स्यान् न तु सर्वथा असत्यं तदाह नेति। ननु सदंशो दोषवशात्तत्र तिरोहित इति चेत् तर्हि प्रकृतेऽपि तथा प्रतीयताम्। मनोदोषेण जगदन्यथा प्रतीयत इति। अन्यथा जगत् सच्चिदानन्दरूपेण कथं न भासते। किञ्च न केवलं ब्रह्मकारणवाद एव सर्वत्र वक्तव्यः किंतु प्रकृतिपुरुषकारणवादोऽपि अत उभययोगात् जगत् सदसदात्मकं न केवल सदित्यर्थः। एवं हेतुं स्वरूपासिद्ध्या व्यवहारेण च दूषयित्वा हेत्वन्तरमाशङ्क्य निराकुर्वन्ति व्यवहृतये विकल्प इषित

इति । इदं जगत् सत् सत्त्वेन प्रतीयमानत्वात् । ब्रह्मवदित्यनुमानं तदपि दूषयन्ति अयं विकल्पो विशिष्टकल्पना जगतः सत्त्वरूपा प्रातीतिकी न तु परमार्थरूपा व्यवहारमात्रत्वेनापि प्रतीतिसिद्धौ वास्तवसत्यत्वकल्पनायां प्रयोजनाभावात् । नन्वनादिरयं संसारः सर्वेषां चात्र सद्बुद्धिः अतो ज्ञायते सदेवेति तत्राह अन्धपरम्परयेति । अन्धपरम्परापि परम्परा न चात्र चक्षुष्मत्परम्परेति प्रमाणमस्ति । प्रत्युत महतां बुद्धचा असदेवेदमित्याभासते । ननु वेदानुरोधाज्जगतः सत्त्वमङ्गीक्रियते तत्राह भ्रमयति भारतीति । भारती वेदरूपा त्वदीया वाणी उक्थजडान् कर्मपरान् भ्रामयति । भ्रामणप्रकारस्तु द्वितीयस्कन्धे निरूपितः 'वेदोहि ब्रह्मगतमेव सर्वमाह लोकः परं भ्राम्यति जगद्गतम्' इति । क्रियासक्ताः पदार्थान् न विचारयन्तीति उक्थजडा उक्ताः ॥

व्याख्यार्थ—इस विषय में जो संशय है, वह कहते हैं, कि इस जगत् को जो आप सत् कहते हैं, वह अपनी प्रतीति के अनुसार कहते हो, वा उसका कोई निर्णायक कारण है अथवा इसमें कोई प्रमाण है ? इस प्रकार शङ्का कर, शङ्काओं का निराकरण करते हुए इस सिद्धान्त को असत् सिद्ध करते हैं—

इस जगत् के सत् में अनुमान कारण है, इस पक्ष का पहले निराकरण करते हैं, इसकी सत्त्व सिद्धि में अनुमान यह है कि यह 'सत्' से उत्पन्न हुआ है, इसलिए 'सत्' है क्योंकि जो पदार्थ जिससे उत्पन्न होता वह वैसा ही होता है, जैसे सुवर्ण से उत्पन्न कुण्डल सोना ही है, वैसे ब्रह्म से उत्पन्न जगत् 'सत्' ही है, और 'कथमसतःसज्जायेत' इस श्रुति में कहा है कि 'असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा ? अतः जब कारण सत् है तब कार्य भी सत् है, सत् कार्य असत् से उत्पन्न नहीं होगा ?

इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए, इसके विरुद्ध जो तर्क और प्रमाण है वे देते हैं, क्योंकि दूषण (तर्क) में दूषण (तर्क) ही प्रमाण कहा जाता है, 'नु' पद वितर्क में दिया है, इससे कहा है कि आपके कहे हुए पक्ष में तर्क का बाध है, अर्थात् वह तर्क से सिद्ध न होने से झूठा है, तर्क से ही शङ्का का निवारण होता है, इससे पूर्व पक्षी ने भी व्याप्ति बल वाले तर्क से ही अपने सिद्धान्त का निर्णय किया है, इसलिए ही हम भी पूर्व पक्षी का यह सिद्धान्त तर्क से खण्डन करते हैं, कारण कि कांटा कांटे से निकाला जाता है, वास्तव में तो शब्द प्रमाण से ही जो सिद्धान्त सिद्ध होता है वही सिद्धान्त, सिद्धान्त है यों हम मानते हैं ।

आप जगत् में जो सत्त्व सिद्ध करते हैं वह सत्त्व, जो कारण में है वह कार्य में आता है ? अथवा आरम्भ न्यायानुसार कार्य में अन्य सत्त्व उत्पन्न होता है, इन दोनों में पहला पक्ष अर्थात् कारण का सत्त्व कार्य में आता है वह युक्त नहीं है क्योंकि वह तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता है अतः झूठा है,जो कारण का सत्त्व कार्य में आता है यों माना जायगा तो कारण असत् हो जायगा, कारण रहेगा नहीं, इस प्रकार अपने नाश की आशङ्का होने से कारण, कार्य को ही उत्पन्न करना न चाहेगा, अतः अपने नाश होने की शङ्का से भगवान् जगत् भी न करें ।

यदि कहो कि जगत् तो प्रत्यक्ष 'सत्' दीखने में आ रहा है, तो तर्क की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं कि, कारण में रहा हुआ सत्त्व लक्षणवाला गुण, कार्य में आया है ऐसा ज्ञान, कभी

भी अपने को नहीं होता है, इससे बहुत तर्कों से असत् होने के कारण, कारण में रहा हुआ सत्त्व कार्य में नहीं आता है. अतः यह प्रथम पक्ष झूठा है ।

दूसरा पक्ष कार्य में दूसरा[1] सत्त्व उत्पन्न होता है यह भी झूठा है, क्योंकि व्यभिचारीपन[2] होने से सत् (श्रेष्ठ) अङ्ग राजा से असत् (दुष्ट) वेन उत्पन्न हुआ, यों भी नहीं कहना कि दुष्ट अंश संघात में था इसलिए वेन दुष्ट हुआ, यदि यों हो तो कार्य (देह) ही असत् (दोषयुक्त) हो न कि स्वभाव आदि भी दोषपूर्ण हो,

यदि कहो कि वीर्य में दोष था. यदि यों माना जावे तो दुष्ट वेन से पृथु का प्रादुर्भाव न होता, अतः कार्य कारण में विलक्षणता होने से. कारण से सत्त्व से कार्य में सत्त्व होगा ही यह नियम नहीं है,

कारण मात्र कार्य में सत्त्व उत्पन्न करते हैं यों हम नहीं कहते हैं किन्तु समवायि कारण ही सत्त्व उत्पन्न करता है, बोज तो निमित्त कारण है, इसलिए योनि दोष से वा स्वभाव दोष से वेन वैसा हुआ, बीज गुणवान् होते हुए भी योनि आदि के बलवान् दोषों से तिरोहित हो गया, अतः बीज का गुण वेन में न आया, यदि कहो कि समवायिकरण और उसके अवयव पृथक् पृथक् हैं इसलिए व्यभिचार नहीं इसपर कहते हैं कि 'क्वच मृषा' कहीं झूठा भी होता है, तात्पर्य यह है कि पूर्व पक्षो का व्यभिचार दोष यों भी मिट नहीं सकता है, इसकी सिद्धि के लिए दृष्टान्त देते हैं, सीपी से. भ्रान्त पुरुष की दृष्टि में रजत (चांदी) उत्पन्न होती है, सीपी सत्य होते हुए भी उत्पन्न कार्यरूप चांदो झूठी है, उस असत् रूप चांदी का आधार आश्रय सीपी है इसलिए 'सीपी' चांदी का समवायि कारण है, यों व्यभिचार सिद्ध होता है ।

सिद्धान्ती ने उपर्युक्त दूषण देकर व्यभिचार' सिद्ध किया, जिसका अब पूर्व पक्षी निराकरण कर अपने पक्ष का समर्थन करता है कि केवल सीपी, रजत का उपादान कारण नहीं है, किन्तु चाकचक्यादि दोष सहित सीपी उपादान है, अर्थात् सीपी और चाकचक्यादि दोष दोनों उपादान हैं, इसलिए केवल सीपी से चांदी उत्पन्न नहीं होती है, यों होने पर भी चांदो आधी सत्य होनी चाहिए. सर्वथा असत्य न मानी जावे. पूर्व पक्षी का यों आधा मत स्वीकार कर उसमें जो दोष होते हैं. वे दिखाते हैं, श्लोक में 'न तथा' पदों से कहा है कि यों आधा सत् आधा असत् अर्थात् जगत् में सत्त्व और असत्त्व के अंशों का भेद नहीं है, अतः समग्र झूठा है. यदि कहो कि सीपी में जो चांदी दिखती है उसमें सत् का अंश दोष के कारण तिरोहित हो गया है तो यहां प्रकृत विषयों में भी यों प्रतीति होती है, यह मान लेना चाहिए. अर्थात् जगत् में भी भगवदिच्छा से 'सत्' तिरोहित हो गया है जिससे वह भी असत् भासता है, इसलिए ऐसा कहा है |

जगत् जो 'सत्' भास रहा है वह केवल मन के दोषों के कारण यदि मन में दोष न होवे तो जगत् सच्चिदानन्द रूप से क्यों न भासने लगे ? और विशेष यह है कि जगत् का केवल ब्रह्म ही कारण है ऐसा ब्रह्मवाद, सर्वत्र नहीं कहना चाहिए, किन्तु प्रकृति और पुरुष भी जगत् के कारण हैं

---

[1] १– कारण का नहीं,

[2] २– यह हेत्वाभास होने से, जो सिद्ध करना है वह जिस हेतु से सिद्ध न होवे वह हेत्वाभास ।

यह वाद भी कहा गया है, इससे दोनों (प्रकृति-पुरुष) के संयोग से उत्पन्न यह जगत् सत् और असत् दोनों रूप हैं, व केवल सत् है, यों अर्थ है, यहां तक पूर्व पक्ष को मृषा सिद्ध किया है।

इस प्रकार दिए हुए हेतु को स्वरूप की असिद्धि और व्यवहार से दूषित है यों कहकर असत् सिद्ध किया है, अब 'व्यवहृतये विकल्प दूषित' इस पद से अन्य हेतु की आशङ्का कर उसका भी निराकरण करते हैं, जैसा कि यह कल्पना, व्यवहार चले, इसलिए की है, यह जगत् सत्य है, क्योंकि सत्यपन से प्रतीत हो रहा है, ब्रह्म की तरह. यह अनुमान देकर पूर्व पक्षी जगत् को सत्य सिद्ध करना चाहता है यह अनुमान भी दोष युक्त है यों सिद्ध करते हैं।

यह जो जगत् की सत्त्व रूप विशिष्ट कल्पना मन से की गई है वह प्रातीतिकी है, न कि परमार्थ रूपा है, जो कल्पना केवल व्यवहार के लिए प्रतीति हो रही है उस कल्पना को सत्य कल्पना मानने में कोई प्रयोजन नहीं है. सत् प्रतोत हो रहा है इससे वह पदार्थ सत् है यह हेतु मृषा (झूठ) है, क्योंकि सीपी में दीखती चांदी सत् दीखतो है किन्तु सत् नहीं है, इसी तरह मन से कल्पित पदार्थ परमार्थतः सत् नहीं है।

यह संसार अनादि है, इसमें सब की 'सत्' बुद्धि है, इससे जाना जाता है कि यह 'सत्' है, इसके उत्तर में कहा है कि 'अन्धपरंपरया' यह जगत् 'सत्' है, यह जिनको नेत्र[1] हैं उनकी परम्परा में नहीं है क्योंकि वे तो जगत् को असत् ही मानते हैं किन्तु जिनको नेत्र नहीं है उनकी परम्परा में जगत् 'सत्' है।

वेद शास्त्रों के वाक्यों से जगत् का सत्पन अङ्गीकार किया जाता है, इस पर कहते हैं कि 'भ्रमयति भारती' वेद रूप आपकी वाणी कर्म जड़ों को भ्रम में डालती है, किस प्रकार भ्रम में डालती है वह प्रकार द्वितीय स्कन्ध में कहा है. वेदवाणी, यज्ञीय पदार्थ मात्र हरिरूप[2] हैं वे सब ब्रह्म से सम्बन्ध वाले हैं यों कहती है जिसको न समझकर, लोक, लौकिक पदार्थों को ब्रह्म सम्बन्धी मान लेते हैं जिससे वे भ्रमते रहते हैं, कर्मिष्ठ क्रिया शक्ति में ही आसक्त होने से ज्ञान से दूर होने के कारण पदार्थों के स्वरूप का विचार नहीं करते हैं इस कारण से उनको 'कर्मजड़' कहा गया है ।।३६।।

कारिका—सद्बुद्धया सर्वथा सद्भिर्न सेव्यमखिलं जगत्
भ्रान्त्या सद्बुद्धिरत्रेति सन्तं कृष्णं भजेद्बुधः ।।२३।।३६।।

कारिकार्थ—यह जगत् सत् है, यों जानकर सत्पुरुषों को इसका सेवन नहीं करना चाहिए, जगत् में जो सत् बुद्धि हुई है, वह भ्रान्ति से हुई है, अतः सत् रूप श्रीकृष्ण का ही भजन करना चाहिए ।।२३।।३६।।

आभास—ननु जगतः सत्यत्वं मास्तु । तेन विशेषतः सेवमाना न सेविष्यन्ति । ये तु पुनः स्वभावतः सेवन्ते तेषां निषेधः केन वा सिद्धयेत् । सत्त्ववद् असत्त्वस्यापि

१- ज्ञान नेत्र, २- आचार्य श्री ने तत्वदीप के श्रीमद्भागवतार्थ प्रकरण में यों कहा है

जगत्यभावात् । यथा सत्त्वमस्य साधयितुं न शक्यं तथा असत्त्वमपि तैरेव हेतुभिः । तस्माज्जगत्सदसद्विलक्षणमेवास्तु ततस्तत्सेवायां न गुणो नापि दोषः । ततो जगत्परित्यागः कथं सिद्ध्येदित्याशङ्क्याह **न यदिदमग्र आसेति** ।

आभासार्थ—जगत् का सत्यपन भले न हो, इससे जो सत् समझ जगत् को भजते थे, वे उसका भजन छोड़ देंगे, किन्तु जो स्वभाव से उस (जगत्) को सेवते हैं। वे जगत् सत् है वा असत् है, इसका ध्यान नहीं रखते हैं। इनको कौन रोक सकेगा ? कारण कि जगत् में जैसे सत्त्व का अभाव है, वैसे ही असत्त्व का भी अभाव है। जैसे जगत् का सत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है, वैसे ही उन्हीं हेतुओं से असत्त्व भी सिद्ध नहीं कर सकते हैं। इस कारण से जगत् सत् और असत् दोनों से विलक्षण है, जिससे उसके आश्रय करने में जैसे गुण नहीं हैं, वैसे दोष भी नहीं हैं। ऐसी अवस्था में जगत् का त्याग कैसे सिद्ध होगा ? इस शङ्का के निवारण के लिए 'न यदिदम्' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-**
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥३७॥

श्लोकार्थ—जिससे यह जगत् सृष्टि से पहले नहीं था और प्रलय होने के बाद भी न रहेगा। केवल मध्य में एक रस आप में अनुमान से भास रहा है, अतः झूठा ही है। ऐसे मनो-विलासित जगत् को जो सत्य-ब्रह्मस्वरूप कहते हैं, वे मूर्ख हैं ॥३७॥

सुबोधिनी—यद्यसत्त्वसाधकमत्र न भवेत् तदैवं वक्तुं शक्येतापि । असत्त्वसाधकं तु वर्तते । इदं जगदसत् कादाचित्कत्वाद् यन्नैवं तन्नैवं यथा ब्रह्मेति । केवलव्यतिरेकी हेतुरस्तीति निरूपयति न यदिति । कादाचित्कत्वमेव निरूप्यते । यद्यस्मादिदं जगदग्रे सृष्टेः पूर्वं नास । न वा अतो निधनात्प्रलयानन्तरं च भविष्यति । अतो मध्ये कदाचिदेव जातं तेन ज्ञायते असदिति । यद्धि सत् तत्कालत्रयेऽपि भवति । नहि सत् कदाचिदसद्भवति अन्यथा कदाचिद्घटोऽपि पटः स्यात् तस्मादान्तरालिकत्वाद् असज् जगत् । नन्वनेन हेतुना सत्त्वाभाव एव सेत्स्यति न त्वसत्त्वम् । व्यतिरेकिणापि तदभाव एव साध्यते न तु धर्मान्तरमिति चेत् तत्राह अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषेति । इदं जगन्मृषैव भाति । तत्र हेतुस्त्वयीति । यद्धि यस्मिन् विद्यमाने अतिरिक्तं भासते तत्त्वेन तन्मिथ्येति सिद्धम् । यथा शुक्तिकायां रजतं तथा सर्वमिदं ब्रह्म श्रुत्या ब्रह्मविद्भिश्च निर्णीतम् । तथापि यदन्यथा भासते जगत्त्वेन तन्मृषैव भवितुमर्हतीत्यर्थः । हेत्वन्तरमप्याह अनुमितमन्तरेति । प्रत्यक्षे तु रजतं न दृश्यते इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य शुक्तिविषयत्वात् । नहि रजतेन सह सन्निकर्षोऽस्ति । सतोरेव संयोगात् । 'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्' इति प्रत्यक्षलक्षणम् । रजतं तु तदनन्तरं बुद्ध्या जन्यते विषयीक्रियते च । तत्र सा बुद्धिरेव करणम् । तेन ज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमानमिति रजतमनुमितिविषयो भवति । किञ्च । अन्तरा

विभाति। इन्द्रियार्थयोर्मध्ये भाति तन्मृषा। तथात्रापि प्रमातृचैतन्यब्रह्मचैतन्ययोर्मध्ये जगद्भातीति। यावदेतयोर्न सम्यक् परीक्षा तावत्प्रतिभासते। अतोऽन्तरैव विभाति। एतस्मिन्नुभयस्मिन् विचारिते तत्त्वमसीति वाक्ये अवगते पश्चात्सर्वत्र ब्रह्मैव भासते। किञ्च। एकरसे त्वयि यन्नानाप्रकारेण भाति तन्मृषैवेति ज्ञातव्यम्। यथैकस्मिन् चन्द्रे द्वैतप्रतीतिर्भ्रान्त्या। ननु तथाप्यसत्त्वं कथं सेत्स्यति नह्यसतः प्रतीतिरस्तीति चेदत आह अत उपमीयत इति। असत्सादृश्याज्जगदसदित्युपमीयते। यथा द्रविणजातिविकल्पमार्गैः पदार्था उपमीयन्ते यथा गोसदृशो गवय इति वाक्यं श्रुत्वा अरण्ये गवयं पश्यन् सादृश्यं वाक्यावगतं स्मृत्वा तद्गवये पश्यन् गवयोऽयं गोसदृशत्वादिति मन्यते। द्रविणानां गवादीनां या जातिः गोत्वादिस्तासां विकल्पोऽवान्तरभेदः स एवोपमाने मार्गः अन्यथा गौरित्येव प्रतीयेत। एतस्मादेव विशेषान्नानुमानविषयता। वह्निस्तु व्याप्त्यादौ सर्वत्रैकजातिरेव। सादृश्यज्ञानं तु भिन्नजातीयं ज्ञापयति। तथा ये असन्तो दृष्टाः ते विचारे क्रियमाणे न सम्भवन्तीत्येतद्धर्मसाम्याज्जगदप्यसदेवेति निश्चीयते। भानं तु शशशृङ्गस्यापि भवतीति नासत्त्वं निराकरोति। सत्त्वमपि भासते। असत्त्वमपि भासते। परं विचारसहिष्णुगुणयुक्तप्रमाणेन सद् भासते। विचारासहिष्णुदोषसहितकरणेन असदिति विशेषः। ननु वैदिकानां महतामपि जगति सद्बुद्धिः अन्यथास्यात्त्वे स्थैर्यभावाद् विश्रम्भेण सर्वे व्यवहारा न भवेयुः। तस्मात्सत्त्वं सदसद्विलक्षणत्वं वा वक्तव्यमिति चेत् तत्राह वितथमनोविलासमिति। इदं जगत्सर्वं वितथमेव मिथ्याभूतमेव यतो मनोविलासम्। यो हि जगति मनसा यद्यथा मन्यते तं प्रति तत्तथा प्रतिभाति, इष्टं द्विष्टं शुद्धमशुद्धमात्मीयं परकीयं चेति। नहि निसर्गतः जगति कश्चित्पदार्थः एवंभूतोऽस्ति यः सर्वान् प्रति प्रियो भवति। अतो मनोविलासकृतमेवैतदिति मनोरथवन्मिथ्याभूतमेव। एतादृशमपि ये सत्यमिति मन्यन्ते ते अबुधाः न पण्डिताः, विचाररहिता इत्यर्थः॥

व्याख्यार्थ—यदि जगत् को असत् सिद्ध करने वाला कारण न होवे तो, यों कह भी सकते, किन्तु यहां तो असत्त्व साधक हेतु मौजूद है, जैसे कि जगत्, नित्य न होने से असत् है, जगत् के असत्व में अनित्यता हेतु है, जो नित्य नहीं है वह असत् नहीं है, जैसे ब्रह्म, ब्रह्म नित्य होने से 'सत्' है यह केवल व्यतिरेकी[1] हेतु है, जिसका निरूपण करते हैं—

यत् यस्मात्, जिस कारण से यह जगत् सृष्टि से पहले नहीं था और लय होने के बाद भी न रहेगा, केवल मध्य में कुछ वक्त ही रहता है, इससे जाना जाता है कि, जगत् असत् है, क्योंकि सत् वह है जो, तीनों कालों में रहता है, अतः सत् कभी भी असत् नहीं होता है, यदि यों न होवे, सत् का रूप बदलता हो तो कभी घट भी पट हो जावे, केवल मध्य में होने से जगत् असत् है इस हेतु से तो सत्त्व का अभाव ही सिद्ध होगा न कि असत्व सिद्ध होगा, व्यतिरेक हेतु से भी सत्त्व का अभाव ही सिद्ध किया जाता है, न कि अन्य धर्म का होना सिद्ध होता है, यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि 'अनुमितमन्तरात्वयि विभाति मृषा' मध्य में अनुमान से बताया हुआ यह जगत् आपमें झूठा ही भासता है'। उसमें हेतु 'त्वयि' आप में यह पद है जो वास्तविक वस्तु है

---

[1] पृथ्वी अन्य से जुदे प्रकार की है क्योंकि गन्धवाली है, जो अन्य से जुदे प्रकार का नहीं है वह गन्धवाला भी नहीं है, इसको केवल व्यतिरेकी हेतु कहा जाता है।

उसमें यदि अन्य पदार्थ में भासे तो समझना चाहिए कि भासमान अन्य वस्तु झूठी है, जैसे सत्य सीपी में अन्य वस्तु चांदी भासती है वह झूठी ही है, सत्य तो सर्व, सीपी ही है. वैसे ही यह सब जो भास रहा है वह भी ब्रह्म ही है, भासित जगत् असत् है, यों ब्रह्मवेताओं ने श्रुति से निर्णय किया है ।

दूसरा हेतु कहते हैं 'अनुमित मन्तरा' मध्य में जो भासता है वह झूठा है क्योंकि वह अनुमान से कल्पित होता है, प्रत्यक्ष ही सत्य होता है, प्रत्यक्ष उसको कहा जाता है, जो सत् पदार्थ से इन्द्रिय का संयोग होकर ज्ञान उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान सत्य है, जैसे सीपी और इन्द्रिय का संनिकर्ष होने पर सत् ज्ञान होता है अर्थात् सीपी सत्य है, किन्तु उसके अनन्तर जो बुद्धि से जो ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् बुद्धि से उत्पन्न ज्ञान द्वारा जो पदार्थ जाना जाता है, वह पदार्थ अनुमित ज्ञान का विषय होने से सत् नहीं है, जैसे इन्द्रिय और सीपी के संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान के अनन्तर बुद्धि से चांदी का ज्ञान होता है, इसलिए रजत अनुमान का ही विषय है और आदि तथा अन्त में न होकर केवल इन्द्रिय और पदार्थ के मध्य में भासती है, जिससे वह चांदी झूठी है इसी तरह प्रमाता चैतन्य और ब्रह्म चैतन्य के मध्य में जगत् भास रहा है, इससे यह भी मिथ्या है, जब तक दोनों चैतन्यों का पूर्ण परीक्षा से ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक जगत् भासता है अतः मध्य में ही भासता है, इन दोनों चैतन्यों के विचार करने पर जब 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का सत्य ज्ञान हो जायगा बाद में सर्वत्रब्रह्म ही भासता है और विशेष यह है कि आप जो एक रस हो उस आपमें जो नाना प्रकार से यह जगत् भास रहा है वह झूठा है यों समझना चाहिए, जैसे एक चन्द्रमा में दो होने की प्रतीति भ्रान्ति से होती है, वैसे यह भी भ्रान्ति से भास रहा है ।

यों असत् हो, तो उसकी प्रतीति कैसे होती हैं ? जिस शङ्का का निवारण करने के लिए कहा है कि 'अत उपमीयत' असत् के समान है, अतः जगत् असत् हैं. यों उपमान से समझा जाता हैं । पदार्थों की जातियों में जो अवान्तर भेद है, उनसे पदार्थ पहचाने जाते हैं. अतः ऐसे पहचान कराने वाले कारण को उपमान[1] कहा जाता हैं । जैसे गौ के समान गवय है—यह वाक्य सुनकर वन में 'गवय' को देखते हुए कहने लगता है कि यह गौ के समान है, अतः गवय है । गौ आदि जातियों में गौपन आदि उनमें जो अवान्तर भेद है, वह ही उपमान में पहचानने का साधन है । यदि यों न होवे, तो गवय भी गौ हो प्रतीयमान होने लगे । इस ही विशेषता से अर्थात् भेद से यहाँ अनुमान न होकर उपमेय होता है । अग्नि तो व्याप्ति आदि सब स्थानों में एक ही है, किन्तु सादृश्यता दूसरे प्रकार का ज्ञान कराती है । इसी तरह जो पदार्थ झूठे देखे है, विचार करने पर निश्चय होता हैं कि ये सत् नहीं है, इसलिए उसी धर्म की समानता होने से जगत् भी असत् है. यों निश्चय किया जाता है । भान तो सत् और असत् दोनों का होता है । जैसे शशशृङ्ग[2] नहीं है, जिसका भी भान होता है, इससे शशशृङ्ग सत् है, यों सिद्ध नहीं होता है । सत् तथा असत् किसको कहा जाता है ? जिसे

---

[1] 'अनुमान और उपमान' दोनों कारण प्रमाण माने जाते हैं, इनमें इतना ही भेद है कि 'अनुमान' में वह पदार्थ एक ही है । जैसे रसोड़े में जो अग्नि है वैसी ही अग्नि पर्वत में है; किन्तु 'उपमान' में यों नहीं है, उसमें भेद है । जैसे गवय गौ जैसी है, केवल समानता हैं ।

[2] खरगोश के सींग होना ।

समझाते हैं कि सत् वह है, जो गुणों से युक्त हो अर्थात् गुण रूप करण ज्ञान होने में साधन हो और विचार से उसको माना जा सके तथा असत् वह है, जो दोष वाला हो अर्थात् दोष वाला करण ज्ञान होने में साधन हो और विचार से उसको मान्य न किया जावे।

वेदज्ञ बड़े-बड़े विद्वान् भी जगत् में सद्बुद्धि रखते हैं, यदि जगत् सत् न हो—असत् होवे, तो उसमें स्थिरता न रहेगी, जिससे विश्वास से सब कार्य न होने चाहिए अर्थात् न होंगे। इस कारण से जगत् को सत्त्व अथवा सद्सद्विलक्षण है, यों कहना चाहिए। यदि यों कहो, तो जिसका उत्तर यह हैं कि 'वितथ मनोविलास' यह सब जगत् झूठा ही है; क्योंकि मन का ही विलास है, जिससे ही जो जिसको मन से जैसा समझता है उसको वह वैसा ही प्रतीत होता है, मित्र, शत्रु, अपना वा पराया, शुद्ध वा अशुद्ध जैसा भी मन से समझता है उसके लिए वह वैसा ही हो जाता है, जगत् में स्वभाव से कोई पदाथ ऐसा नहीं है, जो सर्व को प्यारा होवे, अतः मन के विलास से ही यह सब किया हुवा होता है, इस कारण से, मनोरथ की तरह यह जगत् मिथ्याभूत ही है, ऐसे जगत् को भी जो सत्य मानते हैं, वे अबुध हैं, अर्थात् बिचारहीन है ॥३७।

कारिका—खपुष्पादिसमत्वाद्धि मिथ्याभूतं जगद्यतः।
अधिष्ठानाच्च सद्भानं तं कृष्णं नियतं भजेत् ॥२४॥३७॥

कारिकार्थ—आकाश के फूलों के समान जगत् असत् है, जिस अधिष्ठान से सत् भास रहा है, उस श्रीकृष्ण का नियमपूर्वक सदा ही भजन करना चाहिए ॥२४॥३७।

आभास—एवं द्वाभ्यां भजनार्थमन्यत्र सत्यत्वं निराकृत्य तत्त्वेन सत्यत्वे तदेव भजनीयमिति सदंशं विचार्य द्वाभ्यां चिदंशं विचारयन्ति **स यदजये**ति।

आभासार्थ—भजन के लिए भगवान् के सिवाय दूसरों में (जगत् में) सत्त्व नहीं है यह सिद्ध किया, जिससे वह (भगवान्) ही तत्त्व से सत्त्व होने से भजन करने योग्य है, इस प्रकार सदंश का विचार कर, अब निम्न दो श्लोकों से चिदंश का विचार करते हैं—

श्लोक—**स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्-**
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥३८॥

श्लोकार्थ—वह ही भगवद्रूप (जीव) जब भगवान् की माया में फँस जाने से अविद्या का अनुसरण करता है, तब जीव कहलाता है और उस (अविद्या) के गुणों का सेवन करने से उस (अविद्या) की समानता को प्राप्त होता है अर्थात् जड़ता को प्राप्त करता है, पश्चात् उस (जीव) में भगवद्रूप होने से जो ऐश्वर्य आदि भग हैं, वे

तिरोहित हो जाते हैं, जिससे वे मृत्यु को पाते हैं। आप तो उससे अन्य प्रकार फेंक अपने अणिमादि आठ ऐश्वर्य (भग) सहित पूर्ण तेजो रूप में विराजते हैं और जैसे सर्प त्वचा को फेंक देता है, वैसे ही आप भी मृत्यु को फेंक देते हैं। विशेष में आप तो वास्तविक असङ्ख्य भग अर्थात् गुण, यथा, यश, ज्ञान, वैराग्यादिवाले हैं॥३८॥

सुबोधिनी—चित्सेव्येति पक्षेऽपि भगवानेव सेव्यो न तु जीवाः। स्वरूपस्थितो हि सेव्यः जीवास्तु स्वरूपात् प्रच्युताः। तत्र हेतुमाह स एव भगवद्रूपोऽपि जीवः यदा यद्यस्मात्कारणाद्वा अजया भगवन्मायया कृत्वा, अजामविद्यां प्रकृतिं वा, अनुशयीत तामनुसृत्य जीवभावं प्राप्नुयात् तदा तस्या गुणान् जुषन् स्वानन्दं परित्यज्य जडेभ्यः आनन्दं प्राप्स्यामीति यदा जडानुभवं करोति तदा स्वयमपि स्वचैतन्यं परित्यज्य सरूपतां भजति जडभावं प्राप्नोतीत्यर्थः। एवमविद्यासम्बन्धादानन्दांशश्चिदंशोप्यपगच्छति केवलं जडतामापद्यते। जडस्योपास्यता पूर्वमेव निषिद्धा। ननु जडभावे को दोषः। रत्नादेर्महतोपि जडभावात् तत्राह तदनु मृत्युमपेतभग इति। कालोहि जडान् गुणान् क्षोभयति अन्नप्रायांश्च भक्षयति। तथा एनमपि कालो भक्षयतीति, तदनु जडतामनु मृत्युमपि प्राप्नोति। नाप्येतावद्वानिष्टम्। यथा राजा यावज्जीवं सुखं जीवति अन्ते मृत्युं प्राप्नोति। ततोप्यस्य जीवस्याधिकं दुःखमित्याह अपेता भगा ऐश्वर्या दभाग्यानि यस्य। एवं लोष्टप्रायो मृत्युग्रस्तश्च यो जातः स कथं सेव्यो भवेदित्यर्थः। ननु भगवतोपि मायासम्बन्धोस्ति 'मम माया दुरत्यया' इति वाक्यात्। ततः सोपि तथा भवेदित्याशङ्क्याह त्वमुत जहासि तामिति। त्वं तु तां मोहिकां जहासि 'जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः' इति श्रुतेः। इदमेव जीवाद्वैलक्षण्यम्। एतन्मूलकमन्यदाह आत्तभग इति। ऐश्वर्यादिभगाश्च स्वीकृता एव भवन्ति। नाशककारणाभावात्। ननु तया सह किर्मीरितः स्थितः तां चेत्त्यजेद् विशिष्टं तस्य स्वरूपमेवापगच्छेदिति कथं तां जह्यात्तत्राह अहिरिव त्वचमिति। सर्पाः कालेन कृत्वा जीर्यन्तो मन्यन्ते। ततः कसर्णीरस्तेषां मुख्यः काद्रवेयः कांश्चिन्मन्त्रान् भूमिर्भूम्ना इत्यादीन् दृष्ट्वा तैः सर्वे सर्पा जरातो विमोचिताः ततः सर्वे सर्पा जोर्णास्तनूरपघ्नत तथा भगवानपि सहजसम्बद्धामपि त्वग्रूपां अखण्ड एव स्वैश्वर्येण स्थितपूर्वावस्थः तां जहातीत्यर्थः। ननु सर्पाणां त्वक्परित्यागेपि न कोपि विशेषो जायते। तथा भगवतोपि मायाग्रहणपरित्यागावस्थयोः कोपि विशेषो न स्यात्। ततः परित्यागो व्यर्थ इति चेत् तत्राह महसि महोयस इति। महसि पूर्णे तेजोरूपे अष्टैश्वर्यसहिते महीयसे विराजसे। सत्यं तस्यां विद्यमानायामविद्यमानायां वा कोप्युपचयापचयो वा सर्वदैव स्वरूपानन्दे परमप्रकाशमाने अष्टैश्वर्ययुक्ते विराजस्येव तथापि लोकदृष्ट्या तत्सम्बन्धे दोषप्रतिभाने एतदुच्यते तां जहासीति। वस्तुतस्तु ताः सर्वा भगवत्येव वर्तन्ते न ताभिः कापि क्षतिः पृथग्भूतानामेव ताभिरनिष्टश्रवणात्। त्वं तु अपरिमेयभगः मातुं योग्या हि क्रियया निवर्त्यन्ते, अमेयास्तु क्रियाशक्त्यापि किं नष्टा भवेयुः। तस्मात्।

सर्वसद्गुणमाहात्म्यः सर्वदोषविवर्जितः।
भगवानेव सेव्यो हि न तु जीवाः कदाचन॥
इत्यर्थः।

व्याख्यार्थ—जगत् में सत्त्व नहीं अतः वह सेव्य नहीं किन्तु जीव जो चिदंश है उसमें सत्त्व भी है, अतः उसका भजन करना चाहिए, इस पक्ष में भी भगवान् ही सेव्य है, न कि जीव सेव्य है,

सेवा उसकी करनी चाहिए जो अपने स्वरूप में पूर्णतया स्थित होवे, जीव तो स्वरूप से गिरे हुए हैं अर्थात् अपना स्वरूप भूल बैठे है, उसको हेतु देकर स्पष्ट करते हैं कि, वह जीव भगवद्रूप होते हुए भी जब अथवा जिस कारण से, भगवान् की माया से अविद्या का अनुसरण करने लगा, तब जीव भाव को प्राप्त हुआ तब अविद्या के गुणों को ग्रहण कर, अपना आनन्द त्याग, जड़ों से आनन्द प्राप्त करूंगा यों विचार जब जड़ का अनुभव करने लगता है तब स्वयं भी अपना चैतन्य छोड़कर जड़ भाव को प्राप्त होता है, इस प्रकार अविद्या से सम्बन्ध होने के कारण आनन्दांश तथा चिदंश भी तिरोहित हो जाता है, केवल जड़ता को प्राप्त होता है अर्थात् देह धारण करता है, जड़ता की उपासना का प्रथम ही निषेध कर दिया है।

जड़ भाव में कौनसा दोष है ? महान् मूल्यवान रत्न आदि भी जड़ हैं, इस पर कहते हैं कि 'तदनु मृत्युमपेत भग' देह धारण करने के बाद भग से रहित होने से मृत्यु को प्राप्त करते हैं क्योंकि, काल जड़ गुणों में खलबली उत्पन्न करता है और पकाए हुए अन्न को जैसे सहज ही भक्षण करता है वैसे काल इसका भी भक्षण करता है, जड़ता प्राप्त करने के बाद मृत्यु को पाता है जैसे राजा जीवन पर्यन्त सुख भोगकर अन्त में मृत्यु पाता है, इतना ही अनिष्ट नहीं किन्तु उससे भी विशेष दुःख जीव को होता है,क्योंकि जीते हुए ही उसके ऐश्वर्यादि नष्ट हो जाते हैं जिससे मिट्टी-ढेले-समान और मृत्यु ग्रस्त जो जीव है, वह सेव्य कैसे बन सकता है ? 'मम माया दुरत्यया' इस गीता वाक्यानुसार भगवान् का भी माया से सम्बन्ध है, इससे वह (भगवान्) भी वैसे जीववत् मृत्युवत् होने चाहिए, ऐसी शङ्का पर कहते हैं कि 'त्वमुत जहासि ताम्' आप तो उसको फेंक देते हो,यों यह श्रुति कहती है, जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः' इति श्रुतिः' जन्म रहित अन्य (भगवान्) भुक्त भोगा इस माया का त्याग करते हैं, जीव से भगवान् में यह भी विलक्षणता है, ऐश्वर्यादि भग उसमें रहते हैं जिसने प्रकृति वा माया का त्याग किया है, क्योंकि ऐश्वर्यादि भग के रहने की जड़, प्रकृति व माया का त्याग है, भगवान् में ऐश्वर्यादि भग स्थित ही हैं, क्यौंकि उनके नाश करने वाला कोई कारण है ही नहीं।

भगवान् के साथ माया मिली हुई है, उसका यदि भगवान् त्याग करेंगे तो उनका स्वरूप ही चला जाय,इसलिए उसका त्याग कैसे करेंगे? जिसका उत्तर देते हैं कि'अहिरिव त्वच'जैसे सर्प कंचुली का त्याग करता है, काल ने सर्पों को वृद्ध बना दिया,यह देखकर सर्पों में मुख्य,कसर्णीर नामवाले सर्प ने 'भूमिर्भूम्ना' इत्यादि कितने ही मन्त्रों का दर्शन कर, अपनी कंचुली उतारकर मन्त्रों से सकल सर्पों को बुढापे से छुडाया, उस दिन से सब साँप जीर्ण तन अर्थात् कचुली का त्याग करते है, वैसे भगवान् भी स्वभावतः सम्बद्ध भी त्वग रूप माया को, अपने अखण्डैश्वर्य युंक्त स्वरूप में स्थित होते ही छोड़ देते हैं, जैसे कंचुली छोड़ देने पर सर्पों में कोई विशेष नहीं होता है, वैसे ही भगवान् में भी माया के त्याग और ग्रहण करने पर कुछ भी विशेषता नहीं होती है, अतः उसका परित्याग व्यर्थ ही है, यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि 'महसि महीयसे' आप अष्टैश्वर्य सहित पूर्ण तेजो रूप में विराजते हैं। आप माया को छोड़ते हैं, यह कहना केवल इसलिए है कि लोक दृष्टि से माया के सम्बन्ध होने के कारण दोष दीखते हैं, वास्तव में यों नहीं है, वास्तव में तो माया का सम्बन्ध होवे अथवा न होवे, भगवान् में उससे उपचय (लाभ वा वृद्धि) अपचय (हानि वा क्षीणता) कुछ नहीं होता हैं, सदैव परम प्रकाश वाले अष्टैश्वर्य युक्त स्वरूपानन्द में विराजते रहते हैं क्योंकि वास्तव में वे सर्वशक्तियाँ भगवान् में ही हैं,उनसे भगवान् की कोई क्षति नही होती है,जो पृथक होती

है उनसे ही अनिष्ट होना सुना जाता है. आप तो असीम भग वाले हैं. जिनमें सीमा वाला भग है उनकी ही क्रिया से हानि हो सकती है, जो असीम हैं उनका नाश क्रिया शक्ति कदापि नहीं कर सकती है, इस कारण से कहा है कि—सकल सद्गुणों वाला जिसका महात्म्य है, और जिसमें कोई दोष नहीं हैं वैसे भगवान् ही सेव्य हैं, जीव कभी भी सेव्य नहीं हैं।

कारिका—कालादितृणपर्यन्ता न सेव्या मुक्तिमिच्छता।
दोषत्याजनशक्तो हि सेव्यो दाता गुणस्य च ॥२५॥३८॥

कारिकार्थ—मुक्ति इच्छुक के लिए काल से लेकर तृण पर्यन्त कोई भी सेव्य नहीं हैं कारण कि दोष छुड़ाने की जिसमें शक्ति हो और गुणों के दाता हो वह भगवान् ही सेवा करने योग्य है ॥२५॥३८॥

आभास—ननु भगवत्सेवापेक्षया जीवभजनमेव मुख्यं जीवे भगवानप्यस्ति जीवोप्यस्ति अतः सांशो भगवांस्तत्र वर्तत इति तं परित्यज्य निरंशः केवलः कथं सेव्य इति चेत् तत्राहुः **यदि न समुद्धरन्तीति।**

आभासार्थ—भगवान् की सेवा से तो जीव भजन करना ही मुख्य है क्योंकि जीव में, भगवान् और जीव दोनों ही है, अतः अंश सहित भगवान् वहां (जीव में) हैं, उस सांश का त्याग कर केवल निरंश कैसे सेव्य हो सकता है ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर निम्न श्लोक में दिया जाता—

श्लोक—**यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा**
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-
न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः ॥३६॥

श्लोकार्थ—हृदय में विराजमान होने पर भी भगवान् को वे योगीजन कठिनता से वा दुःख से प्राप्त कर सकते हैं, जिन्होंने हृदय से काम रूप जटाओं को दूर नहीं फैंक दिया है, जो असत् जगत् में आसक्त हैं, उनको तो असल नहीं मिलता है—इसमें कहना ही क्या ? जैसे कण्ठ में पड़ी हुई मणि भी विस्मृत हो जाने से सुख तो नहीं देती है—प्रत्युत्त दुःख ही देती है, वैसे ही जो प्राणों के पोषणार्थ ही प्रयत्न करते हैं। उनको दोनों तरह के दुःख प्राप्त होते हैं—एक यम सहित काल भी उनको दुःख देता है, जिससे जीवन दशा में दुःख ही भोगते हैं, मरने के बाद भी आपकी प्राप्ति न होने से चिन्ता से घिर जाने से वे दुःखी होते हैं। इस प्रकार भगवान् से भी दुःख पाते हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—यत्रांशः प्रकटः भगवांश्च प्रकटः तत्र तथैव । अत एव पूर्वं पुरुषेष्वेव भगवदाराधनमुक्तम् । यत्र पुनः स्वरूपं जडतामापन्नं भगवांश्च सर्वथा न प्रकटः तत्र किं स्यात् । न हि काष्ठे वह्निरस्तीति शीतनिवृत्त्यर्थं होमार्थं वा काष्ठं सेव्यते । तस्मादप्रकटभगवत्स्वरूपाः सर्वथैव न सेव्याः । ननु कथं हृदि विद्यमानः स्वप्रकाशो भगवान् न प्रकाशते तत्राह यतयोऽपि यदि हृदि स्थिताः कामजटा न समुद्धरन्ति तर्हि तेषामपि दुरधिगमः । यथा निखातोपरि वृक्षेष्वारोपितेषु तदुन्मूलनव्यतिरेकेण यथा खाता उद्घाटयितुं न शक्यन्ते, एवमन्तःस्थितो भगवान् मायाजवनिकाच्छन्नः तदुपरि अविद्यया आच्छादितः ततो वासनाकामक्रोधादिवृक्षैः सर्वथा लुप्ताभिज्ञानः कथं दृश्येत । तत्राप्यसतां देहाभिमानिनाम् । ननु तथापि वस्तुसामर्थ्यात् तत्र भगवानस्तीति फलं भविष्यतीति चेत् तत्राह अस्मृतकण्ठमणिरिति । न स्मृतश्चासौ कण्ठमणिश्च तद्रूपो भगवानित्यर्थः । यथा कण्ठमणिः कण्ठे स्थितोपि तं न सुखयति प्रत्युत विस्मृत्या स्वरूपमात्रे स्मृते दु खमेव प्रयच्छति तथा भगवानपि तमेव न सुखयति तत्पूजकं कुतः सुखयेत् प्रत्युत यतीनां दुःखदोपि जातः । यथा विस्मृतमणेस्तदन्वेषणपरस्य दुःखं भवति तथा आत्मान्वेषणार्थं सर्वस्वपरित्यागं कृत्वा गतानां यतीनां परमदुःखदो भवति । एतदामरणान्तं परित्यागधर्मपरिपालकानाम् । ये तु पुनः बहिरात्मोपलम्भाभावाद् अतिदुःखसाधनैः क्लिष्टाः यथाकथञ्चित्प्राणपोषणं कुर्वन्ति ते ह्यसुतृपाः पूर्वं योगिनश्च । असुतर्पणार्थमेव योगिनो वा, कृतेन सर्वेणापि जीवनमेव सम्पादयन्तीत्यर्थः । तेषामुभयतोऽप्यसुखं तदुभयं निर्दिशन्ति अनपगतान्तकाद्भवतश्चेति । धर्मपरित्यागाद्यमसहितः कालोपि तेभ्यो दुःखं प्रयच्छति । नरकं मृत्युं च प्रयच्छतीत्यर्थः। अस्मृत्या भगवांश्च दुःखं प्रयच्छति । तेन जीवनदशायामपि दुःखम् । ननु भगवान् कथं दुःख प्रयच्छेत् । अप्राप्तः परं भवेदित्याशङ्क्याह अनधिरूढपदादिति । अनधिरूढं पदं यस्येति । भगवत्पदं तैर्नारूढमिति चिन्ताकुलाः क्लिश्यन्तीत्यर्थः ॥

व्याख्यार्थ—जहां अंश और भगवान् दोनों प्रकट हों वहां तो वैसे ही करना चाहिए अर्थात् सेवा करने में रुकावट नहीं है, इस कारण से पुरुषों में ही भजन कहा है, किन्तु जहां जीव स्वरूप जड़त्व को प्राप्त हो गया, भगवान् सर्वथा प्रकट नहीं वहां क्या करना चाहिए ?

काष्ठ में अग्नि है, इसलिए शीत निवारणार्थं अथवा होम के लिए काष्ठ नहीं लाया जाता है, इस दृष्टान्त से समझना चाहिए कि जिन पदार्थों में भगवत्स्वरूप प्रकट नहीं है वे सर्वथा सेव्य नहीं है ।

हृदय में विराजमान स्व प्रकाश भगवान् क्यों नहीं प्रकाशते हैं ? इस पर कहते हैं कि योगी वा सन्यासी भी हृदय में स्थित कामजटाओं को (वासनाओं को), जब तक निकालकर बाहर नही फेंक देते हैं तब तक उनको भी प्रकाश मिलना असम्भव है ।

पृथ्वी में गाड़ी हुई धनराशि पर वृक्ष उत्पन्न हो गए हों तो राशि को निकालने के लिए प्रथम उत्पन्न पेड़ों को समूल काटे बिना, गाड़े हुए धन नहीं निकाल सकते है, इसी प्रकार अन्तः स्थित भगवान् ने भी माया जवनिका (परदे) से अपने को छिपा दिया है, उसके ऊपर अविद्या से आच्छादित, और बाद में वासना, काम, क्रोध आदि वृक्षों के कारण उसका ज्ञान सर्वथा लोप हो गया है, ऐसी अवस्था में कैसे देखने में आवे ? जो स्वयं प्रकाश है, उसका प्रकाश अन्य कोई नहीं

करा सकता है किन्तु उसके प्रकाश के आगे रुकावट वाले पदार्थों को ही दूर करना पड़ता है जिससे स्वयं प्रकाश का प्रकाश स्वतः मिल जाता है. जैसे सूर्य का प्रकाश, बादलों से जब आच्छादित होता है तब दीखता नहीं है, वायु द्वारा बादल हट जाने पर उसका प्रकाश स्वतः मिल जाता है। भगवान् तो उससे भी विशेष आच्छादित हैं वे कैसे दर्शन देंगे ? उसमें भी फिर देहाभिमानियों को कैसे प्रकाशित होंगे।

यों होने पर भी, वहां भगवान् हैं, अतः वस्तु सामर्थ्य से सेवा करने पर फल तो मिलेगा ही, यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है, कि, 'अस्मृत कण्ठमणिः' जैसे कण्ठ में मणि पड़ी है, किन्तु मनुष्य समझता है कि मणि नहीं है, इस प्रकार की भूल करने वाले को कण्ठ स्थित मणि से सुख तो नहीं मिलता है प्रत्युत विस्मृति से जब उसके मन में स्मृति आती है तब दुःख होता है, इसी प्रकार भगवान भी विस्मृत होने पर उस जीव) को ही सुख नहीं देते हैं तो उस जीव) को पूजा करने वाले को कैसे सुख देंगे ? प्रत्युत सन्यासियों को तो दुःखद भी होते हैं, जैसे जो मणि को भूल गया है, फिर जब उसको ढूंढने के लिए निकलता है तब वह क्लेश को पाता है, उसी तरह आत्मा के अन्वेषणार्थ, सर्वस्व छोड़ कर, वन में जाकर, जो रहते हैं उन यतियों को तो भगवान् विशेष दुःखद होते है, क्योंकि जीवन पर्यन्त त्याग धर्म का पूर्ण पालन करना पड़ता है और जो फिर बाहर आत्मा का आश्रय न मिलने से क्लिष्ट साधन करने से जो दुःखी होकर, जैसे तैसे प्राणों का पोषण करते हैं, वे तो प्राणों के ही पोषक हैं, और पहले योगी थे. अथवा वे प्राण पोषणार्थ ही योगी होके, अपने सकल कृत्यों से जीवन ही सम्पादन करते हैं, अर्थात् देहादि भरण पोषण ही पूर्ण करते हैं, ऐसे योगियों को दोनों तरफ से दुःख प्राप्त होता है, वे दोनों प्रकार के दुःख कैसे मिलते हैं वह बताते हैं कि 'अनपगतान्तकाङ्कवतश्च' मृत्यु से छुटकारा न होने के कारण एक दुःख और दूसरा आपसे।

अपने सन्यास के धर्मों के परित्याग करने के कारण, यम सहित काल भी उनको दुःख देता है, नरक और मृत्यु देता है, भगवान् को भूल जाने से भगवान् दुःख देते हैं, इससे जीते जी भी दुःख मिलता रहा, मृत्यु के बाद भी भगवच्चरणारविन्द की प्राप्ति न होने से दुःख हुआ, भगवान् इस प्रकार दुःख देते हैं, कि, वे भगवान् के चरणारविन्द प्राप्त न होने की चिन्ता से व्याकुल होते हुए क्लेश पाते हैं ॥३६॥

कारिका—जीवेषु भगवानात्मा संछन्नस्तेन तत्र न।
भजनं सर्वथा कार्यं ततोऽन्यत्रैव पूजयेत् ॥२६॥३६॥

कारिकार्थ—भगवान् जीवों में पूर्ण रीति से छिपे हुए हैं. अतः जीव का भजन नहीं करना चाहिए, इस कारण से भगवान् का ही सर्वथा भजन करना चाहिए ॥२६॥३६॥

आभास – एवं चिदंशा न पूज्या इति निरूप्य लौकिका आनन्दा अपि न सेव्याः किंतु भगवदानन्द एव सेव्य इति निरूपयति द्वाभ्याम् **त्वदवगमीति**।

आभासार्थ—इस प्रकार चिदंश की सेवा नहीं करनी चाहिए यह निरूपण करके लौकिक आनन्द भी सेव्य नहीं हैं, किन्तु भगवान् ही सेव्य हैं, यों निम्न दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-
गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः ।
अनुयुगमन्वहं सगुणगीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥४०॥

श्लोकार्थ—जिसने आपके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह आपकी सेवा करते हुए जो सुख तथा दुःख होते हैं और गुण वा अवगुण होते हैं, उनको जानता ही नहीं एवं देहाभिमानियों द्वारा कही हुई निन्दा वाली वाणी आदि को भी नहीं जानता है; क्योंकि श्रवणेच्छु मनुष्यों ने मोक्ष देने वाले आपके गुणों वाले गीतों से प्रत्येक युग में तथा नित्य अपने कर्णों को भर दिया है, जिससे उनके कानों में सुख-दुःख, गुण-अवगुण और निन्दा आदि के सुनने के वा रहने के लिए स्थान ही नहीं है ॥४०॥

सुबोधिनी—स्वभावत एव स्मृत्यादिषु सर्व एव आनन्दा निषिद्धाः । यथेह साधारणस्त्रियो न सेव्यास्तथा अप्सरसोपि, यथात्र कालादिनियमव्यतिरेकेण भोगेषु भुज्यमानेषु सर्वश्रुतिस्मृतिविरोधो भवति एवं स्वर्गलोकेष्वपि ज्ञातव्यम् । यथात्रापकीर्तिस्तथा तत्रापि । अतः सर्व एव सुखानुभवो निषिद्धः । ततो निषिद्धाचरणे सर्वथा दुःखमिति सर्वमेव सुखं दुःखानुविद्धमतः कथं सेव्यं स्यात् । भगवदानन्दस्तु सर्वैः सेव्यः न तत्र पूर्वोक्ता दोषाः सम्भवन्ति यतोऽत्रैव भगवत्स्वरूपज्ञाने भोगादिनापि न दुःखनिन्दाचिन्तादयो भवन्ति तदाह त्वदवगमी त्वत्स्वरूपाभिज्ञः भवदुत्थशुभाशुभयोस्त्वन्निमित्तं प्राप्तसुखदुःखयोः यदि गुणविगुणान्वयान्न वेद । यथा परमस्निग्धे जारे तदर्थं क्लिष्टापि कामिनी न क्लेशं बुध्यते । यथा वा राजसेवकः कस्तूर्यादिना राजोद्वर्तने स्वयं लिप्तोपि न सुखं मन्यते । एवं भगवतो महावैभवं सह सेवकत्वेनानुभवं कुर्वन्नपि तत् सुखं न मन्यते । यथा सेवार्थं महदपि दुःखं प्राप्नुवन् तदपि न मन्यते यदि तदा विधिनिषेधचिन्तापकीर्त्यादिप्रतिपादकवाक्यान्यपि न प्राप्नोति । वस्तुतस्तानि वाक्यानि देहभृतां भवन्ति । अत इह लोक एव भगवत्सम्बन्धे तस्य सर्वोपद्रवनिवृत्तिरुक्ता । अन्यस्य तु साधारणेपि सुखदुःखानुभवे रागद्वेषयोर्जायमानत्वात् प्राणिनां संबन्धिविधिनिषेधवाक्यान्यपि तस्य भवन्तीति स्पष्ट एव भगवत्सम्बन्धे एव सुखं नान्यथेति स्पष्टम् । ननु कथं वा त्वदवगमी सुखदुःखयोः रागद्वेषौ न प्राप्नोति । कथं वा तस्यापकीर्त्यादिक न भवतीत्याशङ्कायामाहुः अनुयुगमन्वहमिति । मनुजैरनुयुगमन्वहं त्वं श्रवणभृतः यतस्त्वमपवर्गगतिः । अयमर्थः । भगवद्गुणानुश्रवणं नित्यं कर्म । देशकालविशेषनियमाभावात् । यत्कालोपाधिना प्रवर्तते तत्सर्वं काम्यं कर्मेति पूर्वमेवोक्तम् । अतो भगवतः गुणगीतपरम्परा गुणानां यानि गीतानि व्यासादिभिः कृतानि तेषां परम्परया तच्छ्रवणद्वारा भगवान् श्रवणे भृतः तेनान्य निषेधादिकं न शृणोति भगवतैव श्रवणस्य पूरितत्वात् नित्यकर्मणा भगवता च सर्वपापक्षयान् न दुःखजनकमपकीर्त्यादिकं प्राप्नोति । यतो भगवान् मोक्षद इति मोक्षस्तस्य सिद्ध एव सर्वदवायं धर्म इति न कालधर्मा बाधन्ते । भगवांश्च सुप्रसिद्धः भक्ति-

हितकर्ता । मनुजैः सर्वैरेव भगवान् धृत इति भगवत्सेवका भगवदैक्यं प्राप्ता इति न कोपि निन्दां करिष्यतीति । अतो भगवत्सेवक एव निर्दोषसुखभोक्ता न त्वन्य इति निरूपितम् ॥

व्याख्यार्थ—स्मृति आदि शास्त्रों से स्वभाव से ही सर्व प्रकार के आनन्द विषयावह) भोगने का निषेध है, जैसे इस लोक में साधारण स्त्रियां से भोग का निषेध है, वैसे ही स्वर्ग में अप्सराओं से भी भोग करने का निषेध है, जैसे इस लोक में भोग भोगने के जो शास्त्र में नियम हैं उनके विपरीत काल आदि में भोग भोगे जावें तो वह कार्य सर्व श्रुति स्मृति से विरुद्ध माना जाता है, वैसे ही स्वर्ग लोक में भी समझना चाहिए । जैसे शास्त्र विरुद्ध भोग भोगने से यहां भूलोक में निन्दा होती है, वैसे ही स्वर्ग में भी होती है, अतः सर्व सुखों के भोग भोगने का निषेध है, निषिद्ध आचरण करने पर सर्वथा दुःख होता है, जिससे अनुभव होता है कि सर्व ही सुख दुःख से युक्त हैं इस कारण से वैसा सुख कैसे लिया जाया जाय, जिससे अन्त में दुःख प्राप्त होवे ?

भगवदानन्द तो सबको ही लेना चाहिए, क्योंकि उसमें ऊपर कहे हुए दोष नहीं है कारण यहां ही देख लीजिए, कि भगवत् स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भगवदानन्द का भोग भोगने से भी चिन्ता, दुःख, निन्दा आदि का अनुभव हो नहीं होता है । जिसको 'त्वदवगमी' और 'भवदुत्थ-शुभाशुभयोर्गुणविगुणान्वयान् न वेति' पदों से कहा है कि आपके स्वरूप को जानने वाला आपके निमित्त जो सुख और दुःख तथा गुण और अवगुण का सम्बन्ध होता है, उनको जानता ही नहीं है । जैसे कामिनी अपने परम प्यारे जार के कारण कितना भी कष्ट पाती है, तो उसको कष्ट नहीं समझती है एवं राजा का सेवक जब कस्तूरी आदि का राजा को उबटन करता है, तब उससे स्वयं लिप्त होने पर भी सुख नहीं मानता है; इसी प्रकार भगवान् के सेवक भी भगवान् के सेवक होने के नाते उनके यहाँ वैभव के आनन्द का अनुभव करते हुए भी वह सुख अपना नहीं मानते हैं, किन्तु प्रभु को ही इससे सुख हो रहा है, यों समझते हैं । ऐसे ही सेवार्थ अर्थात् सेवा करते हुए कितना भी कष्ट होता हो, तो उसको कष्ट नहीं समझते हैं—तो शास्त्र के विधि निषेध चिन्ता, अपकीर्ति आदि प्रतिपादक वाक्यों की भी परवाह नहीं करते हैं; क्योंकि वे भगवदानन्द में ही मत्त हैं । वास्तव में ये विधि निषेध आदि वचन देहासक्तों के लिए ही है, न कि भगवद्भावमान भक्तों के वास्ते हैं । अतः इस लोक में ही भगवान् से सम्बन्ध होने पर भक्त के सर्व उपद्रव निवृत्त हो जाते हैं, जो भगवद्भक्त नहीं है, उनको तो साधारण सुख-दुःख का अनुभव होता है, तो राग और द्वेष उत्पन्न हो जाता है, जिससे ऐसे प्राणियों के लिए ही विधि निषेध हैं, इसलिए भगवद्-सम्बन्ध होने पर ही सुख प्राप्त होता है—अन्यथा नहीं । यह स्पष्ट है ।

आपके स्वरूप को जानने वाला सुख-दुःख और उनसे उत्पन्न राग-द्वेष नहीं पाता है और उसकी अपकीर्ति आदि भी नहीं होती है, यों आप कैसे कहते हो ? जिसका कारण इस श्लोक के उत्तरार्ध से बताते हैं कि 'अनुयुगमन्वहं मनुजैः' उन भक्तों का भगवान् के गुणों का श्रवण करना ही नित्य कर्म है । गुणगान श्रवण के लिए देश काल का कोई विशेष नियम नहीं है । जिस कर्म को करने के लिए काल की नियम रूप उपाधि है, वे सब कर्म काम्य हैं, यों पहले ही सिद्ध किया है, अतः व्यासादि ऋषियों ने जो भगवान् के गुण कहे हैं, वे परम्परा से उनके श्रवण द्वारा कानों में भगवान् को विराजमान कर रखा हैं, जिससे दूसरे किसी विषय के रहने का उन कानों में स्थान ही नहीं है, अतः अन्य निषेध आदि सुन ही नहीं सकते हैं । भगवान् से कर्ण भर जाने से नित्य

भगवत्स्मरण और श्रवण ने एवं भगवान् ने सब पाप नाश कर दिए हैं, इससे दुःख देने वाली अपकीर्ति आदि कुछ भी उस सेवक के लिए नहीं होते हैं, क्योंकि भगवान् मुक्तिदाता हैं इसलिए उसका मोक्ष तो सिद्ध ही है, भगवद्गुणगान और स्मरण सर्वदा ही होने से काल धर्म सेवक को बाधा नहीं करते है, यह तो अच्छी तरह प्रसिद्ध है कि, भगवान् भक्तों के हितकारी हैं, सर्व मनुष्यों ने, भगवान् को श्रवण आदि से अपना लिया है, भगवत्सेवकों ने भगवान् से एक्य कर लिया है, इसलिए कोई भी सच्चे सेवक की किसी प्रकार निन्दा नहीं करेगा अतः भगवान् का सेवक ही, दोष रहित जो सुख (भगवदानन्द) है उसका भोक्ता है न कि कोई दूसरा यों निरूपण किया है

कारिका—सुखसेवापरो यस्तु स आनन्दं हरिं भजेत् ।
अन्यथा सुखसंप्रेप्सुः सर्वथा दुःखमाप्नुयात् ।।२७।।४०।।

कारिकार्थ—जिसको सुख और भगवत्सेवा की लालसा हो, उसको आनन्दरूप हरि का भजन करना चाहिए, जो सेवा के सिवाय अन्य उपाय से सुख चाहता है वह सर्वथा दुःख को ही पाता है ।।२७।।४०।।

आभास—किञ्च । तदेव सुखं सेव्यं यन्नश्वरं न भवति । सुतरां देशकालपरिच्छिन्नं न सेव्यमिति वक्तुं भगवदानन्दस्य देशकालापरिच्छेदमाह **द्युपतय एव ते न ययुरिति ।**

आभासार्थ—जो नाशवान न होवे, वह ही आनन्दपूर्वक सेव्य है, कैसा भी हो तो भी जो देश और काल से परिच्छिन्न अर्थात् देश और काल से सीमावाला है वह नाशवान है अतः सेवा के योग्य नहीं है, 'द्युपतय एव ते न ययुः' इस श्लोक से भगवान् का आनन्द देश और काल से परिच्छिन्न नहीं है, यों बताते हैं-

श्लोक—द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ।।४१।।

श्लोकार्थ—आपके स्वरूपानन्द के अन्त को स्वर्ग लोकों के पति इन्द्रादि तो नहीं जानते हैं, किन्तु आप भी नहीं जानते हैं; क्योंकि आप में आवरण सहित ब्रह्माण्डों के समूह काल के साथ ऐसे घूम रहे हैं, जैसे आकाश में रज कण फिरते रहते हैं । आप ही जिनका विश्राम स्थान हैं, ऐसी श्रुतियाँ निषेध मुख से भी निश्चय से आप में ही पर्यवसान पाती हैं अथवा आपका ही प्रतिपादन करती हैं ।।४१।।

सुबोधिनी—द्युपतयः स्वर्गपतयो देवेन्द्रादयः ते सुखतारतम्यं जानन्ति तेपि भगवतः स्वरूपानन्दस्य अन्तं न ययुः । ब्रह्मानन्दपर्यन्तस्यापि शतसङ्ख्या आनन्दपरिमाणस्य ज्ञातत्वादानन्द-

मयस्यैव परमन्तो न ज्ञायते। नन्वन्तोस्ति चेत् किमज्ञानेन ज्ञातो वाऽज्ञातो वा विद्यमानः स्वसमाप्तौ दुःखानुभवं कारयत्येवेत्याशङ्क्याह अनन्ततयेति। विद्यमाने अन्ते यदि न जानीयुस्तदैवेदं दूषणं तेषामसार्वज्ञं च तदेव तु नास्ति। किञ्च। त्वमपि न वेत्सि। नापि सर्वज्ञो भगवान् कथं न जानातीति मन्तव्यम्। विद्यमानस्यैवाज्ञानं सार्वज्ञप्रतिबन्धकं न त्वविद्यमानस्य। एवं कालापरिच्छेदमुक्त्वा देशापरिच्छेदमाह यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणा इति। यस्य भगवतः अन्तः मध्ये आण्डनिचया अण्डसमूहाः अन्तरा अण्डनिचया वा तेपि सावरणाः प्रकृतिपर्यन्तमुत्तरोत्तरं दशगुणावरणयुक्ताः। अनेनैवस्य ब्रह्माण्डाधिपतेर्ब्रह्मानन्दो गणित इति भगवदानन्दस्य अनन्तता समर्थिता। ननु तथापि ब्रह्माण्डानां सङ्ख्यावत्त्वे आनन्त्यं नोपपद्यत इति चेत् तत्राह ख इव रजांसि वान्तीति। यथा जालार्करश्मिषु कोटिशो रेणव उत्पतन्ति एवं भगवद्रोमकूपेषु ब्रह्माण्डानीति केचित्। वस्तुतस्तु एकरोमकूपस्थानं अतिविशालमाकाशवत् तत्र यथा भूरेणवः कोटिशो वान्ति तथा ब्रह्माण्डानि परिभ्रमन्तीत्यर्थः। ननु तर्हि कालो महान् भविष्यतीत्याशङ्क्याह वयसा सहेति। काला अपि तत्र कोटिशः परिभ्रमन्तीत्यर्थः। वायुस्थानीयो वा कालः। ननु तथापि प्रमाणेन परिच्छेदो भविष्यति अनन्तादिशब्दवाच्यादित्याह यदन्तरा श्रुतयोऽपि यद्यस्माद्वान्ति। ब्रह्माण्डानन्त्यवद् वेदानन्त्यमपि। तेनैकस्यैव ब्रह्माण्डस्य वार्तामेका वेदो वदतीति न वेदेऽपि परिच्छेत्तुं शक्यते। ननु एवं सति सर्वप्रमाणानामगम्ये भगवति तादृशानन्दे किं प्रमाणमिति चेत् तत्राह त्वयि हि फलन्तीति। श्रुतय एव प्रमाणं, परं पर्यवसानवृत्त्या न तु वाच्यवृत्त्या। यथा अनन्तवृक्षा भूमौ फलन्ति तत उच्चस्थितान्यपि फलानि भूमावेव पतन्ति, एवं सर्वे वेदाः स्वस्वरीत्या स्वशक्यं माहात्म्यं भगवतो वदन्ति। तानि ज्ञानानि फलान्युच्यन्ते। तेषां क्वापि पर्यवसानाभावाद्भगवत्येव पतन्ति पर्यवसिता भवन्ति। एवमनन्तवृक्षाणामनन्तानि फलानि भूमौ पतन्त्यपि भूमेः सहस्रांशमपि न पूरयन्तीति मेरुसर्षपन्यायेनार्थाद् भगवन्माहात्म्यं ज्ञापयन्तीत्यर्थः। एव विधिमुखतया भगवत्स्वरूपबोधकत्वमुक्त्वा निषेधमुखेनापि भगवद्बोधकत्वमाहुः अतन्निरसनेन भवन्निधना इति। यत्किञ्चिद्वेदप्रतिपाद्यं तत्सर्वमनूद्य योऽस्मात्सर्वस्मात्पर इति भगवतस्तदतिरिक्ततां बोधयन्ति 'न तदश्नोति कश्चन' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतिसहस्रैः प्रतिपाद्यपदार्थनिषेधकैः, निषेधस्य सावधित्वेन पर्यवसानाभावात् पदार्थस्य चावधिभूतस्य परिज्ञानाभावात् वाचकशक्तौ कुण्ठितायां अप्रमाणभावमिव प्राप्नुवत्यः भगवत्येव निधनं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। तस्मादेतादृशः परमानन्दरूपः कृष्ण एव सेव्यो नान्य इति सर्वेषां वेदानां पर्यवसितोर्थ इति सूचितम्। वेदाश्च तमेवं बोधयन्ति। एवं ज्ञातुं भगवता बुद्धिरुत्पाद्यत इति सूक्ष्मेक्षिकया सर्वे वेदा एवं भगवन्तं प्रतिपादयन्तीति जानीयादिति अनिर्देश्येपि ब्रह्मणि गुणवृत्तीनामपि साक्षात्प्रतिपादनमिति निरूपितम्। अत्र सर्वत्र श्रुतयो मूलभूताः स्वयं द्रष्टव्याः। विवादविषयाश्च अतिविस्तरशङ्कया न लिखिताः। एवं श्रुतिभिः प्रतिपादितोर्थः गूढोऽप्युपनिबद्धः॥

व्याख्यार्थ—स्वर्गों के स्वामी देवेन्द्र आदि आपका आनन्द (सुख) कितना है जिसको नहीं जानते है अर्थात् आप परमात्मा के स्वरूप में कितना आनन्द है उसकी सीमा को वे (देवेन्द्रादि) नहीं पा सके है. उपनिषदों में शत शत सङ्ख्या को विशेषता बताते हुए मनुष्यानन्द से लेकर अक्षर ब्रह्मानन्द की सीमा बताई है, किन्तु आनन्दमय आपके स्वरूप की सीमा कितनी है ? वह नहीं कहा है, अन्त होते हुए भी यदि उसको न जाना, तो इसमें कौनसा दोष है ? सीमा हो वा न हो उसका

ज्ञान हो जाने पर कि इसका (आनन्द का) यहां अन्त है तो उससे दुःख का अनुभव ही होगा. इस शङ्का का समाधान करने के लिए कहते है कि 'अनन्ततया' असीम होने से इसका अन्त नहीं है, आप जो दूषण दे रहे हो वह तब यथार्थ हो जब कि, आनन्द का अन्त हो और उसका ज्ञान हो, तब ही सर्वज्ञता का अभाव सिद्ध हो सके, वह (अन्त तो है नहीं, और विशेषता यह है कि आप भी नहीं जानते है, इससे यह भी नहीं समझना चाहिए कि सर्वज्ञ भगवान् कैसे नहीं जानते होंगे ? सर्वज्ञता भगवान् में नहीं है, वह तब कहा जावे, जबकि, अन्त की विद्यमानता होवे, यहां तो विद्यमानता है ही नहीं, अतः अविद्यमानता में सर्वज्ञता की हानि नहीं होती है। इस प्रकार भगवदानन्द में काल की निःसीमता कह कर अब देश की निःसीमता कहते है, यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणा' आपके भीतर आवरण सहित ब्रह्माण्डों के समूह, प्रकृति पर्यन्त उत्तरोत्तर दशगुण आवरण युक्त हो फिरते रहते हैं, इससे एक ब्रह्माण्ड के अधिपति का कितना ब्रह्मानन्द है वह बता दिया है, यों भगवान् के आनन्द की अनन्तता का समर्थन किया है यों होने पर भी अनन्तता सिद्ध नहीं होती है कारण कि ब्रह्माण्डों की तो गिनती है, जिससे इसका भी नाप निकल आएगा, यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि 'ख इव रजांसि वान्ति' जैसे आकाश में अनन्त रज कण उड़ते फिरते हैं, वैसे ही भगवान् के एक एक रोम कूप में कितने ही ब्रह्माण्ड फिरते रहते है क्योंकि भगवान् का एक रोम कूप का स्थान भी आकाश की तरह अति विशाल है अतः जैसे आकाश में कोटिशः रज कण भ्रम रहे है वैसे यहां[1] असंख्य ब्रह्माण्ड फिरते रहते है, कोई कहते हैं कि जैसे जाली में से आए हुए सूर्य की रश्मि के कण कोटिशः फिरते रहते हैं वैसे भगवान् के रोम कूपों में ब्रह्माण्ड फिरते हैं।

तब तो काल महान् होगा ? इस शङ्का के परिहारार्थ कहते हैं कि, 'वयसा सह' काल के साथ, अर्थात् वहां काल भी कोटिशः फिर रहे है, अथवा काल वायु के स्थान पर है, अर्थात् जैसे वायु रजः कणों के भ्रमण में कारण है वैसे यहां काल यों है, तो भी प्रमाण से तो परिच्छेद होगा ही, कारण कि अनन्त शब्द से वाच्य होने से, इस पर कहते हैं कि 'यदन्तरा श्रुतयोऽपिवान्ति' जिस भगवान् के भीतर श्रुतियां भी भ्रमण कर रही हैं, अर्थात् श्रुतियां भी उसके आनन्द की सीमा का वर्णन नहीं कर सकती है।

अनन्त ब्रह्माण्डों की तरह वेद भी अनन्त हैं, इससे एक ही ब्रह्माण्ड की वार्ता को एक वेद कहता है, इसलिए वेद भी भगवदानन्द का परिमाण[2] नहीं कर सकते हैं।

यदि यों है तो सर्व प्रमाणों से जो अगम्य है, ऐसे भगवान् के, वैसे अनन्त आनन्द का प्रमाण क्या ? इस पर कहते हैं कि 'त्वयि हि फलन्ती' श्रुतियां ही प्रमाण है किन्तु पर्यवसान[3] वृत्ति से न कि वाच्य[4] वृत्ति से, जैसे पृथ्वी पर जो अनन्त वृक्ष हैं वे फल देते है, वे फल ऊंचे स्थित हैं तो भी पृथ्वी पर ही गिरते हैं, इस प्रकार सर्व वेद अपनी अपनी रीति से अपने से जितना बन सकता है,

---

[1] भगवान् के रोम कूप में, [2] नाप,

[3] शब्द में रही हुई अपने अर्थ को प्रकट करने की शक्ति, ऐसी वृत्ति,

[4] जिस वृत्ति से व्युत्पत्ति से अपने अर्थ प्रकट करने की शक्ति हो।

उतना भगवान् का माहात्म्य प्रकट करते हैं, उन माहात्म्यों के ज्ञानों को ही फल कहते हैं, उन फलों को कहीं भी स्थान न मिलने से भगवान् में ही पड़ते हैं, अर्थात् भगवान् का ही ज्ञान कराते हैं।

अनन्त वृक्षों के अनन्त फल भूमि पर गिरते हैं, किन्तु पृथ्वी के सहस्त्रांश को भी जैसे नहीं भर सकते हैं, वैसे वेद भी भगवान् का माहात्म्य उसी तरह बता सकते हैं, जसे कोई मेरु पर्वत को सर्षप(राई) के दाने की उपमा देकर बतावे।

इसी तरह वेद, विधि मुख से इस प्रकार का ब्रह्म का स्वरूप है यों भगवत्स्वरूप का ज्ञान कराके अब निषेध मुख से भगवत्स्वरूप का ज्ञान कराते हैं 'अतन्निरसनेन भवन्निश्चना' इति 'यों भी नहीं यों भी नहीं' इस प्रकार निषेध करते हुए ज्ञान कराते हैं, कि वह अनुपम है।

जो कुछ वेद प्रतिपाद्य है उस सबको कहकर अन्त में कहते हैं कि भगवान् सब से 'पर' अर्थात् उत्तम व और विचित्र हैं, 'न तदश्नोति कश्चन' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' 'कोई उसका अशन नहीं करता है' 'जिससे वाणी लौट आती है' इत्यादि प्रतिपाद्य पदार्थ की निषेध करने वाली अनेक श्रुतियां सबसे परमात्मा की परमोत्तमता प्रतिपादन करती हैं, कारण कि निषेध अवधिवाला होने से उसका अन्त नहीं है, अवधि वाले पदार्थ का ज्ञान नहीं है, भगवान् के वर्णन करने की शक्ति कुण्ठित हो जाने से, मानो श्रुतियां अपने को अप्रमाण भाव वाली समझने लगती हैं, जिससे अनन्य गतिक हो भगवान् में ही लय पाती है, इससे ऐसे परमानन्द रूप श्रीकृष्ण ही सेव्य हैं, अन्य कोई नहीं हैं, यही सर्व वेदों के अर्थ का सत्य भावार्थ है। वेद इस प्रकार उनका ही ज्ञान कराते हैं, इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने के लिए भगवान् ही बुद्धि उत्पन्न करते हैं, इसलिए सूक्ष्म दृष्टि से सर्व वेद इस प्रकार भगवान् का प्रतिपादन करते हैं, यों जानना चाहिए, कि श्रुतियां भगवान् के गुणों को जानने की शक्तिवाली हैं तो भी अनिर्देश्य ब्रह्म का भी वर्णन करती हैं, इस विषय में जिन श्रुतियों के विषय में विवाद हुवा है वे मूलभूत श्रुतियां स्वयं सर्वत्र देख लेनी, यहां विशेष विस्तार हो जाने की शङ्का से नहीं लिखी हैं, इस प्रकार श्रुतियों से प्रतिपादित गूढ अर्थ को भी यहां कहा है ॥४१॥

कारिका—कृष्णानन्दः परानन्दो नान्यानन्दस्तथाविधः ।
वेदा अपि न तच्छक्ताः प्रतिपादयितुं स्वतः ॥२८॥४१॥

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण का आनन्द ही सबसे बढकर आनन्द है उसके समान अन्य कोई आनन्द नहीं है, वेद भी स्वतः उसके प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं है ॥२८॥४१॥

कारिका—इत्येवं श्रुतिगीतायाः संक्षेपेण निरूपितः ।
अर्थराशिः समुद्रो हि यथाङ्गुल्या निरूप्यते ॥

कारिकार्थ जैसे समुद्र को अङ्गुली से दिखाया जा सकता है, वैसे ही श्रुति गीता का अर्थ संक्षेप से निरूपण किया है।

आभास— श्रुतिभिरुक्तानि वाक्यानि, सनन्दनोऽनुवादमात्रं कृतवान्। ततो व्या-

ख्यानव्यतिरेकेण तदर्थावगतिरस्ति न वेति संदिह्य औत्पत्तिकमनीषयैतज्ज्ञायत इति ज्ञापयितुं तस्यार्थस्यावबोधमाह **इत्येतदिति** ।

आभासार्थ–१४ वें श्लोक से ४१ वें श्लोक तक श्रुतियों ने भगवत्स्तुति की है, वे श्लोक सनन्दन ने अनुवाद रूप में कह दिए हैं, किन्तु व्याख्या के बिना उन श्लोकों का आशय उसने समझा वा नहीं ? इस शङ्का के उत्तर में कहा है कि, दिव्य बुद्धि से उसने समझ लिया है यह निम्न श्लोक से सिद्ध करते हैं—

श्लोक—श्रीभगवानुवाच–इत्येतद्ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वात्मनो गतिम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् नारायण नारदजी को कहने लगे कि इस प्रकार जीवों को दिया हुआ उपदेश सुनकर आत्मा की गति को जान ली, जिससे ब्रह्मा के पुत्र सिद्धार्थ वाले हो गए, अतः पश्चात् सनन्दन का पूजन करने लगे ॥४२॥

सुबोधिनी- नारदं प्रति नारायणवाक्यम् । श्रोतारो ब्रह्मणः पुत्राः । सम्पूर्णश्रुतिगीतायाः संक्षेपेणार्थमाह आत्मानुशासनमिति । आत्मनां जीवानामनुशासनमुपदेशः । भगवानेव सेव्य एवेति च । एतवानेव श्रुतिगीतार्थः । स तेषां हृदये समागत इति गुरोः पूजनं कृतवन्त इत्याह सनन्दनमिति । अथेति भिन्नप्रक्रमेण । पूर्वं समाः स्थिताः 'तुल्यश्रुततपःशीलाः' इति वाक्यात् । इदानीं तु श्रुतिगीतारूपोर्थः तेनैव विशेषतो ज्ञायत इति प्रवचनाधिकारे दत्ते यत्सर्वैर्न ज्ञायते तदेव वक्तव्यमितीदमुपाख्यानमुक्तवान् । यदि तेषामयमर्थो न ज्ञातः स्याद् विशेषाकारेण तदा 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्' इति न्यायेन विशेषाज्ञानात् विशेषतः पूजां न कुर्युः । अतोऽयमर्थः अपूर्वः जनवासिनापि दुर्लभः केवलमिदानीमेव प्रकट इति ज्ञापितम् । ततः सिद्धाश्च जाताः । नातः परं श्रोतव्यमस्ति । पूर्वमपि तैरात्मा ज्ञातः परं तस्य गतिरेतादृशी केवलं भगवानेव सेव्यो नान्योऽस्त्युपाय इति इदानीमेव ज्ञातवन्तः । अतः सिद्धा इत्यर्थः ॥४२॥

व्याख्यार्थ—श्रुति गीता के श्रोता ब्रह्मा के पुत्र थे, श्रुति गीता में जीवों को यह ही उपदेश दिया गया है कि 'भगवान्' ही सेव्य है, यह उपदेशार्थ उनके हृदय में स्थित हो गया, जिससे उन्होंने उपदेष्टा गुरु सनन्दन की पूजा की ।

'अथ' शब्द से अन्य उपक्रम करने की सूचना करते हैं, यद्यपि, विद्या, तप और शील में ब्रह्मा के सर्व पुत्र समान थे, तो भी श्रुति गीता में कहे हुए अर्थ को पूर्ण रूप से सनन्दन ने जाना है, इसलिए उसको ही यह अधिकार दिया गया कि आप वह उपदेश दो, जो सर्व नहीं जानते हों, तदनुसार सनन्दन ने यह 'श्रुति गीता' का उपाख्यान कह कर सुनाया, श्रवणानन्तर ब्रह्मा के पुत्रों ने इस श्रुति गीता का पूर्ण अर्थ यदि न जान लिया होता तो, सनन्दन का पूजन द्वारा अभिनन्दन, न करते, यों कहकर सिद्ध किया है कि ब्रह्मा के पुत्रों ने श्रुति गीता का अर्थ समझा है तथा यह भी बताया है कि यह अर्थ 'भगवान्' ही सेव्य है वह जन लोक निवासियों को भी दुर्लभ है, कारण कि वहां तो ब्रह्मवाद

(ज्ञान मार्ग) है जिससे भगवद्भजनानन्द के आनन्द को वे नहीं जानते हैं, यह भजनानन्द रूप नवीन अर्थ तो अब ही प्रकट हुआ है, जिसकी प्राप्ति होने से ये सिद्ध हुए हैं अतः अब इनको अन्य कुछ भी श्रवण करने के लिए शेष नहीं रहा है, इन ब्रह्मा के पुत्रों को आत्मज्ञान तो था, किन्तु 'भगवान् का भजन ही परम रस पान करने का केवल एक उपाय है' इस ज्ञान का पता इनको अब लगा है, अतः अब ये पूर्ण सिद्ध हुए यह सार है ॥४२॥

आभास—नारदस्यात्रैवं जिज्ञासा उत्पन्ना । एतादृशोर्थोन्योपि भविष्यतीति तत्राह इत्यशेषसमाम्नायेति ।

आभासार्थ—नारदजी के मन में उस समय, यह भी इच्छा हुई कि, जैसा यह अर्थ है वैसा अन्य अर्थ भी होगा, उसको भी जान लूं, इससे यह 'इत्यशेष' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—इत्यशेषसमाम्नाय पुराणोपनिषद्रसः ।
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥४३॥

श्लोकार्थ—सकल वेद, पुराण और उपनिषदों में जो रस है, वह पूर्व उत्पन्न हुए आकाश में भ्रमण करने वाले महात्माओं ने खींच लिया है ॥४३॥

कारिका—अर्थः स्थलत्रये गूढः पुराणोपनिषच्छ्रुतौ ।
सर्वतः सारमेतद्धि समुद्धृतमिहोच्यते ॥

कारिकार्थ—पुराण, उपनिषद् और श्रुतियां इन तीन स्थानों में भगवद्भजनानन्द रस गुप्त रूप रहा है, जहां से यह (श्रुति गीता से) सार निकालकर यहां कहा जाता है, अतः इसके सिवाय अन्य कोई सार नहीं है ।

सुबोधिनी—अतो नान्योस्ति सारांश इति वक्तु निरूपयति । अशेषाः सर्व एव वेदाः पुराणानि उपनिषदश्च तेषां निर्मथनेन अयमर्थो निर्गलित इति रसः । स पूर्वं तत्रैव स्थितः पश्चात्पूर्वजातैर्महात्मभिर्व्योमयानैः सनकादिभिस्ततः समृद्धृत्य पृथक् स्थापितः । नन्वेतत्समुद्धारे किं प्रयोजनमिति चेत् तत्राह महात्मभिरिति । महान्तस्ते सर्वोपकारकाः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—समस्त वेद (मन्त्र भाग) उपनिषद् (ब्राह्मण भाग) और पुराण, इन सब का पूर्ण रीति से मन्थन कर यह अर्थ निकाला है इसलिए यह अर्थ 'रस' है, प्रथम यह रस, वेद, पुराण और उपनिषदों में था, अनन्तर प्रथम उत्पन्न आकाश में भ्रमण करने वाले महात्मा सनकादिकों ने उस रस को उनसे खींच, पृथक कर इस श्रुति गीता में धरा है, उनमें से रस खींचने का कौनसा प्रयोजन था ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'महात्मा' हैं इसलिए उनको सबका उपकार ही करना है अतः सब पर उपकार करने के लिए खींचा है, यदि न खींचते तो यों केवल इस छोटे 'श्रुति गीता' से जीव कैसे रस पान कर सकते ? ॥४३॥

आभास—एवं श्रुतिगीताया माहात्म्यमुक्त्वा नारदे विशेषमुपदिशति **त्वं चैतद्ब्रह्मदायादेति** ।

आभासार्थ – इस प्रकार श्रुति गीता का माहात्मय कहकर 'त्वं चैतद्ब्रह्मदायाद' श्लोक में नारदजी को विशेष कार्य करने का उपदेश देते हैं–

श्लोक—त्वं चैतद्ब्रह्मदायाद श्रद्धयाऽऽत्मानुशासनम् ।
धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्म स्वरूप के ज्ञान के उत्तराधिकारी ब्रह्मा के पुत्र ! मनुष्यों की कामनाओं के नाशक जीवार्थ दिए हुए इस उपदेश को तुम धारण करते हुए पृथ्वी पर स्वेच्छापूर्वक घूमते रहो ।।४४।।

सुबोधिनी - ब्रह्मणः पुत्रो ब्रह्मदायादो भवति । अत्र तु ब्रह्मण्येव दायं प्राप्तवानिति विशेषतो वचनम्, अधिकारनिरूपणार्थं वा । यस्तु ब्रह्मणि दायभाक् तस्य हृदये अयमर्थः स्फुरति । अतः श्रद्धया आत्मानुशासनं तवात्यन्तोपदेशपूर्वकं रूपमतो धारयन् इममर्थं सर्वदा विचारयन्, गां चर सर्वत्र परिभ्रमणं कुरु । परित्यागेनैवास्य शास्त्रार्थस्य सम्भवात् । आत्मानुशासनेनैव निरन्तरं भगवत्स्मरणं प्राप्तम् । नारदस्य सिद्धमप्यस्ति । एकमेव बाधकं महतो भगवत्स्मरणे काम इति । 'कश्चिन्महान् तस्य न कामनिर्जयः' इति वाक्यात् तस्यैतत्कामभर्जनसाधनं, कामानामिति बहुवचनं सर्वाकाङ्क्षानिवर्तकमिदमिति सूचयति । नृणामिति मनुष्याणां विशेषहितकारीत्युक्तम् ॥४४॥

व्याख्यार्थ —ब्रह्मा का पुत्र ब्रह्म का उत्तराधिकारी होता है, यहां तो ब्रह्म में ही उत्तराधिकार प्राप्त कर लिया है, इसलिए यह संबोधन खास नारदजी के अधिकार बताने के लिए कहा है, जो ब्रह्म का उत्तराधिकारी होता है उसके हृदय में यह अर्थ स्फुरता है, अतः आत्मा यानि आप (नारदजी) को दिया हुआ यह उपदेश उसी ही अर्थ का सदैव विचार करते हुए पृथ्वी पर सर्वत्र यथेच्छा परिभ्रमण करो ।

परित्याग से ही, इस शास्त्र में जिसके भजन का प्रतिपादन किया है उसका भजन हो सकता है. जीवों को तो जब ऐसा उपदेश मिले तब निरन्तर भगवत्स्मरण हो सकता है, नारदजी को तो निरन्तर स्मरण सिद्ध ही है,

महान् पुरुष को भी भगवत्स्मरण में बाधक केवल 'काम' ही है, किसी महान् पुरुष ने काम को न जीता हो तो उसके लिए, यह सर्व कामनाओं के नाश करने का साधन है, 'नृणां' पद से मनुष्यों का विशेष हितकारी है, यह सूचित किया है ।।४४।।

आभास—अयमुपदेशो नादस्य हृदये समागत इति ज्ञापयितुं तस्य कथामाह **एवं स गुरुणादिष्टमिति ।**

आभासार्थ—यह भगवान् का दिया हुआ उपदेश नारदजी के हृदय में जम गया, यों जताने के लिए, उसकी कथा एवं स' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**एवं स गुरुणादिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयात्मवान् ।**
पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ।।४५।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! इस प्रकार गुरुजी के उपदेश को श्रद्धा से ग्रहण कर अधिकारी, ज्ञानी, नित्य स्मरण करने वाले एवं अविलम्ब कार्य करने वाले मुनि कहने लगे ।।४५।।

सुबोधिनी– यद्यपि बहून्येव व्याख्यानानि श्रुतानि तथाप्यत्र विशेषतः श्रद्धावान् जातः । आत्मवानित्यधिकारी । पूर्ण इति तस्यार्थावबोधो जात इति सूचितम् । श्रुतधर इति श्रवणमात्रेणैव शब्दतोऽर्थतश्च धारयतीति नित्यस्मरणमुक्तम्, अभ्यासापेक्षा च निवारिता । राजन्निति । अयमर्थो ग्राह्य इति बोधनार्थं, सोर्थस्तेनेति ज्ञात इति ज्ञापयितुं गुरुं प्रति किञ्चिदाह यतो वीरव्रतः वीरवद्व्रतं यस्येति । वीरः सकृदेव कार्यं करोति । न तु विलम्बं सहत इति । एवं क्रियाशक्त्याधिक्यमुक्त्वा ज्ञानशक्त्याधिक्यमाह मुनिरिति ॥४५॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि नारदजी ने बहुत उपदेश सुने थे तो भी इस उपदेश में विशेष श्रद्धावान् हुए, 'आत्मवान्' पद से वह अधिकारी है यह सूचित किया है, 'पूर्ण' पद से यह सूचित किया है कि इनको अर्थ का ज्ञान हो गया है, अतः ज्ञानी है. 'श्रुतधर' पद से यह बताया है कि केवल सुनते ही शब्द से और अर्थ से उसको जान लेते हैं, इससे वह नित्य स्मरण करते हैं यह सूचित किया और नारदजी को अब अभ्यास करने की अपेक्षा नहीं है, वह भी बता दिया, हे राजन् ! यह संबोधन परीक्षित् को देकर यह सूचित किया है कि, यह अर्थ ग्रहण करने के योग्य है, वह अर्थ नारदजी ने जान लिया है, यह बताने के लिए गुरुजी को कुछ कहते हैं-क्योंकि नारदजी 'वीरव्रत' हैं अर्थात् वीरों जैसे व्रत वाले हैं,जिससे एक ही समय में कार्य कर देते हैं, विलम्ब का सहन नहीं करते हैं, इस प्रकार नारदजी में क्रिया शक्ति की अधिकता कहकर, ज्ञान शक्ति को विशेषता दिखाने के लिए 'मुनि' विशेषण दिया है ।।४५।।

आभास—स्वगुरुं नमस्यति **नमस्तस्मै भगवत** इति ।

आभासार्थ—'नमस्तस्मै' श्लोक से अपने गुरु को नमस्कार करेंगे—

श्लोक—नारद उवाच-**नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलमूर्तये ।**
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ।।४६।।

श्लोकार्थ—नारदजी कहने लगे कि उन निर्मल स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी को नमस्कार है, जो सकल भूतों के मोक्षार्थ सुन्दर कलाओं को धारण करते हैं ।।४६।।

सुबोधिनी—नारायणस्य स्वरूपं कृष्णः, कृष्ण एव नारायणरूपेणावतीर्ण इति कृष्णो मूलं भवति। यद्यपि लोके नारायणस्यैवांशः कृष्ण इति प्रसिद्धिः। 'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ' इति वाक्यात्। तथापि श्रुतिगीताशिक्षया विपरीतं ज्ञातवान्। तत्र हि 'स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः' इति श्रुतितुल्या निरूपिताः। तादृश्यः कृष्ण एव भवन्ति गोपिकाद्याः, नान्यावतारेष्विति स एव भजनीयः श्रुतिगीतासु निरूपित इति ज्ञातवान्॥

व्याख्यार्थ—नारायण का मूल स्वरूप कृष्ण है, अर्थात् श्रीकृष्ण ने हो नारायण स्वरूप से अवतार धारण किया है, इसलिए कृष्ण ही मूल स्वरूप है, यद्यपि लोक में यह प्रसिद्ध है कि नारायण का ही अंश कृष्ण है, जिसमें प्रमाण 'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ' ये दो (बलराम-कृष्ण) इस लोक में भगवान् हरि के अंश प्रकटे है, तो भी श्रुति गीता की शिक्षा से उसने इससे विपरीत जाना, क्योंकि श्रुति गीता में कहा है कि शेष की काया के समान भुजदण्डों में आसक्त बुद्धि वाली स्त्रियाँ है' इससे इस श्लोक में इन स्त्रियों को श्रुतियों के समान कहा है, ऐसी आसक्त बुद्धि वाली स्त्रियाँ गोपिका आदि ही हैं, जो श्रीकृष्ण स्वरूप में ही थी, न अन्य अवतारों के स्वरूपों में इसलिए वह श्रीकृष्ण ही भजन करने योग्य हैं, यों श्रुति गीता में निरूपण हुआ है, यों इसने जाना।

कारिका—माहात्म्यं बहुधा ज्ञात्वा जीवानां च गतिं पराम्।
सर्वं त्यक्त्वा विधार्यैतन् नित्यं कृष्णं स्मरंश्चरेत्॥

कारिकार्थ—मनुष्य सर्व प्रकार भगवान् के महात्म्य का ज्ञान प्राप्त करे, अनन्तर यह निश्चय कर लेवे कि जीवों की परमागति श्रीकृष्ण ही है, इस श्रुति गीता के उपदेश को हृदय में धारण कर, सब सांसारिक कार्यों को छोड़, नित्य श्रीकृष्ण का स्मरण करता हुआ विचरण करे।

सुबोधिनी—एतावानेवोपाख्यानार्थं इति ज्ञात्वा कृष्णमेव नमस्यति अवतारेण दोषप्रतिभानं वारयति अमलमूर्तय इति। अमलेषु वा मूर्तिर्यस्येति। भगवत्प्राप्त्युपायो वा निरूपितः। नन्वयं साक्षाद्गुरुर्नारायणस्तस्य चावतारस्तं प्रत्यक्षं विहाय तस्मा इति परोक्षः कृष्णः कथ नमस्कृत इति चेत् तत्राह यो धत्ते सर्वभूतानामिति। स एव भगवानस्मदादिसर्वभूतमोक्षार्थं उशतीः कला धत्ते। स एवैतद्रूपेणास्मदुद्धारार्थं समागतः तथा सत्ययं मूलभूतो न भवतीति तस्यैव चायमुपकार इति स एव नमस्कृत इत्यर्थः॥४६॥

व्याख्यार्थ—इस उपाख्यान का इतना ही तात्पर्यार्थ है, यों जानकर नारदजी कृष्ण को ही नमस्कार करेंगे (करते हैं) श्री कृष्ण तो एक अवतार है यों समझने से जो दोष का भान होता है उसका 'अमलमूर्त्तये' पद से निराकरण किया है कि आप निर्मल स्वरूप हैं, अथवा जो निर्मल हैं उनमें जिसकी मूर्ति है, अथवा इस पद से भगवान् को प्राप्ति का उपाय बताया है।

यह साक्षात् (प्रत्यक्ष) गुरु नारायण है, जिसका अवतार कृष्ण है इस प्रत्यक्ष को नमस्कार न कर 'तस्मै' पद से परोक्ष को प्रणाम क्यों किया? इस शङ्का के निवारणार्थ कहा है कि 'या धत्ते सर्वभूतानामभवाय' जो सर्व प्राणियों को मोक्ष देने के लिए ही सुन्दर स्वरूपों का धारण करते

हैं,वह ही इस[1] रूप से हम लोगों के उद्धारार्थ प्रकट हुए हैं,यों होते हुए भी यह[2] मूलरूप नहीं है, यह उपकार (उद्धार आदि) भी उसका[3] ही है, इसलिए उसको ही नारदजो ने नमस्कार किया है, यह तात्पर्य है ॥४६॥

आभास—ननु गुरोर्नमस्कारः कर्तव्यः स कथं न कृत इति चेत् तत्राह इत्याद्यमृषिमानम्येति ।

आभासार्थ—गुरु को नमस्कार करना चाहिए,वह क्यों न किया? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर 'इत्याद्यमृषिमानम्य' श्लोक में दिया है—

श्लोक—इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात्पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥४७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार आद्य ऋषि को प्रणाम कर और उनके जो शिष्य महात्मा थे, उनको भी नमस्कार कर अनन्तर मेरे पिता द्वैपायन के साक्षात् आश्रम में गए ॥४७॥

सुबोधिनी—इत्येव स नमस्कृतः यतः स आद्यो ऋषिः । स्वस्वरूपं जानाति कृष्णोऽहमिति तच्छिष्याश्च तं जानन्ति यतो महात्मानः वस्तुस्वरूपं जानन्ति न तु बहिर्मुखा इत्यर्थः । केवलपरमतत्वव्युदासाय व्याससम्बन्धमाह ततोऽगादाश्रममिति । यद्यपि व्यासस्य बहून्येव स्थानानि सन्ति तथापि साक्षात्तदेव स्थानम् । ननु व्यासः साक्षाद्भगवान् कथं स्वतो न ज्ञातवांस्तत्राह द्वैपायनस्येति ॥४७॥

व्याख्यार्थ—इसलिए उनको नमस्कार किया, कारण कि वे आद्य ऋषि हैं. अपने स्वरूप को जानते हैं कि मैं कृष्ण हूं, उनके शिष्य भी उनके स्वरूप को जानते हैं क्योंकि महात्मा हैं जिससे वस्तु स्वरूप को जान सकते हैं,जो बहिर्मुख हैं वे वस्तु स्वरूप को नहीं जान सकते है,यह मत दूसरों का मत है क्योंकि सनन्दन ने कहा है इस शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि नहीं, इस मत में व्यास जी सम्मति है, यह बताने के लिए व्यासजी का सम्बन्ध कहते है, 'ततोऽगादाश्रम साक्षात् पितुर्द्वैपायनस्य मे' अनन्तर मेरे पिता द्वैपायन के साक्षात् आश्रम में गए, यद्यपि व्यासजी के आश्रम स्थान बहुत हैं किन्तु नारदजी मूल जो स्थान है वहां गए, इसलिए 'साक्षात्' पद दिया है, जब व्यास साक्षात् भगवान् हैं तो उन्होंने स्वतः क्यों न जान लिया, जिसके उत्तर में कहते हैं कि वे द्वैपायन' अतः न जान सके अर्थात् व्यास का जन्म टापू पर होने से उनकी बुद्धि में भी जन्म स्थान के प्रभाव से कदाचित् द्विधा भाव हो जाता है ॥४७॥

श्लोक—**सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।**
तस्मै तद्वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥४८॥

१- नारायण रूप से, २- नारायण, ३- श्रीकृष्ण का

श्लोकार्थ—भगवान् व्यास से पूजित और आसन प्राप्त नारदजी ने नारायणजी के मुख से जो गूढ तत्त्व सुना था, वह उन (व्यासजी) को वर्णन कर बता दिया ॥४८॥

सुबोधिनी—ततस्तेन सभाजितः महता पूजितः सन् आसनं च तद्दत्तं गृहीत्वा नारायणमुखाच्छ्रुतं यद्गूढं तद्वर्णयामास। ततः परम्परया प्राप्तं मयापि ते वर्णितमिति। एतद्विचारप्रकारेणैव यथा निर्गुणे मनः प्रविशति तथा कर्तव्यम्। भगवता चेत्तादृशी बुद्धिस्त्वयि कृता तदा तया मनः प्रवेक्ष्यतीति भावः ॥४८॥

व्याख्यार्थ—आने के बाद वहां भगवान् व्यासजी से अच्छी तरह सत्कार किए हुए और उनसे आसन प्राप्त किए हुए नारदजी ने नारायण के मुख से जो गूढ उपदेश सुना था वह वर्णन कर बताया, पश्चात् शुकदेवजी ने कहा कि मैने भी जो परम्परा से उपदेश प्राप्त किया है वह भी तुम्हें कह दिया।

इस प्रकार के विचार करने से ही जैसे निर्गुण स्वरूप में मन का प्रवेश हो, वैसे करना चाहिए, भगवान् ने यदि ऐसी तुम्हारी बुद्धि की है तो ऐसी बुद्धि से मन प्रविष्ट होगा, यों भाव है ॥४८॥

श्लोक—इत्येतद्वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि मनश्चरेत् ॥४९॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! तुमने जो यह प्रश्न किया था कि अनिर्देश्य और निर्गुण ब्रह्म में जैसे मन लगे, वह प्रकार बताइए। उसमें जिस प्रकार मन लगेगा, वह प्रकार वर्णन कर दिया ॥४९॥

सुबोधिनी—एतदर्थानवबोधात्पृष्टमन्यदुत्तरं चान्यद्दत्तवानिति न मन्तव्यमित्येतदर्थमाह यः प्रश्नः नोऽस्मान् प्रति त्वया कृतः तस्यैवैतदुत्तरमिति। वेदास्तु निर्गुणं प्रतिपादयन्ति तत्केन प्रकारेणेति संदेहे अनेनैव प्रकारेण प्रतिपादयन्तीति ज्ञातवतः निर्गुणेऽपि ब्रह्मणि मनश्चरेत् ॥

व्याख्यार्थ—इस अर्थ को न जानने से पूछा तो एक और उत्तर दूसरा दिया यों न समझना इसलिए इस अर्थ को कहा है कि, जो प्रश्न तुमने किया उसका ही यह उत्तर दिया है, वेद तो निर्गुण का प्रतिपादन करते है, किन्तु किस प्रकार करते हैं? इस संदेह के होने पर कहा कि इस प्रकार[1] ही प्रतिपादन करते हैं, यों जानने वाले का 'मन' निर्गुण ब्रह्म में भी विचरण करेगा ॥४९॥

आभास—शुकोऽपि श्रुतिगीताप्रतिपाद्यमर्थं पुनः स्वयं संक्षेपेणाह प्रतिपत्तिसौकर्याय योऽस्योत्प्रेक्षक इति।

१- इस अध्याय में कहे हुए प्रकार से ही,

आभासार्थ—शुकदेवजी भी श्रुति गीता में जिस अर्थ का प्रतिपादन हुआ है वह अर्थ सरलता से समझ में आ जावे इसलिए स्वयं संक्षेप में 'योऽस्योत्प्रेक्षक' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो**
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ।
यं संपद्य जहत्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥५०॥

श्लोकार्थ—जो भगवान् इस जगत् का आदि, मध्य और अन्त में हित विचारते हैं और इस जगत् के आदि, मध्य और अन्त रूप हैं एवं प्रकृति, पुरुष तथा ईश्वर रूप हैं। जो इस जगत् की रचना कर वेद सहित इसमें प्रवेश कर पृथक् पृथक् शरीर धारण करते हैं, फिर उनको अपने वश में रखते हैं। जैसे सुप्त पुरुष देह को भूल जाता है, वैसे ही जिसको प्राप्त कर प्रकृति का अनुयायी भी अविद्या का त्याग करता है, जिसने केवल होने के कारण योनि का नाश कर दिया है और निर्भय है, वैसे नित्य हरि का ध्यान करना चाहिए ॥५०॥

सुबोधिनी—माहात्म्यं ज्ञात्वा, भगवन्तं भजेदिति, अर्थद्वयं श्रुतिगीतार्थः माहात्म्यं भजनं चेति। तत्र भजनप्रतिपादिकाः सर्वा एकीकृत्याह ध्यायेदजस्रमिति। अन्तर्भगवन्तं स्थापयित्वा तत्र सेवां कुर्यादित्यर्थः। तस्य फलत्वायाह अजस्रं सुखरूपं सर्वदुःखहर्तारं चेति। तत्र भगवतो माहात्म्यं गुणरूपं दोषाभावरूपं च। तत्र गुणरूपं द्वादशधा निरूपयति। यो भगवान् अस्य सर्वस्यापि जगतः उत्प्रेक्षकः ऊर्ध्वं प्रेक्षते कथमेते जीवसङ्घा निस्तीर्णा भविष्यन्तीति विचार्य एवं भविष्यन्तीति तेषां हितं चिन्तयतीत्यर्थः। अयमेको भजनीयगुणः। आवश्यकत्वाय गुणत्रयमाह अस्य जगतः आदिमध्यावसानरूपः एवं चतुष्टयमेकं सृष्टिकारणरूपम्। माहात्म्यत्रयमाह यः अव्यक्त प्रकृतिः जीवः पुरुषः ईश्वरः कालो नियन्ता त्रितयरूप इत्यर्थः। एवं सप्त गुणा निरूपिताः। अवशिष्टान् पञ्च गुणानाह यो भगवानिदं सृष्ट्वेत्येकम्। अनुप्रवेशो द्वितीयः। ब्रह्मांडं सृष्ट्वा ब्रह्माण्डमध्ये प्रविष्ट इत्यर्थः। ततो ऋषिणा वेदेन मुख्यजीवेन वा सहितो जात इत्यर्थः। ततो देवतिर्यगादिपुरश्चक्रे चतुर्थोऽयं, शासिता इति पञ्चमः। दोषत्रयाभावमाह यं संपद्येति। जीवा अपि संप्राप्य मनसा भावनयापि लब्ध्वा अजां जहति अविद्यां दूरीकुर्वन्ति। ननु स्मरणेनैव तर्हि मुक्ताः स्युः तथा सति पुनर्देहग्रहणं न स्यात्। तत्राह सुप्तः कुलायं यथेति। नहि सर्वात्मना अजापरित्यागः किन्त्वेवं भगवतो माहात्म्यं निरूप्यते यत्सम्बन्धमात्रेणैव अजां सकार्यां पुरुषो जहाति सर्वथा न स्मरतीत्यर्थः। यथा सुप्तः पुरुषः शरीरं न स्मरति एवं परम्परयापि दोषाभावो निरुक्तः। साक्षादाह कैवल्येन केवलभावेन निरस्ता योनिः कारणभूता येनेति। सर्वमेव भगवानिति योनिरधिका कुतः स्यात्। अभयमिति। अभयमिति तृतीयो दोषो निवार्यते। स्वयं भयरहितः सर्वेषामपि भयनिवर्तक इति। एवं निर्दोषपूर्णगुणरूपो भगवानिति स्वत एव परमानन्दं प्रयच्छति दुःखं च दूरीकरोतीति तमेव सर्वोऽपि भजेदित्यर्थः ॥५०॥

व्याख्यार्थ--माहात्म्य जानकर भगवान् की सेवा करनी चाहिए, यों कहा है, श्रुति गीता के 'माहात्म्य' और 'भजन' ये दो अर्थ हैं।

उस श्रुति गीता में, भजन का प्रतिपादन करने वाली सकल श्रुतियों का सार इकट्ठा कर 'ध्यायेदजस्र' पद कहा है जिसका भावार्थ है कि भगवान् को हृदय में विराजमान कर वहां उसका ध्यान करें, अर्थात् तत्प्रवण रूप सेवा करे, 'अजस्र' पद से यह बताया है कि वह सुख रूप एवं सर्व दुःख हर्ता है,वहां यह सिद्ध किया है कि भगवान् का माहाम्य, गुणरूप और दोषाभाव रूप है। गुण रूप माहात्म्य द्वादश प्रकार का है यह निरूपण करते हैं।

जो भगवान् यह समग्र जगत् सुखी हो यों देखना चाहते हैं, सदैव यह चिन्तन करते रहते हैं कि इन जीव समूहों का निस्तार[1] कैसे होगा ? यों विचार कर कहते हैं कि इस प्रकार होगा, यों हित ही विचारते हैं, यह एक गुण है जिससे भगवान् ही भजनीय है, आवश्यकता के लिए तीन गुण कहते हैं कि, इस जगत् के आप आदि, मध्य और अन्त रूप हैं. इस 'प्रकार ये तीन गुण और एक ऊपर हितचिन्तक गुण कहा, इन चार गुणों से आप एक सृष्टि के कारण रूप हैं अतः भगवान् भजनीय हैं, ये गुण भगवान् सेव्य है, इसके साधक हैं।

अब माहात्म्य प्रदर्शक तीन गुण कहते हैं. जो भगवान् अव्यक्त,[2] जीव[3] और ईश्वर[4] (सब को वश में रखने वाले) यों तीन गुण रूप कहे, इस प्रकार सात गुण निरूपण किए, शेष पांच गुणों को कहते हैं— १- जिस भगवान् ने इस जगत्[5] को रचा, २- फिर उसमें[6] प्रवेश किया, ३- अनन्तर वेद से अथवा मुख्य जीव के साथ सम्बन्ध बनाया, ४—पश्चात् देव तिर्यंग् आदि शरीर बनाए, ५—सब को अपने वश में रखा, इस प्रकार १२ गुण कहे, इनसे आपका माहात्म्य गुण रूप है, जिस माहात्म्य के कारण आप ही सेव्य हैं।

भगवान् में दोषों का अभाव है जिस कारण से भी आप ही भजनीय हैं, तीन दोषों का अभाव दिखाते हैं, जीव, जिसको, मन से भावना कर, प्राप्त कर लेने से अविद्या को मिटा देते हैं अर्थात् अविद्या फिर उस पर अपनी सत्ता नहीं चला सके, तब तो स्मरण से ही मुक्त हो जाना चाहिए, यों होवे तो फिर देह ग्रहण नहीं होनी चाहिए, इस पर कहते हैं कि जैसे सुप्त पुरुष देह भूल जाता है जिससे उसका स्मरण ही नहीं होता है, वैसे ही भगवान् से सम्बन्ध मात्र से कार्य सहित अविद्या को छोड़ देता है, सर्वथा उसका स्मरण नहीं करता है, इसी प्रकार परम्परा से दोषों का अभाव

---

[1] उद्धार,
[2] प्रकृति,
[3] पुरुष,
[4] काल,
[5] ब्रह्माण्ड,
[6] ब्रह्माण्ड में

निरूपण किया जिसका आशय है कि सर्वात्मरूप से अजा का परित्याग नहीं हो जाता है किन्तु यों कहकर भगवान् के माहात्म्य को दिखाया है ।

२—आप केवल अर्थात् एक ही हैं, जिससे जन्म मरण के कारण भूत (योनि) को नष्ट कर दिया है, जब सब ही आप भगवान् हैं तो दूसरी योनि अधिक कहां से आवे ? यों दूसरे दोष का निवारण किया है ।

३—स्वयं आप तो निर्भय हैं किन्तु सर्व के भय निवर्तक भी है, इससे तीसरा दोष भी निवारण किया ।

इसी प्रकार निर्दोष पूर्ण गुण रूप भगवान् हैं, इसलिए स्वतः ही परमानन्द देते हैं और दुःख दूर करते हैं, वैसे भगवान् का ही सबको भजन करना चाहिए, यह ही तात्पर्य है ॥५०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे अष्टत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥३८॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ८४वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३८वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के
गुण-प्रकरण का तृतीय अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित भगवल्लीला का संक्षिप्त सार

राग बिलावल

नमो नमस्ते बारं बार । मधु सूदन गोविंद मुरार ।
माया मोह लोभ अरु मान । ये सब नर कौं फाँस समान ॥
काल सदा सर साँधे फिरै । कैसैं नर तव सुमिरन करै ॥
तुम निरगुन अद्व निरंकार । सुर अरु असुर रहे पचिहार ॥
तुम्हरो मरम न जानैं सार । नर बपुरो क्यौं करै बिचार ॥
अरुन असित सित पीतऽनुहार । करत जगत में तुम अवतार ॥
सो जग क्यौं मिथ्या कहि जाइ । तहां तरै तुम्हरे गुन गाइ ॥
प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न होइ । नाथ कृपा करि दीजै सोइ ॥
और सकल हम देख्यौ जोइ । तुम्हरी कृपा होइ सो होइ ॥
यह तन है प्रभु जैसै ग्राम । जामैं सब्दादिक विश्राम ॥
अधिष्ठात्र तुम हौ भगवान । जान्यौ जात न तुम्हरौ स्थान ॥
तुम स्वासा तैं पुहुमी नाथ । स्वास रूप हम लख्यौ न जात ॥
जगत पिता तुमही हौ ईस । यातैं हम बिनवत जगदीस ॥
तुम सरि दुतिया और न आहि । पट तर देहिं नाथ हम काहि ॥
शुक जैसे वेद स्तुति गाई । तैसें ही मैं कहि समुझाई ॥
सूर कह्यौ श्री मुख उच्चार । कहै सुनै सो तरै भव पार ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ८८वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८५वां अध्याय
उत्तरार्ध ३९वां अध्याय

गुण-प्रकरण

"अध्याय—४"

शिवजी का सङ्कट-मोचन

कारिका—एवं कृष्णस्य मूलत्वे संदिहानस्य संशयः ।
निवारितोऽतियत्नेन येन कृष्णः परः स्मृतः ॥१॥

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण के मूलत्त्व (ब्रह्मपन। में संदेह कर्त्ता का संदेह[1] ऐसे अति प्रयत्न से दूर किया, जिससे सर्व ने कृष्ण को सर्व श्रेष्ठ समझा ॥१॥

---

[1] १- सुभद्रा हरण आदि कार्य से सिद्ध हुआ कि श्रीकृष्ण में वीर्य गुण पूर्ण नहीं है तो फिर वह मूल ब्रह्म कैसे ? इस संदेह का निवारण यों किया है कि श्री श्रीकृष्ण अलौकिक हैं उनके कार्य अलौकिक (दिव्य) हैं जिससे वे जो कुछ करते हैं उनमें कौनसा रहस्य है उसको लोक दृष्टि से कोई नहीं जान सकता है इस प्रकार बहुत प्रयत्न से पिछले अध्याय में संदेह का निवारण किया है।

२- जब अलौकिक में श्रुतियों की भी प्रवृति नहीं हो सकती है तो चक्षु आदि की कैसे हो सकेगी श्री कृष्ण में तो चक्षु आदि की प्रवृति होती है अतः वे मूल ब्रह्म नहीं है, इस प्रकार का संशय प्रमाणों के कारण हुआ है, इस संशय का भी निवारण पिछले अध्याय में यह बताकर किया है कि श्रुतियां भगवान् का ग्रहण किस प्रकार करती है।

कारिका—व्यवहारस्तथैवात्र कृष्णे पर्यवसानतः ।
सर्वेन्द्रियाणां ग्राह्यत्वं श्रुतीनां हि यथोदितम् ।।२।।

कारिकार्थ--जैसे श्रुतियों के सर्व व्यवहार, अन्त में भगवान् में ही विराम पाते है, अर्थात् भगवान् को ही ग्रहण करते है, वैसे ही सर्व अलौकिक इन्द्रियां भी भगवान् में विराम पाती हैं यानि अन्त में भगवान् को ही प्राप्त करती हैं, जिससे, अलौकिक इन्द्रियां सर्वत्र भ्रमण करती हुई भी अन्त में भगवान् के ही लावण्य रूप रस का ही पान करती है ।।२ ।

कारिका—भजनीयगुणे त्वत्र संदेहः कश्चिदुद्गतः ।
तन्निवारयितुं प्रश्नः पुना राज्ञा निरूप्यते ।।३।।

कारिकार्थ—यहां तो राजा को, भजन करने योग्य भगवान् के गुणों में एक कोई सन्देह उत्पन्न हुआ, जिसके निवारणार्थ राजा ने पुनः प्रश्न[१] किया, वह निरूपण करते हैं ।।३।।

कारिका—पूर्वाध्यायो यशोव्यक्त्यै श्रियै चायमुदीरितः ।
अतः श्रियं सदा कृष्णे नित्यामाह्राव्ययां क्वचित् ।।४।।

कारिकार्थ—पूर्व अध्याय में भगवान् के 'यश' का प्राकट्य कहा, यह अध्याय श्री गुण के प्रकट करने के लिए कहा है, जिससे यह बताया है कि भगवान् श्रीकृष्ण में अव्यय 'श्री' सदा और नित्य विराजती ह ।।४।।

कारिका—यथानन्दो न सर्वत्र तथा श्रीरपि देवता ।
तथात्वं दूषणं लोके भ्रान्तबुद्धौ निरूपितम् ।।५।।

कारिकार्थ—जैसे आनन्द, श्रीकृष्ण के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं है वैसे ही लक्ष्मी भी श्रीकृष्ण के सिवाय अन्य किसी के पास स्थिर नहीं है लोक में तो लक्ष्मीवान् होना दोष है क्योंकि चंचल होने से जिसके पास जाती है वह चंचल मन वाला हो जाता है, अतः भगवान् के पास लक्ष्मी होने से उनमें भी यह दोष है, यों भावना, भ्रान्त बुद्धि के कारण होती है ।।५।।

कारिका—अतोऽत्र भजनीयार्थं लक्ष्मीनिर्णय उच्यते ।
एकोनचत्वारिंशे च तत्प्रसङ्गात्कथान्तरम् ।।६।।

कारिकार्थ—इससे उत्तरार्ध के इस ३६ वें अध्याय में, लक्ष्मी सम्बन्धी निर्णय कहा है जिससे श्रीकृष्ण ही सेव्य है यह सिद्ध हो जावे ।।६।।

१- प्रश्न से यह सूचित किया कि, इस अध्याय में यों कहता है,

२- जो कभी कम नहीं होती है,

कारिका—शिवादिसर्वदेवानां दातृत्वमविचारतः ।
विचारेण तु दातृत्वं कृष्णस्यैव विशेषतः ।।७।।

कारिकार्थ—शिव आदि देव बिना विचार किये दान देते हैं, किन्तु विचार पूर्वक श्रेष्ठ ढंग से दान देने वाले तो श्रीकृष्ण ही हैं ।।७।।

कारिका—अविचारितदानेन स्वयं दातापि नश्यति ।
सम्प्रदानस्य का वार्ता तस्माच्छ्रीशो न तत्प्रदः ।।८।।

कारिकार्थ—बिना विचार किये यों ही दान देने से दाता का भी नाश होता है तो लेने वाले की क्या दशा होगी ? वह कही नहीं जाती है, इससे लक्ष्मीपति बिना विचार किए दान नहीं देते हैं ।।८।।

कारिका—दुष्टैव श्रीरन्यगता शुद्धा कृष्णैकतत्परा ।
कृष्णमेव ततो वाञ्छेन् न श्रियं बुद्धिमान् क्वचित् ।।९।।

कारिकार्थ—अन्य किसी के पास जो लक्ष्मी जाती है, वह चंचल दोष युक्त है, केवल जो लक्ष्मी भगवान् के पास है वह चंचल दोष रहित होने से शुद्ध है, जिससे भगवान् दोष रहित हैं, अतः बुद्धिमान को भगवान् की प्राप्ति की इच्छा करनी चाहिए न कि लक्ष्मी की इच्छा करनी चाहिए ।।९।।

आभास—पूर्वाध्याये परब्रह्मरूपे भगवति प्रमाणविषयदोषान् परिहृत्य प्रमेयविषये भगवद्दोषपरिहारार्थमध्यायान्तरमारभते । तत्र राजा भगवति दातृत्वे संदिहानः अदातृत्वस्य च लोके निन्दाश्रवणान् निर्णयार्थं पृच्छति **देवासुरमनुष्येष्विति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—परब्रह्मरूप भगवान् कृष्ण में, प्रमाण विषयक जो सत्यादि गुणरूप दोष प्राप्त हुए थे, पूर्वाध्याय में निर्गुण ही प्रमाण विषय है यों कहकर उन दोषों का परिहार किया । अब प्रमेय रूप भगवान् श्रीकृष्ण में अदातृत्व आदि दोषों के परिहार के लिए यह दूसरा अध्याय प्रारम्भ करते हैं, राजा परीक्षित भगवान् में दातृत्व का संदेह करता है और लोक में अदाता की निन्दा सुनी जाती है, जिससे इस विषय के निर्णय के लिए 'देवासुर मनुष्येषु—से दो श्लोकों में पूछता है ।

श्लोक—राजोवाच-**देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ।**
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ।।१।।

श्लोकार्थ—राजा ने कहा कि देव, असुर और मनुष्यों में जो अशिव शिव का भजन करते हैं, वे धनादि से सुख भोगते हैं अर्थात् उनके पास प्रायः धनादि सुख के साधन प्राप्त होते हैं और जो हरि की सेवा करते हैं, वे न धनाढ्य होते हैं तथा न ही सुख भोगते हैं ।।१।।

सुबोधिनी - त्रिविधा जीवा उपासनसमर्थास्तेषां भगवदुपासनं विधीयते अन्योप सनव्यावृत्तिपूर्वकम् । तत्रान्येषामैहिकदातृत्वे कथं व्यावृत्तिः स्यादिति महादेव उपक्षिप्यते । त्रिविधेषु जीवेषु ये **अशिवं** लक्ष्मीकृतशोभारहितं नाम्ना शिवं कल्याणरूपं वा **ये भजन्ति ते प्रायेण धनिनः** । ज्ञानार्थिनस्तु ततो धनं न वाञ्छन्ति इति **प्रायेणोक्तम्** । **भोजा** भोक्तारश्च । दानभोगक्षमं धनं शिवः प्रयच्छतीति, यदि भगवानपि प्रयच्छेत् तदोक्तं दूषणं न संगच्छत इति प्रकृते निषेधति **न तु लक्ष्म्याः पति**मिति विद्यते लक्ष्मीः स्वयं परदुःखहर्ता च ये लक्ष्मीपतिमुपासते न ते धनिनो न वा भोजा इत्यर्थः । गुणानां तारतम्यमत्रः विचार्यते इति तुल्यता ।।१।।

व्याख्यार्थ—देव असुर और मनुष्य तीन प्रकार के जीव ही क्यों कहे ? पशु आदि भी जीव हैं वे क्यों न कहे ? अतः यो कहने का हेतु आचार्य श्री 'उपासन समर्थाः' पद से प्रकट करते हैं कि, इन तीनों के सिवाय पशु आदि जीव उपासना करने में असमर्थ हैं, इसलिए ये तीन कहे हैं, ये तीन ही उपासना कर सकते हैं, यों कहकर दूसरे देवों की उपासना का निषेध दिखा भगवान् की ही उपासना का विधान करते हैं, दूसरे देव भी ऐहिक सुख देते हैं, उनका निषेध कैसे किया जाता है ? इसलिए इस सम्बन्ध में महादेव की सूचना करते हैं, इन तीन प्रकार के जीवों में से जो, लक्ष्मी द्वारा प्राप्त शोभा से रहित हैं ऐसे शिव की उपासना करते हैं, वे धनी होते हैं, जो ज्ञान चाहते हैं वे तो बहुत कर शिव से धन की इच्छा नहीं करते हैं, और वे, केवल धनी नहीं किन्तु भोगी भी होते हैं, कारण कि शिव वह ही धन देता है जिस धन से दान[1] भोग हो सके, जो कदाचित् हरि, धन देवे तो, उस धन में कहा हुआ भोगादि दूषण न होगा, इसलिए प्रकृति में निषेध करते हैं कि, वे लक्ष्मी के पति का भजन करने वाले वैसे नहीं होते हैं, अर्थात् पैसे प्राप्त नहीं कर सकते है, यद्यपि लक्ष्मी भगवान् के पास है, जिससे आप शोभायमान भी हैं तो भी नहीं देते हैं, क्योंकि वे आप सकल प्रकार के दुःखों के हर्ता हैं, अतः जो लक्ष्मी के पति की सेवा करते हैं, वे न धनी बनते हैं और न भोगी होते हैं, दोनों में स्वरूप से तो तुल्यता[2] है किन्तु गुणों के कारण तारतम्यता कही है ।।१।।

आभास— नन्वेवमेव स्वभाव इति चेत् तत्राह **एतद्वेदितुमिच्छाम** इति ।

आभासार्थ--यदि दोनों (शिव और हरि के स्वभाव इसी प्रकार के ही हैं तो, मैं इसको जानना चाहता हूँ कि ऐसा क्यों ?

श्लोक—**एतद्वेदितुमिच्छामः संदेहोऽत्र महान्हि नः ।**
विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोर्विरुद्धा भजतां गतिः ।।२।।

श्लोकार्थ—परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले प्रभुओं[3] के भजन करने वालों को फल भी विरुद्ध मिलता है। जैसे धनादि देने वाले शिव[4] के भक्तों को धनादि फल मिलता

---

[1] १- शिव इतना धन देते हैं जिससे शिव भक्त दूसरों का पालन पोषण कर सकते हैं और अपना व्यवहार भी अच्छी तरह चलाते हैं ।

[2] २- एकत्व

[3] ३- समर्थ वालों

[4] ४- लक्ष्मी रहित

है और धनादि न देने वाले[५] हरि के भक्तों को धनादि भोग नहीं मिलता है, इस विषय में हमको महान् संदेह है, अतः इसको जानना चाहता हूँ कि यह क्यों?॥२॥

सुबोधिनी एतदत्रत्यं संदेहनिवर्तकं यतोऽत्र **महान् संदेहः**। हि युक्तश्चायमर्थः। भक्तत्वाद्-भजनीयगुणसंदेहो वारणीय इति। **नोऽस्माकं** सर्वेषामेव। यतोत्र कौतुकाविष्टानामपि संदेह-निवृत्त्यर्थं प्रयत्न इति ज्ञापयितुमाह **विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोः**रिति। एको लक्ष्म्या सहितः। अपरो विहीनः। तत्सेवकस्तु लक्ष्मीरहितः सहितश्चेति। यस्य हि यद्रोचते स स्वभक्ताय तत् प्रयच्छति, प्रकृते तु तदभाव इत्यर्थः। अत्र संदिग्धः प्रष्टव्यः शिवः कथं स्वयं न भुङ्क्ते कथं प्रयच्छतीत्यत्र किं विषया राज्यादय उत्कृष्टाः आहोस्विदपकृष्टा इति। उत्कृष्टश्चेच्छिवः कथं स्वयं न भुङ्क्ते, अपकृष्टाश्चेत् कथं प्रयच्छतीति। तत्रोत्तरमपकृष्टा एवेति। अतस्यस्य भोगाभावः समर्थितः। तादृशं कथं ददातीति चेद् उपासकानामेव दोषादिति वक्तुं ये धनार्थं शिवमुपासते ते साहंकाराः सन्तः अहकाराभिमानिनमेव शिव मुपासते। ननु शैव-तन्त्रसिद्धं सदाशिवं वा साधारणत्व ज् ज्ञाना-धिकाराभावाच्च ॥२॥

व्याख्यार्थ—इस विषय में जो महान् संदेह है, उसका निवारण करना चाहता हूं, 'हि' पद से कहते हैं कि यह अर्थ उचित है, भक्त होने से भजनीय स्वरूप के गुण में जो संदेह हो, वह निवारण करना चाहिए, 'नः' बहुवचन देने का तात्पर्य है कि केवल मुझे संशय नहीं है सर्व सेवकों को संदेह है अतः अवश्य निवारणीय है, क्योंकि यहां अर्थात् इस विषय में जो कौतुकाविष्ट है उनको भी इच्छा है, कि संदेह की निवृत्ति के लिए प्रयत्न होना चाहिए, यह जताने के लिए कहा कि विरुद्ध शीलयोः प्रभ्वोः' दोनों समर्थ होते हुए भी विरुद्ध शील वाले हैं, एक 'हरि' लक्ष्मी सहित और दूसरा 'शिव' लक्ष्मी रहित है, उनके सेवक भी विरुद्ध फल वाले होते हैं, जैसे लक्ष्मी विहीन शिव के भक्त, लक्ष्मीवान् होते हैं और लक्ष्मी सहित हरि के भक्त लक्ष्मी विहीन होते हैं, जिसको जो वस्तु पसंद आती है वह वस्तु, अपने भक्त को देता है, यहां तो उसका अभाव है।

यहां संदेह करने वाले से पूछना चाहिए कि शिवजी आप स्वयं क्यों नही धनादि से भोग भोगते है? क्यों भक्तों को दे देते हैं? ये राज्यादि कैसे हैं, उत्तम सुखद ता हैं अथवा अधम दुःख दाता हैं? यदि उत्तम हैं तो आप क्यों नहीं भोगते हैं? यदि अधम हैं तो अपने भक्तों को क्यों देते हैं? इसका उत्तर है कि ये भोग अपकृष्ट अर्थात् अधम हैं, इसलिए आप नहीं भोगते हैं, फिर भक्तों को क्यों देते हैं? जिसका उत्तर देते हैं कि उपासकों का ही यह दोष है, वे यह ही मांगते हैं कारण कि वे उपासक अहङ्कारी हैं, अपने अहङ्कार को बढ़ाने के लिए हो शिवजी से धनादि प्राप्त कर अहङ्कार का पोषण करते हैं, इसलिए अहङ्काराभिमानी तामसगुणाविष्ट शिव की ही उपासना करते हैं न कि, शैव तन्त्र सिद्ध सदाशिव की उपासना करते हैं. कारण कि, साधारण और ज्ञानाधिकार के अभाव वाले हैं ॥२॥

आभास—अतस्तान् प्रति शिवस्तादृशमेवेति तन्निरूपयति **शिवः शक्तियुत** इति।

आभासार्थ—इस कारण से ऐसे अहङ्कारी भक्तों के लिए शिव भी वैसे होकर वैसा फल देते हैं जिसका निरूपण 'शिवः शक्तियुतः' श्लोक में करते हैं—

---

[५] लक्ष्मी सहित

श्लोक—श्रीशुक उवाच-शिवः शक्तियुतः शश्वन्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ।।३।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि शिव निरन्तर शक्ति को अपने पास रखते हैं एवं सात्त्विक, राजस तथा तामस अहङ्काराविष्ट होने से त्रिलिङ्ग कहलाते हैं और तीन गुणों के कारण तीन प्रकार के हैं ।।३।।

सुबोधिनी—अहंकाराभिमानेऽपि शिवस्य तादृशत्वे हेतुः **शक्तियुत** इति । 'शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः' इति वाक्यात् । प्रलयकर्त्रीं शक्तिं यदि शिवः शान्तात्मा क्षणमपि परित्यजेत् तदा सा प्रलयं कुर्यात् । यदि वा कण्ठे कालकूटं न स्थापयेत् तदा सर्ववस्तूनां दोषस्याधिदैविकं रूपमिति तत्परित्यागे सर्ववस्तुषु दोषाद्भमे सर्वोऽप्यन्नादिभक्षणेन म्रियेत । यदि वा सर्पान्न धारयेत् तदा सर्व एव पुरुषाः कुण्डलिनीव्याप्ताः तयैव हताः स्युः । तदाधिदैविकान्निरुद्ध्य स्थापयतीति न कुण्डलिनी कमपि हन्तीति सूचितम् । एवमग्नेर्धारणं अन्यथा सर्वं दहेदिति । एवं चंद्रमसोऽपि । अन्यथा सर्वं क्षीणं कुर्यादिति । वस्त्राणां सर्वदेवतामयत्वात् न बाधकत्वमिति न तद्धारणम् । शार्दूलचर्म तु 'मृत्योर्वा एष वर्णो यच्छार्दूलम्' इति श्रुतेः प्राणिनां मृत्युनिवारणार्थं बिभर्ति गङ्गां च बिभर्ति । सापि स्पर्शमात्रेणैव पूर्वदेहं दोषरूपं निवर्त्य भगवदीयं देहं संपादयति । जटाश्च बिभर्ति । अन्यथा वायुना हृता मेघा गच्छेयुरेव न त्वागत्य वृष्टिं कुर्युः । एवं सर्वेषां प्रयोजनानि शैवतन्त्रे निरुपितानि निर्दोषपूर्णगुणविग्रहनिरूपणप्रस्तावे । एवं परमकृपालुरपि उपासकानुरोधात् **त्रिलिङ्गो** जातः । ततो **गुणैरपि** सत्त्वरजस्तमोभिः संवेष्टितः । ननु तस्य त्रिलिङ्गत्वे वा गुणवेष्टनत्वे वा को हेतुरिति चेत् तत्राह **वैकारिकस्तैजसश्चेति** । **वैकारिकः** सात्त्विकः । **तैजसो** राजसः । **अहमहं**कारस्तदधिष्ठाता जात इति तस्य त्रिलिङ्गत्वाद **गुणसंवृतत्वाच्च** स्वयं चापि तथा जातः ।।३।।

व्याख्यार्थ—शिवजी में अहङ्कार का अभिमान मात्र है, न कि जीव की तरह अहङ्काराध्यास है, और शिवजी अहङ्कारी भक्तों को उनके योग्य फल देने के लिए तथा जगत् हितार्थ 'शक्ति' को सदैव रखते हैं, जैसाकि भागवत में कहा है 'शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः' भगवान् शिव घोर शक्ति के साथ फिरते हैं, इस प्रलय करने वाली शक्ति को शान्तात्मा शिव क्षण मात्र भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि यदि छोड़ें तो यह शक्ति क्षण में समग्र जगत् को प्रलय कर दे, और शिवजी यदि कण्ठ में कालकूट विष को धारण न करें तो सब जो भक्ष्य पदार्थ अन्न आदि हैं, उनके खाने से मृत्यु हो जावे, क्योंकि सर्व वस्तुओं में जो मृत्यु कारक दोष है उसका आधिदैविक स्वरूप कालकूट है, उसको काण्ठ में धारण कर लेने से सर्व वस्तुओं में से दोषों का अभाव हो गया है, जिससे अन्नादि भक्ष्य पदार्थ निर्दोष होकर सबको जीवन देते हैं, यदि शिवजी उसका त्याग करें तो सर्व वस्तुओं में फिर वह दोष पैदा हो जावे, जिससे अन्नादि भक्षण द्वारा सर्व की मृत्यु हो जावे ।

यदि महादेव सर्पों को धारण न करें तो कुण्डलिनी से व्याप्त पुरुष, उससे ही मारे जावे, इस कारण से कुण्डलिनी के आधिदैविक स्वरूप सर्पों का निरोधकर कण्ठ में धारण कर लिए हैं, इसलिए कुण्डलिनी किसी को भी नहीं मार सकती है, इससे यों सूचित किया है ।

आप अग्नि को धारण कर सब को दाह से बचा रहे हैं, यदि अग्नि को धारण न करें तो सबको अग्नि भस्म कर डाले।

आप चन्द्रमा को धारण कर सबको क्षीण होने से बचाते हैं, यदि चन्द्रमा को धारण न करते तो चन्द्रमा सबको अपने समान क्षीण कर देता।

आप वस्त्रों को धारण न कर नग्न रहते हैं, क्योंकि आप जानते हैं कि वस्त्र देव रूप हैं, सबकी रक्षा करते हैं, किसी के बाधक नहीं, मृत्योवा एष वर्णो यच्छार्दूलम्' इति श्रुतेः' 'व्याघ्र चर्म मृत्यु का वर्ण है' यों श्रुति में कहा है अतः मनुष्यों की मृत्यु को हटाने के लिए आप व्याघ्र चर्म धारण करते हैं।

आपने गङ्गा को धारण इसलिए किया है कि, अधिकारियों[1] को ही देह निर्दोष होवे, कारण कि गङ्गाजी स्पर्श मात्र से ही दोष रूप देह को बदलाकर भगवदीय देह बना देती है. यदि धारण न करते तो सब से स्पर्श होता सब की देह भगवदीय हो जाती तो अधिकारीपन का नियम लोप हो जाता।

आप जटाओं को धारण करते हैं, बादल केश रूप हैं, जैसे कहा है कि 'अम्बुवाहाः केशाः' यदि धारण न करते तो बादलों को वायु दूर दूर ले जाती यहां लौटकर न आते जिससे यहां वर्षा ही न पड़ती, अतः आपने जटा धारण भी आवश्यक समझा।

इसी तरह भगवान् शङ्कर ने जो २ पदार्थ धारण किए हैं उनका प्रयोजन शिव तन्त्र में कहा है, वहां शिवजी का निर्दोष पूर्ण गुण विग्रह सिद्ध किया है, इस प्रकार के होते हुए भी आप परम कृपालु होने से भक्तों के आग्रह से त्रिलिङ्ग हुए हैं, इससे ही सत्व, रज और तमोगुण से युक्त हुए हैं, उनके[2] त्रिलिङ्ग होने वा गुणों से वेष्टित होने का क्या हेतु है? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'वैकारिकस्तैजसश्चेति' अहङ्कार सात्विक, राजस और तामस होने से त्रिविध है अतः आप भी अहङ्काराभिमानी होने से त्रिलिङ्ग हुए अतः गुणों से युक्त होकर वैसे हो गए ॥३।

आभास—ततः सहिता शक्तिः पुरुषसम्बन्धात् प्रलयकर्तृत्वं परित्यज्य सृष्टिं कृतवतीत्याह **ततो विकारा अभवन्निति।**

आभासार्थ—शिवजी के साथ रही हुई शक्ति पुरुष[3] के सम्बन्ध से प्रलय करने का कार्य त्याग कर सृष्टि करने लगी, यह 'ततो विकारा' श्लोक वर्णन करते हैं—

श्लोक—**ततो विकारा अभवन्षोडशामीषु कञ्चन।**
उपाधावन्विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ॥४॥

---

[1] भगवदीयों, [2] महादेव के, [3] श्रीशिवजी के,

श्लोकार्थ—उससे सोलह विकार (दस इन्द्रियाँ,[१] एक मन[२] और पाँच भूत[३]) हुए इनमें से किसी का भी आश्रय करने वाला सर्व विभूतियों का फल भोगता है ।।४।।

सुबोधिनी—भूतानीन्द्रियाणि च **विकाराः षोडश**, महादेवः षोडशरूपो जात इत्यर्थः । 'षोडशकलोऽयं पुरुषः' इति श्रुतेः । ततः **अमीषु** भगवन्मूर्तिषु **कंचनापि** महादेवं **उपाधावन् सर्वासामेव** विभूतीनां **गतिमश्नुते** । यतः स विभूतिपतिः ऐश्वर्याण्यक्षयरूपाणि कृत्वा बिभर्तीति । अनेन तस्य विभूत्यभावो निराकृतः ।।४।।

व्याख्यार्थ—पांच महाभूत मन सहित ११ इन्द्रियां ये षोडश विकार हैं, अर्थात् इसी तरह महादेव ने १६ रूप धारण किए, जैसा श्रुति में 'षोडशकलोऽयं पुरुषः' कहा है कि पुरुष १६ कला वाला है, इस कारण इन १६ भगवान् की मूर्तियों में से किसी भी मूर्त्ति का आश्रय करता है वह सब मूर्त्तियों का फल पाता है, क्योंकि वह महादेव इन १६ विभूतियों का स्वामी है, अतः आप ऐश्वर्यों को अक्षय रूप कर धारण करते हैं, यों कहकर महादेव विभूति रूप है, इस मत का निराकरण किया है ।४।

आभास—एवं महादेवे दोषं निराकृत्य भक्तानुरोधेन विकारजातं प्रयच्छतीति निरूपितम् भगवति च वादी प्रष्टव्यः । किं लक्ष्मीरूपा विषया उत्तमा अधमा वेति । उत्तमत्वे कथं न प्रयच्छति । अधमत्वे कथं स्वयं भुङ्क्त इति संदेहः । तत्र हिशब्दः पूर्वपक्षोक्तं प्रकारं वारयति । लक्ष्मीरूपविषया उत्तमाः । अतो भगवान् बिभर्तीति युक्तम् । दोषरूपपक्षस्थापनार्थं भगवता शिवरूपमेव कृतमिति नात्र पुनः तत्पूर्वपक्षाः समायान्ति । तत्र भक्तेभ्यः कथं न प्रयच्छतीत्याशङ्कायामाह **हरिरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार महादेव में दोष का निराकरण कर, भक्तों के आग्रह के कारण ही विकारोत्पन्न फल देते हैं, यों निरूपण किया ।

भगवान् के विषय में शङ्का करने वाले वादी से पूछना चाहिए कि लक्ष्मी रूप विषय उत्तम है, या अधम ? यदि उत्तम है तो उपासकों को क्यों नहीं देते हैं ? यदि अधम है तो आप क्यों धारण करते हैं ? इस विषय में पहले कहे हुए प्रकार का 'हि' पद से निवारण करते हैं ।

लक्ष्मी रूप विषय अच्छे हैं अतः भगवान् धारण करते हैं यह उचित ही है ।

लक्ष्मी के विषय, दोषरूप हैं इस पक्ष की स्थापना करने के लिए भगवान् ने शिव रूप धारण किया है इसलिए यहां बिर पूर्व पक्ष नहीं आ सकता है, वहाँ प्रश्न होता है कि यदि लक्ष्मी का विषय उत्तम है तो भक्तों को क्यों नहीं देते हैं ? इस शंका का उत्तर देने के लिए 'हरिर्हि' श्लोक कहा है—

---

[१] राजस अहङ्कार से दश इन्द्रियां उत्पन्न हुई, [२] सात्विक अहङ्कार से मन उत्पन्न हुआ,
[३] तामस अहङ्कार से पाँच भूत (पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि) उत्पन्न हुए ।

श्लोक—हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत् ॥५॥

श्लोकार्थ—हरि ही निर्गुण, प्रकृति से पर, साक्षात् पुरुष है, सबका सब कुछ देख रहे हैं, निकट भी देख रहे हैं, उनका भजन करने वाला निर्गुण होता है ॥५॥

सुबोधिनी—प्रयच्छत्येव न तु दुःखरूपान्। यथा हरिर्गजेन्द्राय पूर्वावस्थास्थितदेहभार्यैश्वर्यादिकं त्याजयित्वा परमानन्दरूपान् तानेव दत्तवान् । **हि** युक्तश्चायमर्थः । ननु शिववत् कथं न प्रयच्छतीति चेत् तत्राह **निर्गुण** इति । गुणार्थं तदेव रूप जातमिति तेनैव रूपेण तत्कार्यं **सिद्ध्यतीति** स्वयं गुणातीतः स्थितः । अत्र रूपे गुणग्रहणे प्रयोजनं नास्तीत्याह **साक्षात्पुरुष** इति । अयं सर्वेषामुपासकानामात्मा अतस्तद्धितमेव विचारयति न तूपासनानुरोधं करोति । किंच अस्य तादृशी कापि शक्तिर्नास्ति यदनुरोधात्तां परिगृह्य सगुणो भवेत् . ननु पुरुषत्वात्प्रकृतिरायातीति चेदत आह **प्रकृतेः पर** इति । ननु तथापि भक्तक्लेशं दृष्ट्वा कथं न संपादयतीति चेत् तत्राह **स सर्वदृगिति** । स प्रसिद्धः आत्मा हितकारी । सर्वस्यापि सर्वं पश्यति । किंच । अन्तर्यामित्वान्निकटेऽपि स्थितः पश्यति । ततो यदैव यद्विना कार्यं न भवतीति जानाति तदैव तत्प्रयच्छतीति भावः । अत एवैतादृशं परमविचक्षणं **भजन्** स्वयमपि **निर्गुण** एव **भवेद्** गुणप्रयोजनाभावात् । भगवांश्च तेनैव रूपेण प्रकट इति न भक्तोपेक्षते नापि भगवान् प्रयच्छतीत्यर्थः ।५।।

व्याख्यार्थ—हरि अपने भक्तों को ऐश्वर्यादि देते हैं किन्तु दुःख रूप ऐश्वर्यादि नहीं देते हैं जैसे गजेन्द्र को, पूर्वावस्था वाले देह, स्त्री और ऐश्वर्यादि जो दुःखद थे उनका त्याग कराकर परम आनन्द रूप ऐश्वर्यादि दिए. 'ही' पद से यह सूचित किया है कि यों करना उचित हो है. शिव को तरह क्यों नहीं देते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि आप 'निर्गुण' हैं, गुण के लिए वह ही (शिवरूप) धारण किया है, उस रूप से हो वह कार्य सिद्ध करते हैं, इसलिए ही आप गुणातीत होकर विराजते हैं, इस स्वरूप में गुणों के ग्रहण करने का कोई प्रयोजन हैं, इसलिए कहा है कि, 'साक्षात् पुरुषः' साक्षात् पुरुष हैं अतः सब उपासकों की आत्मा है, जिससे उनका हित ही विचारते हैं उपासकों के अनुरोध से नहीं देते हैं, जिसके देने से भक्तों का अहित न होवे वह पदार्थ देते हैं ।

इसके पास ऐसी कोई शक्ति नहीं है. जिसके वश होकर गुणों को ग्रहण कर सगुण होवे, हरि पुरुष है, अतः प्रकृति स्त्री होने से स्वतः इनके पास आती है, जिसके उत्तर में कहा कि 'प्रकृतेः पर' प्रकृति से पर हैं, यों होते भी भक्तों के क्लेशों को देख कर क्यों नहीं गुणों को ग्रहण करते है ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि 'स सर्वदृक्' 'स' पद से यह सूचित किया है कि वह आत्मा का हित करने वाले हैं यों प्रसिद्ध है, सर्व का, सब दुःख सुख सब देख रहे हैं इस कारण से जब समझते हैं कि इसके बिना उपासक का का कार्य सिद्ध नहीं होगा, तब हो उसको वह देते हैं, इस कारण से ही ऐसे परम विचक्षण का जो भजन करता है वह स्वयं भी निर्गुण हो जाता है, कारण कि उसका गुणों से कोई प्रयोजन नहीं है ।

भगवान् उस ही (निर्गुण ही) रूप से प्रकटे हैं, इसलिए भक्त अपेक्षा नहीं करता है और भगवान् भी नहीं देते हैं ॥५॥

आभास—प्रत्युत दोषरूपान् विषयान् भक्तेषु पश्यन्नपहरतीति वक्तुमुपाख्यानमाह **निवृत्तेष्वश्वमेधेष्विति ।**

आभासार्थ - प्रत्युत (बल्कि) यदि भक्तों में कोई दोष देखते हैं तो उसका अपहरण कर लेते हैं, यों कहने के लिए निवृत्तेष्वश्वमेधेषु' श्लोक से उपाख्यान कहते हैं—

श्लोक—**निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामहः ।**
शृण्वन्भगवतो धर्मानपृच्छदिदमच्युतम् ॥६॥
स आह भगवांस्तस्मै प्रीतः शुश्रूषवे प्रभुः ।
नृणां निःश्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदोः कुले ॥७॥

श्लोकार्थ—अश्वमेधों के पूर्ण हो जाने के अनन्तर तुम्हारे पितामह राजा युधिष्ठर ने भगवद्धर्म सुनते हुए यह सुना कि भगवान् भक्तों की सम्पत्ति नहीं बढ़ाते हैं, जिसमें सन्देह हो जाने से यह अर्थ, अच्युत से पूछने लगा ॥६॥

उस पर प्रसन्न हुए वे प्रभु भगवान् मनुष्यों के निःश्रेयस के लिए जिन्होंने यदुकुल में अवतार लिया है सुनने की इच्छा वाले उसे कहने लगे ॥७॥

सुबोधिनी—अश्वमेधत्रयं कृत्वा पश्चादन्ते धर्मश्रवणस्य विहितत्वा**द्भगवद्धर्मान् शृण्वन्** भगवान् भक्तानां संपदो न प्रवर्धयतीति तत्र संदिहानः इममेवार्थं **अच्युतमपृच्छत्** । **स च भगवांस्तत्रैव** स्थितः स्व**धर्मान्** शृणोतीति **प्रीतः** सन् गुह्यमपि सिद्धान्तं **शुश्रुषवे** प्रभुत्वात्तन्निःशङ्क**माह** । ननु व्यासादयोऽपि भगवद्रूपास्तिठन्तोति । अतः कथमेवमुक्तवान् इत्याशङ्क्याह **नृणां निःश्रेयसार्थायेति** । व्यासस्यापि शास्त्रद्वारा निःश्रेयससाधकत्वमाशङ्क्य **योऽवतीर्ण** इति । रामव्यावृत्त्यर्थं गूर्वपदम् ॥६॥७॥

व्याख्यार्थ—शास्त्राज्ञा है कि तीन अश्वमेघ पूर्ण करने के बाद भगवद्धर्मों का श्रवण करे, उसी आज्ञा का पालन करते हुए राजा युधिष्ठिर भगवद्धर्म श्रवण करता था, जब सुना , कि भगवान् भक्तों की सम्पदाओं को बढाते नहीं है, तब संशय ग्रस्त हो, इसही विषय का संशय निराकरण कराने के लिए अच्युत से पूछने लगा ।

भगवान् तो वहां ही स्थिति थे, देख रहे थे कि यह भगवद्धर्मों का श्रवण कर रहा है अतः उस पर प्रसन्न थे, जिससे गुह्य सिद्धान्त भी उस सुनने वाले को निःशङ्क होकर कहने लगे, कारण कि, आप प्रभु, अर्थात् सर्व समर्थ हैं, जब वहां भगवद्रूप उपदेश करने वाले व्यासादि भी उपस्थित थे, तब आप कैसे इस तरह कहने लगे ? जिस शङ्का को मिटाने के लिए कहा कि 'नृणां निःश्रेयसार्थाय' आप मनुष्यों के निःश्रेयसार्थ यदुकुल में प्रकट हुए हैं, अतः आप कहने लगे 'योऽवतीर्ण' 'यः' पद से यह सूचित किया है कि भक्तों को मोक्ष देने के लिए कृष्ण ही प्रकटे हैं न कि बलरामजी ॥६-७॥

आभास—भगवानाह **यस्याहमनुगृह्णामीति**।

आभासार्थ—भगवान् कहने लगे 'जिस पर मैं अनुग्रह करता हूं।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
अतोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥८॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि जिस पर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसका धन धीरे-धीरे हरण कर लेता हूँ; अतः जब दुःखी स्वजनों से भी यह विशेष दुःखों से दुःखित होता है, तब इस निर्धन दुःखी को अपने जन भी त्याग देते हैं ॥८॥

सुबोधिनी—केवलं **यमनुगृह्णामि** तं तु ततोऽन्यत्र नीत्वा भक्तैः संयोज्य कृतार्थमेव मुख्यं करोमि। न तत्र हरणादिप्रयासः। यस्य तु संबन्धिनः सर्वानेवानुगृह्णामि सर्वापकारित्वात्तस्य धनं हरिष्ये। क्षिप्रवचने लृट्। तत्रापि **शनैः** यद्यल्पे ह्रियमाणे विवेको भवेत् तदा न हरिष्यामिति ज्ञापयन्। ननु धने हृते किं स्यादत आह **अतोऽधनं** तस्य जनाः संबन्धिनस्त्य**जन्ति**। तत्र हेतुः **दुःखदुःखितमिति**। अधनत्वेऽपि समर्थश्चेन्न त्यजन्ति तदीया दुःखिताः तेभ्योऽप्ययमत्यन्तं **दुःखित** इति तेभ्यश्चेदन्नादिकं वाञ्छतीत्यर्थः। सर्वथा अप्रवृत्तस्येयं व्यवस्था, बीजसंस्कारश्च यस्य जातः ॥८॥

व्याख्यार्थ—जब अकेले पर ही कृपा करता हूँ तब धन न हर कर, उसको ऐसी बुद्धि देता हूँ, जो प्रपञ्च का त्याग कर भक्तों का जाकर संग करता है और वहाँ कृतार्थ हो मुख्य भक्त बन जाता है, और जब उसके सब सम्बन्धियों (कुटुम्ब) पर अनुग्रह करना चाहता हूं तब उसका धन हरण करता हूं, क्योंकि वह धन सबका अपकारी होता, लट् लकार देकर शीघ्रता बताई है, किन्तु 'शनैः' पद से यह सूचित किया है कि थोड़ा थोड़ा हरण कर देखता हूं कि, इतने हरण से इसको विवेक आया है वा नहीं ? यदि विवेक आजाता है, वह धन अपकारी अब नहीं होता है भगवत्सेवादि में धन को लगाते हैं, तब आगे विशेष का हरण नहीं करता हूं, धन हरण से क्या होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि, निर्धन होने पर उनके सम्बन्धी उस कुटुम्ब का त्याग करेंगे, यदि निर्धन अवस्था में भी समर्थ हो शान से रहता हो तो न छोड़ेंगे, इस पर कहते हैं कि 'दुःख दुखितं' अपने दुःखी सम्बिधियों से भी विशेष जब दुःखी होता है और उन दुःखी सम्बधियों से अन्नादि की भीख मांगता है तब त्याग देते है, यह धन हरण करने की जो व्यवस्था है, वह उनके लिए है जिसमें भक्ति के बीज की स्थापना होते हुए भी वह सेवादि में प्रवृत्त नहीं होता है, ऐसे जन के शिक्षार्थ ही यह व्यवस्था कर रखी है ॥८॥

आभास—ननु बन्धुपरित्यागे किं स्यादत आह **स यदा वितथोद्योग** इति।

आभासार्थ—बन्धुओं के त्याग करने से क्या होगा ? इस पर 'स यदा वितथोद्योगो' यह श्लोक कहते है—

श्लोक—स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया ।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥९॥

श्लोकार्थ – वह जब धन-प्राप्ति की इच्छा से उद्यम करता हैं, किन्तु वे सब उद्यम जब उसके असफल हो जाते हैं, तब वह निष्किञ्चन हो, मेरे निष्किञ्चन भक्तों से मैत्री करता है; ऐसी अवस्था में उस पर मैं स्वतः अनुग्रह करूंगा अर्थात् करता हूँ ॥९॥

सुबोधिनी—**यदा स** त्यक्तबन्धुस्तदा धनमुपार्ज्य बन्धून् वशीकरिष्यामिति निश्चित्य धनार्थं यतते ततस्तस्य धनवर्द्धनकारणमपि नाशयामीत्याह **वितथोद्योग** इति । **वितथा उद्योगाः** धनार्जनोपाया यस्य । तदा केवल**नेहया** उपायरहितया क्लिष्टः सन् **निर्विण्णो** भवति विरक्तो भवति । तदा योग्यं योग्येन संबध्यत इति **मत्परैः** **कृतमैत्रो** भवति । तदा मत् मत्त एव स्वत एवाहं **अनुग्रहं करिष्ये** ॥९॥

व्याख्यार्थ--जब उसको बन्धु गण त्याग देते हैं, तब वह निश्चय करता है कि अब परिश्रम कर धन इकट्ठा करके बान्धवों को अपने वशीभूत कर लूंगा, ऐसे विचार वाले का जैसे धन नाश किया वैसे धन इकट्ठे करने के कारण (साधन) भी नाश करूंगा, जिससे उसका वह उद्योग नष्ट हो जाने से दुःखी हो विरक्त हो जाता है अर्थात् उसका सबसे[1] प्रेम (सम्बन्ध) टूट जाता है ।

संसार से विरक्त हो जाने से 'योग्य योग्य से हो मैत्री करता हैं' इस न्यायानुसार, जो विरक्ति के कारण मेरे परायण है उनसे मैत्री[2] करता है, तब मुझ से स्वतः अनुग्रह प्राप्त कर सकता है- अर्थात् ऐसी दशा में उस पर स्वयं स्वतः अनुग्रह करूंगा ॥९॥

आभास – कोऽनुग्रह इति चेत् तत्राह **तद्ब्रह्मेति** ।

आभासार्थ—कौनसा अनुग्रह करेंगे ? इस पर 'तद्ब्रह्म' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।
अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान्भजते जनः ॥१०॥

श्लोकार्थ—वह ब्रह्म परम, सूक्ष्म, केवल चित् और अनन्त है, अतः बहुत कष्ट से जिसकी सेवा हो सके, ऐसे मुझे छोड़कर मनुष्य सुआराध्य अन्य देवों को भजते हैं ॥१०॥

१- धन, सम्बन्धी और परिश्रम आदि से,
२- सम्बन्ध,

सुबोधिनी—ममानुग्रहो ब्रह्मभावः पश्चान्मत्सेवया सर्वसुखमिति । अत्रायं क्रमः, प्रथमतः सेवकैः सह मैत्र्या सेवकसमानशीलव्यसनत्वे सेवकतुल्यता । ततस्तैर्मया अन्येन वा तस्य ज्ञानोदयः, ततो ज्ञानपूर्णः केवल एव **मां भजते** । शब्दब्रह्मव्यावृत्त्यर्थं **परमम्** । कार्यव्यावृत्त्यर्थं **सूक्ष्मम्** सगुणव्यावृत्त्यर्थं **चिन्मात्रम्** । असज्जीवभावव्यावृत्त्यर्थं सदिति । सज्जीवव्यावृत्त्यर्थं **अनन्त**मिति । एवं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति यल्लक्षणमुक्तं तत्त्वं करोमीत्यर्थः । नन्वेवं कृते कः पुरुषार्थः सिद्ध्येत् कथं ज्ञानमेव प्रथमतो नोपदिश्यते । सत्यम् । अन्यदपि प्रयोजनमस्तीत्याह **अतो मां सुदुराराध्य**मिति । स्वयं न प्रयच्छति स्थितमपि हरति । मुक्तिमेव प्रयच्छति । नत्वैहिकं प्रार्थ्यमानमपि इति **दुराराध्यता** । अत एव ऐहिका मां **हित्वा अन्यान्** भजन्ते । अन्यथा मद्भक्ता नानाविधाः दुष्टाः शिष्टा अपि भवेयुरिति तद्व्यावृत्त्यर्थं तथाकरणमित्यर्थः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—आप कौनसा अनुग्रह करते हो ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि उसको ब्रह्म भाव हो जाता है, यही मेरा अनुग्रह है, उसके बाद मेरी मानसी सेवा से सर्व सुख प्राप्त करता है, यहां यह क्रम है-निष्किंचन होने पर प्रथम मेरे सेवकों से मैत्री होती है, जिससे इसके शील व्यसनादि मेरे सेवकों के समान हो जाते हैं, पश्चात् उन सेवकों द्वारा मुझसे वा दूसरे किसी से उसके ज्ञान का उदय होता है फिर ज्ञान से पूर्ण हो अकेले ही मेरा भजन करने लग जाता है ।

शब्द ब्रह्म के भाव की व्यावृत्ति के लिए 'परम' शब्द दिया है, कार्य ब्रह्म की व्यावृत्ति के लिए 'सूक्ष्म' शब्द दिया है, सगुण ब्रह्म की व्यावृत्ति के लिए 'केवलचित्' शब्द दिया है, असत् जीव भाव की व्यावृत्ति के लिए 'सत्' पद दिया है, सत् जीव भाव की व्यावृत्ति के लिए 'अनन्त' पद दिया है, इस प्रकार की व्याख्या से ब्रह्म का 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति प्रोक्त लक्षण देकर यह सूचित किया है कि ऐसे सेवक का मैं 'तत्वं' वह तू है इस प्रकार का ब्रह्म भाव सिद्ध करता हूं ।

यों करने से कौनसा पुरुषार्थ सिद्ध होगा ? पहले ही क्यों न ज्ञान का उपदेश किया जाता है ? इस पर कहते हैं कि यह सत्य है कि, पहले ही ज्ञान का उपदेश नहीं दिया जाता है, धनादि हरण कर निष्किंचन करने में आता है पश्चात् मुक्ति दी जाती है, किन्तु यों करने में दूसरा भी प्रयोजन है, इस लोक के सुख मांगने पर भी नहीं दिए जाते हैं, इत्यादि कारणों से भगवान् कष्ट से आराध्य है यों समझकर ही लौकिक जन मुझे त्याग दूसरों का भजन करते हैं, यदि दूसरों के भक्त न होकर मेरे ही भक्त रहें तो मेरे भक्त अनेक प्रकार के दुष्ट वा कोई अच्छे होते, यों न हो तदर्थ मैंने यह व्यवस्था कर रखी है ॥१०॥

आभास—अन्योऽप्येवं चेत्को विशेष इत्यत आह **तत** इति ।

आभासार्थ—यदि दूसराभी वैसा होवे तो आपमें फिर क्या विशेषता रही? इस पर यह 'ततस्त आशुतोषेभ्यो' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः ।**
मत्ताः प्रमत्ता वरदान्विस्मरन्त्यवजानते ॥११॥

श्लोकार्थ—पश्चात् वे शीघ्र प्रसन्न होकर कामनाओं को पूर्ण करने वाले देवों से राज्य और लक्ष्मी आदि प्राप्त कर अभिमान में डूब, घमण्डी हो, वरदाताओं को भी भूल जाते हैं, किन्तु इतना ही नहीं, उनका भी तिरस्कार करने लग जाते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—सर्वे बाह्या **आशुतोषाः** यथा यथा सूक्ष्मो बाह्यस्तथा तथा शीघ्रं परितुष्यतीति लोकसिद्धोऽयमर्थः । **ततस्तेभ्यो** राज्यादिकं लब्ध्वा **राज्यश्रिया उद्धताः** सन्तः आदौ **मत्ता** भवन्ति स्वात्मानमेव न जानन्ति । ततः **प्रमत्ताः** असावधानाः सन्तः धर्मादिकार्येषु विमुखा भवन्ति । तत उपजीव्यानपि न गणयन्तीत्याह **वरदान् विस्मरन्तीति** स्मरन्त्येव न । अथ यदि प्रसादात्स्वयमेव स्मृतिपथारूढा भवेयुः वरदास्तदाप्य**वजानते** । तस्मादग्रे अनर्थः पर्यवस्यतीति भगवान् प्रथमत एव निवर्तत इत्यर्थः ॥११॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के सिवाय जो अन्य सूक्ष्म और छोटे देव हैं, वे सब शीघ्र प्रसन्न होने वाले हैं, यह बात लोक में प्रसिद्ध ही है, इस कारण से उन शीघ्र प्रसन्न होने वाले देवों को सरलता से प्रसन्न कर उनसे राज्यादिक प्राप्त कर राज्य की श्री से उद्धत होने से अभिमान में डूब जाते हैं, पहले आत्मा (स्वरूप) को ही नहीं जानते हैं, उससे असावधान बन धर्म आदि कार्यों से विमुख हो जाते हैं, पश्चात् जिनकी कृपा से ऐसे राज्यादि श्री से युक्त हुए उनको भी भूल जाते हैं, कभी याद भी नहीं करते हैं, अगर, वे देव, कृपा कर स्वयं ही अपना स्मरण करावें तो भी उनका तिरस्कार करते हैं, यों करने से अन्त में हानि ही होती है, इसलिए हरि, पहले ही ऐसा अविचारित कार्य नहीं करते हैं ॥११॥

आभास—आस्तां धनादिवार्ता शापप्रसादावेव भगवान्न करोति आत्मत्वात् । दानवार्ता दूर इति निरूपयितुमुपाख्यानान्तरमारभते **शापप्रसादयोरिति** ।

आभासार्थ—धनादि देने की वार्ता यों भले ही किन्तु आप आत्मा होने से जब न शाप देते हैं और न अनुग्रह करते हैं तब वरदान की बात तो दूर रही जिसका निरूपण करने के लिए दूसरा उपाख्यान 'शापप्रसादयोः' श्लोक से प्रारम्भ करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**शापप्रसादयोरीशा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।**
सद्यःशापप्रसादोऽङ्ग शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः ॥१२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि वर और शाप देने के अधिकारी ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देव हैं । हे अङ्ग ! इन तीनों में वर और शाप देने की सामर्थ्य है, तो भी शीघ्र देने वाले ब्रह्मा और शिव हैं न कि विष्णु ॥१२॥

सुबोधिनी—अत्यन्तापराधेऽपि कृते भगवान् शापं न प्रयच्छति । यथा शिशुपालाय । आत्मत्व तत्र हेतुः, अत्यन्तसेवायां वरमपि न प्रयच्छति, सुखरूपत्वं तत्र हेतुः, न हि कामिनी उपभोगेन सेवमाना कदाचिदपि वरं प्रयच्छति । तस्माद्भगवत्सेवैव परमपुरुषार्थरूपेति । नन्वसमर्थो

भविष्यतीति चेत् तत्राह **शापप्रसादयोः ब्रह्मविष्णुशिवादयः** सर्व एव **ईशाः** । **आदिशब्देन** दुर्गागणेशादयोपि । सामर्थ्येपि विद्यमाने **सद्यःशापप्रसाददः शिवो ब्रह्मा च**, अत्रैकस्य दकारस्य लोपश्छान्दसः, अंगेति पाठे । अन्यदा तु शापप्रसाददस्तु शिवो ब्रह्मेत्येव । **अच्युतस्तु** नैवंविधः स हि पुरुषस्य स्वरूपं स्वभावमग्रे कार्यं सर्वं विचार्यैव शापं वरं वा प्रयच्छति नत्वन्यथा ।१२।

व्याख्यार्थ—यदि कोई भगवान् का विशेष अपराध करे तो भी आप शाप नहीं देते हैं, जैसे शिशुपाल ने इतना अपराध किया तो भी उसको शाप न दिया कारण कि आप सब की आत्मा है, इसलिए शिशुपाल की भी आत्मा होने से उसको शाप नहीं दिया । अत्यन्त कोई सेवा करे तो उसको वर भी नही देते हैं, कारण कि सेवा करने वाले के लिए सेवा ही आनन्द रूप है, इससे विशेष आनन्द किसी में हो तो वर देवे. जैसे उपभोग से आनन्द लेने वाली स्त्री, कभी भी भोक्ता को वर नहीं देती है क्योंकि यदि वर दे तो उपभोग छूट जावे तो कामिनी आनन्द से वंचित हो जाय. ऐसे सेवक को भगवान् कोई वर दे तो सेवक सेवा के आनन्द से वञ्चित हो जावे, इससे सूचित किया हैं कि भगवत्सेवा ही परम पुरुषार्थ रूप है ।

असमर्थ होंगे, इसलिए वर नहीं देते हैं. इस शङ्का का निवारण करने के लिए ही यह श्लोक कहा है, जिसमें कहते हैं—शाप और वर देने के अधिकारी, ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं आदि पद से दुर्गा गणेश आदि भी सूचित किए हैं, यद्यपि शाप और प्रसाद अर्थात् वर देने में सब ही समर्थ हैं किन्तु शाप तथा वर, ब्रह्मा और शिव शीघ्र देते हैं ।

श्लोक के उत्तरार्ध में सद्यः शापप्रसादोऽङ्ग' पाठ है, 'अङ्ग' सम्बोधन देने से यहां एक 'द' का लोप वैदिक व्याकरणानुसार किया है, अन्यथा यहां 'सद्यः शिवप्रसाददः'[1] पाठ समझना चाहिए जिससे अर्थ 'शाप और वर को देने वाले' होता है, विष्णु तो ऐसे ही बिना विचारे वर वा शाप शीघ्र नहीं देते हैं, सेवक का स्वभाव व रूप देख और आगे का विचार कर बाद में शाप वा वर देते हैं ।।१२।।

आभास—अत्राविचारदानं वक्तुं उपाख्यानमुपक्षिपति **अत्र चोदाहरन्तीममिति** ।

आभासार्थ—'अत्र चोदाहरन्ती' श्लोक से उस वर के उपाख्यान का वर्णन करते है, जिसमें बिना विचार वर दिया है—

श्लोक—अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुराविदः ।
वृकासुराय गिरिशो वरं दत्त्वाऽप संकटम् ।।१३।।

श्लोकार्थ—पूर्व इतिहास को जानने वाले इस इतिहास को उदाहरण में कहते हैं कि महादेव ने वृकासुर को वर देकर संकट को पाया ।।१३।।

---

[1] १- 'शापप्रसादौ ददाति, इति शाप प्रसाद दः' यों समास है ।

सुबोधिनी—इयमपि परमतभाषा अत आह **पुराविद** इति । अविचारदानस्य सङ्क्षेपेण फलमाह **वृकासुरायेति** । **गिरिशो** महादेवः स्वयमेव **वरं दत्त्वा** पश्चात्सङ्कटं परमक्लेशं प्राप्तवान् ।१३।

व्याख्यार्थ—'पुराविदः' इतिहास जानने वाले यह इतिहास कहते हैं, इससे जाना जाता है कि यह परमत भाषा' है, बिना विचारे दान करने का फल क्या होता है ? वह संक्षेप में कहते हैं कि महादेव ने बिना विचारे वृकासुर को वर दिया, जिसका फल महादेव को 'सङ्कट मिला ।।१३।।

आभास—कथमित्याकाङ्क्षायां सर्वमेव वृत्तान्तमाह **वृको नामेति** ।

आभासार्थ—कैसे सङ्कट को प्राप्त हुए इस आकांक्षा से सर्व वृतान्त 'वृको नाम' दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदम् ।
दृष्ट्वाशुतोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्मतिः ।।१४।।
स आदिदेश गिरिशमुपाधावाशु सिद्धयति ।
सोऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यामाशु तुष्यति कुप्यति ।।१५।।

श्लोकार्थ—शकुनि का वृक नाम वाला असुर पुत्र था, जो दुर्बुद्धि था । वह मार्ग में नारदजी को देखकर उनसे पूछने लगा कि तीन देवों में शीघ्र प्रसन्न होने वाला कौनसा देव है ? ।।१४।।

नारदजी ने कहा कि 'महादेव' ही शीघ्र प्रसन्न होते हैं, अतः तू उनके पास जल्दी जाकर सेवा करे, तो तेरी कामना जल्दी सिद्ध होगी; क्योंकि शिव थोड़े ही दोष से कुपित होते हैं और थोड़े ही गुण से प्रसन्न हो जाते हैं ।।१५।।

सुबोधिनी—कर्मणापि **वृक** इति तस्य वृक एव नाम । **शकुनेः** हिरण्याक्षपुत्रस्य **पुत्रः** । स हि दुरात्मा सर्वान् देवान् मूलतो नाशयिष्यामीति विचार्य तेषां मूलभूतास्त्रय इति तन्निराकरणव्यतिरेकेण निराकर्तुमशक्या इति ते चैकस्यापि वाक्यं सर्वे मन्यन्त इति तत्कृतोपायेनैव ते मारणीया इति निश्चित्य तेषामन्यतरं प्रसाद्य तमर्थं साधयिष्यामि इति तदभिज्ञं **नारदं पप्रच्छ** । सोऽपि नारदो देवसूत्रकर्ता । **पथि** दैवगत्या मिलितः । त्रयाणां मध्ये क **आशुतोष** इति पृष्टः सन् **गिरिशमादिदेश** । **स च दुर्मतिर्वृकः** । न हि नारदः कदाचिदपि देवनाशोपायं उपदेक्ष्यति नाप्यज्ञः । एवं ज्ञात्वापि पृष्टवानिति दुर्मतिरेव । नारदस्य वाक्य**मुपाधाव आशु सिद्धयतीति** । सेवां कुरु शीघ्रमेव फलसिद्धिर्भविष्यतीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह **सोऽल्पाभ्यामिति** । **स** शिवः **अल्पाभ्यामेव गुणदोषाभ्यामल्पेन** गुणेन **तुष्यति**, अल्पेनापि दोषेण **कुप्यति** ।।१४-१५ ।

व्याख्यार्थ—कर्म से भी वह 'वृक' (भेड़िये जैसा) था, इसलिए इसका नाम वृक ही था । हिरण्याक्ष के पुत्र शकुनि का पुत्र था, वह निश्चय दुष्ट बुद्धि वाला था, जिससे उसने मन में विचार कर लिया था कि सर्व देवों को जड़ से नष्ट करूंगा,

सब देवों की जड़—ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन देव हैं, इसलिए इन तीनों के निराकरण किए बिना दूसरे देव, नाश होने कठिन हैं. एक का भी वचन, वे सब, मानते हैं अतः उनके कहे हुए उपाय से ही सब का नाश करना चाहिए, यों निश्चय कर, विचारा कि, इनमें से एक को प्रसन्न कर, ऐसा वर प्राप्त करूंगा, जिससे अपने मनोरथ को सिद्ध करूंगा, इस वास्ते इस विषय के अभिज्ञ नारदजी से पूछने लगा।

वह नारदजी भी, देवों के कार्य करने वाले हैं, मार्ग में देवगति से इसको मिल गए, इनने इस दुरात्मा से पूछा कि तीन देवों में से शीघ्र प्रसन्न होने वाले कौन है? नारद ने बतलाया कि महादेव 'आशुतोष' हैं वृक तो दुर्मति अर्थात् दुष्ट बुद्धि वाला है ही, नारदजी ने भी कहा कि जल्दी उनके पास जा, जल्दी कार्य सिद्ध होगा, सेवा कर, शीघ्र ही फल की सिद्धि होगी, उनमें कारण बताते हैं कि वह शिव थोड़े ही गुण से प्रसन्न होते हैं और स्वल्प ही दोष से कुपित हो जाते हैं ॥१४॥१५॥

आभास—त्वदभिलषितं जानामीति ज्ञापयन् दृष्टान्तमाह **दशास्यबाणयोस्तुष्ट** इति।

आभासार्थ—तेरी इच्छा को मैं जानता हूं, इसलिए 'दशास्यबाणयोः' श्लोक में दृष्टान्त देकर निश्चय कराते हैं, शिव से तेरा कार्य सिद्ध होगा—

श्लोक—दशास्यबाणयोस्तुष्टः स्तुवतोर्बन्दिनोरिव ।
ऐश्वर्यमतुलं दत्त्वा तत आप सुसंकटम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—केवल भाटों की तरह स्तुति करने वाले रावण और बाण पर भी शिवजी ने प्रसन्न होकर उनको अतुल ऐश्वर्य दिया। उस दिए हुए ऐश्वर्य के कारण ही आपको उनका पुरपाल (द्वारपाल) होना पड़ा ॥१६॥

सुबोधिनी—का तेषामुपासनेत्याकाङ्क्षायामाह **स्तुवतो**रिति। स्तोत्रमात्रेणैव **संतुष्ट**स्तदपि स्तोत्रं नैव भक्त्या किन्तु जिघृक्षयेति वक्तुं दृष्टान्तमाह **बन्दिनोरिवे**ति। यथा वैतालिकाः स्तुवन्ति। ततस्तयो**रैश्वर्यमतुलं दत्त्वा** ततः स्वदत्तैश्वर्येणैव **सङ्कटमाप**। तयोः पुरपालो जात इत्यर्थः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—उन दोनों ने, किस प्रकार उपासना की ? इस आकांक्षा पर कहते हैं कि, केवल स्तुति की, जिससे ही प्रसन्न हो गए, वह स्तुति भी भक्ति से नहीं किन्तु जिघृक्षा[1] से की, इसलिए दृष्टान्त देते हैं कि भाटों की तरह स्तुति की, उस स्तुति से प्रसन्न होकर उनको अतुल ऐश्वर्य दे दिया, जिससे स्वय संकट को प्राप्त हुए, अर्थात् उनके द्वारपाल बने ॥१६॥

---

[1] अपने वश कर कार्य सिद्ध कराने के लिए।

आभास—एवं स्वहितं श्रुत्वा तथा कृतवानित्याह **इत्यादिष्ट** इति ।

आभासार्थ—यों अपना हित सुनकर, नारदजी के कहे अनुसार करने लगा। वह 'इत्यादिष्ट' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**इत्यादिष्टस्तमसुर उपाधावत्स्वगात्रतः ।**
केदार आत्मक्रव्येण जुह्वानोऽग्निमुखं हरम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार नारद से उपदेश पाया हुआ असुर केदार में जाकर अपने शरीर से माँस निकालकर, अपने उस माँस का हवन कर, अग्नि मुख महादेव को प्रसन्न करने लगा ॥१७॥

सुबोधिनी—**तं** महादेवम् । **असुरः स उपाधावत्** । उपाधावनमेवाह **स्वगात्रतः** स्वशरीरादेव स्वस्य **क्रव्यं** मांसमुद्धृत्य अग्नौ महादेवं मन्त्रेण भावयित्वा **केदारे** अतिशुद्धे हिमालये **अग्निमुखं क्रव्येणोपाधावदि**त्यनेन महादेवोद्देशेन स्वमांसमजुहोदिति ज्ञापितम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—'तं' उसको अर्थात् महादेव को, वह असुर सेवा से प्रसन्न करने लगा, किस प्रकार? वह प्रकार बताते हैं कि अपने शरीर में से अपना मांस निकालकर उस मांस का उस अग्नि में होम करने लगा, जिससे मन्त्र द्वारा महादेव को भावना की थी, अर्थात् यह महादेव ही है. किस स्थान पर यों किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'केदारे' अति पवित्र हिमालय पर अग्निमुख महादेव में, अपना माँस होगा, अर्थात् इस अग्नि में महादेव विराजते हैं, अतः यह अग्नि महादेव का मुख है जिससे मेरी दी हुई यह बलि आप ग्रहण करेंगे ॥१७॥

आभास—एवं सप्तदिनपर्यन्तं कृतवान्। महादेवः वृकोऽपि भगवत्प्रतीक्षया सप्तदिवसानङ्गीकृतवन्तौ।

आभासार्थ इस प्रकार, सात दिन तक वृक ने अपना मांस उस अग्नि में होमा, महादेव और वृक दोनों ने सातवें दिन तक इसकी राह देखी, अर्थात् महादेव ने सोचा कि अब तक तो यों किया आगे क्या करता है ? इसलिए शान्त रहे और वृक भी आशा से होम करता रहा जब देखा कि कुछ फल न हुआ तब जो किया, वह 'देवोपलब्धि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**देवोपलब्धिमप्राप्य निर्वेदात्सप्तमेऽहनि ।**
शिरोऽवृश्चत्स्वधितिना तत्तीर्थक्लिन्नमूर्धजम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—सातवें दिन भी देव का दर्शन वा वरादि प्राप्त न हुआ, तब निराश हो, केदार तीर्थ के जल से भीगे हुए केशों वाले अपने मस्तक को कुल्हाड़ी द्वारा धड़ से अलग कर दिया ॥१८॥

सुबोधिनी—ततो भगवान् फलदो जात इति निश्चित्य **देवस्याप्युपलब्धिमप्राप्य सप्तमेऽहनि** मरणं वा फलं वा साधयिष्यामीति निश्चित्य **स्वधितिना स्वशिरः अवृश्चत्**। सङ्कल्पपूर्वकं तथा कृतवानिति ज्ञापयितुमाह **तत्तीर्थक्लिन्नमूर्धजमिति**। तत्र केदारोदकतीर्थं प्रसिद्धम् । यस्मिन्पीते उदरे लिङ्गानि भवन्ति । तेन क्लिन्ना मूर्धजाः केशा यस्य ।।१८।।

व्याख्यार्थ—सातवें दिन देव की प्राप्ति न पाकर, यह निश्चय किया कि आज मरूंगा या फल की प्राप्ति करूंगा, यों निश्चय कर अपनी कुल्हाड़ी से अपना शिर काट डाला अर्थात् धड़ से पृथक् करने लगा, यों अचानक नहीं करने लगा, किन्तु विचार कर किया है यों जताने के लिए कहते हैं कि 'ततीर्थक्लिन्नमूर्धजं' हिमालय में प्रसिद्ध केदार तीर्थ के जल से अपने मस्तक के बाल भिगो दिए बाद में शिरच्छेद करने लगा, यों करने का कारण बताते हैं कि, इस प्रसिद्ध केदार तीर्थ के जल के पान करने से उदर में लिङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए ऐसे जल से अपने केश भिगो दिए अर्थात् गीले किए ।।१८।।

आभास—एवं तस्य साहसं दृष्ट्वा महादेवो मूलकारणाच्छङ्कितमनाः प्रसन्नो जात इत्याह तदा महाकारुणिक इत्यादि ।

आभासार्थ—इस प्रकार महादेव उसका साहस देखकर यों करने का जो मूल कारण था उससे मन में शङ्कित तो हुए, किन्तु ऐसे साहस के कारण प्रसन्न हुए जिसका वर्णन 'तदा महाकारुणिकः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक - **तदा महाकारुणिकः स धूर्जटि-**
र्यथाऽह्वयं चाग्निरिवोत्थितोऽनलात् ।
निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत्
तत्स्पर्शनाद्भूय उपस्कृताकृतिः ।।१९।।

श्लोकार्थ—तब महान् दयालु वह महादेव आवाहन के अनुसार उस अग्नि से अग्नि की तरह प्रकटे । प्रकट होते ही अपनी भुजाओं से आलिङ्गन करते हुए उसके हाथ पकड़ लिए और यों करने से रोक दिया, उन (महादेवजी) के स्पर्श से वृक का पहले के समान सुन्दर शरीर हो गया ।।१९।।

सुबोधिनी—परदुःखं दृष्ट्वा यो दुःखितो भवति स **कारुणिक** इति । भगवांस्तु परमकारुणिकः दुःखोत्पत्तिसम्भावनायामपि दुःखितो भवति । तत्र हेतुभूतं विशेषणमाह **स धूर्जटिरिति** । श्मशाने वृथामृतान् दृष्ट्वा दुःखितः तत्पांशुषु लोटनाद्धूसरवर्णा जटा जाता इति । **यथाह्वयमिति** **आह्वयमाह्वानम्** । आगच्छ रुद्र इमं बलिं गृहाण स्वाहेत्यत्र यदैव शीघ्रमागच्छेत्याह्वानं कृतं तदैव समागतः । सन्देहाभावाय प्रत्यक्षदृष्टं दृष्टान्तीकरोति **अग्निरिवेति** । चकारान्मनसाह्वानसंभावनेनैव समागत इति ज्ञापितम् । **तदा भगवानालिङ्गनेन निष्पीड्य न्यवारयत्** । शिरश्छेदनं न कर्तव्यमिति । नन्वेवं चेद्दया, प्रथमं गात्रच्छेद एव कथं न निवारित इति चेत् तत्राह **तत्स्पर्श-**

नाङ्गूय उपस्कृताकृतिरिति । महादेवस्य स्पर्शमात्रेण **भूयः उपस्कृता** पूर्ववत्पुष्टा **आकृतिर्देहो** यस्य । स्पर्शमात्रेणैव पूर्ववज्जात इत्यर्थः । एवं सति तस्य प्रत्यापत्तिरुक्ता ।।१९।।

व्याख्यार्थ— दूसरे का दुःख देखकर जो स्वयं दुःखी होता है वह 'दयालु' कहा जाता है, और दूसरे को कदाचित् इससे जो दुःख होगा', ऐसी सम्भावना होने पर दुःखी होता है वह 'परम-कारुणिक कहलाताः है, महादेवजी ऐसे होने से 'महाकारुणिक' हैं, जिसमें हेतुभूत विशेषण देते हैं 'स धूर्जटिः' आपकी जटाएँ मैली सी जो देखने में आती है, वे इसलिए कि, आप शमशान में वृथा मृत्यु को प्राप्त मनुष्यों को देख दुःखी हो. उनकी धूलि में लोट-पोट होते हैं जिससे आपकी जटाएँ धूसर वर्ण वाली हो गई हैं, हवन करते समय 'आगच्छ रुद्र इमं बलिं गृहाण स्वाहा' यह मन्त्र पढ़कर जब शीघ्र बुलाने की प्रार्थना की तब ही आप पधारे, इसमें किसी प्रकार संशय नहीं है, प्रत्यक्ष देखे हुए देव की तरह दृष्टान्त देते हैं कि 'अग्निरिव' अग्नि की तरह 'च' पद से यह भी सूचित किया कि मन से भी आह्वान की संभावना होंने से आप प्रकटे हैं, प्रकट होते ही जोर से आलिङ्गन कर दबाते हुए हाथ पकड़ शिरच्छेद से रोक लिया, यदि महादेव ऐसे दयालु हैं तो अब रोकने से पहले ही शरीर से मांस निकालने के समय क्यों न रोक दिया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि महादेवजी के स्पर्श से उसका अर्थात् वृक का शरीर पहले जैसा हो गया, पहले न रोकना इसकी दृढ़ता देखने के लिए था ।।१९।।

आभास—अधिकं दातुमाह तमाहेति ।

आभासार्थ— महादेवजी ने न केवल इसका शरीर वैसा ही कान्तिमान् बना दिया, किन्तु इससे विशेष देने के लिए 'तमाह श्लोक में कहने लगे—

श्लोक—**तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे**
यथानिकामं वितरामि ते वरम् ।
प्रीये यतो येन नृणां प्रपद्यतां
अहो त्वयात्मा परितप्यते वृथा ।।२०।।

श्लोकार्थ – हे अङ्ग ! अब बस कर बहुत किया, मुझसे वर माँग ले । जैसा चाहेगा, वैसा तुम्हें वर दूँगा; क्योंकि तुम्हारी भक्ति से मैं प्रसन्न हुआ हूँ । जैसी भक्ति तुमने दिखाई है, वैसी किसी ने नहीं दिखाई, तुम्हारी भक्ति अचम्भे में डालने वाली है । अब जब मैं प्रसन्न हो गया हूँ, तो तू वृथा कष्ट क्यों करता है ? अपना वध पुरुषार्थ नहीं है ।।२०।।

सुबोधिनी वचनेनापि निराकृतवानित्यर्थः । तदेव वचनमाह **हे अङ्ग अलमलमिति । मे** मत्तो **वृणीष्व । यथानिकामं** यथेच्छं **ते** तुभ्यं **वरं वितरामि** दास्यामि । ननु किमिति दास्यसीति चेत् तत्राह **यतः प्रीये** प्रीतो भवामि । प्रीतावेव किं कारणमिति चेत् तत्राह **नृणां प्रपद्यतामिति ।**

येन कारणेन प्रपन्ना भवन्ति प्राणिनस्तस्तेन कारणेन प्रीय इत्यर्थः । प्रपत्तिः प्रीतिहेतुर्निरूपिता । ननु प्रपत्तिमात्रेण कथं वाञ्छित दास्यसीत्याशङ्कायामाह **अहो** इति । नह्येतादृशी प्रपत्तिः क्वचिद्दृष्टा वर्तते । अत आश्चर्यरूपत्वात्प्रीत इत्यर्थः । एवं प्रसादानन्तरमपि क्लेशं कुर्वन् **वृथैव आत्मा** त्वया **परितप्यते** । **आत्मा** देहो वृथैव खेद प्राप्यते । आत्मपदेन आत्महानमपुरुषार्थ इतिवत्, ज्ञापितम् । **त्वयैव** केवलमेवं क्रियते नत्वन्येनेति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—वचनों से भी निराकरण किया वे वचन कहते हैं, हे अङ्ग! अलं अलं, अब शान्त हो जा, शिरच्छेद से होम मत कर, मुझ से वर मांग लो, जिसको लेने के लिए तू इतना दुःख भोग रहा है, तू विचार मत कर, जैसा भी बर तू अपनी इच्छानुसार मांगेगा वह वर दे दूंगा। यदि तुझे शङ्का हो कि मेरा इच्छित वर क्यों देंगें ? जिसका कारण बताते हैं कि मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ, क्यों प्रसन्न हुए हो ? मैं जिस कारण से प्रसन्न होता हूं वह कारण है शरण आके सेवा करना, वह तुमने की है, उसमें भी तुमने जैसी भक्ति दिखाई है वह आश्चर्यकारक है, ऐसी आगे किसी ने नहीं की है, अतः प्रसन्न होकर मैं यथेच्छ वर देना चाहता हूं तो भी तू जो यह शिरच्छेद कर होम करणार्थ देह को कष्ट दे रहा है, वह व्यर्थ है, आत्मा की हानि करना पुरुषार्थ नहीं है, तू ही अकेला ऐसा है, जो यों कर रहा है दूसरा कोई यों न करे ॥२०॥

आभास—एवं स्वाभिलषितं सिद्धमिति वरं याचितवानित्याह **देवं स वव्रे** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अपने मनोरथ की सिद्धि हुई जानकर, 'देवं स वव्रे' श्लोक से वर मांगने लगा—

श्लोक—**देवं स वव्रे पापीयान्वरं भूतभयावहम् ।**
यस्य यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति ॥२१॥

श्लोकार्थ—उस पापी ने भूतों को भयकारक वर माँगा । जिस-जिस के सिर पर मैं हाथ धरूँ, वह मर जाय ॥२१॥

सुबोधिनी—नन्वत्र न स्वस्य सुखं नापि दुःखाभावः किमित्येवं प्रार्थयतीति चेत् तत्राह **पापीयानिति** पापिष्ठः पापमेव निरन्तरं कर्तुं वाञ्छति । तत्र वधादिरूपं पापं क्लेशेनैव सिद्ध्यतीति । अक्लेशार्थं मारणजनितदोषसम्पादनाय तादृशं वरं याचितवानित्यर्थः । वरस्य श्रवणमात्रेणैव **भूतानां भयमावहति** । वरस्य स्वरूपमाह **यस्य यस्य करं शीर्ष्णि** इति । स्थापनमात्रेणैव प्रयत्नान्तरव्यतिरेकेणापि **स म्रियतामिति** । ॥२१॥

व्याख्यार्थ—ऐसे वर मांगने से अपने को कोई सुख प्राप्त नहीं होगा और न दुःख मिटेगा, फिर ऐसा वर मांगने की क्या आवश्यकता थी ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'पापीयान्' पापी है, इसलिए ऐसा वर मांगा । पापी, निरन्तर पाप ही करना चाहता है, उसमें किसी को मारने में क्लेश कष्ट करना पड़ता है, बिना कष्ट के मारने का कार्य सिद्ध हो जावे इसलिए ऐसा वर मांगा, यह वर कैसा है ? इस पर कहते हैं कि 'भूतभयावहम्' भूतों को भय करने वाला है, वर का स्वरूप बताते

हैं कि जिस-जिस के शिर पर हस्त रखूं वह मर जावे, केवल हाथ रखने से ही दूसरे किसी प्रयत्न के किए बिना उसकी मृत्यु हो जावे ।।२१।।

आभास—ततो महादेवस्य शङ्का उत्पन्नेत्याह **तच्छ्रुत्वेति** ।

आभासार्थ - वर श्रवण के अनन्तर महादेव के मन में शङ्का उत्पन्न हुई वह 'तच्छ्रुत्वा श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**तच्छ्रुत्वा भगवान्रुद्रो दुर्मना इव भारत ।**
ओमिति प्रहसंस्तस्मै ददेऽहेरमृतं यथा ।।२२।।

श्लोकार्थ हे भारत ! ऐसा वर सुनकर भगवान् शिव मानो अनमने (नाराज) हुए, किन्तु मुस्कराते हुए जैसे सर्प को दूध पिलाया जावे, वैसे 'ओम्' कहकर वर की स्वीकृति दी ।।२२।।

सुबोधिनी यतो **रुद्रः** प्राणिनो दुःखं दृष्ट्वा रोदितीति । ततो **दुर्मना इव** जातः । ततः किं कर्तव्यमिति विचार्य वरे दत्ते किं भविष्यतीत्यग्रिमं विचारितवान् । ततो भगवान्, परमेश्वरेणायं वञ्चयित्वा मारणीय इति अग्रिमं सूत्रं विचारितवान् । **ततः ओमिति** तथैव भवत्विति **प्रहसन्नाह** । अन्यानिष्टं विचारयन् त्वमेव मरिष्यसीति । **भारतेति** विश्वासार्थं सम्बोधनम् । ननु दानमात्रेणैव स्वानिष्टं करिष्यतीति किमज्ञात्वा दत्तवानित्याह **अहेरमृतं यथेति** । 'अहेरिव पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थकृत्' इति । स्वानिष्टं ज्ञात्वापि दत्तवानित्यर्थः ।।२२।।

व्याख्यार्थ—प्राणियों का दुःख देखकर, जो सहन करने में असमर्थ होने से रो पड़ता है, इसलिए 'शिव 'रुद्र' नाम से पुकारे जाते हैं ऐसा वर सुनने के बाद शिव नाराज जैसे हुए, बाद में क्या करना चाचिए ? यों विचार कर 'वर' देने पर क्या होगा ? उस भावो का विचार करने लगे, पश्चात् शिव भगवान् हैं, अतः समझ लिया कि, परमेश्वर से यह फुसलाया जायगा जिससे अपने हस्त से स्वयं मरेगा, अतः आपने 'ओम्' कहकर वर की स्वीकृति दी अर्थात् यों ही होगा, जिसके मस्तक पर तूं हाथ धरेगा वह मर जायेगा यों हँसते हुए कहा, दूसरों का अनिष्ट विचारने के कारण तूं ही मरेगा । हे भारत! राजा को यह सम्बोधन विश्वास दिलाने के लिए है, केवल वरदान से ही अपना अनिष्ट करेगा, इसको न जानकर वर दिया, जिसके उत्तर में दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि 'अहेरमृतं यथा' जैसे सर्प को अमृत पिलाया जावे तब पिलाने वाला समझता है कि सर्प तो दुष्ट होने से कृतघ्न है मुझे ही काटने में देरी न करेगा फिर भो दयालुता के कारण सर्प को दूध पिला ही देता है, वैसे आपने भी सब समझा किन्तु भगवान् होने से भावी तो जानते थे, अतः अपना 'आशुतोष' नाम सार्थक करने और सेवक की इच्छा पूर्ण करने के लिए वर दे दिया ।२२।।

आभास— ततो यज्जातं तदाह **स तद्वरपरीक्षार्थमिति** ।

आभासार्थ - वर देने के बाद जो कुछ हुआ वह 'स तद्वर' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**स तद्वरपरीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः ।**
स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत्स्वकृताच्छिवः ।।२३।।

श्लोकार्थ—वह असुर उस वर की परीक्षा करने के लिए महादेव के मस्तक पर अपना हाथ रखने लगा, यह देख अपने किए हुए कर्म से शिव भय को प्राप्त हुए ।।२३।।

सुबोधिनी—किलेति महतोऽनिष्टं न वक्तव्यमिति । न करिष्यतीति शङ्कां वारयति **असुर** इति । अत: **स्वहस्तं धातुमारेभे** उद्योगं कृतवानिति । ततस्तस्योद्योगं ज्ञात्वा **स** अधिदेव: देवानामधिपतिरपि **शिवः अबिभ्यत्** अबिभेत् भीतवान् । शिवत्वात् परमार्थतो भयं न भविष्यतीत्यर्थः ।।२३।।

व्याख्यार्थ—'किल' पद से यह सूचित किया है कि यदि कोई महान् अनिष्ट होने वाला हो तो उसको स्पष्ट नहीं कहना चाहिए, यह ऐसा महान् अनिष्ट नहीं करेगा, इस शङ्का को 'असुर' विशेषण देकर मिटाते हैं, अर्थात् असुर हैं इसलिए कैसा भी बड़ा अनिष्ट करने से डरेगा नहीं, करेगा ही, अत: अपने हस्त को शिवजी के मस्तक पर रखने के लिए प्रयत्न करने लगा, उसका वह उद्यम देखकर वे शिव देवों के अधिपति होते हुए भी डरने लगे । 'शिव' पद देकर यह सूचना दी है कि वास्तव में डरे नहीं, क्योंकि जानते थे कि, परिणाम में इसका ही नाश होने वाला है अत: केवल भीति का स्वांग किया था ।।२३।।

आभास—ततः पलायित इत्याह **तेनोपसृष्ट** इति ।

आभासार्थ—तेनोपसृष्टः संत्रस्तः' श्लोक से स्वांग का पूरा विवरण देते हैं—

श्लोक—**तेनोपसृष्टः संत्रस्तः पराधावत्सवेपथुः ।**
यावदन्तं दिवो भूमेः काष्ठानामुदगादुदक् ।।२४।।

श्लोकार्थ वह वृक सिर पर हस्त धरने के लिए जब महादेवजी के समीप आया, तब डर के मारे बहुत जल्दी दौड़ने लगे, डर के कारण कम्पित भी हुए । अतः आकाश, पृथ्वी और दिशाओं की सीमा तक भागते हुए उत्तर दिशा में पहुँचे ।।२४।।

सुबोधिनी—**तेन** वृकेण **उपसृष्टः** निकटे समागतः, तदा **संत्रस्तो** जातः ततोऽत्यन्तम**धावत्** । ततः कम्पमानोऽपि जातः । ततः **दिवो यावदन्तं भूमेश्च यावत्काष्ठानाम**पि पूर्वमूर्ध्वं निर्गमः ततोर्वाक् ततो दिक्चतुष्टये गत्वा व्याघुट्य पश्चादुदग्दिशं प्रति गतः । तस्य खेदार्थं तावत्परिभ्रमणम् ।।२४।।

व्याख्यार्थ—वृक जब निकट आया तब शिवजी डरे, जिससे जल्दी जोर से दौड़े और कम्पित

भी हुए, पश्चात् आकाश, पृथ्वी और दिशाओं की सीमा तक भागे, पहले ऊपर आकाश को तरफ फिर पृथ्वी पर, बाद में चारों दिशाओं में भागते हुए अन्त में लौटकर उत्तर दिशा में आए, इतना इसी तरह क्यों दौड़े ? जिसका वास्तविक कारण तो उस (वृक) को क्लेश देने का था, भय तो केवल बहाना था ।।२४।।

आभास—ननु तत्रत्यैः कथं महादेवसाहाय्यं न कृतमिति चेत् तत्राह **अजानन्तः प्रतिविधिमिति ।**

आभासर्थ—वहाँ रहने वालों ने (देवों ने) महादेव की सहायता क्यों नहीं की? जिसका उत्तर 'अजानन्तः प्रतिविधि' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीमासन्सुरेश्वराः ।
ततो वैकुण्ठमगमद्भास्वरं तमसः परम् ।।२५।।

श्लोकार्थ—देव उसके प्रतीकार की विधि न जानने के कारण चुप रहे । उत्तर दिशा में आने के पश्चात् महादेवजी प्रकाशमान प्रकृति से परे वैकुण्ठ में गए ।।२५।।

सुबोधिनी—सुरेश्वरा अपि **तूष्णीमेव स्थिताः**। ततो महादेवो **वैकुण्ठमगमत्** । इदं वैकुण्ठस्थानं बदर्यां नारायणपर्वतपश्चिमभागस्थं प्रसिद्धमेव । तत्र तस्यापि मूलवैकुण्ठधर्मसंबन्धमाह **भास्वरं तमसः परमिति** । वैकुण्ठावेशात् तत्रापि भास्वरत्वं प्रकृतेः परत्वं च ।।२५।।

व्याख्यार्थ—बड़े देव भी चुप होकर बैठे रहे । यह देखकर महादेव वैकुण्ठ में गए, प्रसिद्ध है कि यह वैकुण्ठ, बदरीनारायण में, नारायण पर्वत के पश्चिम भाग में स्थित है वहाँ उस वैकुण्ठ का, मूल वैकुण्ठ से धर्म सम्बन्ध है अर्थात् जो धर्म मूल वैकुण्ठ में है वे इसमें भी हैं, यह बताने के लिए 'भास्वरं' और 'तमसःपरम्' विशेषण दिए हैं, मूल वैकुण्ठ के आवेश होने के कारण जिसमें 'भास्वरपन' है और तम अर्थात् प्रकृति से भी पर है ।।२५।।

आभास—तत्कि वैकुण्ठस्थानमित्याकाङ्क्षायामाह **यत्र नारायणः साक्षादिति ।**

आभासार्थ – वह फिर कौनसा वैकुण्ठ है? इस आकांक्षा के होने पर 'यत्र नारायणः साक्षात्' श्लोक कहकर इस वैकुण्ठ का स्वरूप बताते हैं—

श्लोक—यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः ।
शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गतः ।।२६।।

श्लोकार्थ—जहाँ शान्त और दण्डी संन्यासियों की परम गति रूप साक्षात् नारायण विराजते हैं, वहाँ जो जाता है, वह फिर लौटकर ससार में नहीं आता है ।।२६।।

सुबोधिनी—नारायणो बदरीनाथः **साक्षात्संन्यासिनां परमा गतिः** । वैणवदण्डादिधारणेन परमहंसत्वात् साक्षान्न्यासिनामाधारभूतो भवति सजातीयत्वाच्च । किञ्च । **शान्तानां न्यस्तदण्डानां** अन्तर्बहिःसाधनयुक्तानां विशेषतः परमा गतिः । तत्रापि पूर्ववदेव भविष्यतीत्याशङ्क्याह **यतो नावर्तते गत** इति । तत्र गतस्ततो नावर्तते । अनेन वृकोऽपि नावर्तिष्यत इति सूचितम् । २६॥

व्याख्यार्थ—नारायण अर्थात् बदरीनाथ, सन्यासियों की परम गतिरूप जहाँ विराजते हैं, बांस के दण्ड धारण करने से, परम हँस होने से, साक्षात् सन्यासियों का परम आश्रय फल रूप बने हैं, क्योंकि दोनों में सजातीयपन है और विशेषता यह है कि, शान्त और दण्ड धारियों को विशेष परम गति है क्योंकि वे भीतर और बाहर दोनों साधनों से युक्त है, वहाँ भी पहले की तरह होगा ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं 'नावर्त्तिगतः वहाँ जो गया वह फिर लौटता नहीं, इससे यह सूचना दी कि 'वृक' भी वहाँ पहुँचकर फिर लौटेगा नहीं ॥२६॥

आभास— ततो यज्जातं तदाह **तं तथाव्यसनं दृष्ट्वेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ उसका अर्थ 'तं तथा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक — **तं तथाव्यसनं दृष्ट्वा भगवान्वृजिनार्दनः ।**
दूरात्प्रत्युदियाद्भूत्वा बटुको योगमायया ॥२७॥

श्लोकार्थ— महादेव को इस प्रकार दुःखित देखकर सबके कष्ट का निवारण करने वाले भगवान् दूर से ही योगमाया से बाल ब्रह्मचारी का रूप धारण कर उसके सामने गए ॥२७॥

सुबोधिनी—'अशक्ये हरिरेवास्ति' इति भगवतैव तत्कर्तव्यमिति **भगवान्** यतो **वृजिनार्दनः** सर्वदुःखनाशकः । अतो महादेवस्यापि दुःखं दूरीकरिष्यामीति **दूरादेव प्रत्युदियात्** आभिमुख्येन गतः । ननु क्रूरस्याग्रे कथं गत इत्याशङ्क्याह **योगमायया बटुको भूत्वेति** । अल्पो बटुर्बटुकः अतिसूक्ष्मब्रह्मचारी भूत्वा पूर्वविद्यां स्मृत्वा माययैव दैत्या मारणीया इति योगमायाकृतत्वात् मोहमेव प्राप्स्यति न तूपद्रवं करिष्यति इति प्रत्युद्गतः ॥२७॥

व्याख्यार्थ – 'अशक्ये हरिरेवास्ति' जो अपने से न हो सके वह हरि ही करते हैं, इसलिए सङ्कट का नाश भी भगवान् ही करेंगे, क्योंकि भगवान् सब के दुःखों का नाश करते हैं, अतः महादेव का भी दुःख दूर करूंगा, यों निश्चय कर दूर से ही उस (वृक) के सामने जाने लगे, क्रूर के पास कैसे गये ? जिसका उत्तर देते हैं कि, योगमाया से बालरूप ब्रह्मचारी बनकर, और पहली विद्या का स्मरण किया अर्थात् दैत्य माया से ही मारने के योग्य हैं, यों स्मरण कर ऐसा रूप धारण किया, जिसको देखकर मोह को प्राप्त होगा कोई भी उपद्रव न करेगा अतः इस प्रकार का वेष बनाकर सामने गए । २७ ।

आभास—भगवतो वेषं वर्णयन् वाक्यैर्मोहितवानित्याह **मेखलाजिनदण्डाक्षैरिति** ।

आभासार्थ—'मेखला जिन दण्डाक्षैः' श्लोक से भगवान् के वेष का वर्णन करते हैं और उनके वचनों से वह असुर मोहित हो गया यों कहते हैं—

श्लोक—मेखलाजिनदण्डाक्षैस्तेजसाग्निरिव ज्वलन् ।
अभिवादयामास च तं कुशपाणिर्विनीतवत् ॥२८॥

श्लोकार्थ—मेखला, मृगचर्म, दण्ड और अक्षमाला धारण किए हुए और अग्नि सम प्रकाशमान होते बटुक रूप भगवान् ने हाथ में दर्भ लेकर नम्र की तरह उसको नमस्कार की ॥२८॥

सुबोधिनी—मेखला मौञ्जी। **अजिनमुत्तरीयं** । **दण्डः** पालाशः । **अक्षमाला** जपार्था । एतैः कृत्वा अन्तःस्थितेन **तेजसा** च साक्षादग्निरिव सर्वप्राणिनामधृष्यः **ज्वलन्** देदीप्यमानः **कुशपाणिर्भूत्वा तं** हिरण्याक्षपौत्रमतिश्रोत्रियं **विनीतवदभिवादयामास** । अभिवादनेन तस्य आयुर्हृतवान्, कुशैस्तत्पुण्यं, मेखलादिभिश्चतुर्विधपुरुषार्थान्, तेजसा तदोजः, अग्नितुल्यतया तद्गत बलादिकम् ॥

व्याख्यार्थ—कटि में मुञ्ज की बनाई हुई मेखला, शरीर पर मृग चर्म, दण्ड, जपार्थ अक्षमाला, इन पदार्थों से, जो तेज अन्तः स्थित था वह बाहर अग्नि के समान ऐसा प्रकाशमान होने लगा जिसको कोई भी सहन न कर सकता था, हस्त में कुश लेकर उस हिरण्याक्ष के पौत्र वेदज्ञ वृक को नम्र होकर भगवान् नमस्कार करने लगे, भगवान् एवं ब्रह्मचारी होते हुए असुर को क्यों नमस्कार की? जिसके उत्तर में कहते हैं कि नमस्कार से उसकी आयु खेंच ली, कुश हाथ में लेकर नमस्कार की जिससे उसके पुण्य हरण कर लिए, मेखला आदि से चार प्रकार के पुरुषार्थ भी छीन लिए, तेज से उसका तेज, अग्नि की समानता के कारण, उसमें जो बल आदि वीर्य था वह भी हरण किया ॥२८॥

आभास—एवं सर्वं हृत्वा वाक्येन बुद्धिं मोहयति **शाकुनेय भवानिति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार पुण्य आदि सबका हरण कर वचनों से शेष बुद्धि को भी भ्रमित करते हैं वह 'शाकुनेय भवान्' से दो श्लोकों में कहते हैं—

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—शाकुनेय भवान् व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः ।
क्षणं विश्रम्यतां पुंसामात्मायं सर्वकामधुक् ॥२९॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे शकुनि के पुत्र ! प्रकट दीख रहा है कि तुम थके हुए हो, क्या दूर से आए हो ? क्षण भर विश्राम लो, यह देह पुरुषों को सर्व कामनाओं को देने वाली है ॥२९॥

सुबोधिनी—हे शकुनेः पुत्र **भवान् व्यक्तं श्रान्तः**, प्रस्वेददर्शनात् । अनेन दुःखानुवादेन कुशलमिवापृच्छत् । किं कर्तव्यमिति चेत् तत्राह **किं दूरमागत** इति । किं धावता दूरे समागत प्रयोजनाभावाद्व्यर्थमागमनमित्यर्थः । प्रश्नो वा । अस्तु यदर्थं तदर्थं अस्मदाश्रमे **क्षणं विश्रम्यताम्** । ननु शीघ्रं स्वकार्यं कर्तव्यमिति चेत् तत्राह **पुंसां** स्वतन्त्राणां प्राणिनाम**यमात्मा** देहः **सर्वकामधुक्** । श्रमेण देहः पतिष्यतीति प्रतिभाति गते च देहे किं कार्यं सेत्स्यति । अतः कार्यं परित्यज्य शरीररक्षार्थं विश्रामः कर्तव्य इति भावः ॥२९॥

व्याख्यार्थ—हे शकुनि के पुत्र ! प्रकट दीख रहा है कि आप थके हुए हो, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण है आप पसीने से भीज रहे हैं, इस दुःख के बताने से मानो कुशल पूछ रहे हैं ?

थकावट तो है, क्या किया जाय ? इस पर कहते हैं कि क्या दूर से आए हो ? कोई प्रयोजन नहीं होते हुए भी केवल दौड़ते हुए अनजान में इतनी दूर आगए हो क्या ? तो यह सब व्यर्थ परिश्रम किया ? अच्छा, जिस किसी लिए अथवा जैसे श्रम हुआ, वह तो हो गया, अब हमारे आश्रम में क्षण भर विश्राम कीजिए, यदि कहो कि अपना कार्य जल्दी करना चाहिए, इस पर कहते हैं कि यह देह ही स्वतन्त्र प्राणी मनुष्यों की सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाली है, विशेष श्रम से देह गिरेगी, यों भास रहा है, देह के नष्ट हो जाने पर, कौनसा कार्य पूर्ण होगा, अतः कार्य को छोड़ पहले शरीर की रक्षा के लिए विश्राम कीजिए कहने का यह भाव है ॥२९॥

आभास—किं कार्यमेतादृशं येनैतादृशः श्रमो जात इति पृच्छति **यदि नः श्रवणायालमिति** ।

आभासार्थ—ऐसा कौनसा कार्य है जिसके लिए तुमने इतना श्रम किया है ? यह 'यदि नः श्रवणाय' श्लोक से पूछते हैं—

श्लोक—यदि नः श्रवणायालं युष्मद्व्यवसितं विभो ।
भण्यतां पुरुषव्याघ्र पुम्भिः स्वार्थान् समीहते ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे समर्थ ! तुमने जो कार्य विचारा है, वह यदि कहने के योग्य हो, तो बताइए; यदि गुप्त हो, तो मत कहिए । हे पुरुष श्रेष्ठ ! प्रत्येक मनुष्य अपना कार्य अपने मित्रों द्वारा ही सिद्ध करते हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—गुप्तं चेत् न वक्तव्यम् । अस्मच्छ्रवणाय योग्यं चेत् तदा **युष्मद्व्यवसितम्** एवं प्रयत्नेन कर्तुमभीष्टं **भण्यताम्** । **पुरुषव्याघ्रे**ति स्तुत्या सम्बोधनं कथनार्थम् । ननूक्ते किं भविष्यतीति चेत् तत्राह **पुम्भिः स्वार्थान् समीहत** इति । सर्वोऽपि पुरुषः स्वमित्रैः पुरुषैः स्वकार्यं साधयतीत्यर्थः । ३०॥

व्याख्यार्थ—यदि तुम्हारा कार्य गुप्त हो तो न बताइए, जो हमारे सुनने के योग्य हो तो तुम्हारा इच्छित कार्य जिस प्रकार के प्रयत्न से सिद्ध होगा वह कह दीजिये, इस तरह किए हुए

प्रश्न का उत्तर देवे इसलिए उसकी बड़ाई करने के वास्ते 'पुरुष व्याघ्र' विशेषण दिया है, तुम तो पुरुषों में उत्तम हो, मैं सुनाऊं जिससे लाभ क्या होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि सब मनुष्य अपना कार्य अपने मित्रों की सहायता से ही सिद्ध करते हैं, अतः बताइए तो हम भी सहायता देंगे ।।३०।।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**एवं भगवता पृष्टो वचसामृतवर्षिणा ।**
गतश्रमोऽब्रवीत्तस्मै यथापूर्वमनुष्ठितम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी बोले कि भगवान् ने अमृत बरसाने वाली वाणी से जब इस प्रकार पूछा, तब थकावट उतार लेने के बाद उनको जो कुछ पहले हो चुका है, वह समग्र वृत्तान्त सुनाने लगा ।।३१।।

सुबोधिनी—एवमाकृत्या विनयेन **वचनैश्च** तोषं प्रापितः, भगवद्वाक्यसामर्थ्यादेव **गतश्रमो** भूत्वा स्वाभिप्रायं स्वश्रुतं च भगवान् मित्रमिति बुद्ध्वा **तस्मै अब्रवीत्** । **यथापूर्वं** नारदप्रश्नप्रभृति । **अनुष्ठितं** तपस्यादि ।।३१।।

व्याख्यार्थ—भगवान् की आकृति नम्रता और वाणी से प्रसन्न हो गया, भगवान् के वचनों के सामर्थ्य से श्रम रहित होकर एवं भगवान् को अपना मित्र समझ अपना अभिप्राय और जो सुना था वह सब कहने लगा, नारदजी से जो पूछा तथा उनके कहने से महादेव को जिस तरह सेवादि की और महादेव से वर प्राप्त कर, उस वर से अपनी कामना पूर्ण करने के लिए शिवजी के मस्तक पर हाथ धरना, जिससे महादेव भागे, उनके पीछे मैं भी दौड़ता हुआ यहां पहुँचा हूँ ।।३१।।

आभास—ज्ञातार्थ एव भगवान् तं विश्वस्तं कृत्वा पश्चान्मदुक्तं ग्रहीष्यतीति निश्चित्य महादेवमोक्षार्थमुपायमाह **एवं चेदिति** ।

आभासार्थ—भगवान् तो सब कुछ जानते ही थे, फिर भी उसका अपने ऊपर विश्वास पैदा किया, अब मेरा कहा हुआ कार्य करेगा, यों निश्चय से जान महादेव को संकट से छुड़ाने का जो उपाय किया वह 'एवं चेत्' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—श्रीभगवानुवाच-**एवं चेत्तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि ।**
यो दक्षशापात्पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट् ।।३२।।

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि यदि यों है, महादेव ने वर दिया है, यही कार्य है । हम तो उनके वचन पर विश्वास नहीं करते हैं; क्योंकि दक्ष के शाप से जो पिशाचता को प्राप्त हुए हैं और प्रेत तथा पिशाचों के स्वामी हैं । ऐसे के वचनों पर कौन विश्वास करे ? ।।३२।।

सुबोधिनी—अस्माभिर्ज्ञातं किञ्चित्कार्यान्तरं महदस्तीति । **एवं** चेन्महादेववाक्यपरीक्षामात्रं कर्तव्यं चेत् तदापि मयापि उपाय उच्यते । यदि मद्वाक्ये विश्वासस्तदा **तद्वाक्यं** न किञ्चिद्भविष्यतीत्यर्थः । अनेन दत्तोऽपि वरः भगवता निषिद्ध इति भवति । तथा सति न तस्य मरणं न वा लोके अनिष्टम् न वा महादेवस्य पीडा । यदि वृकोऽङ्गीकुर्यात् एवं निश्चित्याह **न वयं श्रद्दधीमहीति** । ननु महानयं महादेवः कथमश्रद्धेय इति चेत् तत्राह **यो दक्षशापात्पैशाच्यमिति** । पूर्वं दक्षः शापं ददौ । देवैः 'सह भागं न लभताम्' देवगणेषु अधमश्च भवतु । तत्र पिशाचा एव अधमाः अतः पैशाच्यं प्राप्तः । दृश्यते च पैशाच्यं स्मशानादिषु परिभ्रमणात् । किञ्च । **प्रेतपिशाचराट्** । स्वभावतोपि प्रेतानां पिशाचानां राजा । पिशाचराजः पिशाच एव भवति । अतस्त्वमपि चेन् मद्बुद्धया गृहीतमङ्गीकरिष्यसि तदा तस्य दत्तो वरः मिथ्याभूत इति अनङ्गीकृत्य निश्चिन्तो भव ।।३२।।

व्याख्यार्थ—हमने तो जाना कि कोई महान् कार्य होगा जिसके लिए इतना परिश्रम किया है, यदि यों केवल महादेव के वचनों को परीक्षा ही करनो हो, तो उसका सरल उपाय में भो बताता हूं, यदि मेरे वचन पर विश्वास है तो समझलो कि महादेव के वचन से कुछ न होगा अर्थात् कोई भस्म न होगा, यों कहकर महादेव के दिए हुए वर को भगवान् ने निषिद्ध बना दिया जिससे उसको कहा कि यों करने से अर्थात् मस्तक पर हाथ धरने से कोई भस्म न होगा, वैसा होने से उसका मरण, और लोक में अनिष्ट तथा न महादेवजी को पीड़ा होगो, जो वृक, भगवान् के इस कहने को मान ले, यों निश्चय कर वृक को इन वचनों पर दृढ़ विश्वास कराने के लिए कहते हैं कि 'न वयं श्रद्दधीमहि' हम तो महादेव के वाक्यों पर विश्वास नहीं करते हैं, यदि कहो कि वह महादेव महान् है, इस पर कैसे विश्वास न किया जाय ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'यो दक्ष शापात् पैशाच्य' पहले दक्ष ने शाप दिया कि 'देवों के साथ इनको भाग न मिले' और देवगणों में यह अधम देव होवे, देवों में अधम पिशाच है, इसलिए यह भी पिशाचता को प्राप्त हुआ, और इसका पिशाचपन प्रत्यक्ष दोख रहा है, जो श्मशान आदि स्थानों में ही भ्रमण कर रहा है और विशेष में फिर 'प्रेत पिशाच राट्' स्वभाव से भी प्रेत और पिशाचों के राजा हैं, पिशाचों का राजा पिशाच ही होता है, तूं भी यदि मेरी तरह इसका विचार कर देखेगा तो तुझे भी निश्चय हो जावेगा कि महादेव का दिया हुआ वर सत्य नहीं होता है, इसी तरह इसको झूठा समझ अङ्गीकार न कर निश्चिन्त होजा ।।३२।

आभास—अथ यदि तव विश्वासस्तदा मदुक्तप्रकारेण परीक्षा कर्तव्या इत्याह **यदि वस्तत्र विश्रम्भ** इति ।

आभासार्थ—फिर भी यदि तुझे विश्वास है तो मेरे कहे अनुसार उसकी परीक्षा करले यों 'यदि वस्तत्र' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**यदि वस्तत्र विश्रम्भो दानवेन्द्र जगद्गुरौ ।**
तर्ह्यङ्गाशु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् ।।३३।।

श्लोकार्थ—हे दानवेन्द्र ! यदि इस विषय में तुम्हारा जगद्गुरु पर विश्वास है, तो हे अङ्ग ! शीघ्र ही अपने सिर पर अपना हाथ धरकर परीक्षा करले ॥३३॥

सुबोधिनी—व इति गौरवार्थं बहुवचनम् । हे **दानवेन्द्रे**ति सम्बोधनं च । एवं पुरस्कृतः स्वमाहात्म्यमेव स्मरति । न तु परमाहात्म्यमिति । विश्वासे हेतुं चाह **जगद्गुरा**विति । तर्हि विश्वासे किं कर्तव्यमिति चेत् तत्राह तर्ह्यङ्गेति । मद्विश्वासे तव जीवनं वा भविष्यति महादेवविश्वासे तु नाशमेव यास्यसीति भावः । **अङ्गे**ति संबोधनं विश्वासाय । **आशु** शीघ्रमेव विचारमकृत्वा **स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयतां** सत्यं वा मिथ्या वेति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—'वः' यह बहुवचन गौरव देने के लिए दिया है. और हे दानवेन्द्र !' यह भी गौरवार्थ विशेषण दिया है. इस प्रकार पुरस्कृत होने पर अपना माहात्म्य स्मरण करेगा, न कि शत्रु की बड़ाई सोचेगा, 'जगद्गुरौ' महादेव का विशेषण देकर, यह सूचित किया कि, इसलिए उसके वर में विश्वास करता है, मेरा उसमें विश्वास है तब क्या करना चाहिए ? यदि यों कहो तो हे अङ्ग ! मुझ पर विश्वास रखोगे तो तेरा हित होगा और महादेव पर विश्वास करोगे तो तेरी हानि ही होगी, अङ्ग ! यह सम्बोधन, विश्वास उत्पन्न कराने के लिए दिया है, जल्दी ही बिना बिचार किए अपने शिर पर हाथ धर के देखले कि वर सच्चा है वा झूठा है ? ॥३३॥

आभास—सत्यत्वे तव परीक्षा उत्तमैव भविष्यति । असत्यत्वे तु दण्डं करिष्यामीत्याह **यद्यसत्यमिति** ।

आभासार्थ—यदि वर सत्य निकला तो तुम्हारी परीक्षा उत्तम होगी, जो वर झूठा निकला तो मैं दण्ड करूंगा यह इस 'यद्य सत्यं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**यद्यसत्यं वचः शम्भोः कथंचिद्दानवर्षभ ।**
तदन्ते जह्यसद्वाचं न यद्वक्तानृतं पुनः ॥३४॥

श्लोकार्थ—हे दानवोत्तम ! यदि किसी प्रकार भी महादेव का वचन झूठा निकले, तो झूठे होने के कारण उसको तूँ दण्ड देना, जिससे फिर वह अनृत न बोलेगा ॥३४॥

सुबोधिनी—कथञ्चित्केनाप्यंशेन । यस्य यस्येति वीप्सया । अन्यश्चेदभिप्रेतः स्यात् मया वा नाङ्गीकृतमिति तदा **असत्यं** भवति । **दानवर्षभे**ति पूर्ववद् अपराधव्यतिरेकेण मारयितुं न शक्यत इति । असत्यवादित्वेनापराधे जाते **तदन्ते** अपराधान्ते, **असद्वाचं जहि** । तथा सति तव वधदोषोऽपि नास्तीत्याह **न यद्वक्तानृतं पुनरि**ति । यद्यस्मात्पुनरयमनृतं न वक्ता । यद्दोषात्पुरुषोऽधो याति । अनेन 'तद्वधस्तस्य हि श्रेयः' इति तत्पक्ष उक्तः ॥३४॥

व्याख्यार्थ—किसी भी अंश से, इस अध्याय के २१ वें श्लोक में 'यस्य यस्य' दो बार वीप्सा अर्थ में कहा है, इससे यदि वृक के सिवाय दूसरा अभिप्रेत हो अथवा मैं (भगवान्) ने उनके

(महादेव के) वचन अङ्गीकार न किये हो तो वह वचन असत्य ठहरता है, हे दानवोत्तम! यह सम्बोधन पहले की तरह महत्ता दिखाने के लिए कहा है, अपराध के बिना महादेव मारा नहीं जाता है, यदि वह झूठा निकले तो असत्यवादी ठहरेंगे तब उस अपराध सिद्ध होने पर, तूं उस असत्यवादी को मारना, मारने पर तुझे मारने का दोष भी नहीं लगेगा, क्यों दोष नहीं लगेगा? जिनके प्रमाण में कहते हैं कि महादेव फिर झूठ न बोल सकेगा, जिन झूठ बोलने के दोष से पुरुष नीचे जाता हैं अर्थात् अधम होता है, इससे उसका वध उसके कल्याणार्थ ही है यों असुर का पक्ष कह बताया ॥३४॥

आभास—ततो यज्ञ तं तदाह **इत्थमिति** ।

आभासार्थ—इसके बाद जो हुआ वह 'इत्थं भगवत' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभिः स सुपेशलैः ।**
भिन्नधीर्विस्मृतः शीर्ष्णि स्वहस्तं कुमतिर्व्यधात् ॥३५॥

श्लोकार्थ—इस तरह भगवान् के विचित्र मोहक सुन्दर वचनों से जिसकी बुद्धि अस्थिर होकर बदल गई है और जो स्मृतिहीन हो गया है। ऐसे कुमति वृक ने अपना हस्त अपने सिर पर धर दिया ॥३५॥

सुबोधिनी—भगवतश्चित्रैर्वचोभिरिति दृष्टादृष्टप्रकारेण वचनानां मोहकत्वमुक्तम् । स्वरूपतोऽपि मोहकत्वमाह **सुपेशलैरिति** । यथा कश्चित् रूपविशेषे मुह्यति एव भगवद्वाक्यसौन्दर्येणापि मुग्धः । स्वतो **भिन्नधीर्भूत्वा** भगवद्वाक्यमनृतमपि भविष्यतीत्यपि पक्षः तद्धृदये स्फुरितः । अतः पक्षद्वये बुद्धिर्व्यापृतेति भिन्नधीत्वम् । ननु द्वितीयपक्षे स्वक्रियाव्याघातः । यदि महादेववाक्यं शतांशेनाप्यनृतं स्यात् तदा स्वयमेतादृशं क्लेशं कथं कुर्यात् । ततश्च कथं तस्य बुद्धिभेदो जात इति चेत् तत्राह **विस्मृत** इति । पूर्वभावं विस्मृतवान्, विस्मित इति वा । भगवद्वाक्यात् । 'न वयं श्रद्दधीमहि' इति कथमुक्तवान् इति । अतः **स्वशीर्ष्ण्येव हस्तं व्यधात्** । ननु पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय इति द्वितीयपक्षे स्वनाशलक्षणो महान् दोष इति कथमेवमङ्गीकृतवानिति चेत् तत्राह **कुमतिरिति** ॥३५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के विचित्र अर्थात् बराबर समझ में न आवे ऐसे मोहक वचनों से वृक मोहित हो गया, भगवान् का वचन रूप स्वरूप भी मोहक था, जैसे जगत् में सुन्दर रूप पर मनुष्य मोहित होता है वैसे ही भगवान् के वाक्यों के सौन्दर्य से वह वृक मोहित हो गया, जिससे वृक की बुद्धि भिन्न भिन्न समझने लगी स्थिर न रह सकी, भगवान् का कथन असत्य भी हो सकता है, यह पक्ष भी उसके हृदय में स्फुरित होने लगा, अतः उसकी बुद्धि में दो पक्ष फैल गए, इसलिए कहा कि 'भिन्नधीः' दूसरे पक्ष पर चलने से तो कार्य की असफलता होगी, जो महादेवजी का वाक्य शतांश से भी झूठा निकले तो स्वयं इतना क्लेश[1] क्यों करें? इसके बाद उस (वृक) की बुद्धि में ऐसा भेद

---

[1] आकाश, पृथ्वी दिशाओं में भागते रहने का क्लेश

कैसे हो गया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् के वाक्य[1] सुन कर पूर्व भाव को भूल गया, अतः अपना हस्त अपने मस्तक पर धर दिया, पाक्षिक दोष को भी मिटाना चाहिए. दूसरे पक्ष में अपना स्वयं नाश करने का महा दोष है, वह कैसे अङ्गीकार किया, जिसका उत्तर दिया है कि 'दुर्मति' दुष्ट बुद्धि वाला असुर था ।।३५।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **अथापतदिति** ।

आभासार्थ पश्चात् जो हुआ, उसका वर्णन 'अथापतत्' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**अथापतद्भिन्नशिरा वज्राहत इव क्षणात् ।**
जयशब्दो नमःशब्दः साधुशब्दोऽभवद्दिवि ।।३६।।

श्लोकार्थ—हाथ रखते ही सिर अलग हो गया और धड़ क्षण में यों गिरा जैसे वज्र से पर्वत चूर्ण हो जाता है, तब आकाश से 'जय' शब्द, 'नमः' शब्द और 'साधु' शब्द सुनने में आए ।।३६।।

सुबोधिनी—भिन्नं शिरो यस्य तादृशो भूत्वा भूमाव**पतत्** । **अथे**ति भिन्नप्रक्रमः । न भगवद्वाक्यानुसारेण तद्वाक्यस्यानृतत्वम्, नापि सन्देहः किन्तु सत्यमेव जातमिति । ननु भगवान् भक्तवत्सलः किमित्येवं कृतवानित्याशङ्क्याह **वज्राहत इवे**ति । वज्रेणाहतः पर्वत इव चूर्णीभूतो वा । जगदपकारित्वात् मारित इत्यर्थः । ततो भगवदनुभावं दृष्ट्वा **जय**शब्दः, महादेवो मोचित इति **नम**:शब्दः, भगवतो मोहकवाक्यानि स्मृत्वा **साधु**शब्दः, एवं त्रिविधः शब्दो **दिव्यभवत्** राजससात्त्विकतामसानां । दिवीति देवानुमोदनेन वञ्चनेन मारणम् । महादेवनिन्दा स्वयं न मन्यत इत्यन्यथावचनं च न दोषाय भवतीति सूचितम् । ३६।।

व्याख्यार्थ—जिसका सिर धड़ से अलग हो गया है ऐसा होकर वह पृथ्वी पर गिर गया, 'अथ' पद देकर यह सूचित किया है कि अब दूसरा प्रक्रम[2] है, भगवद्. वाक्य के अनुसार महादेव के वचन झूठे न निकले, कुछ संदेह भी न हुआ, किन्तु सत्य ही हुए भक्तवत्सल भगवान् ने यों किस लिए किया ? जिसके उत्तर में कहा कि 'वज्राहत इव' वज्र से नाश किए पर्वत की तरह चूर्णसम हो गया, सारांश यह कि भगवान् ने यों[3] इसलिए किया कि, यदि यह जीवित रहता तो जगत् का अपकार करता क्योंकि लोकापकारी दुष्ट बुद्धि वाला असुर था अतः इस प्रकार इसका मृत्यु कराया पश्चात् भगवान् का यह प्रभाव देखकर, देवताओं ने जय शब्द कहा, और महादेव को सङ्कट से छुड़ाया इसलिए नमः शब्द कहा अर्थात् नमन किया, भगवान् ने मोहक वाक्यों से असुर को भ्रमित कर अपने हाथ से मरवाया, ये वाक्य स्मरण आते ही उनके मुख से 'साधु'[4] शब्द स्वतः निकले ।

इस प्रकार राजस, सात्विक और तामस इन तीन प्रकार के देवों के तीन तरह के ये शब्द

---

[1] 'न वयं श्रद्दधीमहि' हम विश्वास नहीं करते हैं,
[2] सिलसिला
[3] वृक को यों मरवाया,
[4] बहुत अच्छा किया,

आकाश में हुए 'दिवि' पद से यह भाव बताया है कि फुसलाकर मरवाने का कार्य देवों के अनुमोदन से ही किया है, महादेव की जो भगवान् ने निन्दा की, वह केवल, असुर को भुलावे में डालने के लिए की है स्वयं तो उसको सत्य नहीं समझते व नहीं मानते थे, इसलिए जो भगवान् ने अन्यथा वचन कहे वे दोष के लिए नहीं हैं इससे यों सूचित किया है ।।३६।।

आभास—कायिकमाह **मुमुचुः पुष्पवर्षाणीति** ।

आभासार्थ—'मुमुचुः पुष्प वर्षाणि' श्लोक से कहते हैं कि देवों ने कायिक अभिनन्दन भी किया–

श्लोक—**मुमुचुः पुष्पवर्षाणि हते पापे वृकासुरे ।**
देवर्षिपितृगन्धर्वा मोचितः सङ्कटाच्छिवः ॥३७॥

श्लोकार्थ—देवर्षि, पितृ, गन्धर्वादि सब देवों ने वृकासुर के मरने पर और महादेव सङ्कट से छूटे, इसलिए अपनी प्रसन्नता प्रकट करणार्थ पुष्प-वर्षा से अभिनन्दन किया ॥३७॥

सुबोधिनी—**देवर्षिपितृगन्धर्वाः** सर्व एव देवगणाः । नन्वत्र भगवच्चरित्रं किं जातमित्याशङ्कायामाह **मोचितः सङ्कटाच्छिव** इति स्वस्याजरामरत्वं स्ववाक्येन विरुध्यत इति । तन्मध्ये पतितो महादेवः सङ्कटे पतितः । यत्रैव पक्षद्वयमपि विरुद्धं तत्सङ्कटस्थानमिति वदति लोकः, इतो व्याघ्रस्ततो दरीतिवत् ।।३७।।

व्याख्यार्थ—देव, ऋषि, पितर और गन्धर्व ये सब देव कहे जाते हैं ।

इस विषय में भगवान् का चरित्र कौनसा हुआ ? ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं कि 'मोचितः संकटात् शिव' शिव को संकट से छुड़ाया, महादेव संकट में किस प्रकार थे ? वह कहते हैं कि, यदि वृक, महादेव के मस्तक पर हाथ धरे और शिव भस्म न होवे तो शिवजी का वर झूठा होता है, यदि भस्म होते हैं तो शिव का अजरामरत्व झूठा पड़ता है इस प्रकार शिव संकट में थे जिससे ही भागते फिरते थे । जैसे एक तरफ व्याघ्र हो दूसरी तरफ गुफा हो तो उस समय मनुष्य संकट में पड़ जाता है, वैसी दशा महादेवजी की थी, अतः ऐसे समय में इस संकट से भगवान् ने महादेव को छुड़ाया ॥३७॥

आभास—ततो भगवान् महादेवस्य लज्जया खेदो भविष्यतीति तन्निवारणार्थं महादेवं स्तौतीत्याह **मुक्तं गिरिशमभ्याहेति** ।

आभासार्थ—ऐसी दशा में महादेवजी तो लज्जा के मारे खेद करते होंगे, इसके निवारणार्थ 'मुक्तं गिरिश' श्लोक से भगवान् उनकी स्तुति करते हैं

श्लोक—मुक्तं गिरिशमभ्याह भगवान्पुरुषोत्तमः ।
अहो देव महादेव पापोऽयं स्वेन पाप्मना ।।३८।।
हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः ।
क्षेमी स्यात्किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ ।।३९।।

श्लोकार्थ—भगवान् पुरुषोत्तम सङ्कट से मुक्त महादेवजी को कहने लगे कि अहो देव ! महादेव ! यह पापी अपने पाप से ही मरा है ।।३८।।

हे ईश ! कोई भी जीव यदि महान् आत्माओं में पापाचरण करता है, तो उसका कभी भी कल्याण होता है क्या ? अर्थात् नहीं होता है । फिर इसने तो विश्व के ईश, जगत् के गुरु आपका अपराध किया है । वह कभी सुखी हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है ।।३९।।

सुबोधिनी—**पुरुषोत्तम**त्वादतुल्यातिशयः ततो न केनापि कर्मणा न्यूनो भवतीति सूचितम् । भगवतः स्तोत्रमाह **अहो देव महादेवे**ति । अमरत्वं सर्वपूज्यत्वं च वदन् तस्य मृत्युसम्भावनामेव निराकृतवान् । उपकारेण स कदाचिद्व्याप्तो भवेदिति तन्निराकरणार्थं अन्यथैव तन्मरणं निरूपयति **पापोऽयमि**ति । अयं केवलपापरूपः अतः **स्वेनैव पाप्मना हतः** । किञ्च । सर्वं पापमेकत्र, ईश्वरावज्ञा चैकत्रेति तत्कृतवानित्याह **को नु महत्सु कृतकिल्बिषः क्षेमी स्यात्** । महादेवसेवकेऽवप्यपकारकर्ता न क्षेमं प्राप्नोति । **ईशे**ति संबोधनात्तं भवानेव हन्तीति सूचितम् । यत्र सेवकातिक्रमेऽप्येवं तत्र स्वाम्यतिक्रमे किं वक्तव्यमित्याह **किमु विश्वेशे कृतागस्क** इति । **जगद्गुरा**वित्यदृष्टोपायेनापि हननं सूचितम् ।।३८-३९।।

व्याख्यार्थ--श्रीकृष्ण स्वरूप नारायण पुरुषोत्तम होने से, सबसे उत्तम है, अतः उनको समानता कोई नहीं कर सकता है, जिससे वे कोई कर्म करे तो, उस कर्म से उनको किसी भी प्रकार हानि नहीं होती है, यों पुरुषोत्तम विशेषण से सूचित किया है ।

अब महादेवजी की महिमा का गान करते हैं, अहो देव ! महादेव ! इन नामों से आपका अमरत्व तथा सर्व पूज्यत्व प्रतिपादन कर यह बताया है कि आपका मरना तो दूर रहा किन्तु उसकी सम्भावना ही नहीं हो सकती है, वृक ने मर कर मुझ पर उपकार किया है, यदि महादेव यों समझते हों तो, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि, वह पापी था, अतः अपने पापों से ही भस्म हुआ है, सब पाप यदि इकट्ठे किए जावें तो वे सब पाप, ईश्वर की मात्र अवज्ञा के समान हैं, वह ईश्वरावज्ञा रूप महापाप इसने किया है, महान् आत्मा अर्थात् जो ज्ञानी व भक्त हैं उनका भी अपराध करने वाला कल्याण को नहीं पाता है, उसको तो आप ही मारते हो क्योंकि आप ज्ञानी व भक्तों के स्वामी हो, यह 'ईश' पद से कहा है ।

जहां सेवकों के अतिक्रम करने से यह दण्ड मिलता है तो स्वामी के अतिक्रम पर कौनसा

दण्ड मिलेगा ? वह कहा नहीं जाता है, जगद्गुरौ' विशेषण से यह सूचन किया है कि इसका 'मरना' अदृष्ट उपाय से हुआ है ।।३८-३९।।

आभास - मतान्तरत्वादस्य चरित्रस्य प्रकृतोपयोगित्वं कैमुतिकन्यायेन वदन् चरित्रश्रवणादेः फलमाह **य एवमिति** ।

आभासार्थ—यह चरित्र मतान्तर का है किन्तु चालू प्रसङ्ग में उपयोगी होने से कैमुतिक न्याय से कहने पर, इसके श्रवण का फल 'य एव' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—य एवमव्याकृतशक्त्युदन्वतः
परस्य साक्षात्परमात्मनो हरेः ।
गिरित्रमोक्षं कथयेच्छृणोति वा
विमुच्यते संसृतिभिस्तथाऽरिभिः ॥४०॥

श्लोकार्थ—विकार रहित अनन्त शक्तियों के समुद्र,सबसे उत्तम साक्षात् परमात्मा हरि का यह महादेव को संकट से छुड़ाने वाला चरित्र कहे अथवा सुने, वह संसार बन्धनों से और शत्रुओं के भय से छूट जाता है ।।४०।।

सुबोधिनी—अव्याकृतीनां शक्तीनां **उदन्वान्** समुद्रो भगवान्। तेनानन्तशक्तेश्चरित्राणामानन्त्यं सूचितम् । तस्यैकमेतत् **गिरित्रमोक्ष**लक्षणं चरित्रं न केवलं शक्तिसम्बन्धादेव भगवच्चरित्रं किन्तु गुणातीतस्यापि चरित्रानन्त्यमस्तीत्याह **परस्ये**ति प्रकृतेरपि नियन्तुः । भगवान् चरित्रकरणेन महानित्येव न किन्तु सर्वेषामात्मापीत्याह **परमात्मन** इति । एवं प्रकारत्रयेण हितमेव करोतीत्येव न किन्तु **हरेः** सर्वेषां दुःखमपि दूरीकरोति । शास्त्रदृष्ट्या सर्वेषामपि परमात्मत्वमस्तीत्याशङ्क्याह **साक्षादि**ति । वृकाद्गिरित्रस्य मोचनं न तु लोकसिद्धमोक्षः । तं यः **शृणोति कथयेद्वा** श्रावयति वा स संसारबन्धनैरपि **विमुच्यते** अज्ञानवासनाभिः, तथा **अरिभिः** कामादिभिः शत्रुभिर्वा । अहङ्काराधिष्ठाता भगवान् सः अहङ्कारनिवर्तनद्वारा सर्वान्मोचयति । सोऽपि चेत्सङ्कटान्मोचितः तदा तच्चरित्रं महादेवादप्यधिकं कथं संसाराच्छत्रुभ्यो वा न मोचयेदिति । भगवतो विवेकनिधेः श्रीप्रस्तावे दानस्वरूपं निरूपितम् । लोकानां दाता महादेवः तेनानर्थे जाते तस्यापि मोक्षदो भगवानिति ।।४०।।

व्याख्यार्थ—भगवान विकार रहित शक्तियों के समुद्र हैं, यों कहकर भगवान् की शक्तियों की अनन्तता तथा चरित्रों का आनन्त्य बताया है, उनमें से एक यह महादेव को संकट से छुड़ाने का चरित्र भी है, भगवान् जो चरित्र करते हैं, वे केवल शक्ति से संबधित होने पर करते हैं यों नहीं है किन्तु गुणातीत स्वरूप से किए हुए चरित्र भी अनन्त हैं, यह 'परस्य' पद से सूचित किया हैं अर्थात् जो प्रकृति का भी नियन्ता है ।

भगवान् इस प्रकार अनन्त और अद्भुत चरित्रों के करने से महान् नहीं है, किन्तु 'परमात्मनः'

अर्थात् सबकी आत्मा होने से महान् हैं, ऐसे तीन तरह से हित ही करते हैं. केवल इतना ही नहीं है किन्तु 'हरि' होने से सबके दुःख भी हरण करते हैं, शास्त्र दृष्टि से तो सब ही परमात्मरूप हैं फिर इनमें विशेषता कौनसी है ? जिसके उत्तर में 'साक्षात्' पद दिया है, अर्थात् आप स्वयं परमात्मा हैं, अन्य उनके रूपान्तर हैं।

वृक से उत्पन्न संकट से महादेवजी को मुक्त किया यह लोक सिद्ध मोक्ष नहीं है। इस चरित्र को जो सुनता है वा कहता है यानि दूसरों को सुनाता है, वह अज्ञान और वासना रूप जो संसार के बन्धन हैं उनसे छूट जाता है वैसे ही शत्रुओं (काम, क्रोध, मद लोभादि) के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है।

वह भगवान् महादेव अहङ्कार के अधिष्ठाता देव हैं, अतः अहङ्कार को निवृत्ति कर सबको मुक्ति कराते हैं, वैसे महादेव को भी जिस पुरुषोत्तम ने जब संकट से छुड़ाया, तब उनके चरित्र महादेव से भी अधिक हैं वे चरित्र संसार और शत्रुओं से कैसे न छुड़ा सकेंगे ? अर्थात् छुड़ाएंगे ही।

विवेक के भण्डार भगवान् के 'श्री' गुण का वर्णन करते हुए दान के स्वरूप का निरूपण किया, लोगों को दान देने वाले महादेवजी हैं उनके दिए हुए दान से अनर्थ उत्पन्न हुआ अर्थात् महादेव संकट में पड़े, जिनको भी उस संकट से छुड़ाने वाले भगवान् हैं ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे एकोनचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ८५वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३९वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के
गुण-प्रकरण का चतुर्थ अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

卐

इस अध्याय में वर्णित भगवल्लीला का संक्षिप्त सार

राग धनाश्री

तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी।
जिनकैं बस अनमिष अनेक गन, अनुचर आज्ञाकारी ॥
महादेव वर दियौ असुर कौं, जब उन निज तनु जारयौ।
सिव कैं सीस धरन लाग्यौ कर, सिव बैकुण्ठ सिधारयौ ॥
विप्र रूप हरि कह्यौ असुर सौं, यह वर सत्य न होइ।
सिर अपने पर धरौ असुर कर, भस्म होइ गयौ सोइ ॥
सिव कैलाश गए अस्तुति करि, आनन्द उपज्यौ भारी।
सूरदास हरि कौ जस गायौ, श्री भागवतऽनुसारी ॥

⁂

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ८९वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८६वाँ अध्याय
उत्तरार्ध ४०वाँ अध्याय

गुण-प्रकरण

"अध्याय—१"

भृगुजी द्वारा त्रिदेवों की परीक्षा और मरे हुए ब्राह्मण बालकों को वापस लाना

कारिका—एवं दातृत्वसंदेहः कृष्णस्य विनिवारितः ।
अनेनैव महत्त्वं च हरौ निर्धारितं भवेत् ॥१॥

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण दाता नहीं है इस प्रकार के संशय का उत्तरार्ध के ३९ वें अध्याय में विशेषतः निवारण किया, और इससे ही हरि के महत्त्व का भी निर्धार होगा ॥१॥

कारिका—तथापि स्पष्टमध्याये चत्वारिंशे निरूप्यते ।
माहात्म्यं द्विविधं लोके प्रमाणाच्च प्रमेयतः ॥२॥

कारिकार्थ—तो भी स्पष्ट निर्णय इस उत्तरार्ध के ४० वें अध्याय में स्पष्ट रूप से किया जाता है, लोक में प्रमाण द्वारा और प्रमेय द्वारा माहात्म्य कहा जाता है अतः माहात्म्य दो प्रकार का होता है ॥२॥

कारिका—वेदानां मूलरूपेण प्रथमं विनिरूप्यते ।
द्वितीयं च प्रमेयेण हरिणैव निरूपितम् ॥३॥

कारिकार्थ—प्रमाण माहात्म्य वेदों का मूल रूप होने से पहले कहा जाता है, और दूसरा माहात्म्य प्रमेय रूप है, अतः उसका हरि ही निरूपण करते हैं। इस प्रकार निरूपण का तात्पर्य यह है कि वेद प्रमाण रूप है अतः वे प्रमाण माहात्म्य कहते हैं और प्रभु प्रमेय रूप हैं जिससे प्रमेय रूप माहात्म्य का वे निरूपण करते हैं ॥३॥

कारिका—ज्ञानशक्तिश्च पूर्णात्र क्रियापर्यवसायिनी ।
मूलत्वात्सवसहनं जनकस्येव रूप्यते ॥४॥

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण स्वरूप में जो पूर्ण ज्ञान शक्ति है, वह क्रिया में पर्यवसान पाने वाली है अतः वे (श्रीकृष्ण) मूल स्वरूप होने से, जनक की तरह सर्व सहन करते हैं, यह निरूपण किया जाता है. ॥४॥

कारिका—यदा गुणा भगवतश्चत्वारो विनिरूपिताः ।
तदावशिष्टद्वितयं स्वयमेवावदच्छुकः ॥५॥

कारिकार्थ--अब तक ४ अध्यायों में भगवान् के ऐश्वर्यादि ४ गुणों का वर्णन कर दिया है, शेष बचे हुए दो गुण 'ज्ञान' और 'वैराग्य' का वर्णन श्री शुकदेवजी स्वयं करते हैं ॥५॥

आभास—महत्त्वलक्षणज्ञानशक्तिनिरूपणार्थं शुकः स्वयमेव पूर्वसिद्धनिर्णयरूपां कथामारभते **सरस्वत्यास्तट** इति ।

आभासार्थ—महत्त्व लक्षण वाली, ज्ञान शक्ति के निरूपण करने के लिए श्री शुकदेवजी पहले ही सिद्ध निर्णय रूप कथा को 'सरस्वत्यास्तटे' श्लोक से प्रारम्भ करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**सरस्वत्यास्तटे राजन्नृषयः सत्रमासत ।**
वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥१॥

श्लोकार्थ--श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! सरस्वती नदी के तट पर ऋषियों ने सत्र प्रारम्भ किया था। वहाँ सम्वाद हुआ कि तीन देवों (ब्रह्मा, विष्णु व महादेव) में बड़ा देव कौन है ? ॥१॥

सुबोधिनी—सरस्वतीतीरे पूर्वं **ऋषयः सत्रं** कुर्वाणा जाताः। देशाधिकारिकर्मणां प्रासङ्गिकानामुत्कर्षो निरूपितः। तदा तेषां कर्मफलसमर्पणार्थं जिज्ञासा उत्पन्ना। क्व कर्मफलं समर्पणीयमिति। ततः पितृत्वात् ब्रह्मणि समर्पणीयमिति केचित्। यज्ञात्मकत्वाद् विष्णौ समर्पणीयमित्यपरे। ज्ञानोपदेष्टृत्वाद् गुरौ महादेवे समर्पणीयमित्यपरे। ततः प्रयोजकानां त्रयाणां एकशेषनिर्णयः कर्तुमशक्य इति महत्त्वं व्यवस्थापितं प्रयोजकत्वेन। तच्च महत्त्वं सद्गुणैर्भवतीति सद्गुणानां मध्ये सर्वावस्थासु क्षोभाभावो महानिति। **को** वाऽक्षोभ्य इति विचारार्थं मह-

खसाधनाय **वितर्को** जात इत्याह वितर्कः **समभूदिति**। वितर्कशरीरमाह **त्रिष्वधीशेषु को महानिति** ॥१॥

व्याख्यार्थ—पहले किसीसमय में सरस्वती नदी के किनारेपर ऋषि ऋषि-सत्र कररहे थे इससे सम्बन्धी देश, कर्ता और कर्म तीनों की उत्तमता बताई, उस सत्र में कर्म करने वाले यज्ञ उन ऋषियों में यह जानने की इच्छा उत्पन्न हुई कि, इस कर्म का फल किस देव को अर्पण करना चाहिए, तब कितनेक कहने लगे कि ब्रह्मा उत्पन्न कर्ता होने से सब के पिता हैं अतः उनको अर्पण करना चाहिए, दूसरे कहने लगे कि, विष्णु ही यज्ञ रूप है इसलिए उनको समर्पण करना उचित है, अन्य कहने लगे कि महादेवजी ज्ञानोपदेष्टा होने से गुरु हैं इस कारण से उनको अर्पण करना योग्य है, इस प्रकार विवाद होते हुए तीनों में कौनसा एक है जो अपने कर्म से फल अर्पण करने योग्य है ? जिसका निर्णय न हो सका तब यह निर्णय हुआ कि इन तीनों में से गुणानुसार महान् कौन है ? यह परीक्षा करनी चाहिए, महत्ता, सद्गुणों से परखो जाती है, सद्गुणों में महान् सद्गुण है, 'क्षोभ' का अभाव, क्रोध न होना इसकी किस तरह परीक्षा ली जावे इस विषय पर वाद विवाद होने लगा, अन्त में यह निर्णय हुआ कि जो किसी तरह अपमानित होने पर भी क्रोध न करे वह तीनों में महान् है ॥१॥

आभास—तर्हि एतन्महत्त्वं कथं ज्ञातव्यमिति जिज्ञासायां विचारेणैव तज्ज्ञानं भवतीति निश्चित्य विचारार्थं प्रत्यक्षमेव प्रमाणमङ्गीकृतवन्तः। ततः प्रत्यक्षसम्वादी योऽर्थः स एव निर्णायक इति तदर्थं प्रवृत्ता इत्याह **तस्य जिज्ञासयेति**।

आभासार्थ—तीनों में से किसमें यह महत्त्व है उसको कैसे जाना जाय ? इस जिज्ञासा पर कहते हैं कि विचार करने से ही उसके महत्त्व का ज्ञान होता है, यों निश्चय कर विचार करने के लिए अन्य प्रमाण न मान कर, प्रत्यक्ष प्रमाण ही सबने स्वीकार किया, पश्चात् जिसका महत्व प्रत्यक्ष से सिद्ध हो उसको ही हम मानेंगे, इस कार्य को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त हुए, यह 'तस्य जिज्ञासया' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप।**
तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्यगाद्ब्रह्मणः सभाम् ॥२॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! इस विषय को जानने की इच्छा से उन ऋषियों ने ब्रह्माजी के पुत्र भृगु ऋषि को इसको[1] जानकर आने के लिए भेजा। वह (भृगु ऋषि) पहले ब्रह्मा की सभा में गए ॥२॥

सुबोधिनी—सर्वेषां ब्रह्मशक्तिः ज्ञानात्मिका महत्त्वाद्भृगौ समारोपिता। तदा भृगुः साक्षात्परब्रह्माविष्टो जातः। ततो विस्मृतदेहसम्बन्धः। अक्षोभ्यपरीक्षार्थं सर्वैर्ब्राह्मणैः प्रेषितः। आदौ **ब्रह्मसभामगात्** ॥२॥

---

[1] तीनों में कौन महान् है ?

व्याख्यार्थ—भृगु सब ऋषियों में महान् तो थे ही, फिर विशेषता यह हुई जो, सर्व ऋषियों ने ज्ञानात्मिका अपनी ब्रह्म शक्ति भृगुजी में धर दी, तब भृगु साक्षात् परब्रह्म रूप[1] के आवेश वाले हुए, आवेश के कारण देह का सम्बन्ध भूल गए, सब ब्राह्मणों ने भृगु को इसलिए भेजा कि तीनों देवों में उत्तम कौन है ? अतः पहले ब्रह्मा की सभा में गए ॥२॥

आभास—स चेदक्षोभ्यः स्यात् पितापि भवति, ब्रह्मशब्दवाच्योऽपि भवति, सर्वप्रवर्तकोऽपि भवतीति तावतैव निवृत्तो भविष्यामीति निश्चित्य तत्राल्पमेवातिक्रमं कृतवानित्याह **न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रमिति** ।

आभासार्थ—यदि वह (ब्रह्मा) क्रोधित न हुए तो, सृष्टि कर्ता होने से सबके पिता भी हैं, ब्रह्म शब्द से कहे भी जाते है, प्रवृत्तिकर्ता भी आप ही हैं अतः इतने में कार्य सिद्ध हो जाने से यहां से ही लौट चलूंगा यों निश्चय कर वहां ब्रह्मा की सभा में जाकर ब्रह्मा का थोड़ा सा हो अपमान किया, जिसका न 'तस्मै' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया ।
तस्मै चुक्रोध भगवान्प्रज्वलन्स्वेन तेजसा ॥३॥

श्लोकार्थ—भृगु ने जाकर सभा में विराजमान ब्रह्माजी को नमस्कार नहीं की और न उनकी स्तुति की। इस प्रकार के अपमान से भगवान् ब्रह्मा अपने तेज से प्रज्वलित हो, उस पर क्रोध करने लगे ॥३॥

सुबोधिनी पूर्वं यावन्तः समायान्ति ते नमस्कृत्य स्तुत्वा अवतिष्ठन्ते। भृगुस्तु तं गुणं न कृतवान्। अनेन मानसी अवज्ञा सूचिता। ननु कर्तव्यं न कथं कृतवान् तत्राह **सत्त्वपरीक्षये**ति। ब्रह्मशब्दवाच्योपि तस्य सत्त्वं विवेकधैर्यादिकं परीक्षणीयमिति। अतः स्वभावतः अकरणं न भवतीति न तस्य दोषः। 'प्राप्तसेवापरित्यागो द्वेषमूलमिदं स्मृतम्' इति न्यायात् ब्रह्मणः क्रोधो जात इत्याह **तस्मै चुक्रोधे**ति। ननु ब्राह्मणः सोऽपि महान् तत्राह **भगवानि**ति। नन्विदं तत्रापि तुल्यम्। **प्रज्वलन्नि**ति वेदगर्भत्वात् ब्रह्मतेजसा प्रज्वलन्नास्ते। भृगावपि एवमस्तीति चेत् तत्राह **स्वेन तेजसे**ति भृगौ तु ब्राह्मणैः स्वस्वतेजः स्थापितमिति विशेषः ॥३॥

व्याख्यार्थ—पहले ब्रह्मा की सभा में जितने आते वे सब प्रणाम और स्तुति कर फिर बैठते थे, भृगु ने इन दोनों में से एक भी नहीं किया, यों करने से भृगु ने ब्रह्माजी का मानस अपमान किया, ऋषि और ज्ञानी होते हुवे भी अपना कर्तव्य क्यों नहीं किया ? जिसका कारण बताते हैं कि भृगु को ब्रह्मा के सतोगुण की परीक्षा करनी थी कि, इनको क्रोध तो नहीं आता है ? यह ब्रह्म कहे

---

[1] मूल में ऐसा कोई पद नहीं जिससे भृगु में परब्रह्म के आवेश का ज्ञान हो किन्तु आचार्य श्री ने अर्थापत्ति प्रमाणानुसार लिखा है, यदि भृगु में आवेश न होवे तो परब्रह्म के स्वरूप की परीक्षा न कर सके-लेख

जाते हैं किन्तु इनमेंसतोगुणके लक्षण विवेकधैय आदि हैं या नहीं? इसकी परीक्षाकरनी चाहिए अतः भृगु ने न नमस्कार की और न स्तुति की, न कि स्वभाव से नमन और स्तुति का त्याग किया था, जिससे कि भृगु दोषी बने हों। किन्तु ब्रह्माजी ने तो देखा कि भृगु को यह समय था मुझे नमस्कार करने और मेरी स्तुति करने का, इस प्रकार सेवा करने का मौका आने पर भी भृगु ने सेवा नहीं की यह द्वेष की जड़ है, अतः ब्रह्मा को क्रोव आया. यद्यपि भृगुजी महान् ब्राह्मण थे किन्तु ब्रह्माजी 'भगवान्' हैं इसलिए भृगु को प्रणाम और स्तुति करनो उचित थां, यदि कहो कि भृगु में भा ब्रह्मत्व है, इस पर कहते हैं कि ब्रह्माजी वेद गर्भ होने से ब्रह्म तेज से स्वयं प्रकाशमान हो रहे हैं, किन्तु भृगु में अब कार्यार्थ ऋषियों ने अपना २ ब्रह्म तेज स्थापित किया, तब उसमें ब्रह्मत्व आया है ।।३।।

आभास—ततः सहजकृत्रिमयोः रूपं तुल्यमिति ब्रह्मास्त्रयोरिव स्वत एव तत्तेजः शान्तमित्याह **स आत्मन्युत्थितमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् सहज और कृत्रिम होते हुए भी दोनों का स्वरूप तो समान था, अर्थात् ब्रह्मा में ब्रह्मत्व स्वाभाविक अपना था, अतः ब्रह्मा का ब्रह्मत्व सहज है, और भृगु में ऋषियों की दी हुई ब्रह्म शक्ति थी अतः भृगु का ब्रह्मत्व कृत्रिम था तो भी ब्रह्मपन तो तुल्य (एक जैसा था ब्रह्मास्त्रों की तरह स्वत एवं वह तेज शान्त हो गया, जिसका वर्णन 'स आत्मन्युथितं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**स आत्मन्युत्थितं मन्युमात्मजायात्मना प्रभुः ।**
अशीशमद्यथा वह्निं स्वयोन्या वारिणात्मभूः ।।४।।

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी ने मन में उत्पन्न क्रोध को भृगु मेरा पुत्र है, इस विचार से शान्त कर दिया। अग्नि को शान्त करने में अग्नि से उत्पन्न जल ही कारण है। वैसे ही यहाँ ब्रह्मा के क्रोध को शान्त करने में भृगु का पुत्रपन ही कारण बना ।।४।।

सुबोधिनी—आत्मजोऽपि स्वत उत्पन्नः **मन्युरपि** । अतस्तुल्यबलत्वेन कलहः परं भविष्यतीति । एतावन्मात्रं विचार्य **आत्मनैव** स्वेनैव **स्वतेजः अशीशमत्**। एवं करणे सामर्थ्यं **प्रभुरिति**। एतत्तु ब्रह्मणो मनोरथमात्रम् । वस्तुतस्तु भृगुतेजसैव तच्छान्तमिति ववतुं दृष्टान्तमाह **स्वयोन्या वारिणेति** । यथा वह्निं कश्चिच्छामयति वह्नेरेवोत्पन्नेन जलेन 'अग्नेरापः' इति श्रुतेः । कारणेन कार्यनाशः प्रायेण सर्वत्र स्वतो धर्मतो वा ।।४।।

व्याख्यार्थ—जैसे पुत्र भृगु अपने में से उत्पन्न हुवा है, वैसे क्रोध भी अपने में से उत्पन्न है, अतः दोनों का बल समान होने से घोर कलह हो जायगा. यों विचार कर, ब्रह्माजो ने अपने ही तेज से क्रोध को शान्त कर दिया. यों करने की आर में सामर्थ्य थी क्योंकि 'प्रभु' सर्व करण समर्थ हैं, यह तो ब्रह्मा का केवल मनोरथ ही था, वास्तव में तो भृगु के तेज से ही क्रोध शान्त हो गया, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि, कोई मनुष्य अग्नि को जब बुझाना चाहता है तब जल से ही बुझाता है, वह जज अग्नि से पैदा हुआ है, जैसा कि भगवती श्रुति कहती है कि 'अग्नेरापः' अग्नि

से जल उत्पन्न हुए, कारण से कार्य का नाश बहुत करके सर्वत्र, स्वतः वा धर्म से देखा जाता है किन्तु यह प्रभु लीला अलौकिक है ।।४।।

श्लोक—**ततः कैलासमगमत्स तं देवो महेश्वरः ।**
परिरब्धुं समारेभ उत्थाय भ्रातरं मुदा ।।५।।

श्लोकार्थ—पश्चात् वह कैलाश में गए। वहाँ महेश्वर देव ने अपना भ्राता समझ, प्रसन्न हो, उठकर, उनका आलिङ्गन करने के लिए तैयारी की ।।५।।

सुबोधिनी—एवं तस्य क्षोभं दृष्ट्वा अयं महान्न भवतीति निश्चित्य महादेवो लोकानां ज्ञानोपदेष्टा कदाचिदेवं भविष्यतीति तज्जिज्ञासार्थं भगवन्तं भोगाविष्टं मत्वा तं परित्यज्य प्रथमतः **कैलासमगमत्** । तस्य भ्रातृत्वेन तुल्यत्वात् तूष्णींभावो न क्षोभक इति वाचनिकोऽपराधः कृत इति वक्तुं तस्य प्रसङ्गमाह **स तं देवो महेश्वर** इति । तुल्यत्वेऽपि तस्य तेजो दृष्ट्वा **देवो**ऽपि ज्ञानशक्तियुक्तोऽपि ऐश्वर्ययुक्तोऽपि सन्माननार्थं **परिरब्धुं समारेभे** । तत्राप्यु**त्थाय** । तत्रापि **मुदा** । अनेन मानसः कायिकः ऐन्द्रियकश्च पुरस्कार उक्तः ।।५।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार ब्रह्माजी को क्रोधित देख, निश्चय किया कि यह महान् नहीं है. अब कहां चलना चाहिए ? यों विचार करने लगे ? तब मन में आया कि विष्णु भोगाविष्ट हैं अतः कदाचित् वे भी ऐसे होंगे, इसलिए पहले ज्ञानोपदेष्टा महादेव के पास चलना चाहिए, यों निश्चय कर कैलाश में गए, वहां भी जाकर यों ही बैठ गए इससे वाचनिक अपराध किया, ब्रह्मा के आत्मज होने से महादेव ने भृगु को भ्राता समझ क्रोध न किया, भाई भाई समान होते हैं, समानता में नमस्कार आदि की आवश्यकता नहीं, अनन्तर महादेवजी भ्राता को आया हुआ देख और उसको तेजस्वी जान, यद्यपि आप देव, ज्ञान शक्ति युक्त और ऐश्वर्य से युक्त होते हुए भी भ्राता के सम्मान करने के लिए उठकर आलिङ्गन करने के वास्ते आगे आने लगे, यों ही नहीं किन्तु प्रसन्नता से आगे बढे, इससे मन काया और इन्द्रियों से आदर किया ।।५।।

आभास—अतिक्रममाह **नैच्छदिति** ।

आभासार्थ—'नैच्छत्व' इस श्लोक में भृगु ने महादेव का अपराध कैसे किया ? वह बताते हैं-

श्लोक—**नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह ।**
शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारेभे तिग्मलोचनः ।
पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा ।।६।।

श्लोकार्थ—भृगु ने महादेवजी से आलिङ्गन करना न चाहा और कहा कि तुम उत्पथगामी हो। यह वचन सुनकर महादेव को क्रोध उत्पन्न हुआ, नेत्र लाल हो गए,

तत्क्षण ही त्रिशूल लेकर भृगु को मारने के लिए तैयार हो गए, पार्वतीजी ने चरण पकड़कर वाणी से शान्ति कराई ॥६॥

सुबोधिनी- इच्छाभावो मानसः तेन सहितं वाचनिकमाह **त्वमुत्पथगोऽसीति**। एवं वाचनिकातिक्रमे जाते देवत्वात् स्वच्छन्दचारित्वं न दोषायेति **चुकोप**। हेत्याश्चर्यं ज्ञानिनः कथमेव क्रोध इति। ततः पूर्वापेक्षया अस्य दण्डोऽप्यधिको जात इत्याह **शूलमुद्यम्येति**। **तिग्मानि लोचनानि** यस्येति ज्ञानशक्तितिरोभावः। तदा पार्वती ज्ञानशक्तिः तत्स्वरूपं ज्ञात्वा स्वक्रियया तद्दण्डे प्रतिबन्धरूपा जातेत्याह **पतित्वा पादयोरिति**। **गिरा** जिज्ञासाप्रवृत्तिरूपया ॥६॥

व्याख्यार्थ—भृगु ने वाचनिक और मानस दोनों अपराध किए, आलिङ्गन न करने की इच्छा मानस अपराध है, आप उत्पथ[1] चलने वाले हैं, यों कहना वाचनिक अपराध है, इस प्रकार अपमान होने से महादेवजी कुपित हुए, क्रोध करना दोष है कुपित होने से महादेव दोषी हुए, जिसके उत्तर में कहते हैं कि देव जैसा भी करे तो उनको दोष नहीं लगता है, ये तो महादेव हैं इसलिए क्रोध करने से इनको दोष नहीं लगा, 'ह' पद से यह भाव प्रकट किया है कि महादेव ज्ञानी तथा ज्ञानोपदेष्टा हैं, उनको क्रोध आना तो अचम्भे की बात है पहले की अपेक्षा ब्रह्मा के अपमान करने से जो दण्ड मिला, उससे अब दण्ड भी अधिक हुआ वह बताते हैं कि, शूलमुद्यम्य तिग्मलोचनः' महादेवजी ने त्रिशूल उठा लिया और आँखें लाल करदी, जिससे ज्ञान शक्ति तिरोहित हो गई, तब पार्वती जो ज्ञान शक्ति है, वह महादेव का स्वरूप जान कर अपनी क्रिया से उनके[2] दण्ड देने के कार्य में रुकावट होने लगी, कैसे रुकावट हुई ? वह प्रकार कहते हैं कि पार्वती महादेवजी के चरणों में गिर गई और वचनों से भृगु के स्वरूप का ज्ञान कराके मारने से रोका ॥६॥

आभास—एवं तत्तद्गुणपुरःसरं उभयोः स्थाने गत्वा स्वरूपेणैव भिन्नप्रक्रमेण विष्णोः स्थाने गत इत्याह **अथाजगामेति**।

आभासार्थ—स्थान के अनुरूप गुण को धारण कर ब्रह्मा और शिव के लोक में गए थे, अर्थात् रजोगुण धारण कर ब्रह्मा के लोक में गए, तामस गुण को धारण कर शिव लोक में गए, अब विष्णु लोक में दूसरे स्वरूप से (सत्व गुण धारण कर) गए यह 'अथाजगाम' श्लोक से कहते हैं-

श्लोक—**अथाजगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः।**
शयानं श्रिय उत्सङ्गे पदा वक्षस्यताडयत् ॥७॥

श्लोकार्थ—वहाँ जनार्दन देव लक्ष्मी के गोद में सो रहे थे। वहाँ वैकुण्ठ में गए और जाते ही भगवान् के वक्ष (छाती) पर लात मार दी ॥७॥

---

[1] उल्टे मार्ग पर   [2] महादेव के

सुबोधिनी—स हि जामाता भृगोर्भवति लक्ष्मीपतिः । अतो द्वारपालैररुद्ध एव **श्रिय** उत्सङ्गे **शयानं** परमेश्वरं अत्यन्तातिक्रमं पूर्वापेक्षयापि कुर्वाणः **वक्षसि पदा अताडयत्** ॥७।

व्याख्यार्थ—वे भगवान् जनार्दन, लक्ष्मीपति होने से भृगु ऋषि के जामाता (दामाद) लगते हैं, इसलिए द्वारपालों ने भीतर जाने से रोका नहीं, भीतर जाकर देखा कि भगवान् लक्ष्मीजी की गोद में सो रहे हैं, पूर्व किए हुए अनादर से भी विशेष अनादर करने लगे, वहां तो केवल नमन नहीं किया और स्तुति नहीं की यहां तो जाते ही सोये हुए भगवान् की छाती पर लात मारकर उनको जगा दिया । ७॥

आभास—स हि परीक्षार्थमागतः विलम्बं न सहते, भगवांश्च शेते शयाने न कोऽप्यस्मादन्यः अतिक्रमो भवति । अतः प्रबोधनमतिक्रमं च सहैव कृतवान् । अयं कायिकोऽतिक्रमस्तत्रापि महान् । देशकालावस्थासन्निधिकरणक्रियाफलानां षण्णामपि दुष्टत्वात् । यदि भगवान् गुणैः प्रत्येकेन मिलितैर्वा भगवान्न स्यात् तदा क्षोभं प्राप्नुयादेव भगवांस्तु स्वभावतो भगवान्मूलभूतः अतः सहजान् स्वषड्गुणान् तत्र प्रकाशयामासेत्याह **तत उत्थाये**ति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—परीक्षा के लिए आए थे, इसलिए विलम्ब सहन न कर सकते थे, भगवान सो रहे थे इसलिए कोई दूसरा अपराध हो नहीं सकता था, यह महान् कायिक अपराध है इस एक ही महान् अपराध करने से, देश, काल, अवस्था सन्निधिकरण किया और फल इत्यादि छ ही दोष इस महान् कायिक अपराध करने से हो गए, जो जनार्दन प्रत्येक भगवद्गुण से वा सर्व गुणों से युक्त भगवान् न होते तो इनको भी उन दोनों की तरह क्रोध आजाता, भगवान् तो स्वभाव से सहज षड्गुणों के मूलभूत हैं अतः अपने सहज षड्गुणों को प्रकाशित करने लगे, इसलिए आपको क्रोध न हुआ जिसका वर्णन 'तत उत्थाय' श्लोक से लेकर ४ श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—तत उत्थाय भगवान्सह लक्ष्म्या सतां गतिः ।
स्वतल्पादवरुह्याशु ननाम शिरसा मुनिम् ॥८॥
आह ते स्वागतं ब्रह्मन्निषीदात्रासने क्षणम् ।
अजानतामागतान्वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ।९॥
अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने ।
इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन्स्वेन पाणिना ॥१०॥

श्लोकार्थ—सत्पुरुषों के शरण भगवान् लक्ष्मी के सहित उठकर, पलङ्ग से नीचे उतरकर, शीघ्र ही मुनि को मस्तक से प्रणाम करने लगे और कहने लगे कि हे प्रभो! आप भले पधारे, किन्तु मुझे जो देरी हो गई, उस दोष के लिए मुझे आप क्षमा करोगे, इस आसन पर विराजो । हे तात ! हे महामुनि ! आपके चरण कोमल हैं,

मेरी कठोर छाती से आपको जरूर चोट आई होगी, यों कहकर भगवान् भगवान् भृगु के चरणों का मर्दन (चांपी) करने लगे ॥८-१०॥

कारिका—मानसान् षड्गुणानादौ ततः काये सुसंस्थितान् ।
ततो वाचनिकानाह पूर्णोऽतो भगवान् हरिः ॥

कारिकार्थ—मन के छ गुण, काया में अच्छी तरह स्थित छ गुण और वाचनिक छ गुण कहे है, अतः इस प्रकार गुणों के होने से भगवान् हरि पूर्ण हैं ।

सुबोधिनी—प्रथममक्षोभ्यत्वाय मानसान् षड्गुणानाह यतो **भगवान्**, अत ऐश्वर्यविरुद्धं मारणानन्तरमुत्थानं कृतवान्. तत्रापि **सह लक्ष्म्या** । वीर्यविरुद्धमेतत् । न हि सामर्थ्ये विद्यमाने कश्चित्सुखं परित्यजति । यशोविरुद्धं चैतत् । यतः **सतां गतिः** । एवं सति सन्तः कथं भजेरन् अपकर्षख्यापनात् । **स्वतल्पादवरुह्य**ेति **श्रीविरुद्धम्** । तस्याः शोभायास्तिरोधानात् । **आशिवति** विकलतया विरोधः समर्थितः । **ननामेति ज्ञानविरुद्धम्** । हीनो हि नमस्करोति तत्रापि **शिरसा** । शिरो हि ब्रह्मादीनामपि स्थानम् । **वैराग्यविरुद्धं** चैतत् । **मुनिमिति** मुनित्वादयं क्रोधं करिष्यतीति तदभावापेक्षा सापेक्षा न विरक्ता इति ॥८॥

व्याख्यार्थ—विष्णु को क्षोभ न हुआ, क्योंकि भगवान् हैं, उनके मानस छ गुणों को कहते हैं । भृगु ने लात मारी यो अपमानित होकर भी उसका सपादर करने के लिए उठकर खड़े हुए, यह आप में (१) ऐश्ववर्य से विरुद्ध गुण है, लक्ष्मी के साथ उठना यह (२) वीर्य विरुद्ध गुण है, जिसमें सामर्थ्य होता है वह अपने सुख को नहीं छोड़ता है, यह (३) यश के भी विरुद्ध है, आप सत्पुरुषों की गति है, यदि इस प्रकार आप स्वतः सुख छोड़ देंगे तो भक्त कैसे आपकी शरण ग्रहण करेंगे ? क्योंकि, इस प्रकार करने से आपका अपकर्श बढ़ता है, अपने पलङ्ग से उतर आने का कार्य (४) श्री गुण के भी विरुद्ध है, क्योंकि इससे शोभा तिरोहित हो जाती है, शीघ्र कहने से अपनी निर्बलता प्रकट की यह श्री के विरुद्ध गुण हैं, भृगु को नमस्कार की यह (५) 'ज्ञान' विरुद्ध गुण है, नमस्कार वह करता है जो हीन होता है, उसमें भी शिर से नमस्कार करना तो अति हीनता द्योतक है क्योंकि भगवान् के मस्तक में ब्रह्मादि देव विराजते हैं, और मुनि को प्रणाम करना यह (६) वैराग्य के भी विरुद्ध है, आपने भृगु को नमस्कार इस इच्छा से की है कि भृगु मुनि है, नमस्कार न करने से क्रोध करेगा, यह क्रोध न करे, इस इच्छा से प्रणाम किया यह कार्य भी वैराग्य के विरुद्ध है, वैराग्य वाले को इच्छा नहीं होती है ॥८॥

आभास—कायिकभगवद्धर्मविरुद्धानाह **आहेति** ।

आभासार्थ—भगवान् के जो कायिक सहज धर्म हैं, उनके विरुद्ध जो अब आप कर दिखाते हैं उनका वर्णन करते हैं—

सुबोधिनी—**ते स्वागतम्**, कुशलेनागमनं किं वृत्तमिति कुशलप्रश्नः । समतामापादयन् ऐश्वर्यविरुद्धो भवति । **ब्रह्मन्निति** तस्योत्कर्षेण संबोधनं वीर्यविरुद्धं च । **अत्रासने क्षणं निषीदेति** प्रार्थना

कीर्तिविरुद्धा क्षणमित्यतिदैन्यात श्रीविरुद्धा च। **अजानतामागतान् व** इति स्पष्टो ज्ञानविरोधः। नोऽपराधं **क्षन्तुमर्हथेति**। अपराधक्षमापनं सापेक्षत्वं ख्यापयतीति वैराग्यविरुद्धम्। **प्रभो** इति सम्बोधनं स्वगुणान् भगवांस्तत्र स्थापयतीति सूचयति। अमानी मानदो भगवान् इति परीक्षायां निर्णयः सिद्धो भविष्यति। एवं वचसा स्वापकर्षं ख्यापितवान् अपराधकर्तुः स्तोत्रं च ॥९-१०॥

व्याख्यार्थ –आप भले पधारे, आपका पधारना सुख पूर्वक तो हुआ है ? इस प्रकार कुशल प्रश्न उससे किया जाता है, जो अपने समान होता है. भृगु जीव और आप भगवान् होकर भी इस प्रकार प्रश्न करने लगे, जिससे आपके ऐश्वर्य के विरूद्ध यह गुण है।

और हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार का संबोधन भी आप से उसका (भृगु का) उत्कर्ष प्रकट करना है जिसमें यह गुण वीर्य विरूद्ध है।

'अत्रासने क्षणं निषीद' इस आसन पर क्षण विराजो, इस प्रकार की हुई प्रार्थना, कीर्ति गुण के विरुद्ध है, 'क्षण' पद से अति दीनता प्रकट कर अपना 'श्री विरुद्ध' गुण बताया है, 'अजानतामागतान्' इस पद से बताया है कि मुझको ज्ञान नहीं है, अतः यह ज्ञान विरुद्ध गुण है, 'नः अपराधं क्षमस्व' हमारा अपराध क्षमा करो, यों कहकर अपने को सापेक्ष्य प्रसिद्ध किया है, इसलिए यह वैराग्य के विरुद्ध गुण है, हे प्रभो ! विशेषण से भगवान् सूचित करते हैं कि, मैंने अपने गुण इनमें स्थापित किए हैं।

भगवान् अभिमानी नहीं है और अन्यों को मान देने वाले हैं. यों परीक्षा होने पर पूर्ण निर्णय हो जायगा, इस प्रकार वाणी से अपना अपकर्ष प्रकट किया और अपराधी की स्तुति प्रकट की ॥९-१०॥

आभास – वचसैव कायिकान्पूर्ववद्विरुद्धान् प्रतिपादयति **पुनीहीति** द्वाभ्याम्।

आभासार्थ – निम्न दो श्लोकों से, पहले की तरह वाणी से विरुद्ध कायिक धर्मों का प्रतिष्ठान करते हैं—

श्लोक—**पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान्।**
पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥११॥

श्लोकार्थ—तीर्थों का भी तीर्थ करने वाले आपके चरण जल से मेरे भीतर स्थित लोकपालों को तथा लोकों सहित मुझे पवित्र कीजिए ॥११॥

सुबोधिनी – परमपवित्ररूपो भगवान्, पावित्र्ये परमैश्वर्यं प्राप्तः। अत एव नखोदकरूपायां गङ्गायामाज्ञया पवित्र्य स्थापितवान्। अन्यथा कथं शास्त्रनिषिद्धे पावित्र्यं भवेत्। तद्विरुद्धमेतत् **पुनीहि मामिति**। लोकसहितत्वेन सुतरां स्वस्यापावित्र्यख्यापनं विरुद्धम्। भगवान् स्वधर्मान् तत्र स्थापयित्वा तद्धर्मान् स्वयं गृहीत्वा सर्वमेवमाह, अन्यथा ब्रह्मणस्य नाशो भवेत्। प्रमेयबलेन

सन्मार्ग एव नाशितः स्यात् । यथा महति राजद्रोहे कृते राजकीयास्तन्नाशयेयुरेव स चेद्राजा तमपराधकर्तारं स्वसिंहासने निवेशयेत्तदा बाधकाः सर्वे साधका भूत्वा न पीडां कुर्युः । अन्यथा यथाकथञ्चिदपि तं नाशयेयुरेव । अतो भगवानेवं प्रघट्टकेन स्तोत्रं करोति । स्वधर्मान् स्थापयितुं तुल्यत्वाभावाय च तद्धर्मान् गृह्णाति । मोहिकैषा लीला हीनत्वप्रतिपादिका ज्ञातव्या । अतिदैन्यं ख्यापयन् वीर्यविरुद्धमाह **मद्गतान् लोकपालांश्च पुनीहीति** । स्वस्मिन्विद्यमानानां तस्य सम्बन्धाभाव एव, पावनं दूरे । तत्रापि **पादोदकेन** पावनं सुतरां कीर्तिविरुद्धम् **तीर्थानां तीर्थकारिणेति** गङ्गादीनामप्यनेनैव तीर्थत्वमिति सहेतुकं तस्य पावनकर्तृत्वं निरूपितम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—पवित्रता में सब पवित्रताओं से विशेष पवित्रता धारण कर पवित्रता में भी ऐश्वर्य प्राप्त किया है, जिससे परम पवित्र रूप भगवान् हैं, इस कारण से ही नखों के जल रूप गंङ्गा में अपनी आज्ञा से पवित्रता स्थापित की है, जो आप इसमें पवित्रता स्थापित न करते तो शास्त्र निषिद्धि नख जल में पवित्रता कैसे आती ? इसलिए जो स्वयं परम पवित्र रूप हैं और निषिद्ध जल भी पवित्र कर सकते हैं वह कहते हैं, मुझे पवित्र करो, यतः यह विरुद्ध धर्म है, न केवल अपने को लोक सहित सुतरां अपनी अपवित्रता प्रकट करनी, विरुद्ध है, यह सब भगवान् तब कह रहे हैं जब भगवान् ने अपने धर्म भृगु में स्थापित किए हैं उनको आपने ले लिए हैं, भगवान् यों न करते तो ब्राह्मण का नाश हो जाता, प्रमेय बल से सन्मार्ग नाश ही हो जाय. जैसे प्रजा महान् राजद्रोह जब करती है तब राज कर्मचारी उन द्रोहियों का नाश ही करें, किन्तु यदि राजा स्वयं उन द्रोहियों को राज्य दे देवे तो, तब वे सब राजद्रोही राजमित्र बन द्रोह करना छोड़ देते हैं. फिर किसी को भी कष्ट नहीं करते है यदि राजा उनको राज न दे तो वे कैसे भी कर राजा को नष्ट कर ही छोड़े, इस कारण से ही भगवान् इस नोति को लेकर ही भृगु की स्तुति करते हैं, दोनों में समता नहीं होने से भगवान् अपने धर्म उसमें (भृगु में) स्थापित करते हैं, उनके धर्म आप ग्रहण करते हैं, यह भगवात् की लीला मोहिका है, जिससे भगवान् का हीनत्व प्रतिपादन कर रही, भगवान् अति दैन्य प्रकट कर दिखाने के लिए अपने वीर्य से विरुद्ध वचन कहते हैं, जैसे कि 'मद्गतान् लोकपालांश्च पुनीहि' मुझमें जो लोक पाल स्थित हैं उनको पवित्र करो, मुझ में स्थित पद से यह सूचित किया है कि भृगु का इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं हो तो पवित्र करना तो दूर रहा, भगवान् अपने और लोकपालों को पवित्र करने के लिए भृगु के चरण जल की याचना करते हैं; वह तो असीम कीर्ति विरुद्ध है, भृगु का चरण जल कैसे पवित्र करेगा ? इस शंका को मिटाने के लिए कहते है कि यह चरण जल, साधारण नहीं है किन्तु तीर्थों को भी तीर्थ बनाने वाला है, यह हेतु देकर उसके (पाद जल के पवित्रता का निरूपण किया है । ११॥

आभास—लक्ष्मीविरुद्धमाह **अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनमिति ।**

आभासार्थ—लक्ष्मी से विरुद्ध धर्म को 'अद्याह' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम् ।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः ॥१२॥

श्लोकार्थ – हे भगवन् ! आज मैं लक्ष्मी के निवास का निश्चित् स्थान बना हूँ; क्योंकि आपके चरण से नष्ट पाप वाले मेरी छाती पर वे रहेंगे ॥१२॥

सुबोधिनी—नित्यसिद्धा भगवति लक्ष्मीराधिदैविकी। इयं चाधिभौतिकी सापि नित्या। ततश्च लक्ष्मीस्वरूपेण स्वस्वरूपेण चैतद्विरुद्धयते। ज्ञानविरुद्धमाह **वत्स्यत्युरसि मे भूतिरिति**। नहि क्रियाशक्तिर्ज्ञानपूर्णे तिष्ठति। तत्राप्यन्तरङ्गा भूत्वा वत्स्यतीत्याशंसनात् वैराग्यविरोधोऽपि। **भवत्पादहतांहस** इति। त्वच्चरणारविन्दसम्बन्धेन स्वस्य पापक्षयकथनं धर्मिविरुद्धमपि। एवं सधर्ममात्मानं तत्र स्थापयित्वा तदीयं स्वस्मिन् गृहीत्वा तथोक्तवान्। अनेनैव तस्य प्रायश्चित्तमप्युपदिष्टम्। यदा कदाचिन्मच्चरणसेवां करिष्यसि तदा तव पापक्षयो भविष्यतीति। एवं अमानित्वं मानदत्वं च स्वस्य प्रकटीकुर्वता भगवता सन्मार्गः समर्थितः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् में नित्य सिद्ध लक्ष्मी जो है वह आधिदैविकी है, और यह आधिभौतिकि भी नित्य है, पश्चात् इस प्रकार के वाक्य, लक्ष्मीजी के स्वरूप से तथा अपने स्वरूप से विरुद्ध है 'मेरी छाती पर बैठेंगी' यह वचन ज्ञान के विरुद्ध है कारण कि जिसमें ज्ञान शक्ति पूर्ण है वहां क्रिया शक्ति नहीं रह सकती है, उसमें भी वह अन्तरंग होकर रहेगी, इस प्रकार की इच्छा प्रकट करने से तो, वैराग्य का भी विरोध आता है, आपके चरणारविन्द के सम्बन्ध से अपने पापों का क्षय कहना, धर्मी स्वरूप से भी विरुद्ध है।

इस प्रकार जो भगवान् ने कहा है वह पहले अपने को धर्म सहित भृगु में स्थापित कर, उसके स्वरूप को स्वयं ग्रहण कर पीछे बोला है।

इससे ही उसको प्रायश्चित का भी उपदेश दिया है कि जब कभी मेरे चरणों की सेवा करोगे, तब यह तेरा पाप क्षीण होगा, इस प्रकार अपना अमानित्व और दूसरे को मान देने पन का गुण, प्रकट करते हुए भगवान् ने सत्पुरुषों के मार्ग का समर्थन किया है ॥१२॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह **एवं ब्रुवाण** इति।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'एवं ब्रुवाणे' श्लोक में कहते हैं –

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा।**
निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भवत्युत्कष्ठोऽश्रुलोचनः ॥१३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि जब भगवान् इस तरह कह रहे थे, तब भृगु ऋषि यह गम्भीर वाणी सुनकर परमानन्द में मग्न हो गए और तृप्त हो गए, जिससे कुछ कह न सके, भक्ति की उत्कण्ठा उद्भूत होने से नेत्रों में प्रेमाश्रू भर गए ॥१३॥

सुबोधिनी—स तु परीक्षार्थमागत इति तेन भगवति हीनभावो न मतः। किन्तु गुणत्वेन कायवाङ्मनश्चरित्रं स्वीकृतवान्। अत एव सर्वभावेन सन्तुष्ट इत्याह, आदौ तन्मन्द्रया गिरा निर्वृतः भगवता च तर्पितः स्वधर्मारोपणेन। अतः सनकादिवत् प्रत्युत्तरसन्देहादिकं न कृतवान् किन्तु तूष्णीमास। किञ्च। भगवानद्भुतकर्मा भक्तिविरुद्धकर्मणा तस्मै भक्तिं दत्तवानित्याह भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचन इति। भक्त्या प्रेमलक्षणाया भगवति परमोत्कण्ठावान् जातः। अहो भगवच्चरित्रमित्याश्चर्येण अश्रुलोचनोऽपि।१३।

व्याख्यार्थ—वह (भृगु) तो तीन देवों की परीक्षार्थ निकले थे, दो को परीक्षा कर अब इनकी परीक्षार्थ यहां आए थे, इसलिए उसने भगवान् में हीनभाव नहीं माना, किन्तु काया, वाणी और मन से जो कुछ भगवान् ने किया उनको गुण रूप से, स्वीकार किया अतएवं सर्व भाव से वह सन्तुष्ट हुआ, यह कहते हैं पहले उनकी गंभीर वाणी सुनकर परम आनन्द में मग्न हुआ, भृगु में अपने धर्म स्थापित कर उसको तृप्त कर दिया. अतः सनकादिकों की तरह प्रश्नोत्तर एवं संदेह न किया, मौन धारण करली, अद्भुत कर्मा भगवान् ने भक्ति के विरुद्ध कर्म द्वारा उसको भक्ति दी. प्रेमलक्षण भक्ति की प्राप्ति से भृगु भगवान् में परमोत्कण्ठा वाला हुआ जिससे मन में आया कि अहो ! भगवान् के ऐसे आश्चर्य मय चरित्र हैं यों विचार होते ही नेत्र अश्रुओं से पूर्ण हो गए। १३॥

आभास—भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा निर्णयकथनार्थमागत इत्याह **पुनः स्वसत्रमाव्रज्येति।**

आभासार्थ—भगवान् का माहात्म्य जानकर, निर्णय सुनाने के लिए फिर वहां सत्र के स्थान पर लौट आए यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक– **पुनः स्वसत्त्रमाव्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम्।**
स्वानुभूतमशेषेण राजन्भृगुरवर्णयत्॥१४॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! भृगु ब्रह्मवादी मुनियों के अपने सत्र में लौटकर अपना सम्पूर्ण अनुभव वर्णन करने लगे ॥१४॥

सुबोधिनी—मुनीनां ब्रह्मवादिनामिति ज्ञानक्रियावैशिष्ट्यं तेन विश्वासो ज्ञानं च भविष्यतीति अतो निःशङ्कं अशेषप्रकारेण स्वानुभूतमवर्णयत्। उपसंहारे भृगुपदं तस्य वैष्णवत्वं ख्यापयति ॥१४॥

व्याख्यार्थ -'मुनीनां ब्रह्मवादिनां पदों से यह सूचित किया है कि, सत्र में दीक्षित, मुनि तथा ब्रह्मवादी थे जिससे उनमें ज्ञान एवं क्रिया दोनों मौजूद थी, उससे मैं जो इनको बताऊंगा उस पर विश्वास करेंगे तथा उसको समझेंगे भी, अतः शङ्का रहित हो अपना सम्पूर्ण अनुभव वर्णन किया अन्त में भृगु' पद देने से उसकी वैष्णवता प्रकट कर दिखाई है ॥१४॥

आभास—ततोऽपि किं पुनः सन्देहः स्थितो न वेति शङ्काव्युदासपूर्वकं निःसन्देहं ख्यापयितुमाह **तन्निशम्येति।**

आभासार्थ—भृगु के अनुभव को सुनने के बाद भी उनको संदेह रहा वा नहीं, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'तन्निशम्य' श्लोक में कहते हैं कि संदेह न रहा—

श्लोक—**तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः ।**
भूयांसः श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ।।१५।।

श्लोकार्थ—प्रथम भगवान् के चरित्र श्रवण करने से अचम्भे में पड़े, अनन्तर सर्व संशयों से रहित हुए, विष्णु भगवान् में श्रद्धा वाले हो गए, जिससे ही शान्ति और निर्भयता की प्राप्ति होती है, यों निश्चय किया ।।१५।।

सुबोधिनी—आदौ भगवच्चरित्रश्रवणाद्विस्मिताः । अल्पोत्कर्षज्ञानार्थं प्रवृत्ताः परमोत्कर्षं ज्ञातवन्त इति । ततो मुक्तसंशयाः । भगवानेव महानिति निश्चयात् । एवमपि सति भूयांसो विष्णुमेव श्रद्दधुः । अयमेव महानिति पदार्थे श्रद्धां कृतवन्तः । ये तु पुनः पितृत्वेन गुरुत्वेन वा अन्यत्रापि श्रद्धायुक्तास्तेषामन्याभिनिविष्टानां प्रमाणमपि बोधयितुमसमर्थमिति ते स्वसेव्यसदृशमेव भगवन्तं ज्ञातवन्त इति तद्व्युदासार्थं भूयांस इत्युक्तम् । सन्मार्गे भगवानेवोत्कृष्टो मन्तव्य इति ख्यापयितुं सन्मार्गोपयोगिनः सर्वानेव गुणान् भगवत्याह यतः शान्तिरिति । 'तत्तीर्थसाधनम्' इत्यन्तेन आदौ सन्मार्गे गुणक्षोभनिवृत्तिरपेक्ष्यते ततो भगवद्धर्माः मार्गरक्षा चेति । तत्रापि षड्गुणा भगवांश्च वक्तव्यः । एवं षोडशकलो भगवान् मार्गे निरुक्तो भविष्यति । शान्तिरान्तरो धर्मः, इन्द्रियाणां रजोगुणक्षोभाभावः अनेन भवति । यतोऽभयं भयाभावः सत्त्वक्षोभनिवृत्तिः ।।१५।।

व्याख्यार्थ—आदि में भगवान् का अद्भुत चरित्र श्रवण कर आश्चर्य युक्त हो गए, स्वल्प उत्कर्ष को जानने के लिए प्रवृत हुए किन्तु परमोत्कर्ष का ज्ञान प्राप्त किया, उससे संशय नष्ट हो गए और यह निश्चय हो गया कि भगवान् ही महान् हैं, यों होते हुए भी विष्णु रूप में विशेष पूर्ण श्रद्धावान् होने लगे, ये ही महान् हैं, यों निश्चय कर इस पदार्थ[1] में विश्वास करने लगे ।

'भूयांसः' इस शब्द के कहने का भावार्थ बताते हैं कि जो लोग ब्रह्मा को पिता समझ और महादेव को गुरु जानकर उनमें श्रद्धा वाले थे, उन श्रद्धा वालों को समझाने के लिए शास्त्र प्रमाण भी समर्थ नहीं हैं, अतः वे भगवान् को भी अपने सेव्य (ब्रह्मा और महादेव) के समान जानने लगे, इसलिए उनकी अवगणना करने के वास्ते 'भूयांसः' पद दिया है ।

सत्पुरुषों के मार्ग में अथवा श्रेष्ठ मार्ग में, भगवान् को ही उत्तम मानना चाहिए, यह प्रकट करने के लिए, सन्मार्ग के लिए जो उपयोगी गुण हैं, वे भगवान् में ही हैं यों 'शान्ति पद से लेकर १६ वें श्लोक के अन्तिम पद 'तत्तीर्थसाधनम्' तक बताते हैं, इसमें पहले सन्मार्ग में इसकी आवश्यकता है कि, गुणों में क्षोभ न होने से ही भगवद्धर्म और भगवन्मार्ग की रक्षा होती है यों होते हुए भी भगवान् और उनके छ गुण कहने चाहिए ।

---

[1] स्वरूप में

इसी प्रकार भक्ति मार्ग में १६ कला[1] वाले भगवान् का वर्णन हो जायगा, विष्णु से शान्ति और अभय प्राप्ति होती है ।

१- शान्ति आन्तर भीतरी-अन्दर का, धर्म है, इस धर्म से इन्द्रियों में जो रजोगुण से क्षोभ होता है वह क्षोभ (घबराहट) होना रुक जाता है, २- अभय धर्म सतोगुण से उत्पन्न क्षोभ की निवृत्ति होती है ।।१६।।

श्लोक—धर्मः साक्षाद्यतो ज्ञानं वैराग्यं च दयान्वितम् ।
ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद्यशश्चात्ममलापहम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—जिससे धर्म, दया सहित ज्ञान और वैराग्य प्राप्त होता है और जिससे आठ प्रकार के ऐश्वर्य तथा अन्तःकरण के मल का नाश करने वाले यश की प्राप्ति होती है ।।१६।।

सुबोधिनी—धर्मस्तामसाभावः । ततो भगवद्धर्माः । यस्मात्सर्वेषां प्राणिनां साक्षाज्ज्ञानं निरुपाधिकं वैराग्यं च तद्विधमेव । दयान्वितमित्युभयत्र विशेषणम् । ज्ञानेन वैराग्येण च प्राणिनां पीडा सम्भवतीति तदर्थमेतदुक्तम् । दयाभावार्थं हि भगवानर्जुनमुपदिदेश । वैराग्येण स्वकीयानां पीडा लोकसिद्धा । तदन्वितमिति क्वचित्पाठः । तदा ज्ञानसहितं वैराग्यम् न तु मर्कटवैराग्यमित्यर्थः । यतो भगवतः सकाशात् अष्टधा ऐश्वर्यं भवति अणिमादिप्रभेदभिन्नं यशश्च भवति । आत्मनोऽन्तःकरणस्य मलं दूरीकरोतीति यशसो विशेषणम् । अनेन असत्प्रकारेण नटविटादिभ्यो दानेन यद्यशस्तद्व्यावर्तितम् । श्रीः वीर्यं च प्रकृते तथा नोपयुज्यत इति दयायां वीर्यस्यान्तर्भावं, अष्टधा ऐश्वर्ये श्रियश्च मन्यते ।।१६।।

व्याख्यार्थ—३- धर्म—धर्म से तमोगुण का अभाव होता है, अर्थात् तमोगुण से उत्पन्न क्रियाओं का नाश हो जाता है, इसके अनन्तर भगवान् के धर्म बताते हैं, ४- जिससे सकल प्राणी, साक्षात् निरुपाधिक ज्ञान एवं ५- वैसा ही वैराग्य प्राप्त होता है, वे दोनों (ज्ञान तथा वैराग्य) दया सहित प्राप्त होते हैं, दया सहित ज्ञान और वैराग्य प्राणियों को पीड़ा देने वाला नही होता है, दया रहित ज्ञान और वैराग्य पीड़ा कारक होते हैं । दया भाव के कारण ही अर्जुन को भगवान् ने उपदेश दिया । वैराग्य से सम्बन्धियों को कष्ट होता है, यह लोक सिद्ध है । किसी पुस्तक में दयान्वितं के स्थान पर 'तदन्वितम्' पाठ है जिसका अर्थ है वैराग्य हो तो ज्ञान सहित होना चाहिए, ज्ञान बिना जो वैराग्य है वह (वैराग्य) वैसा होता है जैसा वानर का वैराग्य है, जिस भगवान् से ६- अणिमादि प्रकार अष्ट विध ऐश्वर्य और ७- यश प्राप्त होता है, वह यश, अन्तःकरण के मल का नाश करने वाला होता है, न कि नट तथा विदूषक आदि को पारितोषक देने से लोक में नामवरी होती है वैसा दिखावटी यश प्राप्त होता है ।

---

[1] गुण तीन भगवान् के ६ धर्म, भक्ति मार्ग की रक्षा में छ गुण और एक धर्मी, यों मिलकर ३+६+६+१=१६ होते हैं अतः षोड़श कला पुरुष है ।

चालू प्रसंग में ८- श्री और ९- वीर्य का उपयोग न होने से पृथक न कहकर शुकदेवजी वीर्य का दया में और श्री का अष्टविध ऐश्वर्यों में अन्तर्भाव मानते हैं ॥१६॥

आभास—एवं भगवतः सकाशात् प्राणिनामेवं भवतीति निरूप्य मार्गानुसारिणि भगवति मार्गसिद्धचर्थं गुणानाह **मुनीना**मिति त्रिभिः ।

आभासार्थ - भगवान् से प्राणियों को इस प्रकार अष्ट विध ऐश्वर्यादि की प्राप्ति होती है, यह निरूपण कर, भक्ति मार्ग की सिद्धि के लिए, मार्ग के अनुकूल भगवान् में गुणों का निम्न श्लोकों से वर्णन करते हैं—

श्लोक—मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम् ।
अकिञ्चनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—जिन (भगवान्) को शान्त, समचित्त वाले, अकिञ्चन साधु तथा संन्यास धारण किए हुए मुनियों का परम फल कहते हैं ॥१७।

सुबोधिनी—यस्तु भगवान् षड्गुणयुक्तानामपि परमा गतिः फलरूप इत्यर्थः । आहुरिति प्रमाणम् । परमत्वं यतो नावर्तते यस्मादग्रे गन्तव्यं च नास्ति । षड्गुणान्मुनीनां वर्णयति तेषामेव भगवान् फलमिति ज्ञानार्थम् । मननं ज्ञानसाधनम् । तेन ज्ञानसिद्धिः । दण्डन्यासो वैराग्यम् । शान्तिः कीर्तिः । समचित्तता श्रीः । अकिञ्चनानामिति वीर्यं सम्भवति, अपेक्षायां च तदग्रहणात् । साधूनामिति सदाचाराणाम्, अनेनैश्वर्यं निरूपितम्, लौकिकसामग्र्या वैदिकत्वसम्पादनात् । एवं फलरूपता एको गुणः सन्मार्गे ॥१७॥

व्याख्यार्थ - जो भगवान्, छ गुणों वालों की भी गति हैं अर्थात् फलरूप हैं, 'आहु' पद से इसकी प्रमाणता कही है, अर्थात् वेदादि शास्त्र कहते हैं कि छ गुणों वालों का फल यह भगवान् (विष्णु) है, कारण कि उनको प्राप्त करने के बाद, वहां कोई लौट कर संसार में नहीं आता है, और उससे आगे कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां जाकर आनन्द पाया जाय, जिन मुनियों का ये परम फल रूप है उन (मुनियों) के छ गुणों का वर्णन, इसलिए करते है कि, सबको यह ज्ञात हो जावे कि ये भगवान् किनको और कैसे गुणों वालों को प्राप्त होते हैं ।

मनन करने वाले को 'मुनि' कहा जाता है, मनन करना यह ज्ञान का साधन है, मनन करने से ज्ञान की सिद्धी होती है । किसी को भी दण्ड न देना यह वैराग्य का लक्षण है अर्थात् जो अपराधी को भी दंड (सजा) नहीं देता है वह सन्यासी (वैराग्यवाला है, मुनियों में शान्ति होती है जिससे उनमें कीर्ति गुण रहता है मुनि हमेशा सब में समदृष्टि वाले होते हैं,यह गुण श्री का द्य तक है उनमें वीर्य गुण होता है, जिसका सूचन उनकी अकिञ्चनता करती है, अपेक्षा होते हुए भी कुछ न लेना, यह वीर्य गुण के बिना हो नहीं सकता है, साधु अर्थात् सत् आचरण वाले होते हैं, इससे ऐश्वर्य का निरूपण किया है, यदि भगवान् किसी को लौकिक सामग्री देते हैं तो समझना चाहिए कि इससे वैदिक क्रिया मर्यादामार्गीय कर्म कराना चाहते हैं । सन्मार्ग अर्थात् उत्तम भक्ति मार्ग में भगवान् की फलरूपता ही एक मूल विशेष [खास] गुण है ॥१७॥

आभास साधनोत्कर्षमाह **सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिरिति ।**

आभासार्थ—इस मार्ग में साधनों का उत्कर्ष 'सत्त्वं यस्य' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक — **सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिर्ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः ।**
भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः ॥१८॥

श्लोकार्थ—जिन भगवान् को सत्त्वमूर्ति प्रिय है, ब्राह्मण जिनके इष्ट देवता हैं, अथवा निष्काम, शान्त और कुशल बुद्धि वाले जिनको भजते हैं ॥१८॥

सुबोधिनी – सत्त्वगुण एव भगवन्निरूपकः । सत्त्वोत्पादका अपि तत्र सुलभा इत्याह **ब्राह्मणास्त्विष्टदेवता** इति । **यस्य** भगवतः **इष्टदेवता ब्राह्मणाः** । अनेन प्रमाणप्रतिवन्धकता निवारिता । किंच । यस्मिन् मार्गे गुणत्रययुक्ता **भजन्ति** । **अनाशिषः** फलाकाङ्क्षारहिताः । **शान्ताः** साधनदोषरहिताः । **निपुणबुद्धयः** विवेकज्ञानयुक्ता इति साध्योत्कर्षः । वेत्यनादरे । भगवद्भजने निपुणा बुद्धिर्नात्यन्तं प्रयोजिकेति । एवं गुणचतुष्टयं निरूपितम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—सत्त्वगुण ही भगवान् का निरूपण करने वाला है, सत्त्व को उत्पन्न करने वाले ही वहां सुलभ हैं, एवं ब्राह्मण तो भगवान् के इष्टदेव हैं, यों कहकर यह सिद्ध कर बताया है कि इस मार्ग में प्रमाण रुकावट नहीं कर सकता है, और विशेषता यह है कि इस मार्ग में तीन गुण वाले ही (१- निष्काम, २-शान्त (साधन[1] दोष रहित) ३-विवेक और ज्ञान से युक्त भक्त ही) भगवान् का भजन करते हैं, यों कहकर साध्य भगवान् का उत्कर्ष वर्णन किया है, 'वा' पद देने का प्रयोजन यह है कि भगवान् के भजन करने में चतुराई अत्यन्त प्रयोजन वाली नहीं है, इस प्रकार ४ गुण कहे । १८॥

आभास—द्वयमाह **त्रिविधाकृतय** इति ।

आभासार्थ--अन्य गुण कहे, शेष दो गुण 'त्रिविधाकृतयः' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक **त्रिविधाकृतयस्तस्य राक्षसा असुराः सुराः ।**
गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत्तीर्थसाधनम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—उनकी तीन प्रकार वाली गुणमयी माया ने राक्षस, असुर और सुर जैसी तीन प्रकार की आकृति वाली सृष्टि, बनाई है, इनमें जो सत्त्व है वह तीर्थ का साधन है ॥१९॥

सुबोधिनी—भगवतः **आकृतयः** रूपाणि **त्रिविधानि** । तानि गणयति **राक्षसास्तामसाः** । **असुरा** राजसाः । **सुराः** सात्त्विकाः । अनेन सर्वरूपो भगवानिति सर्वत्र भगवद्बुद्धिरेको गुणः । तत्रापि **सत्त्वं तीर्थानां** पवित्रहेतूनां **साधनमिति** । इदं वैराग्यस्थानीयम् । ततः पूर्वं ज्ञानस्थानीयम् ।

---

[1] १- साधन किया जायगा तो भगवान् की प्राप्ति होगी, इस प्रकार के साधन दोष जिन भक्तों में नहीं है

भजनं श्रीः । ब्राह्मणाः कीर्तिः । सत्त्वं बलम् । गतिरैश्वर्यमिति । यस्मादिति, भगवान् इति धर्मी निर्दिष्टः । तस्मात्कृष्ण एव महान् सर्वप्रकारेणेति निरूपितम् ।।१९।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के रूप तीन तरह के हैं, वे बताते हैं. १- राक्षस, वे तामस हैं २- असुर, वे राजस है, ३ - देव वे सात्विक हैं. यों कहने से यह सिद्ध किया है कि भगवान् सर्वरूप है, इसलिए सर्वत्र भगवद्बुद्धि रखनी चाहिए, यह एक गुण है ।

उनमें भी जो सत्त्व है, वह जो पवित्र करने वाले हैं, उनके लिए साधन है, यह साधन वैराग्य रूप ही है, इससे पहले जो[1], कहा वह ज्ञान रूप ही है, भजन 'श्री' है ब्राह्मण कीर्ति हैं, सत्त्व 'बल'[2] है और गति ऐश्वर्य है. 'यस्मात्' पद १९ वें श्लोक में जो दिया है उसमें धर्मी भगवान् का ही निर्देश किया है, इससे सिद्ध है कि 'कृष्ण' ही सर्व प्रकार महान् है ।।१९।।

आभास—एतत्प्रासङ्गिकमुक्त्वा निर्णयकर्तॄणां किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह इत्थं सारस्वता विप्रा इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रस्तुत विषय का वर्णन कर अब 'इत्थं सारस्वता' श्लोक से बताते हैं कि जिनने निर्णय कराने के लिए भृगु को भेजा था, भृगु ने आकर सर्व वृतान्त कह सुनाया अनन्तर उन्होंने यों किया—

श्लोक—श्री शुक उवाच - **इत्थं सारस्वता विप्रा नृणां संशयनुत्तये ।**
पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्गतिं गताः ।।२०।।

श्लोकार्थ - श्री शुकदेवजी ने कहा, इस प्रकार सारस्वत ब्राह्मणों ने विष्णु भगवान् के चरणारविंद की सेवा कर उत्तम गति (वैष्णवी गति) प्राप्त की, और इस निर्णय तथा कर्तव्य से मनुष्यों के संशय नष्ट किए ।।२०।।

सुबोधिनी - सरस्वतीतीरस्था मुनयः प्रमाणोत्कर्षमापन्नाः वाक्यमात्रेण नृणां संशयो न गच्छतीति संशयनिवृत्त्यर्थं स्वयं भजनं कृत्वा ततस्तयैव सेवया तयैव गन्तुं योग्यं भगवन्तं गताः ।

व्याख्यार्थ - सरस्वती तीर निवासी मुनि, इस प्रकार प्रमाण के उत्कर्ष को प्राप्त हुए. केवल कहने से मनुष्यों का संशय मिटेगा नहीं, इसलिए संशय मिटाने के लिए विष्णु ही उत्तम है इस प्रकार के निर्णय को मान्य कर स्वयं विष्णु की सेवा करने लगे, जिससे ही प्राप्त करने योग्य भगवत्स्वरूप को प्राप्त हुए, शास्त्र में भगवान् की प्रसन्नता तथा मुक्ति की प्राप्ति का साधन सेवा ही है,

---

[1]- सर्व में भगवद् बुद्धि रखनी, [2]- वीर्य

जिसका प्रमाण—भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुर्नान्येन केनचित् ।
स एव मुक्तिदाता च भक्तिस्तत्रैव कारणम्' इति वाक्यात् ।।२०।।

अर्थ—भक्ति के सिवाय अन्य कोई साधन भगवान् विष्णु को प्रसन्न नहीं कर सकता है, वह विष्णु भगवान् ही मुक्ति दाता है. इसमें भक्ति ही कारण है ।।२०।।

आभास—एवमुपाख्यानस्य फलपर्यन्ततामुक्त्वा तस्य च फलं सर्वदैव भवतीति ज्ञापयितुं सूतः फलश्रुतमाह **इत्येतदिति** ।

आभासार्थ—यों इस उपाख्यान की फल पर्यन्तता कहकर अब सूतजी, 'इत्येतन्मुनि' श्लोक में बताते हैं कि इससे जो फल मिलता है वह सदैव स्थिर रहता है—

श्लोक—सूत उवाच—**इत्येतन्मुनितनयास्यपद्मगन्ध-**
पीयूषं भवभयभित्परस्य पुंसः ।
सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णं
पान्थोऽध्वभ्रमणपरिश्रमं जहाति ।।२१।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार, यह, व्यास मुनि के पुत्र शुकदेवजी के मुख रूप कमल का सुगन्धितवाला अमृत रूप, संसार के भय को मिटाने वाला, पर पुरुष का सुन्दर श्लोकों वाला चरित्र जो पथिक कर्ण रूप दोनों से बार-बार पीता है वो मार्ग की थकावट को मिटाता है ।।२१।।

सुबोधिनी—**इतीति** कथासमाप्तिः सूच्यते । **एतदित्यनुवादः** । यतः कुतश्चिदपि श्रुतं भगवच्चरित्र कार्यं साधयत्येव । फलरूपता तु साधारणानामपि भक्तमुखश्रवणादेव भवतीति ज्ञापयितुं विशेषणं **मुनितनयास्यपद्मगन्धपीयूष**मिति । **मुनितनय**त्वेनान्यथा ज्ञानं निवर्तयति । **आस्यपद्म**मिति पाने क्लेशाभाव उक्तः । अधःस्थितपद्मे तु निम्नतासंपादनक्लेश इति । **गन्धयुक्तं पीयूष**मिति भक्तिरसालोडितं चरित्रमुक्तम् । अनेन स्वतःपुरुषार्थता निरूपिता । साधकत्वमप्याह **भवभयभिदिति** । संसारभयं निवर्तयति । भवपद भयस्यानिवर्त्यत्व ज्ञापयति । कीर्तरेतत्साधकत्वे हेतुमाह **परस्य पुंस** इति । नहि प्रकृतिमध्यस्थितस्य चरित्रमेतादृशं भवतीति । शब्दतोऽप्युत्तमतामाह **सुश्लोक**मिति । शोभनाः श्लोका व्यासादिकृता यस्मिन् । **श्रवणपुटै**रिति उत्तमितकर्णपुटैरिति बहुवचनेन वरत्वेन प्राप्तैः । 'विधत्स्व कर्णायुतम्' इति वाक्यात् । एवं यः **पान्थो** भूत्वा **अभीक्ष्णं** पिबति तस्य साधनदशास्थितावपि क्लेशो निवर्तत इत्यर्थः ।।२१।।

व्याख्यार्थ—'इति' पद से कथा सम्पूर्ण हुई यह सूचना देते हैं. 'एतत्' पद सूचित करता है कि यह कहना 'अनुवाद' मात्र है,किसीके भी मुख से सुना हुआ भगवान् का चरित्र कार्य को सिद्ध करता ही है, साधारणों को भी भक्त मुख से ही श्रवण करने पर फल प्राप्ति होती है, यों जताने के लिए 'मुनितनयास्यपद्मगन्ध पियुष' विशेषण दिया है, यह चरित्र तो मुनि के पुत्र शुकदेवजी से सुना

है, यों कहने से यह सूचना दी है कि इस श्रवण से जो ज्ञान प्राप्त हुआ है वह झूठा नहीं है, 'मुख कमल' पद देकर यह सूचित किया है कि इस चरित्रामृत पान करने में क्लेश नहीं होता है क्योंकि, यदि कमल नीचे पड़ा हो तो नीचे होने का क्लेश होता है. यह तो मुख कमल होने से ऊपर है अतः नीचे नमना नहीं पड़ता है जिससे क्लेश नहीं होता है, यह अमृत निर्गन्ध नहीं है किन्तु गन्धपूर्ण है, तात्पर्य यह है कि यह चरित्र रसमय है, इसमे यों निरूपण किया है कि यह चरित्र स्वतः पुरुषार्थ रूप है, इस चरित्र का साधकपन भी कहते हैं कि 'भवभयभित्' संसार के भय को तोड़ने वाला है, 'भव' पद से यह सूचित किया है कि इससे उत्पन्न भय मिटने वाला नहीं है, किन्तु यह चरित्र इसको भी मिटा देता है, 'कीर्ति' इसके साधकपन में हेतु कहते हैं, 'परस्य पुंसः यह चरित्र पर पुरुष का होने से कीर्ति आदि सब देते हैं, जो प्रकृति के मध्य[1] में स्थित है उनका चरित्र वैसा नहीं होता है, शब्द से भी उत्तमता दिखलाते हैं कि, व्यासादि महर्षियों ने सुन्दर श्लोकों में स्तुति की है, 'श्रवण पुटैः' बहुवचन वाले पद से, खड़े हुए श्रवण रूप दोनों कहकर यह कहा कि वरदान से ऐसे कान प्राप्त होते हैं, विश्रत्सवकर्णायुतम्' 'दश हजार कानों करो', भगवच्चरित्र सुनने की इच्छा वाले इस प्रकार का वर प्राप्त करते हैं, ऐसा वर प्राप्त कर, जो पथिक, बार बार चरित्रामृत का पान करता है उसका क्लेश साधन दशा में भी निवृत्त हो जाता है ।।२१।।

आभास—एवं प्रमाणबलेन भगवतो ज्ञानशक्तिर्निरूपिता । प्रमेयबलेन निरूपयितुमुपाख्यानान्तरमारभते शुकः स्वयमेव **एकदेति** । **इतोदृशानी**त्यन्तेन ।

आभासार्थ—इसी तरह प्रमाण बल से भगवान् की ज्ञान शक्ति का वर्णन कर, अब प्रमेय बल द्वारा ज्ञान शक्ति का निरूपण करने के लिए, शुकदेवजी स्वयं, 'एकदा' श्लोक से इतीदृशा' श्लोक तक दूसरे उपाख्यान का आरम्भ करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**एकदा द्वारवत्यां तु विप्रपत्न्याः कुमारकः ।**
जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत ।।२२।।

श्लोकार्थ—हे भारत ! किसी दिन द्वारका में ब्राह्मण की स्त्री को पुत्र उत्पन्न हुआ, वह जन्मते पृथ्वी का स्पर्श होते ही मर गया, यह कथा प्रसिद्ध है ।।२२।।

सुबोधिनी - प्रमेयबले पूर्वपक्षे कालस्यापि बलं निरूपणीयं ततो न देशादीनां बलेन सह विरोधः एते दश लीलारूपाः प्राणरूपा वा । निर्गुणया भक्त्या सह भक्तिरूपा वा, येषामर्थे भगवान् गच्छतीति । तेजसः प्रत्यापत्तिरपि कर्तव्येति भगवतो गमनमित्येके । अनिरुद्धचरित्रत्वादर्जुनेन सह गमनम् । अर्जुने सर्वदेवतानाम-स्त्राणि वर्तन्त इति तत्सामर्थ्ये निराकृते सर्वेषामेव सामर्थ्यं निराकृतं भवतीति ज्ञापयितुं तत्कथा । **एकदा** यस्मिन् काले भगवतः स्वसामर्थ्यप्रदर्शनेच्छा । तुशब्दो वैकुण्ठे कथमेवमिति शङ्काव्यावृत्त्यर्थः । कस्याश्चिद्विप्रपत्न्याः **कुमारकः** पुत्रः **जातमात्र** एव तदानीं कालो भूमौ तिष्ठतीति भूमिस्पर्शमात्रेणैव मृतः । **किले**ति प्रसिद्ध्या शुकः स्वदोषं परिहरति । **भारतेति** निश्वासार्थम् ॥२२॥

---

[1]– प्राकृताः सकला देवा,

व्याख्यार्थ—प्रमेय बल को निरूपण करते समय, पूर्व पक्ष में काल के बल का भी निरूपण करना चाहिए, इससे देश आदि के बल से विरोध नहीं होता है, ये[1] देश भी भगवान के दस लीला रूप अथवा दस प्राण रूप थे, अथवा निर्गुण भक्ति सहित दश[2] विध भक्ति रूप थे, जिनको लेने के लिए भगवान् दूर पधारेंगे, कोई कहते हैं कि तेज को लौटाकर लाना चाहिए इसलिए भगवान् का गमन हुआ, यह चरित्र भगवान् ने अनिरुद्ध स्वरूप से किया है इसलिए अर्जुन के साथ गए, अर्जुन के पास सकल देवों के अस्त्र हैं, इस प्रकार उसकी सामर्थ्य का निराकरण करने से सबकी सामर्थ्य का निराकरण हो जायगा यों जताने के लिए अर्जुन की कथा कही गई है ।

किसी समय भगवान् को अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन करने की इच्छा हुई 'तु' पद, वैकुण्ठ में भगवान् को इच्छा कैसे हुई ? इस शंका को मिटाने के लिए दिया है, सारांश कि भगवान् स्वतन्त्र, सर्व समर्थ होने से कोई भी इच्छा कभी भी और कहीं भी कर सकते हैं यह सूचित करने के लिए 'तु' शब्द दिया है ।

कथा—एक दिन भगवान् को अपनी सामर्थ्य दिखाने की इच्छा हुई, तब किसी ब्राह्मण की स्त्री को पुत्र जन्म हुआ, जन्मते पृथ्वी का स्पर्श होते ही वह मर गया, कारण कि उस समय, काल पृथ्वी पर था, इसलिए पृथ्वी स्पर्श मात्र से बालक की मृत्यु हो गई 'किल' पद देकर यह बताया है कि यह चरित्र प्रसिद्ध ही है, मैं नहीं कहता हूँ, जिससे शुकदेवजी ने अपने पर, दोष आने का परिहार कर दिया है, हे भारत ! यह सम्बोधन विश्वास जमाने के लिए कहा है ।।२२।।

आभास—ततो ब्रह्मणः अभूतपूर्वोऽयमर्थ इति भगवता कालस्य पूर्वभोगोऽपि व्यावर्तित इति । विद्यमानेऽपि भगवति यत्पुत्रमरणं तच्छम्बुकन्यायेन जातमिति प्रत्यापत्तिर्भविष्यतीति राजदोषेणैवैवं जातमिति तान् ज्ञापयन् बालकं गृहीत्वा राजद्वारि गत इत्याह **विप्रो गृहीत्वेति** ।

आभासार्थ ऐसा अनर्थ वाला कार्य आगे कभी नहीं हुआ है, भगवान् ने प्रथम, काल का पूर्व भोग भी रोक दिया था, तो भी भगवान् के विराजते हुए मेरा पुत्र मरा है, वह शम्बूकन्याय[3] से हुआ है, अर्थात् जैसे राम राज्य में शूद्र शम्बूक की तपस्या से पिता के जीते ब्राह्मण का पुत्र मरा था, राम ने शम्बूक का वध किया तो वह जीवित हो गया, वैसे मेरा पुत्र राज दोष से मरा है किन्तु भगवान् विराजते हैं अतः वह पीछा लौट आएगा, जैसे कमलादियुक्त मानसरोवर में मोती होते हैं किन्तु जल दोष से सीप भी पैदा हो जाती है वैसे राज दोष से मेरा बालक मरा है, ये शब्द राज दरबार में सभासदों को कहते हुए-मृत पुत्र राज दरबार में धर दिया-वह 'विप्रो' श्लोक में कहते हैं—

---

[1] ब्राह्मणी के जन्मे हुए पुत्र,

[2] श्रवणं कीर्तनं विष्णोः श्लोक में कही हुई नव विध भक्ति और एक निर्गुण प्रेमलक्षणा भक्ति,

[3] शूद्र शम्बूक की तपस्या के कारण

श्लोक—विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः ।
इदं प्रोवाच विलपन्नातुरो दीनमानसः ।।२३।।

श्लोकार्थ—दुखित वह ब्राह्मण, मृत पुत्र को लेके, राजा के द्वार पर उसको रख कर विलाप करता हुआ, दीन बनकर निम्न शब्द कहने लगा ।।२३।।

सुबोधिनी—उपचारव्यावृत्त्यर्थं **मृतक**मिति । राजद्वारि स्थापयित्वेति विचारार्थं शववाहकस्य वचनं निषिद्धमिति **उपधाय इदं प्रोवाचे**त्याह । **विलपन्नि**ति कृत्रिमताव्युदासाय वाह्यो भाव उक्तः । **दीनमानस** इत्यान्तरः ।।२३।।

व्याख्यार्थ—मृतक विशेषण देकर यह सूचित किया हे कि अब इसका औषध आदि से किसी प्रकार उपचार नहीं हो सकता है, शव को ले जाने वालों के वचन पर विचार करने का शास्त्र में निषेध है, इसलिए कहा है कि शव को राज के द्वार पर धर कर, फिर यों कहने लगा, 'विलाप करता हुआ' इस पद से यह सूचित किया है कि यह ढोंग नहीं करता है. जिससे बाहर का भाव प्रकट किया है, 'दीनमानसः' इस पद से भीतर का भाव प्रकट किया अर्थात् पुत्र मरने का भीतर भी घाव है यह बता दिया है ।।२३।।

आभास—बोधनार्थमाह **ब्रह्मद्विष** इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—मरने का कारण समझाने के लिए 'ब्रह्मद्विष' 'हिंसा' ये दो श्लोक कहते हैं—

श्लोक—ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः ।
क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात्पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः ।।२४।।

श्लोकार्थ—ब्राह्मण द्वेषी, शठ बुद्धि, लोभी, विषयी और नामधारी क्षत्रियों के कर्म दोष से मेरा पुत्र मरा है ।।२४।।

सुबोधिनी – प्रकृताप्रकृतभेदाद् द्वारकायां यादृशो राजा मृग्यते तादृशोऽयमुग्रसेनो न भवतीति तद्दोषः प्रायेण भविष्यतीत्याशयेनाह राज्ञो दोषत्रयं महत् । ब्रह्मद्वेषो जडबुद्धिः लोभश्चेति विषयात्मकता चतुर्थः साधारणः । चतुर्विधोऽपि प्रायेणायं राजा । ब्रह्मद्वेषेण तस्य धर्माभावः । शठबुद्ध्या नार्थः । लोभान्न कामः । विषयासक्त्या न मोक्ष इति स राजा सर्वपुरुषार्थवञ्चितो भवति । तादृशस्य कर्माणि तस्य पुरुषार्थभावात् तत्रापकारं कर्तुमसमर्थानि मदुपरि पतितानीत्याह **पञ्चत्वं मे गतोऽर्भक** इति । चतुर्थं स एव गतः तस्यैव पञ्चत्वे क्षत्रबन्धुत्वाद्रक्षा न भविष्यतीति ब्राह्मणास्तदीया इति तेषु पतति ।२४।।

व्याख्यार्थ—प्रकृत तथा अप्रकृत भेद से जैसा राजा द्वारका में होना चाहिए वैसा यह उग्रसेन नहीं है, जिससे बहुत कर मेरे पुत्र के मरने में उस का ही दोष होगा, इस आशय को प्रकट करने के लिए पहले राजा के तीन बड़े दोष दिखलाते हैं, १– ब्राह्मणों से द्वेष, २– दोष पूर्ण बुद्धि, ३– लोभ,

४- विषयी होना साधारण दोष है, प्रायः यह राजा इन ४ दोषों से पूर्ण है, ब्राह्मण द्वेष करने से जाना जाता है कि इसमें धर्म का अभाव है, अर्थात् अधर्मी है, दोष युक्त बुद्धि वाला होने से इसके पास अर्थ नहीं है, लोभ के कारण काम नहीं है, विषयासक्ति से मोक्ष नहीं है इसलिए वह राजा सर्व पुरुषार्थों से वञ्चित है।

उस राजा के ऐसे दोष युक्त कर्म इसकी[1] हानि करने में असमर्थ होने से मेरे ऊपर आकर पड़े जिससे मेरा पुत्र मरा है, राजा में कोई पुरुषार्थ नहीं है, चार दोष राजा ने पा लिये हैं यदि वह[2] पञ्चत्व को प्राप्त होता अर्थात् मर जाता तो क्षत्र बन्धु होने से उसकी रक्षा नहीं हो सकती, ब्राह्मण उसके हैं इस कारण से उन कर्मों का फल ब्राह्मणों पर पड़ा है ।।२४।।

आभास—ननु पुरोहित विषयमेतत् 'गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च' इति वाक्यात् । साधारणश्च ब्राह्मणस्त्वं तादृशः कथं दुःखी जात इति चेत् तत्राह **हिंसाविहारमिति** ।

आभासार्थ—शास्त्र में 'गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च' यह वचन जो कहा है उसका आशय है कि यज्ञ करने वाले (यजमान) और शिष्य का पुरोहित में समावेश होता है, इस वाक्यानुसार राजा (यजमान) के कर्म; उसके पुरोहित को भोगना पड़ता है, तुम तो पुरोहित नहीं साधारण ब्राह्मण हो तो तुम दुःखी कैसे हुए ? इस शंका का निवारण 'हिंसाविहार' श्लोक में करते हैं—

श्लोक — हिंसाविहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रियम् ।
प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यःदुखिताः ।।२५।।

श्लोकार्थ—हिंसा में आनन्द मानने वाले, दुष्ट स्वभाव वाले, जिसने इन्द्रियों को अपने वश में नहीं रखा है, ऐसे राजा की सेवा करने वाली प्रजा नित्य दरिद्रता और दुःखों से पीड़ित रहती है ।।२५।।

सुबोधिनी—राज्ञो महान् त्रिदोषः सर्वानेव व्याप्नोति राज्यस्थितान् । निषिद्धस्य कर्ता विहितस्याकर्ता दुष्टपोषकश्चेति दोषत्रयं क्रमेणाह । **हिंसायामेव विहारो** यस्य । **दुष्टं शीलं** यस्य । न जितानीन्द्रियाणि येनेति तादृशं **नृपतिं भजन्त्यः प्रजा** क्रमेण तत्तद्दोषं प्राप्नुवन्ति । आदाववसादं हिंसाफलम् । मृतप्राया भवन्तीत्यर्थः । दुःशीलत्वात् धर्माभावाद् **दरिद्रा** भवन्ति । ततः शत्रुनयाभावान्नित्यदुःखिताः । एवमुपदेशार्थमुक्त्वा बालकं गृहीत्वा गच्छति ।।२५।।

व्याख्यार्थ—राजा के बड़े तीन दोष बताते हैं, वे, राज्य में रहने वाली सर्व जनता को लगते हैं, वे तीन दोष हैं— १-जिस हिंसादि कर्म करने का शास्त्र में निषेध है उसको तो करता है, २- जिन पुण्य कर्म करने की आज्ञा है, वे, नहीं करता है और ३- दुष्टों की पालना करता है ।

---

[1] राजा की, [2] राजा

उन तीनों को स्पष्ट कर क्रम पूर्वक कहते हैं—१ - हिंसा (जीवों को दुःख देने में जिस राजा को आनन्द आता है, २- जिसका स्वभाव दोषपूर्ण है, ३- जिसने इन्द्रियों को न जीत सकने से विषय त्याग नहीं किया है एसे दोष पूर्ण राजा को सेवा जो प्रजा करती है, वह उन उन दोषों वाली होती है अर्थात् वे दोष उसमें भी आ जाते हैं, जिससे पहले हिंसा का फल विषाद वा नाश पाती है, दुःशीलपन से धर्म के अभाव से दरिद्र होती है, पश्चात् शत्रु पर जय के अभाव से नित्य दुःखी रहती है, यों उपदेश देकर बालक को ले चला गया ।२५।

आभास—एवमेकवारकथामुक्त्वा पर्यायान्तरेष्वतिदिशति **एवं द्वितीयमिति ।**

आभासार्थ—इसी प्रकार एक वार कथा कहकर 'एवं द्वितीयं' श्लोकों में वही कथा अन्य प्रसङ्गों से सम्बद्ध करते हैं—

श्लोक – **एवं द्वितीयं विप्रर्षिस्तृतीयं त्वेवमेव च ।**
विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत ॥२६ ।

श्लोकार्थ—इसी प्रकार उस ब्रह्मर्षि ने अपने मरे हुए दूसरे, तीसरे पुत्र को लाकर राजद्वार पर रखें, पहले की तरह फिर भी वे ही वाक्य कहने लगे ॥२६॥

सुबोधिनी—तृतीयमप्येवमेव । बालकमानीयैव वदति । ततो लोकानां प्रतीतिर्जातेति पश्चात् षट् पुत्रा नानीताः, परं स्वयमेवागत्य वाक्यं वदति । तृतीयं तु तत्रैव त्यक्तवानिति लक्ष्यते । द्वारकायां भगवान्मुख्यः स तूष्णीं तिष्ठति । तत्रत्याः सर्व एव तूष्णीं तिष्ठन्ति । यथा कायिकोऽपराधः ब्राह्मणस्य सोढः । एवं वाचनिकोऽपीति । यथा ब्रह्मविचारार्थं प्रवृत्तस्य तथेति ब्राह्मणः कार्यम् । तथात्रापि भगवता नीयन्त इति तूष्णींभाव ॥२६॥

व्याख्यार्थ—दूसरे के बाद तीसरे को भी इसी तरह ही बालक को लाकर ही कहता था, यों करने से पुत्रां के मरने का कारण लोक जान गए, इसलिए शेष दूसरे पुत्र नहीं लाए, किन्तु केवल आप ही आकर वह वाक्य कहता था, तीसरे मरे पुत्र को तो वहां ही पड़ा हुआ छोड़ दिया, यों समझ में आता है, 'तु' पद से यह सूचित होता है,दूसरे को भी ले गया किन्तु तीसरे को नहीं ले गया, द्वारका में मुख्य भगवान् चुप रहे तो तब वहां वाले सब चुप रह गए क्योंकि, जैसे पहले ब्राह्मण का कायिक अपराध सहन किया है, वैसे अब यह वाचनिक अपराध भी सहन करना चाहिए, जसे ब्रह्म के विचार करने से प्रवृत्त पुरुषों के कार्य सहन करने पड़ते है वैसे यह भी सहन करने चाहिए कारण कि यह भी ब्रह्म का कार्य है, वैसे यहां भी इनको भगवान् ले जाते हैं इसलिए मौन धारण की है ॥२६॥

आभास—ततो भिन्नस्वभावः जीवभावमेवापन्न इति द्वारकायामपि गतो लौकिकबुद्धया विट्पतिरहमिति साभिमानः किंचिदुवाचेत्याह **तामर्जुन** इति ।

आभासार्थ—पश्चात्, पृथक स्वभाव वाले जीव भाव को प्राप्त द्वारका में गए हुए भी लौकिक बुद्धि होने से, मैं प्रजा पति हूं' यों अभिमान के साथ 'तामर्जुन' श्लोक में कहने लगे—

श्लोक — **तामर्जुन उपश्रुत्य कर्हिचित्केशवान्तिके ।**
परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत ॥२७॥

श्लोकार्थ — किसी काल में जब अर्जुन भगवान् के पास बैठे थे और नवमी बेर भी ब्राह्मण का लड़का मर गया तथा तब वह ब्राह्मण आकर उसी तरह के वचन कहने लगा, उनको सुनकर अर्जुन ब्राह्मण को कहने लगे ॥२७॥

सुबोधिनी—**केशवान्तिक** एवोपविश्य । **उपश्रुत्य ब्राह्मणं समभाषते**ति संबन्धः । भगवान् भक्तार्थमेव सर्वं करोतीति ज्ञापयितुं तत्र विलम्बाःभावाय **परेते नवमे बाल** इत्युक्तम् । गुणानां कार्ये जाते अहंकारदेवता असहमाना तथा प्रोवाच । दशैव पुत्रा मर्यादायामेकस्याम् 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' इति श्रुतेः । अत एक एवावशिष्यते । अतो विलम्बमकृत्वा **ब्राह्मणं समभाषत** ॥२७॥

व्याख्यार्थ केशव के पास ही बैठे थे, वहां ही ब्राह्मण के वचन सुने और उसको कहने लगे, इस प्रकार वाक्य का सम्बन्ध है, भगवान् जो कुछ करते हैं वह भक्त के वास्ते ही हैं, यों जताने के लिए और उस (भक्त के कार्य) में विलम्ब न हो इसीलिए कहा कि नवम लड़का भी मर गया, इससे यह सूचित किया कि जब गुणों का कार्य पूरा हुआ, तब अहङ्कार की देवता, उनके कार्य को सहन न कर सकी अतः वैसे कहने लगी 'दशास्यां पुत्रा नाधेहि' इस श्रुति के अनुसार एक स्त्री से दस पुत्र ही उत्पन्न करने चाहिए यों मर्यादा है, नव के मरजाने से एक ही बचता है, अतः जल्दी ब्राह्मण को कहने लगे ॥२७॥

आभास—अर्जुनो ह्येवं मन्यते मृत्युरेनं नयतीति । स मृत्युर्ब्राह्मणक्षत्रिययोर्मित्रं तदुपपादितम् 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनम्' इत्यत्र तुल्यव्यसनत्वान्मित्रत्वम् । तत्रोभौ स्वधर्मपरौ मृग्येते न तु जातिमात्रपराविति तदाह **किस्विद्ब्रह्मंस्त्वन्निवास इति ।**

आभासार्थ —अर्जुन यों मानते थे कि ब्राह्मण बालकों को मृत्यु लेजाता है. वह मृत्यु ब्राह्मण तथा क्षत्रियों का मित्र है, शास्त्र में यों प्रतिपादन किया हुआ है जसे कि 'यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभे भवत ओदनः, मृत्युर्यस्योपसेचनम्' अर्थ — जिसका ब्रह्म और क्षत्रिय दोनों ओदन हैं एवं मृत्यु घृत रूप है', यों कहकर बताया है कि सभान व्यसन वाले होने से इनका आपस में मित्रपन है, वहां देखा जाता है कि दोनों ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने २ धर्म में व्यस्त है कि नहीं ? केवल नाम मात्र ब्राह्मण वा क्षत्रिय हो तो उनकी आवश्यकता नहीं है यह 'किंस्विद्ब्रह्मं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक — **किंस्विद्ब्रह्मंस्त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्धरः ।**
राजन्यबन्धवो ह्येते ब्राह्मणाः सत्रमासते ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे ब्राह्मण! तुम्हारे निवास स्थान में कोई धनुर्धारी नहीं है। ये तो नामधारी क्षत्रिय हैं, ब्राह्मण तो सत्र कर रहे हैं। ।२८।।

सुबोधिनी—त्वं यत्र निवससि तत्र **कश्चिद्धनुर्धरो** राजन्यः **किं नास्ति** ननु सन्त्येव बहवः सर्व एवैते सभायां स्थितास्तत्राह **राजन्यबन्धवो ह्येते** इति। **एते** नोत्तमाः क्षत्रियाः एतेषां पूर्वजाः परं राजन्याः स्थिता इत्यर्थः। ननु ब्राह्मणानामेव दोषः कुतो न भवतीत्याकाङ्क्षायामाह **ब्राह्मणास्तु सत्रमासत** एव ।।२८।।

व्याख्यार्थ—तुम जहाँ रहते हो वहाँ कोई धनुषधारी क्षत्रिय नहीं है क्या? यदि कहो कि बहुत हैं, वे सब यहां सभा में बैठे हैं, ये तो नाम मात्र के क्षत्रिय हैं, उत्तम क्षत्रिय नहीं है, क्षत्रिय इनके पूर्वज (बड़ेरे) थे, ये तो राजाओं के मात्र वंशज होने से क्षत्रिय कहलाते हैं क्षत्रियों के लिए ही दोष निकालते हो? ब्राह्मणों का दोष क्यों नहीं निकालते हो? जिसके उत्तर में कहा है कि 'ब्राह्मणा सत्र मासते' ब्राह्मणों का दोष कैसे निकालें, वे तो 'सत्र' कर रहे हैं अर्थात् अपना धर्म पाल रहे हैं ।।

आभास—अतः अलौकिकदोषेण न बालकानां मरणं किंतु क्षत्रियाणामेव दोषेणेत्याह **धनदारात्मजापृक्ता** इति।

आभासार्थ—अलौकिक दोष से बालक नहीं मरे हैं क्षत्रियों के दोष से मरे हैं यह 'धनदारा' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**धनदारात्मजापृक्ता यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः ।**
ते वै राजन्यवेषेण नटा जीवन्त्यसुंभराः ।।२९।।

श्लोकार्थ—जिस राज्य में धन, स्त्री और पुत्र के कारण ब्राह्मण दुःखी हैं, उस राज्य के राजा नृप नहीं है किन्तु नटों की तरह राजन्यवेष धारण कर जीवित रहे हैं ।।२९।।

सुबोधिनी—धनदारात्मजैः सर्वथा अपेक्षितैः **अपृक्ता** रहिताः। एकाकिन इत्यर्थः। **यत्र ब्राह्मणाः** एवं दुःखं प्राप्नुवन्ति। **ते वै** निश्चयेन **राजन्या नटा** एव। **राजन्यवेषं** कृत्वा लोकेभ्योऽन्नं प्राप्य **जीवन्तीत्यसुंभराः** ।।२९।।

व्याख्यार्थ—गृहस्थ में जिन (स्त्री, धन और पुत्र की सर्व प्रकार सदा अपेक्षा रहती है) वे यदि जिस राजा के राज्य में ब्राह्मण के पास नहीं है, वह अकेला ही दुःख भोगता है, वे राजा वास्तविक राजा नहीं है किन्तु राजवेषधारी नट हैं, केवल वेष द्वारा प्रजा से अन्न लेकर अपने प्राणों का पोषण करने वाले हैं ।।२९।।

१- ब्राह्मण यज्ञादि कर्म न करे तो जगत् में अलौकिक दोष उत्पन्न होवे, वे तो यज्ञ कर रहे हैं अतः अलौकिक दोष है ही नहीं, इसलिए ये पुत्र अलौकिक दोष से नहीं मरे हैं।

आभास—ब्राह्मणश्चेद्रक्षितो भवेत् सोऽन्यं रक्षयेन्न त्वात्मानं स पालयितुं शक्तः। तथा सति क्षत्रियनिर्माणं व्यर्थं स्यात्। 'अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः' 'तत्त्राणायासृजच्चास्मान्' इति च तस्मादवश्यमत्र क्षत्रियेण रक्षा कर्तव्या। अतोऽहं करिष्यामीत्याह **अहमिति**।

आभासार्थ—क्षत्रिय (राजा) द्वारा जब ब्राह्मण की रक्षा होवे तो, रक्षित ब्राह्मण दूसरों की रक्षा करे, यदि वह रक्षित नहीं तो दूसरों की (क्षत्रिय आदि की रक्षा कैसे कर सकेगा ? यदि कहो कि ब्राह्मण अपनी रक्षा स्वयं क्यों नहीं करते हैं, जिसका उत्तर यह है कि यदि ब्राह्मण अपनी स्वयं करे, वा कर सकते तो क्षत्रिय बनाने की कौनसी आवश्यकता थी ? उनकी रचना ही व्यर्थ हो जाती अतः ब्राह्मण एवं क्षत्रिय परस्पर रक्षण करते हैं, ब्राह्मणों की रक्षा के लिए हम (क्षत्रियों) को भगवान् ने बनाया है, अतः इस प्रसङ्ग में क्षत्रिय को अवश्य रक्षा करनी चाहिए, जिससे मैं इसकी रक्षा करुंगा यों 'अहं प्रजा श्लोक में कहते हैं-

श्लोक—**अहं प्रजां वां भगवन्रक्षिष्ये दीनयोरिह।**
अनिस्तीर्णप्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे भगवन् ! मैं आप दोनों दीनों की प्रजा का रक्षण करूँगा, यदि प्रतिज्ञा पूर्ण न करूँ, तो अग्नि में प्रवेश करूँगा, जिससे पाप रहित बनूँगा ॥३०॥

सुबोधिनी—**वां** स्त्रीपुरुषयोः तस्मिन् रक्षिते उभयोरुपकार इति। तस्यादयावत्त्वं सूचयितुमाह **दीनयोरि**ति। ननु त्वद्वाक्ये को विश्वास इति चेत् तत्राह **अनिस्तीर्णप्रतिज्ञ** इति। तन्वग्नि प्रवेशे किं स्याद् बालकस्तु न जीविष्यत्येवेत्याशयेनाह **हतकल्मष** इति। तदा तस्य पापं न भवति, क्षत्रियदेहस्य परित्यागात् ॥३०॥

व्याख्यार्थ—बालक रक्षा करने से तुम दोनों(स्त्री तथा पति)का हित होगा, आप दोनों पुत्र के अभाव के कारण दीन हो अतः आप पर दया करनी चाहिए, राजा को दीन प्रजा पर दया करनी चाहिए, उग्रसेन राजा होकर दया क्यों नहीं करता है? जिसके उत्तर में आचार्य श्री स्पष्टता करते हैं कि उग्रसेन में दया का अभाव अर्थात् निर्दयी है, किन्तु अर्जुन सिद्ध करता है कि मैं दयावान हूं अतः रक्षा करूंगा, तेरे कहने पर विश्वास कैसे करें ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा का पालन न कर सका तो अग्नि में प्रवेश करूंगा, अग्नि में प्रवेश से क्या बालक जीवित होगा ? यदि नहीं तो प्रवेश से क्या लाभ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि उसका पाप न लगेगा, कारण कि क्षत्रिय देह का परित्याग हो जायगा ॥३०॥

आभास—तदा ब्राह्मणस्तमुपदिशति, अज्ञं मत्वा मित्रत्वात् **सङ्कर्षणो वासुदेव** इति।

आभासार्थ अर्जुन के ये वचन सुनकर ब्राह्मण ने जान लिया कि यह मूर्ख है किन्तु अब

मेरा मित्र है अतः इसको समझाना चाहिए अतः 'संकर्षणो वासुदेवः' श्लोक से उस (अर्जुन) को उपदेश करता है—

श्लोक—ब्राह्मण उवाच-सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो धन्विनां वरः ।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत् ॥३१॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण कहने लगा कि सङ्कर्षण, वासुदेव, धनुषधारियों में श्रेष्ठ प्रद्युम्न और अप्रतिरथ अनिरुद्ध; ये सब हमारी सन्तति की रक्षा नहीं कर सकते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—चतुर्मूर्ति भगवन्तं सर्वथा स्वभावतोऽपि रक्षकं निर्दिशति **संकर्षण** इति । **धन्विनां वर** इति लौकिकमपि सामर्थ्यं सूचितम् । पूर्वयोस्तु सामर्थ्यं दृष्टचरम् । **अनिरुद्धस्त्वप्रतिरथः**, न केनापि रुद्ध इति सार्थकता तस्य निरूपिता । एवं मिलिता अपि अस्मत्पुत्रं **त्रातुं न शक्नुवन्ति** । यस्मात्कारणादस्ति किंचित्कारणं येन तेऽपि न शक्नुवन्तीत्यर्थः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण कहता है कि चतुर्मूर्ति भगवान् तो सर्व प्रकार और स्वभाव से भी रक्षा करने वाले हैं, सङ्कर्षण धनुषधारियों में श्रेष्ठ है, इस विशेषण से लौकिक सामर्थ्य की भी सूचना की है, वासुदेव और प्रद्युम्न का सामर्थ्य देखा हुआ ही है, अनिरुद्ध तो किसी से भी रोका जाता नहीं एवं इसके सामने कोई ठहर नहीं सकता है, ये चारों मिलकर भी हमारे पुत्र की रक्षा न कर सके, अतः समझा जाता है कि इसमें कुछ किसी प्रकार का रहस्य ही है जिससे वे भी न बचा सकते हैं ॥३१॥

आभास— तावता किमित्यत आह **तत्कथमिति** ।

आभासार्थ—यों होने से क्या? इस पर ब्राह्मण 'तत्कथं' श्लोक में उसका भावार्थ बतलाता है—

श्लोक—तत्कथं नु भवान्कर्म दुष्करं जगदीश्वरैः ।
चिकीर्षसि त्वं बालिश्यात्तन्न श्रद्दध्महे वयम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—जो कर्म जगत् के ईश्वरों से न हो सका, वह कर्म तुम करना चाहते हो, यह तो हम तुम्हारा बचपन समझते हैं, अतः तुम्हारे कहने पर हम विश्वास नहीं कर सकते हैं ॥३२॥

सुबोधिनी—एते **जगदीश्वराः** भगवदवतारत्वात् । असाध्यं बाल एवं वदतीति त्वं **बालिशः** । अतस्तव वाक्यं न **श्रद्दध्महे** ॥३२॥

व्याख्यार्थ - ये संकर्षणादि भगवान् के अवतार होने से जगत् के ईश्वर हैं, उनसे न होने पर मैं समझता हूं यह कार्य असाध्य है, होने वाला नहीं फिर भी तुम कहते हो कि मैं करूंगा, ये तेरे वचन, बचपन के वा मूर्खता के हैं, इसलिए तुम्हारे वचन पर हम विश्वास नहीं कर सकते हैं ॥३२॥

आभास—अर्जुनस्त्वेवं मन्यते । चतुर्मूर्तिर्भगवान् प्रतिनियतकार्यकर्ता । तदंशोऽपि तत्रैव निविशते । यस्तु तदनंशोऽपि भूत्वा विशेषकार्यार्थं उत्पन्नः स एवं कर्तुं शक्नोतीति । अतो निषेधति **नाहं सङ्कर्षण** इति ।

आभासार्थ—अर्जुन तो इस प्रकार समझ बैठे हैं कि चतुर्मूर्ति जो भगवान् हैं वे जो २ कार्य उनके लिए नियत है वे ही कार्य करते हैं, उसका अंश भी वहां ही समाविष्ट हो जाता है और जो उसका अंश नहीं भी है, किन्तु विशेष कार्यों के लिए उत्पन्न हुआ है, वह इस प्रकार का कार्य कर सकता है, यों कहकर 'नाहं संकर्षणो' श्लोक से कहता है कि मैं न मूर्ख हूँ और न मैं बचपन से कहता हूं—

श्लोक—अर्जुन उवाच-**नाहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन्न कृष्णः कार्ष्णिरेव वा ।**
अहं वा अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः ॥३३॥

श्लोकार्थ—अर्जुन ने कहा कि हे ब्राह्मण ! मैं सङ्कर्षण, कृष्ण, प्रद्युम्न अथवा अनिरुद्ध नहीं हूँ, किन्तु गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हूँ ॥३३॥

सुबोधिनी—जगदीश्वरत्वमप्रयोजकं प्रतिनियतकार्यकर्तृत्वस्य प्रतिबन्धकत्वात् । **कार्ष्णि**-प्रद्युम्नः, वेत्यनिरुद्धे अनादरः स्वस्यानिरुद्धांशाद्वा न साक्षान्निषेधं करोति । अन्यथा अनृतवादी स्यात् । **अहं वै** निश्चयेन **अर्जुनः** । येन गावः प्रत्यानीताः मम चासाधारणं साधनं कार्यं चेत्याह **गाण्डीवं यस्य वै धनु**रिति साधनोत्कर्षो निरूपितः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—इस कार्य करने में जगदीश्वरत्व अप्रयोजक है, क्योंकि प्रत्येक का कार्य नियत है वह नियतता इस कार्य करने में प्रतिबन्धक है, 'कार्ष्णि' पद का अर्थ प्रद्युम्न है, वा शब्द से बताते हैं कि इस (कार्ष्णि) का अर्थ अनिरुद्ध भी हो सकता है किन्तु उस अर्थ में आदर नहीं हैं तथा अर्जुन स्वयं अनिरुद्धांश होने से स्पष्ट निषेध नहीं करता है, यदि निषेध करे तो 'असत्यवादी' कहा जावे, मैं निश्चय से अर्जुन हूं, जो अर्जुन गौओं को लौटाकर लाया था, मेरे कार्य और साधन दोनों असाधारण है, जिस अर्जुन का 'गाण्डीव' है, इससे साधन का उत्कर्ष निरूपण किया है । ३३॥

श्लोक—**मावमंस्था मम ब्रह्मन्वीर्यं त्र्यम्बकतोषणम् ।**
मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजां प्रभुः ॥३४॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! महादेव को भी प्रसन्न करने वाले मेरे वीर्य का तिरस्कार मत करो । युद्ध करके भी मृत्यु को जीतकर तुम्हारी प्रजा को लाऊँगा; क्योंकि मैं सर्व समर्थ हूँ ॥३४॥

सुबोधिनी—**त्र्यम्बकतोषण**मिति कार्योत्कर्षः स हि मृत्युंजयः नह्यन्येन मृत्युर्जेतुं शक्यः । सोऽपि चेन्मद्वीर्येण तुष्यति तदा मम मृत्युजये कः संदेह इति भावः । यदि मृत्युः प्रार्थितश्चेद्दास्यति

तदा न काचिच्चिन्ता । यदि वा कलहं करिष्यति तथापि **प्रधने मृत्युं विजत्य ते प्रजां आनेष्ये** यतोऽहं **प्रभुः** । ३४॥

व्याख्यार्थ—'त्रयम्बक तोषणम्' इस पद से यह सूचित किया है कि मैं बड़े २ कार्य कर सकता हूँ, एवं अपने कार्य का उत्कर्ष दिखाया है, महादेव मृत्यु को जोतने वाले हैं उनके सिवाय कोई दूसरा मृत्यु को नहीं जीत सकता है,वह भी जब मेरे वीर्य पराक्रम)से प्रसन्नहोता हे तब मैं मृत्यु को जीतूँगा, इसमें कौनसा सन्देह है? यदि मृत्यु प्रार्थना करने से लौटा देंगे तो कोई चिन्ता नहीं है, जो न देंगे लड़ेंगे तो भी लड़ाई में उसको जीतकर तेरी संतति ले आऊंगा, क्योंकि में सर्व समर्थ हूं।

आभास—एवं सोपपत्त्या निरूपणे ब्राह्मणस्य विश्वासो जात इत्याह **एवं विश्रम्भित** इति ।

आभासार्थ—यों हेतुपूर्वक समझाने से ब्राह्मण को विश्वास हुआ यह 'एवं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**एवं विश्रम्भितो विप्रः फाल्गुनेन परंतप ।**
जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्यं निशामयन् ॥३५॥

श्लोकार्थ—हे परन्तप ! अर्जुन ने ब्राह्मण को इस प्रकार विश्वास दिलाया, उसने भी विश्वास कर लिया, प्रसन्न हो अर्जुन का पराक्रम सुनाता हुआ अपने घर गया ॥३५॥

सुबोधिनी—**एवं विश्रम्भो** विश्वासः यतोऽयं **विप्रः** 'विप्राः पश्चिमबुद्धयः' इति। **परंतपेति** विश्वासार्थं सम्बोधनम् । **फाल्गुन**पदं लोके विद्युन्निवारकत्वेन प्रसिद्धमिति तद्वाच्यः कथं मृत्युं न निवारयेदिति विश्वासः। ततो ग्राममध्ये सर्वत्र **पार्थवीर्यं** श्रावयन् **स्वगृहं** गतः ॥३५॥

व्याख्यार्थ—इसप्रकार ब्राह्मणने विश्वासकर लिया क्योंकि ब्राह्मण पाछिल बुद्धिवाले होते हैं, परंतप ! यह संबोधन विश्वासार्थ दिया है, फाल्गुन' पद, लोक में बिजली को रोकने वाला प्रसिद्ध है, इसलिए वह नाम मृत्यु को कैसे न निवारण करेगा, इसलिए विश्वास हो गया, पश्चात् अपने गांव में सर्वत्र अर्जुन के पराक्रम की प्रशंसा करता हुआ अपने घर गया ॥३५॥

आभास—ततो वर्षपर्यन्तं प्रीतः स्थितः । ततो यज्जातं तदाह **प्रसूतिकाल आसन्न** इति ।

आभासार्थ—पश्चात् ब्राह्मण एक वर्ष तक आनन्द में रहा, अनन्तर जो कुछ हुआ वह 'प्रसूतिकाल' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**प्रसूतिकाल आसन्ने भार्याया द्विजसत्तमः ।**
पाहि पाहि प्रजां मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः ॥३६॥

श्लोकार्थ —जब स्त्री का प्रसव समय निकट आया, तब उस ब्राह्मण ने आतुर दशा में आकर अर्जुन को कहा कि मेरी प्रजा की रक्षा करो-रक्षा करो ।।३६।।

सुबोधिनी—द्विजसत्तमो महान् अन्यथा शापं दद्यात् । **मृत्योः** सकाशात्प्रजां **पाहि** । **आतुर** इति शरीरेऽपि दैन्यं प्रतिभातोत्युक्तम् ।।३६।।

व्याख्यार्थ —'द्विजसत्तमः' पद से यह बताया कि वह ब्राह्मण साधारण नहीं है किन्तु महान् है यदि अर्जुन अपना वचन न पालेंगे तो उनको शाप दे देगा, ब्राह्मण ने कहा अब प्रजा होने वाली है उसको मृत्यु के पाश से बचालो उस समय ब्राह्मण 'आतुर' था जिससे उसके शरीर में उदासी थी, यों भास रहा था ।।३६।।

आभास —ततोऽर्जुनस्य रक्षाप्रकारमाह **स उपस्पृश्येति** ।

आभासार्थ—पश्चात् 'स उपस्पृश्य' श्लोक में अर्जुन ने जिस प्रकार रक्षा का प्रबन्ध किया वह कहते हैं

श्लोक—स उपस्पृश्य शुच्यम्भो नमस्कृत्य महेश्वरम् ।
दिव्यास्त्राणि च संस्मृत्य सज्जं गाण्डीवमाददे ।।३७।।

श्लोकार्थ—अर्जुन पवित्र जल का स्पर्श (आचमन) कर, महादेव को नमस्कार कर और दिव्य अस्त्रों का स्मरण कर तैयार किया हुआ गाण्डीव धनुष ले लिया ।।३७।।

सुबोधिनी—अर्जुनो महादेवबलेन सर्वं करिष्यामीति सर्वदेवाविष्टस्तथा करोति । **उपस्पर्शनम्** देवतासान्निध्यार्थम् । **शुच्यम्भ** इति मन्त्रपूतम् । देवताप्रार्थनार्थं नमस्कारः । **दिव्यास्त्राणां** सर्वेषां संस्मरणं सर्वत्र सर्वसंबन्धार्थम् । **सज्जं** आरूढप्रत्यञ्चं **गाण्डीवमाददे** इति तस्य दृष्टसामग्री निरूपिता ।।३७।।

व्याख्यार्थ--महादेव के बल से सब करूंगा यों कहकर अर्जुन सर्व देवों से आविष्ट हो. यों करने लगा, देवताओं की सन्निधि प्राप्त करने के लिए मन्त्रों के पवित्र जल से आचमन किया, अनन्तर देवताओं को प्रार्थना के लिए पहले नमन किया, दिव्य अस्त्रों का सम्यक् स्मरण किया जिससे उन दिव्यास्त्रों का सर्वत्र सर्व शास्त्रों से सम्बन्ध हो जावे, तय्यार[1] गाण्डीव ले लिया, उसकी प्रत्यक्ष सामग्री का वर्णन किया ।।३७।।

श्लोक—न्यरुणत्सूतिकागारं शरैर्नानास्त्रयोजितैः ।
तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपञ्जरम् ।।३८।।

---

[1] जिस पर धनुष की डोरी चढ़ाई हुई है,

श्लोकार्थ—अनेक प्रकार के अस्त्रों से जोड़े हुए बाणों से तिरछा, ऊँचा और नीचा चौतरफ से प्रसूतिका गृह आच्छादित कर दिया, घर को शर पञ्जर सा बना दिया ।।३८।।

सुबोधिनी—**नानास्त्रयोजितैः** शरैरिति देवतान्तराप्रवेशाय । ततः सर्वतः **शरपञ्जरं चकार** । ३८।।

व्याख्यार्थ—अनेक प्रकार के अस्त्रों से बनाए हुए शरों(बाणों) से ऐसा चारों तरफ शर पञ्जर बना दिया जिससे कोई भी देवता वहाँ प्रवेश न कर सके ।।३८ ।

श्लोक—**ततः कुमारः सञ्जातो विप्रपत्न्या रुदन्मुहुः ।**
सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा ।।३९।।

श्लोकार्थ—पश्चात् ब्राह्मण पत्नि को रोता हुआ बालक उत्पन्न हुआ, किन्तु शीघ्र ही शरीर सहित आकाश मार्ग से चला गया, किसी को देखने में भी न आया ।।३९।।

सुबोधिनी- **ततः** पञ्जरमध्य एव **कुमारः संजातः** । **विप्रपत्न्याः** सकाशाद् भूमिस्पर्शाभावात् । कठिनमार्गेण गच्छामीति **सद्योऽदर्शनमापेदे** । **सशरीर** एव आकाशमार्गेण गतः । आकाशं भित्त्वा कालं मायां च भगवत्स्थाने गत्वा भगवता सह लोकालोकात्परभागे आविर्भूत इत्यर्थः ।।३९।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् ब्राह्मण पत्नि को पञ्जर के मध्य में पुत्र उत्पन्न हुआ जिससे उस बालक का पृथ्वी से स्पर्श न हुआ, कठिन मार्ग से जाता हूं यों कहकर वह बालक शीघ्र छिप गया देखने में नहीं आया इसलिए भूमि का स्पर्श न हुआ, यदि भूमि का स्पर्श होता तो यों आकाश मार्ग से शीघ्र जाने का सामर्थ्य न रहता, शरीर सहित आकाश मार्ग से चला गया, आकाश, काल और माया को तोड़कर भगवान् के स्थान में जाकर भगवान् के साथ, लोका लोक पर्वत के पर भाग में उत्पन्न हुआ ।।३९।।

श्लोक – **तदाह विप्रो विजयं विनिन्दन्कृष्णसन्निधौ ।**
मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम् ।।४०।।

श्लोकार्थ ब्राह्मण कृष्ण के सन्निधि में अर्जुन की निन्दा करता हुआ कहने लगा कि मेरी मूर्खता तो देखो कि इस नपुंसक के वचन पर मैंने विश्वास कर लिया ।।४०।।

सुबोधिनी तदा भार्यया वृत्तान्ते कथिते भगवत्सन्निधाने समागत्य अर्जुनं **विशेषेण निन्दन्** क्षोभजनकं वाक्यमाह, सार्धाभ्यां निन्दति । अर्जुनो निर्दुष्टः अहमेव भ्रान्तः ।

तत्कथमित्याकांक्षायामाह **मौढ्यं पश्यत** ममैव । **योऽहं क्लीबस्य कत्थनं श्रद्दधे** । यदि तस्मिन् शौर्यसभावनापि स्यात् तर्हि तत्र क्लीबत्वं न भवेत् ।४०।।

व्याख्यार्थ—तब स्त्री से सब वृतान्त सुनकर भगवान् के पास आकर अर्जुन की बहुत निन्दा करता हुआ ब्राह्मण क्षोभ पैदा करने वाले वचन कहने लगा। डेढ श्लोक से अर्जुन को निन्दा करता है-अर्जुन का तो कोई दोष नहीं है, मैं ही भ्रान्त हूँ, यह कैसे ? इस पर कहता है कि मेरी ही मूर्खता देखिए, जो मैने नपुंसक के वचनों पर विश्वास कर लिया, यदि इसमें थोड़ा भी पराक्रम होता तो क्लीबता न होनी चाहिए, अतः इसमें इसमें पराक्रम की संभावना भी नहीं है ।।४०।।

आभास—यदक्लीबानामप्यसाध्यं तत् क्लीबः कथं कुर्यादित्याह **न प्रद्युम्न** इति ।

आभासार्थ—जो कार्य पराक्रम वालों से भी नहीं हो सकता है वह नपुंसक कैसे कर सकेगा, यह 'न प्रद्युम्न' श्लोक में कहता है—

श्लोक **न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः ।**
यस्य शेकुः परित्रातुं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ।।४१।।

श्लोकार्थ—जिस बालक की रक्षा प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, राम और केशव न कर सके, उसकी रक्षा दूसरा कौन ऐसा सामर्थ्यवान् है, जो कर सकेगा ।।४१।।

सुबोधिनी-यदि धनदानेन पुत्रा रक्षितुं शक्याः स्युः तर्हि **प्रद्युम्नः** पालयेत् यदि बलेन तदा**निरुद्धः**, यदि रत्युत्पादनेन तदा **रामः**, यदि सृष्टिप्रलयाभ्यां तदा **केशवः** । एतेषां पुरे वासात् शक्तौ सत्यां पालनमावश्यकं यदेतैरप्यशक्यं परिपालनं तेन ज्ञायते कश्चिदन्य एवोपायोऽस्तीति तथा सति **कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः** । धर्मेण चेद्रक्षा तर्हि मयैव रक्षितः स्यादिति चत्वारो गणिताः ।।

व्याख्यार्थ—जो धन देने से पुत्रों की रक्षा हो सकती तो प्रद्युम्न कर सकते जो बल से रक्षा हो सकती तो अनिरुद्ध कर देते, यदि रमण कराने से रक्षा होती तो राम ही करते, सृष्टि और प्रलय से रक्षा करनी होती तो केशव ही कर सकते, इनके नगर में रहते शक्ति होते पालन आवश्यक था, किन्तु इनसे भी रक्षा न हो सकी, इससे जाना जाता है कि इनकी रक्षा का कोई दूसरा ही उपाय है, ऐसी परिस्थिति में दूसरा कौन ऐसा सामर्थ्यवान् है जो रक्षा कर सके, यदि धर्म[1] से रक्षा हो सकती तो मैं ही रक्षा कर देता, इस तरह रक्षा के उपाय चार हो गिन लिए ।।४१।।

श्लोक—**धिगर्जुनं मृषावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः ।**
दैवोपसृष्टं यो मौढ्यादानिनीषति दुर्मतिः ।।४२।।

---

[1] यज्ञादि अनुष्ठान कर्म से रक्षा हो सकती तो मै ब्राह्मण हूँ, अभिषेक जपादि कर इनको बचा लेता ।

श्लोकार्थ – धिकार है झूठ बोलने वाले अर्जुन को और धिकार है अपनी प्रशसा करने वाले के धनुष को, जो दुर्बुद्धि दैव से नष्ट हुए पदार्थ की मूर्खता से रक्षा करना चाहता है, उसको तो धिक्कार है ही ।।४२।।

सुबोधिनी एवं साधनपञ्चकरहितोऽपि अर्जुनः यद्रक्षार्थमुक्तवान् तेन **अर्जुनं धिक्**। यतो **मृषा** वदति । तस्य **धनुरपि धिक्** ज्वाल्यताम् । ननु धनुषः कोऽपराध इति चेत् तत्राह **आत्मश्लाघिन** इति । य आत्मानं वृथैव श्लाघते । ननु शूराः प्रतिजानते । ततः कदाचित्प्रतिज्ञा पूरिता भवति कदाचिन्न नैतावता प्रतिज्ञाकर्तुर्दोष इति चेत् तत्राह **दैवोपसृष्टमिति । आनिनीषति** आनेतुमिच्छति । संदिग्धेऽर्थे प्रतिज्ञा युक्ता न तु निश्चित इति भावः । एवमपि प्रतिज्ञां कुर्वन् **दुर्मतिः** ।।४२।।

व्याख्यार्थ - रक्षा के जो पांच साधन है, वे तो अर्जुन के पास नहीं थे तो भी अर्जुन ने जो रक्षा की हांक मार दी, इससे अर्जुन को धिक्कार है क्योंकि झूठ बोलता है उसके धनुष को भी धिक्कार है उसको जला दो, यदि कहो कि धनुष का कौनसा दोष है ? जिसका उत्तर देते हैं कि यह धनुष उसका है जो अपनी प्रशंसा आप ही करता है, यदि कहो कि शूरवीर तो, प्रतिज्ञा करते ही हैं, वह कभी पूर्ण होती है कभी नहीं भी होती है, इसमें प्रतिज्ञा करने वाले का कोई दोष नहीं है, इस पर कहते हैं कि 'दैवोपसृष्टं' जो दैव से ही बनी बनाई है, उसके विपरीत प्रतिज्ञा करना कि, मैं ले आऊंगा यह दुर्बुद्धि है और ऐसी प्रतिज्ञा करना मूर्खता है जिस कार्य में संशय हो वहां तो प्रतिज्ञा की भी जा सकती है, किन्तु निश्चित में प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए यह भाव है ।।४२ ।

आभास— ततो यज्जातं तदाह **एवं शपतीति** ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'एवं शपति' श्लोक में कहते हैं –

श्लोक— एवं शपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुनः ।
ययौ संयमिनीमाशु यत्रास्ते भगवान्यमः ।।४३।।

श्लोकार्थ—अर्जुन ब्रह्मर्षि को यों अपशब्द कहते हुए सुन, विद्या को धारण कर, शीघ्र ही संयमिनीपुरी में जाकर पहुंचे, जहां महाराज यम बिराजते हैं । ४३।।

सुबोधिनी—विद्यामास्थाय देवानां विद्यामैच्छिकगतिप्रदाम् । ततः **फाल्गुनः** अतिनिर्भयः **संयमिनीं** यमस्य पुरीं **ययौ**, संयमिनी यातनाभूमिरूपा यमराजधानी च भवति । तत्र द्वारकायां ब्राह्मणगृहे उत्पन्नः यातनास्थाने न गमिष्यतीति निश्चित्य **यत्रास्ते भगवान् यम** इत्युक्तम् ४३।।

व्याख्यार्थ—देवों की विद्या में यह शक्ति है कि, जो पुरुष उस विद्या को धारण करता है वह जहां भी जाना चाहे वहां बिना रुकावट जा सकता है, अतः अर्जुन, इस विद्या को धारण कर निर्भय हो, संयमिनी नाम वाली यम की पुरी में गए, संयमिनी नाम वाली दो पुरी हैं, एक यातना

भूमिरूपा जहां यम की राजधानी है दूसरी जहां यमराज स्वयं रहते हैं, अर्जुन यातनाभूमिरूप यम की राजधानी संयिमनी में न जाकर सीधा यम के पास यमपुरी में गया, क्योंकि जिसका जन्म, ब्राह्मण के घर में और विशेषतः द्वारका में हुआ है वह यातना के स्थल पर जा नहीं सकता है यह निश्चय कर जहां भगवान् यम रहते है वहां ही गए यों कहा है ।।४३।।

श्लोक— **विप्रापत्यमचक्षाणस्तत ऐन्द्रीमगात्पुरीम् ।**
आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीमथ ।
रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः ।।४४।।

श्लोकार्थ—वहाँ ब्राह्मण पुत्र न देख सीधे इन्द्र की पुरी में गए । वहाँ भी न देखा, तब शस्त्र हाथ में लेकर निर्भय हो अग्नि, निर्ऋति, सौम्य, वायव्य, वरुण की पुरी देखी; फिर पाताल-स्वर्ग आदि सब स्थान ढूँढ़े ।।४४।।

सुबोधिनी—ततस्तत्राप्यदृष्ट्वा पूर्वादिक्रमेण दश दिशः अन्विष्टाः । सौम्या उत्तरा दिक् । रसातलं अधः । नाकपृष्ठमुपरि । अन्यानि गन्धर्वादीनां स्थानानि । तस्य सर्वत्र निर्भयतया गमने हेतुः उदायुध इति ।।४४।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् वहां भी न देखकर, पूर्व दिशा के क्रम से दश दिशाएं ढूंढो, उत्तर दिशा, रसातल,[1] स्वर्ग,[2] गन्धर्व आदि के जो अन्य स्थान थे वे सब देख लिए. यह सर्वत्र निर्भय होकर गए जिसका कारण था अपने हाथ में शस्त्र लिया था, इसलिए निडर हो सर्वत्र गए ।.४४।।

आभास—ततः किं कृतवानित्याकाङ्क्षायामाह **तत** इति ।

आभासार्थ--पश्चात् क्या किया ? इस आकांक्षा में 'ततोऽलब्ध' श्लोक कहते हैं—

श्लोक— **ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः ।**
अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता ।।४५।।

श्लोकार्थ—अर्जुन ने देखा कि कहीं भी पुत्र न मिला, तब मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सका, यों समझ दूसरी प्रतिज्ञा अग्नि में प्रवेश करूँगा । वह प्रतिज्ञा पालने के लिए उद्यत होने लगा, तब श्रीकृष्ण ने यों करने से रोका और कहने लगे ।।४५।।

सुबोधिनी - न लब्धो द्विजसुतो येन । अत एव न निस्तीर्णं प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञा यत्र । ततो द्वितीयां प्रतिज्ञां कर्तुमुद्यतः अग्निं विविक्षुः । तामपि प्रतिज्ञां कर्तुं न शेके इत्याह कृष्णेन प्रत्युक्त इति अग्निप्रवेशं प्रतिषेधता प्रत्युक्तः प्रतिकूलतया उक्तः ।।४५।।

---

[1] पृथ्वी से नीचे का भाग [2] पृथ्वी से ऊपर का भाग

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण के पुत्र न मिलने से जिनकी प्रतिज्ञा पूर्ण न हुई है, वैसे अर्जुन अपनी दूसरी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए अग्नि में प्रविष्ट होने को उद्यत हुए, वह प्रतिज्ञा पूर्ण न कर सके, क्योंकि कृष्ण ने यों करने से रोक दिया, और इस प्रकार कहा ॥४५॥

आभास—तदैव भगवद्वचनमाह **दर्शये द्विजसूनूनिति** ।

आभासार्थ—जो वचन भगवान् कहने लगे वे 'दर्शये' श्लोक में कहते है—

श्लोक—**दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञामात्मनः कृथाः ।**
ये ते नः कीर्तिं विपुलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे फाल्गुन ! तुम अपना अपमान स्वयं मत करो । तुम्हें ब्राह्मण पुत्रों को दिखाता हूं कि कहाँ है ? जिससे मनुष्य तुम्हारा यश बहुत ही स्थापित करेंगे ॥४६॥

सुबोधिनी—ब्राह्मणपुत्रांस्तुभ्यं दर्शयामीति ततो हेतोः आत्मनः स्वस्यावज्ञां मा कृथाः । अपकीर्तिशङ्कया तव मरणम् । तन्मृते अधिकाप्यपकीर्तिर्भविष्यति । मदुक्तप्रकारेण चेज्जीविष्यसि तर्ह्येतेन जीवनेन ते कीर्तिं विपुलामपि मनुष्याः स्थापयिष्यन्तीत्यर्थः । मनुष्या हि दृष्टराः न परमार्थं जानन्ति । अतः पुत्रानयन दृष्ट्वा कीर्तिमेव वक्ष्यन्तीत्यर्थः ॥४६॥

व्याख्यार्थ—तुम्हें ब्राह्मण के पुत्र दिखा दूंगा, इसलिए तुम अपना अपमान अपने हाथ से मत करो, यदि कहो कि मेरी अपकीर्ति होगी इस शङ्का से आप अपने को जलाते हो तो, यों करने से विशेष अपकीर्ति होगी, यदि मैं जैसे कहता हूँ उसी प्रकार कर जीवोगे तो उस जीने से तुम्हारा विशेष यश लोक में मनुष्यों द्वारा स्थापित होगा, मनुष्य परमार्थ को नहीं जानते हैं. किन्तु प्रत्यक्ष को ही मानते हैं, अतः पुत्र को देखकर तुम्हारा यश ही गाएंगे ॥४६॥

श्लोक—**इति संभाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः ।**
दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत् ॥४७॥

श्लोकार्थ—भगवान् यों कहकर अर्जुन के साथ अपने दिव्य रथ में स्थित होकर पश्चिम दिशा की ओर गए ॥४७॥

सुबोधिनी—एवमुक्त्वा भगवानप्रतिहतः सर्वज्ञस्तेनैव सह स्वस्य गरुडध्वजं रथं दिव्यं आधिदैविकरूपं स्वभावतो वा अलौकिकं पश्चिमां दिशमभिप्रस्थितः ॥४७॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कहकर, सर्वज्ञ भगवान्, अर्जुन के ही साथ अपने गरुड़ की ध्वजा वाले आधिदैविक रूप अलौकिक रथ में विराजमान हो पश्चिम दिशा को प्रस्थान कर गए ॥४७।

आभास—ततो बहुदूरे गत इत्याह **सप्तद्वीपानिति** ।

आभासार्थ - बहुत दूर गए जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**सप्तद्वोपान्सप्तसिन्धून्सप्त सप्त गिरीनथ ।**
लोकालोकं तथातीत्य विवेश सुमहत्तमः ॥४८॥

श्लोकार्थ—सात द्वीप, सात समुद्र, सात-सात पर्वत तथा सुवर्ण भूमि के अनन्तर लोकालोक पर्वत को भी उल्लङ्घन कर, उसके पर भाग में जो गाढ़ अन्धकार हैं, उसमें प्रविष्ट हुए ॥४८॥

सुबोधिनी—जम्बूद्वीपादि सप्तद्वीपान्, लवणादीन् सप्तसमुद्रान्, प्रत्येकं द्वीपेषु सप्त सप्त गिरीन् मर्यादापर्वतान् उल्लङ्घ्य । अथ सर्वान्ते सुवर्णभूम्यनन्तरं लोकालोकपर्वतमप्यतीत्य तत्परभागे यत्तमः तत्प्रविष्टत्वान् ॥४८॥

व्याख्यार्थ—जम्बू द्वीप आदि सात द्वीप क्षारोद आदि सात समुद्र और प्रत्येक द्वीपों में जो सात सात मर्यादा गिरि (पर्वत) थे उनको लांघकर उनसे पर भाग में जो घार अन्धकार था उसमें प्रवेश किया ॥४८॥

आभास – तत्र तमसो माहात्म्यमाह **तत्राश्वा** इति ।

आभासार्थ—'तत्राश्वाः' श्लोक से अन्धकार-महात्म्य कहते हैं—

श्लोक—**तत्राश्वाः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाः ।**
तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुर्भरतर्षभ ॥४९॥

श्लोकार्थ—हे भरतवंश में श्रेष्ठ ! वहाँ शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक; ये चारों अश्व अन्धकार में आगे चलने में असमर्थ हो गए ॥४९॥

सुबोधिनी—भगवतश्चत्वारोऽपि प्रसिद्धा अश्वास्तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुः । विश्वासार्थं सम्बोधनम् ॥४९॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के चारों अश्व जो प्रसिद्ध अप्रतिहत गति वाले हैं, वे भो इस अन्धकार में भ्रष्ट गति हो गए, भरतर्षभ ! यह संबोधन विश्वास के लिए दिया है ॥४९॥

श्लोक – **तान्दृष्ट्वा भगवान्कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः ।**
सहस्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं प्राहिणोत्पुरः ॥५०॥

श्लोकार्थ—महायोगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान् कृष्ण ने घोड़ों की यह दशा देख, हजार सूर्य के समान प्रकाश वाले अपने चक्र को आगे चलने की आज्ञा की ॥५०॥

सुबोधिनी—तदा भगवान् अश्वानां तदगमनं दृष्ट्वा महायोगेश्वराणां ब्रह्मादीनामपि ईश्वरः समर्थः । सर्वथा गन्तव्यमेवेति निश्चित्य सहस्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं सुदर्शनमग्रे प्राहिणोत् ।५०।

व्याख्यार्थ—तब घोड़ों का रुक जाना देख, महायोगेश्वरों ब्रह्मादिकों) के भी ईश्वर, सर्व समर्थ भगवान् ने निश्चय किया कि जहाँ बालक हैं वहां तो चलना हो है, अतः हजार सूर्य सम प्रकाश करने वाले अपने सुदर्शन चक्र को आगे चलने की आज्ञा की ।।५० ।

आभास—ततस्तस्मिन्नन्धकारे सुदर्शनस्य गतिमाह तमः सुघोरमिति ।

आभासार्थ – पश्चात् उस अन्धकार में सुदर्शन की गति 'तमः सुघोरं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— **तमः सुघोरं गहनं कृतं महद् विदारयद्भूरितरेण रोचिषा ।**
मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः ।।५१।।

श्लोकार्थ —अपने अतिशय विशेष तेज से गाढ़ और गहन अन्धकार का नाश करता हुआ वह भगवान् का सुदर्शन चक्र जैसे राम के धनुष से छूटा हुआ शर सीधा सेना में जाता है, वैसे ही मन जैसे वेग से उस गाढ़ अन्धकार में भीतर घुसा ।।५१।।

सुबोधिनी—सुघोरं तम. विदारयन् निर्विविश इति सम्बन्धः । तमसः स्पर्शोऽपि निराकरणार्थं कठिन इति वक्तुं सुघोरत्वमुक्तं अतिभयानकमित्यर्थः । गहनमतिगम्भीरम् । महत्कृतम्, आलोकापेक्षयापि अधिकं परिमाणतो बलाच्च । आगमनप्रतिषेधार्थं वा महत्कृतम् । नन्वेतादृशमन्धकारं कथं दूरीकृत्य निर्विविशे तत्राह भूरितरेण रोचिषेति ततोऽप्यधिकेन तेजसा । ननु भूयान् देशो वर्तत इति गमनेऽपि यावज्जन्म स्यात्ततो व्यर्थः प्रयास इति चेत् तत्राह मनोजवमिति । ननु गन्तव्यदेशः कस्मिन् भागे वर्तत इति सुदर्शनस्य ज्ञानाभावात् तस्य कथमग्रे तद्देशगमनमित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह गुणच्युत इति । यथा दशरथेः बाणः यं देशमुद्दिश्य त्यज्यते तमेव देशं प्राप्नोति । अचेतनोऽपि चेतनवत् प्रेरणगतिसामर्थ्यात् रेखामात्रमपि नान्यत्र गच्छति । तथा यदैव भगवान् सुदर्शन "प्रक्षिप्तवान् तदा तद्देशसंमुखमेव चिक्षेपेति यथा शरः गुणाद्विमोकमेवापेक्षते तथा चक्रमपि हस्ताद्विमोकमेवापेक्षते इष्टदेशगमनार्थं नान्यदित्यर्थः ।।५१।।

व्याख्यार्थ—बहुत गाढ़ अन्धकार को विदीर्ण करता हुआ उसमें भीतर घुसा, यों सम्बन्ध (अन्वय) है । वह अन्धकार ऐसा था जिसका निराकरण करने के लिए उसका स्पर्श मात्र भी कठिन है, यों जताने के लिए 'सुघोरपन' कहा है अर्थात् अति भयानक अन्धकार था और गहन अर्थात् अति गम्भीर था तथा तेज से आकार (डील) में भी बड़ा था; न केवल आकार में, किन्तु परिमाण और बल में भी महान् था । इतना महान् बनाने की कौनसी आवश्यकता थी ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'आगमन प्रतिषेधार्थं' कोई इसमें आ न सके, ऐसे सर्व प्रकार घोर (जबर्दस्त) अन्धकार को हटा कर कैसे आगे प्रवेश किया ? इस पर उत्तर देते हैं कि 'भूरितरेण रोचिषा' अति तीव्र तेज से अर्थात् उस अन्धकार से भी महान् तेज से उसमें घुस गए । उसका प्रदेश भी बड़ा है, जिसमें पहुँचने में सारी आयु चली जाय, इसलिए यह प्रयास ही व्यर्थ है । यदि यों कहे, तो जिसका उत्तर यह है कि

उस तेज के जाने का वेग मन के समान है, जिससे कहीं भी पहुंचने में इसको समय नहीं लगता है, कहां जाता है ? उस देश का तो सुदर्शन को ज्ञान नहीं है फिर वह आगे कैसे चला ? जिसका उत्तर दृष्टान्त देकर समझाते हैं 'गुणच्युत' जैसे रामचन्द्रजी का शर (बाण डोरी से छूटकर सीधा जिस देश के उद्देश्य से छोड़ा जाता है, वहां पहुंच जाता है, यद्यपि वह जड़ है तो भी चेतन की तरह प्रेरणा की गति के सामर्थ्य से रेखा मात्र भी दूसरी जगह नहीं गिरता है, वैसे जब ही भगवान् ने सुदर्शन को आज्ञा देकर फेंका तब जिस देश में उनको चलाना था उस देश की तरफ ही फेंका था, जैसे शर डोरी से छूटने की अपेक्षा रखता है वैसे ही चक्र भी इष्ट देश में जाने के लिए हस्त से छूटने की अपेक्षा रखता है अतः दूसरी जगह नहीं जा सकता है ।।५१।।

आभास—ततश्चक्रेणैव मार्गः कृत इति तेनैव मार्गेण रथो गत इत्याह **द्वारेणेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् चक्र ने ही मार्ग दिखा दिया इसलिए उस ही मार्ग से रथ जाने लगा यों 'द्वारेण' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**द्वारेण चक्रानुपथेन उत्तमः परं परंज्योतिरनन्तपारम् ।**
समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः प्रताडिताक्षोऽपिदधेऽक्षिणी उभे ।।५२।।

श्लोकार्थ—गाढ़ अन्धकार के कारण जो मार्ग देखने में नहीं आता था, चक्र ने अपने तेज से वह मार्ग दिखा दिया, तब उस मार्ग से जाने लगे। किन्तु उससे बहुत दूर अनन्त और चारों ओर व्याप्त चमकता हुआ तीक्ष्ण तेज देखने में आने लगा, जिसे देखकर अर्जुन के नेत्रों में चकाचौंध होने लगी, जिससे अर्जुन ने आँखें मूँद ली ।।५२।।

सुबोधिनी—चक्रानुपथेन द्वारेण चक्रनिर्मितमार्गेणैव तादृशमपि तमः कर्म। परमुत्कृष्टं ज्योतिर्यस्य तादृशं सुदर्शनम् । परं ब्रह्म तेजोरूपमनन्तपारमित्युभयविशेषणम् । तमस्तेजश्च उभयं सम्यगश्नुवानं अग्रपश्चाद्भावेन तमसा तेजसा च व्याप्तं रथं दृष्ट्वा फाल्गुनः विद्युन्निवारकोऽपि प्रकर्षेण ताडिताक्षो जातः । विद्युता प्रतिहताक्ष इव भीतो जात इत्यर्थः । अगाधे मार्गे गच्छन् अग्रे पश्चाच्च रथदर्शनार्थं चञ्चलदृष्टिः । उभयोस्तुल्यत्वं दृष्ट्वा महान्धकारे विद्युद्दर्शीव भयाद् अक्षिणी अपिदधे मुद्रितवान् । अनेनार्जुनस्य ज्ञानगमने शङ्कापि परिहृता ।।५२।।

व्याख्यार्थ—जाने का मार्ग देखने में न आया यह अन्धकार का कर्म है, उत्कृष्ट तेज से अन्धकार का नाश कर मार्ग दिखा देना यह सुदर्शन का कर्म है, अतः चक्र ने अपने तेज से जाने का द्वार खोल दिया, उस मार्ग से जाने लगे ।

अनन्तपारं' यह पद 'पर' और 'परं ज्योति' दोनों पदों का विशेषण है, अन्धकार और प्रकाश, रथ के आगे और पीछे के भाग में फैले हुए थे, ऐसे रथ को देखकर, अर्जुन (फाल्गुन) बिजली का निवारक होते हुए भी इस तेज से ऐसे डर गए जैसे बिजली से आंखों में चकाचौंध होने पर भय उत्पन्न होता है, अगाध मार्ग में जाते हुए अर्जुन आगे पीछे रथ को देखने के लिए चञ्चल

दृष्टिवान हो गए, अन्धकार और प्रकाश दोनों समान देख जैसे गाढ अन्धेरी रात्रि में बिजली देख भय से आंखें मूंदी जाती है, वैसे अर्जुन ने आंखें मूंदलो, यों कहने से यह बताया है कि इस स्थान का अर्जुन को ज्ञान था या भगवान् के बिना जा सकता था? ऐसी शंका भी नहीं होती अर्थात् अर्जुन को न इस रास्ते का ज्ञान था और न वह भगवान् के बिना एकाकी जा सकता था ।।५२।।

आभास—ततो भगवदिच्छया ब्रह्माण्डमतिक्रम्य आवरणे जले रथः प्रविष्ट इत्याह **ततः प्रविष्टौ** इति ।

आभासार्थ पश्चात् भगवदिच्छा से ब्रह्मांड का उल्लङ्घन कर चारों तरफ फैलेहुए जलमें रथ प्रविष्ट हुआ, 'ततः प्रविष्टौ' श्लोक में इसका वर्णन करते हैं—

श्लोक—**ततः प्रविष्टौ सलिलं नभस्वता बलीयसैजद्बृहदूर्मिभीषणम् ।**
तत्राद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं भ्राजन्मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ।।५३।।

श्लोकार्थ—बलिष्ठ अर्थात् तीव्र वायु द्वारा कम्पित होने से बड़ी-बड़ी लहरों के कारण भयानक जल में प्रविष्ट हुए । ऐसे जल के मध्य में मणियों के सहस्र स्तम्भों से शोभित अतिशय प्रकाश वाला एक अद्भुत भवन था ।।५३।।

सुबोधिनी तदा जलमध्ये रथे प्रविष्टे रथस्थावपि जले प्रविष्टौ । तत्सलिलं वर्णयति बलीयसा नभस्वता एजदिति । महावायुना कम्पमानम् । अत एव बृहदूर्मिभिः स्थूलतरङ्गैः विशेषेण भीषणं भयानकम् । अनेन अर्जुनस्य मनसाप्यगम्यो देश इति सूचितम् । एतादृशजलमध्ये एकं गृहमस्ति तत्प्रविष्टाविति वक्तुं तद्गृहवर्णयति तत्राद्भुतं वै भवनमिति । द्युमत्तममतितेजोयुक्तं स्वतेजसैव प्रकाशमानम् । सूर्यादीनां प्रकाशकानामभावात् । भ्राजन्तो ये मणिस्तम्भास्तेषां सहस्रेण शोभितम् । अनेनैव सर्वोत्कर्षो भवनस्य वर्णितः ।।५३।।

व्याख्यार्थ—तब जल के मध्य में रथ प्रविष्ट हुआ तो रथ में बैठे हुए दोनों भी जल में प्रविष्ट हुए, उस जल का वर्णन करते हैं, महान् बलवान् वायु से कम्पित हो रहा था जिससे उसमें बड़ी २ लहरें उठ रही थी, उन तरङ्गों से वह जल विशेष भयानक दीखता था, यों कहकर दिखाया कि यह प्रदेश ऐसा भयानक है, अर्जुन भगवान् के बिना जहां अकेले मनसे भी जा नहीं सकते और न इस मार्ग को वे जानते है, इस प्रकार के जल के मध्य में एक गृह था, उसमें घुस गए यों कहने के लिए उस गृह का वर्णन करते हैं ।

उस जल में एक अद्भुत भवन है, वह अपने तेज से ही प्रकाशित हो रहा है क्योंकि वहां प्रकाश करने वाले सूर्य आदि कोई नहीं है, और वहां जो मणियों के सहस्र स्तम्भ हैं उनसे भी वह भवन सुशोभित हो रहा है, इससे भवन का सबसे उत्कर्ष वर्णन किया है ।।५३।।

आभास—तन्मध्ये एकं शेषं दृष्टवानित्याह **तस्मिन्महाभीममिति ।**

आभासार्थ—उस भवन में एक शेष देखा जिसका वर्णन 'तस्मिन्महाभोम' श्लोक में करते हैं-

श्लोक—**तस्मिन्महाभीममनन्तमद्भुतं सहस्रमूर्धन्यफणामणिद्युभिः ।**
विभ्राजमान द्विगुणेक्षणोल्बणं सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वम् ।।५४।।

श्लोकार्थ—उस भवन में महा भयङ्कर एवं अद्भुत, सहस्र सिरों के रत्न और फणों के मणियों की कान्ति से दैदीप्यमान, दो सहस्र नेत्रों से भयङ्कर श्याम कण्ठ और जिह्वा वाले, हिमालय जैसे श्वेत कान्ति वाले अनन्त को भगवान् कृष्ण ने देखा । ५४।।

सुबोधिनी—सलिलं प्रविष्टौ गृहमपि प्रविष्टौ । ततो भगवान् कृष्णः तस्मिन्महाभोममनन्तं ददर्श । तद्भोगसुखासनं भगवन्तमपि ददर्शेति सम्बन्धः । सर्वमर्जुनस्य भयोत्पादनार्थं आश्चर्यरसोत्पादनार्थं च वर्णनम् । महाभीममतिभयानकं सर्पविशेषं अद्भुतं कदाप्यदृष्टपूर्वम् । एवं स्वरूपभूतं गुणत्रयमुक्त्वा विशेषतो वर्णयति सहस्रसङ्ख्यायुक्तेषु मूर्द्धसु यानि रत्नानि तानि मूर्धन्यानि फणानां सम्बन्धिनो मणयः फणामणयः फणाशब्द आकारान्तः मूर्धन्यानां फणामणीनां द्युभिः कान्तिभिः कृत्वा विशेषेण भ्राजमानम् । अन्यथा तस्य दर्शनेन तथा भयं न भवेदिति दर्शनोपाय उक्तः । यदर्थमेतदुक्तं तदाह द्विगुणानीक्षणानि सहस्रद्वयमितानि चक्षूंषि तेन उल्बणमतिक्रूरम् । तादृशस्यापि महत्त्वमाह सिताचलाभमिति । सिताचलः श्वेतपर्वतः कैलासो वा हिमालयो वा । तत्सदृशम् । शितिर्नीलवर्णः कण्ठो जिह्वा च यस्य । नीलकण्ठो नीलजिह्वश्चेत्यर्थः । महादेवस्य तदाधिदैविकं रूपम् । तेन जिह्वायां मृत्युः कण्ठे कालकूट इति उभयोर्नीलं रूपं वर्णितम् ।।५४।।

व्याख्यार्थ—जल में प्रविष्ट हुए और फिर भवन में भी प्रविष्ट हुए, पश्चात् भगवान् कृष्ण ने उस भवन में महान् भयानक अनन्त शेष को देखा, उस[1] (शेष) की काया पर सुख पूर्वक विराजमान भगवान् को भी देखा । यह सब वर्णन, अर्जुन को भय और आश्चर्य रस उत्पन्न हो, इसलिए है ।

अति भयानक, अद्भुत और सर्व विशेष अर्थात आगे कभी भी जिसको देखा नहीं है, इस प्रकार स्वरूप भूत तीन गुण कहकर, विशेष वर्णन करते हैं कि, सहस्र संख्या वाले मस्तकों में जो रत्न हैं और फणों की जो मणि हैं, उनकी कान्ति से विशेष चमकदार थे, यदि ऐसे न होते तो उसके दर्शन से वैसा भय न होता, यों दर्शन का उपाय कहा, जिसके लिए इस तरह कहा वह प्रकार कहते हैं, दो हजार नेत्र थे जिनके कारण अति क्रूर थे, ऐसे का भी महत्व कहते हैं, श्वेत पर्वत हिमालय वा कैलास जैसे वर्ण वाले, जिनके कण्ठ और जिह्वा दोनों काले थे, यह महादेव का आधिदैविक रूप है, जिससे जिह्वा में मृत्यु और कण्ठ में काल कूट रहता है, इसलिए दोनों का रूप काला कहा है ।।५४।।

१- यह पंक्ति ५५ श्लोक की है उसके साथ अन्वय (सम्बन्ध) होने से यहां अर्थ कहा है ।

श्लोक—ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुं महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम् ।
सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ।।५५।।

श्लोकार्थ - ऐसे शेषजी के शरीर पर सुख से पौढ़े हुए बड़े प्रतापी, व्यापक व उत्तमों में भी उत्तम पुरुषोत्तम प्रभु के दर्शन किए । वे कैसे हैं ? गाढ़ मेघ के समान श्याम, पीत वर्ण वस्त्रधारी, प्रसन्न मुखारविन्द वाले, सुन्दर और बड़े नेत्रों वाले भगवान् को देखा ।।५५।।

सुबोधिनी—एतादृशे अतिभयानके सर्पशरीरे सुखासीनं भगवन्तं ददर्श । ननु सर्पे स्थितः कथं सुखेन तिष्ठतीत्याह विभुमिति । लोकानामेव स भयानकः न तु तस्यापि नियामकस्येत्यर्थ । विश्व । महानुभावम्, महाननुभावो यस्येति । तादृशोऽपि क्रूरः भगवत्स्थित्या भगवदनुभावेन अतिऋजुरित्यर्थः । तत्र स्थितं भगवन्तं वर्णयति पुरुषोत्तमोत्तममित्यादिभिः । पुरुषोत्तमा ये सर्वपुरुषेष्वतिसुन्दराः सर्वलक्षणसम्पन्नाः तेभ्योऽप्युत्तमः । सौन्दर्यमुक्त्वा रूपमाह सान्द्राम्बुदाभमिति । अतिनिबिडो योयमम्बुदः तद्वत् आभा कान्तिर्यस्येति नीलमेघश्यामम् । इदं भगवतः सहजं रूपमिति । सत्त्वगुणेन वा, पर्यवसानेन वा, इन्द्रियाणां दर्शनसामर्थ्याभावेन वा, शृङ्गारेण वा, कामेन वा, आनन्दस्वभावेन वा, भगवद्रुच्या वा, लक्ष्मीरुच्या वा, तादृशस्यैव सहजत्वेन वा नीलरूपो भगवानिति ज्ञातव्यम् । सुष्ठु पिशङ्गं पीतवर्णं वासो यस्य । एवं रूपवर्णयोः परब्रह्मशब्दब्रह्मता निरूपिता । एवं प्रमेयप्रमाणे निरूप्य साधनं भक्तिं निरूपयति प्रसन्नं वक्त्रं यस्य । ज्ञानविज्ञाने साधनानन्तरं निरूपयति रुचिरे आयते ईक्षणे यस्येति ।।५५।।

व्याख्यार्थ—ऐसे अति भयानक सर्पशरीर पर सुखपूर्वक विराजमान भगवान् को देखा, जो सर्प पर स्थित है वह सुख से कैसे विराज सकता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'विभु' भगवान् व्यापक हैं अतः सर्प लोकों को ही भयानक है, न कि भगवान् के लिए भयानक है, क्यों कि भगवान् तो उसके भी नियामक हैं. नियामक नियम्य से नहीं डरता है. अतः सुख से विराजते हैं भगवान् महान् प्रभाव वाले हैं, अतः वह सर्प ऐसा क्रूर होते हुए भी भगवान् की स्थिति होने से, भगवान् के प्रभाव से बहुत सीधा हो गया है ।

उस पर विराजमान भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हैं – जो पुरुष, सर्व पुरुषों में अति सुन्दर हैं और सर्व लक्षणों से युक्त उत्तम पुरुष है. उनसे भी उत्तम हैं, इस पद से सुन्दरता का वर्णन कर अब रूप का वर्णन करते हैं. बहुत गाढ़ मेघ के समान कान्ति वाले हैं. अर्थात् नील मेघ सदृश श्याम है-यह भगवान् का सहज स्वरूप है, आप के सतोगुणी होने से । सतोगुण का रूप नील है, उसके आधार के कारण भगवान् में नीलत्व आ जाता है, अथवा काल के कारण भी कृष्ण श्याम हैं, कारण कि; कलि काल का वर्ण श्याम है अतः भगवान् कलियुग में श्याम रंग ग्रहण करते हैं, इन्द्रियाँ रूप वाले द्रव्य को ग्रहण करती हैं, दूर होने पर इन्द्रियों की देखने की शक्ति न होने से वहां नीलता देखने में आती है, भगवान् रूप वाला द्रव्य न होने से चक्षु में उनके देखने की शक्ति न होने से, नील श्याम रूप से दर्शन देते हैं, इसी प्रकार शृङ्गार रस का वर्ण श्याम है, आप शृङ्गार रूप होने से श्याम वर्ण हैं, काम का वर्ण श्याम है, आप अलौकिक काम भाव होने से श्याम हैं अथवा आनन्द स्वभाव से भी श्याम हैं अथवा भगवान् की

स्वरुचि से भी श्याम हैं अथवा लक्ष्मी की रुचि श्याम वर्ण में होने से उसकी रुच्यनुसार आप श्याम है, या ऐसे सहजपन से भगवान् नील रूप हैं, यों समझना चाहिए।

जिसके वस्त्र पीत वर्ण के हैं, इस प्रकार रूप और वस्त्र दोनों को परब्रह्मता और शब्द ब्रह्मता दिखलाई इसी तरह प्रमेय और प्रमाण दोनों का निरूपण कर अब कहते हैं कि ऐसे प्रभु की प्राप्ति का साधन, भक्ति है, उसका निरूपण करते हैं, 'प्रसन्नं वक्त्र'' जिसका मुखारविन्द आनन्दमय है, आनन्दरूप मुखारविन्द में प्रेम ही सरल साधन है, भक्ति के सिवाय दूसरे साधन ज्ञान विज्ञान का निरूपण करते है, 'रुचिरायतेक्षणम्' सुन्दर बड़े नेत्र जिसके हैं, नेत्रों द्वारा कृपा होने से ज्ञान विज्ञान रूप साधन सिद्ध होते हैं, यह भाव है ।।५५।।

आभास— एवं सर्वसाधनसहितं भगवन्तं निरूप्य फलत्वाय प्रथमतो बहिःशोभामाह महामणिव्रातेति।

आभासार्थ - इसी तरह सर्व साधन सहित भगवान् का निरूपण कर, फल रूप के वर्णनार्थ प्रथम 'महमणिव्रात' श्लोक से बाहर की शोभा कहते हैं—

श्लोक — **महामणिव्रातकिरीटकुण्डलप्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम्।**
प्रलम्बचार्वष्टभुजं सकौस्तुभं श्रीवत्सलक्ष्मं वनमालया वृतम् ।।५६।।

श्लोकार्थ अनेक महामणियों से जटित किरीट और कुण्डलों की प्रभा से व्याप्त सहस्र केशधारी, लम्बी सुन्दर आठ भुजा वाले, कौस्तुभमणि और श्रीवत्स के चिह्न वाली वनमाला से आवृत्त, ऐसे प्रभु को देखा। ५६।।

सुबोधिनी—महामणीनां समूहः येषु तादृशाः किरीटकुण्डलमुकुटादयः तेषां प्रभाभिः परितः क्षिप्ताः सहस्रं कुन्तला यस्य। कुन्तलानां मध्ये रत्नानां तेज प्रवेशान् नीलमणिखचितपदकवद् भगवतः उपरिभागो वर्णितः। मध्यभागं वर्णयति प्रकर्षेण लम्बाः चारव अष्टौ भुजा यस्य। जानुपर्यन्तं लम्बाः तादृशा अपि न केनाप्यंशेन विकृताः ये भगवतः अष्टौ गुणाः अणिमादि-प्रकृतिरूपाः तेषां मूलभूता ये योगाः क्रियाशक्ति-रूपाः तेषामाधारभूता भगवतो बाहवः। कौस्तुभ सहितः कण्ठभागः श्रीवत्स एव लक्ष्म चिन्हं यस्य। वनमालया च वृत इति जीवमायाकीर्तय उक्ताः भगवदवलम्बाः ।।५६।।

व्याख्यार्थ—महामणियों के समूह वाले किरीट कुण्डलादि की प्रभा से चकाचौंध वाले जिसके सहस्र केश है, यों केशों के मध्य में रत्नों के तेज के प्रवेश से नील वर्ण मणियों से खचित पदक के उपरि भाग का वर्णन किया है, अब मध्य भाग का वर्णन करते हैं, आपकी सुन्दर आठ भुजाएँ जानुपर्यन्त लम्बी है, इतनी लम्बी होते हुए भी स्वल्प भी विकृत नहीं है, भगवान् के अणिमा आदि जो प्रकृति रूप आठ गुण हैं उनके मूलभूत क्रियाशक्ति रूप जो योग है उनकी आधारभूत की ये भुजाएँ हैं, भगवान् का कण्ठ भाग कौस्तुभ सहित है, और श्रीवत्स चिन्ह है एवं वन माला से आवृत है, इन तीन विशेषणों से यह सूचित किया है कि, १-जीव, २- माया और ३- कीर्ति ये तीन भगवादाश्रित हैं ।।५६।।

आभास - एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा एकाकी कदाचिद्भगवांस्तत्र तिष्ठतीति शङ्कां वारयितुं सुनन्दादीन् पार्षदप्रवरान् वर्णयति **सुनन्दनन्दप्रमुखैरिति** ।

आभासार्थ - इस प्रकार भगवान् के स्वरूप का वर्णन होने से कदाचित् यह शङ्का उत्पन्न होवे कि, भगवान् वहां अकेले रहते होंगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए निम्न श्लोक में कहते हैं कि वहां सुनन्द आदि उत्तम पार्षद और सेवक सेवा करते रहते हैं—

श्लोक—सुनन्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदैश्चक्रादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ।
पुष्ट्या श्रिया कीर्त्यजयाखिलर्द्धिभिर्निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् ।।५७।।

श्लोकार्थ—सुनन्द, नन्द आदि अपने पार्षद, सुदर्शन चक्र आदि अपने शस्त्र और पुष्टि, श्री, कीर्ति और जया व अष्ट-सिद्धियाँ इनसे सेव्यमान परमेष्ठियों के पति प्रभु को देखा ।।५७।।

सुबोधिनी—स्वपार्षदैरनिरुद्धसेवकैः । एतैर्निषेव्यमाणमिति सम्बन्धः । मूर्तिधराश्चक्रादयः आधिदैविकाः ।।

व्याख्यार्थ—'स्वपार्षदैः' अपने (अनिरुद्ध स्वरूप के) सेवकों से सेव्यमान, यों अन्वय है, सुदर्शन चक्र आदि शस्त्र स्वरूपधारी थे क्योंकि वहां शस्त्र आधिदैविक रूप से बिराजते हैं—

कारिका—चक्रं शङ्खस्तथा खड्गश्चर्म शार्ङ्गं गदा तथा ।
बाणः पद्मं तथान्यानि मुशलाद्यायुधानि हि ।
मूर्तिमन्ति हरेः पार्श्वे तिष्ठन्ति परितः सदा ।।

कारिकार्थ—चक्र, शङ्ख, खड्ग, ढाल, धनुष, गदा, बाण, कमल, मूशल आदि दूसरे भी आयुध सदैव भगवान् के पास आधिदैविक स्वरूप से मूर्तिमान होकर विराजते हैं ।

सुबोधिनी — निजायुधान्यनिरुद्धायुधानि । ततः पुष्ट्यादि शक्तयः चतस्रोऽनिरुद्धस्य वर्ण्यन्ते। पुष्टिः श्रीः कीर्तिः अजा प्रकृतिरिति । अखिलाश्च ऋद्धयः । धनधान्यादिसंपत्तीनामाधिदैविकरूपाणि । तैः सर्वैरेव निषेव्यमाणम् । एतावतापि साधारणमेवैश्वर्यमायातीति असाधारणब्रह्माण्डकोट्यैश्वर्यार्थमाह परमेष्ठिनां पतिमिति । एकैकस्य ब्रह्माण्डस्यैकैकः परमेष्ठी तादृशानां सहस्राणां पतिः ।।५७।।

व्याख्यार्थ—'निजायुधैः पद से अनिरुद्ध स्वरूप के आयुध कहे हैं, पश्चात् पुष्टि आदि चार शक्तियां वे भी अनिरुद्ध की ही हैं, १- पुष्टिः, २- श्रीः, ३- कीर्ति ४- अजा (प्रकृति) अखिल ऋद्धियां, (धान्य आदि सम्पदाओं के आधिदैविक रूप है) इन सबने सेव्यमान हो रहे हैं, इतना कहने से तो साधारण ऐश्वर्य ही सिद्ध होता है, इस पर कहते हैं कि आपका एश्वर्य साधारण नहीं है किन्तु असाधारण ऐश्वर्य है, उस असाधारण ऐश्वर्य सिद्धि के लिए कहते हैं कि आप परमे-

ष्ठियों के पति हैं, एक एक ब्रह्माण्ड का एक एक परमेष्ठी पति होता है, ऐसे सहस्रों ब्रह्माण्ड हैं उतने ही परमेष्ठी हैं, उन सब के पति हैं ।।५७।

आभास—तादृशं स्वांशस्य मूलभूतं दृष्ट्वा भगवता लोकशिक्षार्थं यत्कृतं तदाह ववन्द इति ।

आभासार्थ—अपने अंश के मूलभूत वैसे स्वरूप को देखकर भगवान् ने लोक शिक्षार्थ जो कुछ किया वह 'ववन्द' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतो जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः ।**
तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभुर्बद्धाञ्जली सस्मितमूर्जया गिरा ।।५८।।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने अपने स्वरूप भूत अनन्त को प्रणाम किया और उनके दर्शन से भयभीत अर्जुन ने भी नमन किया, परमेष्ठियों के स्वामी भूमा ने हाथ बाँध कर खड़े हुए उन दोनों को मुस्कराते हुए गम्भीर वाणी से कहा ।।५८।।

सुबोधिनी आत्मानमेव भगवान् कृष्णो ववन्दे । ननु मूर्तिभेदस्य प्रत्यक्षतो दर्शनात् कथमात्मत्वमत आह अनन्तमिति । अनन्तमूर्तिर्भगवानेक इत्यर्थः । तर्हि खण्डशोऽनन्तता स्यादत आह अच्युत इति । स्वरूपात्केनापि प्रकारेण न च्युतः । जिष्णुरर्जुनश्च । भगवद्दर्शनेन जातसाध्वसः ववन्द इति सम्बन्धः । चकारात्तस्यापि भगवानात्मा । ततो भगवाननिरुद्धः किञ्चिदुक्तवानित्याह तावाहेति । भूमा अनिरुद्धः 'यो वै वाचो भूमा तं न्यर्बुदम' इत्यत्र वाक् सम्बन्धिन भूमानमुद्दिश्य न्यर्बुदत्वं विधीयते । अनिरुद्धो हि मानसः पुरुष इति । शब्दात्मकत्वं तस्य सिद्धमिति अनिरुद्धस्य भूमत्वमिति । परमेष्ठिनां प्रभुरिति । ब्रह्माण्डे समागच्छति तं प्रति तस्याज्ञा चलतीति पुत्राणां नयने निर्भयतया तथा कथने च हेतुरुक्तः बद्धाञ्जली कृष्णार्जुनौ अर्जुनं वञ्चयितुं भगवानपि तथा नाट्यं करोति । अत एव कृष्णो भूमा च सर्वथैक इति अर्जुनाहंकारभङ्गार्थमेव निरोधमध्यपातात् प्रपञ्चविस्मृत्यर्थं तथा करोतीति सूचितम् । ऊर्जया गिरा लोकसिद्धवाण्यपेक्षयापि महत्या ।।५८।।

व्याख्यार्थ—अपने को ही भगवान् श्री कृष्ण ने नमन किया, दोनों के स्वरूप में प्रत्यक्ष भेद दिख रहा है, तब अपनपन कैसे हुआ? इस पर कहते हैं कि 'अनन्तं' श्रीकृष्ण के स्वरूप अनन्तरहित हैं, वह स्वरूप भी आपका ही है, अनन्तमूर्त्ति होते हुए भी भगवान् एक ही है, यही तात्पर्य है, तब तो आपकी अनन्तता खण्ड खण्ड होगी, इस पर कहते हैं कि नहीं, क्योंकि आप अच्युत हैं, कितने भो स्वरूप धारण करें तो भी स्वरूप से आपमें च्युति कमी) नहीं होती है, और भगवान् के दर्शन से डरे हुए अर्जुन ने भी प्रणाम किया, 'च' पद से यह सूचित किया है कि भगवान् अर्जुन को भी आत्मा हैं, पश्चात् भगवान् अनिरुद्ध ने दोनों को कुछ कहा, भूमा' शब्द अनिरुद्ध वाचक है, 'थो वं वाचो भूमा तं न्यर्बुदम्' जो वाणो के भूमा हैं उसको दश करोड़ कहते हैं. इसी तरह यहां वाक् से सम्बन्ध वाले भूमा के उद्देश्य से दश करोड़ कहा है, अनिरुद्ध तो मन से सम्बन्धित पुरुष होने से यहां उनका शब्दात्मक मन सिद्ध है, इसलिए ही अनिरुद्ध का भूमत्व है और अतएव परमेष्ठियों का

प्रभु भी है, जो भी ब्रह्माण्ड में आता है उस पर इनकी आज्ञा चलती हैं, इस कारण से ही पुत्रों को ले आने में इनको कोई भय न हुआ और वैसा कहने में भो डर न हुआ, कृष्ण और अर्जुन दोनों अनिरुद्ध के आगे हाथ जोड़ खड़े थे, श्रीकृष्ण ने हाथ क्यों जोड़े ? जिसका भाव आचार्य श्री प्रकट करते हैं कि अर्जुन को ठगने के लिए ऐसा नाट्य किया है, अतः श्रीकृष्ण और भूमा सर्वथा एक ही हैं, केवल अर्जुन के अहङ्कार को तोड़ने के लिए ही और निरोध कार्य में लग जाने से, प्रपञ्च विस्मृति करानी है इसलिए यों करते हैं यह सूचना दी है. लोक प्रसिद्ध वाणी से अर्थात् लोक में जिस प्रकार की वाणी से कहा जाता है उससे भी बलवती वाणी से कहने लगे ।५८।

आभास—यथाकथञ्चित्किञ्चित्कौतुकं वक्तव्यमिति किञ्चिदाह **द्विजात्मजामी** इति ।

आभासार्थ—जिस किसी प्रकार से कुछ अचम्भे में डालने वाला वाक्य भी कहना चाहिए,यह 'द्विजात्मजामी' श्लोक में कहते है—

श्लोक—द्विजात्मजामी युवयोर्दिदृक्षुणा मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान्हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ।।५६।।

श्लोकार्थ—भूमा भगवान् ने कहा कि आपके दर्शन करने की इच्छा से ये ब्राह्मण के पुत्र मैं लाया हूँ । धर्म की रक्षा के लिए मेरी कला से पृथ्वी पर अवतार लिये हो, पृथ्वी पर जो भार रूप असुर हैं, उनको मारकर फिर मेरे पास शीघ्र आ जावें ।।५६।।

सुबोधिनी—सन्धिरार्षः । अर्जुनं प्रति संबोधनं वा अदीर्घदर्शित्वं ज्ञापयितुं द्व्यामुष्यायणत्वात् । परम्परया व्यासात्मजत्वाच्च द्विजशब्दस्य ब्राह्मणपरत्वेऽपि न दोषः । युवयोर्दिदृक्षुणेति प्रयोजनम् । तयोर्महत्त्वात्साक्षादाकर्षणं न सम्भवति,अतो द्विजात्मजा एव मया समानीताः। ननु आवां कौ किमर्थं वा तव दिदृक्षा तत्राह द्विजधर्मगुप्तये अवतीर्णौ मम कलारूपाविति । युवयोः स्वरूपं मम कलाया अवतारः । अतः स्नेहाद्दिदृक्षा । कलावतारस्य प्रयोजनं द्विजधर्मगुप्तय इति । एको द्विजगुप्तये । अपरो धर्मगुप्तय इति । उभयमुभयत्र वा । अनिरुद्धस्य धर्मरक्षाप्रयोजनमिति । द्विजैः स्वभावत एव धर्मः कर्तव्यः । तत्रावयोः किं कर्तव्यमिति चेत् तत्राह भूमेर्भाररूपान् असुरान् हत्वेति । भूयस्त्वरया इह इतं आगच्छत, मे मम अन्ति समीपे । अनेनेदानीं स्थितिर्निषिद्धा ।।५६।।

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में 'द्विजात्मजामी' यह सन्धि आर्ष[1] है, यों यह पद इस प्रकार का है– 'द्वीजात्मजा अमी' अथवा 'द्विजात्मज अमी' यदि 'द्विजात्मजा अमी' पद लिया जाय तो इसका अर्थ 'अमी' ये द्विजात्मजा' ब्राह्मण के पुत्र होता है (मैं लाया हूं) यदि 'द्विजात्मज अमी' पदच्छेद करे तो

१- वैदिक

द्विजात्मज संबोधन अर्जुन के लिए होता है, अर्जुन व्यास का पुत्र होने से दीर्घदर्शी नहीं है क्योंकि ब्राह्मणों की मति वैसी ही होती है. यह सूचित करने के लिए अर्जुन को यहां द्विजात्मज[1] कहा है, और इस पद के कहने का यह भी आशय है कि अर्जुन दो पिताओं की जायदाद का हकदार है।

मैं ब्राह्मण पुत्र यहां लाया हूं जिसका हेतु है मुझे आपके देखने की इच्छा थी, आप दोनों महान् हैं इसलिए आपका साक्षात् आकर्षण नहीं हो सकता है इसलिए ब्राह्मण के पुत्रों को लाया, हम कौन हैं ? हमारे देखने की आपको क्यों इच्छा हुई ? जिसका उत्तर देते हैं 'द्विजधर्मगुप्त्ये अवतीर्णौ मम कला रूपौ' आप दोनों मेरी कला के अवतार हैं अतः कला के कारण आपमें स्नेह है जिससे देखने की इच्छा हुई. कलावतार धारण करने का प्रयोजन, द्विजों की और धर्म की रक्षा है, एक द्विजों की रक्षा के लिए दूसरा धर्म की रक्षार्थ है, अथवा प्रत्येक दोनों के लिए है, अनिरुद्ध का धर्म रक्षा करना प्रयोजन है, ब्राह्मण तो स्वत एव स्वभाव से ही अपने धर्म का पालन करेंगे वहां दोनों को क्या कर्तव्य करना है ? इसका उत्तर देते हैं कि पृथ्वी पर भार रूप असुरों को मार कर फिर आप शीघ्र यहां मेरे पास आइए. यों कहकर यह सूचित किया कि अब लौट कर भूलोक में पधारिए ।।५९।।

आभास—न केवलं धर्मरक्षैव कर्तव्या अपि तु धर्मः प्रवर्तनीय इत्याह **पूर्णकामावपीति** ।

आभासार्थ—केवल धर्म की रक्षा नहीं करनी है किन्तु धर्म भी प्रवृत्त करना है, यह 'पूर्णकामावपि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी ।**
धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसंग्रहम् ।।६०।।

श्लोकार्थ—आप दोनों पूर्ण काम, नर और नारायण, श्रेष्ठ ऋषि रूप हो, अतः जगत् की स्थिति के लिए और लोक संग्रहार्थ धर्म का आचरण कीजिए ।।६०।।

सुबोधिनी—स्वतो धर्मप्रयोजनाभावेऽपि करणावश्यकत्वाय पूर्णकामत्वम् । धर्मकरणसामर्थ्ये निस्पृहत्वे च हेतुः नरनारायणावृषी इति । नरनारायणत्वात्पूर्णकामत्वं ऋषित्वाद्धर्मकरणसामर्थ्यमिति । तथापि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति प्रयोजनं वक्तव्यमिति चेत्. तत्राह । स्थित्यै अनिरुद्धः पालक इति जगतः स्थित्यर्थं धर्मकरणम् । ननु नारायणेनैव स्थितिः सम्पाद्यत इति भूभारहरणार्थमेव समागतयोः आवयोः किं धर्मणेत्यत आह लोकसंग्रहमिति ।।६०।

व्याख्यार्थ—आपको अपने लिए धर्म करने का कोई प्रयोजन नहीं है, फिर भी आप पूर्ण काम हो अर्थात् आप में धर्म करने की सामर्थ्य है और किसी प्रकार की अपने लिए कुछ इच्छा भी नहीं है, क्योंकि नर और नारायण ऋषि हैं, नर-नारायण होने से पूर्ण काम हो ऋषि होने से धर्म करने की सामर्थ्य भी आपमें है ।

---

[1] १- 'द्विज' पद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए है किन्तु ब्राह्मण के लिए देने में भी दोष नहीं है

तो भी 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' मूर्ख मनुष्य भी प्रयोजन के बिना किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं करता है, इसलिए प्रयोजन कहना चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'स्थित्यै' अनिरुद्ध पालना करने वाले हैं इसलिए जगत् की स्थिति के लिए धर्म का प्रचार करना चाहिए, यदि कहो कि नारायण ही स्थिति कर रहे हैं इसलिए, भूभार हरण करने के लिए आए हुए हमारा धर्म से कौनसा सम्बन्ध है ? इस पर कहते हैं 'लोक संग्रहम्' लोक संग्रह के लिए आपका धर्म से सम्बन्ध है, आप धर्माचरण कर दिखाओगे तब लोक करेंगे ।६०॥

आभास—ततो यज्ञ तं तदाह **इत्यादिष्टाविति ।**

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'इत्यादिष्टौ' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना ।
ओमित्यानम्य भूमानमादाय द्विजदारकान् ।।६१।।

श्लोकार्थ—भगवान् परमेष्ठी से अर्जुन व कृष्ण यों आज्ञा पाकर एवं 'ओम्' उस आज्ञा को स्वीकार कर द्विज बालकों को लेकर, भूमा को प्रणाम कर, अपने धाम को लौटे ।।६१।।

सुबोधिनी—उभयोः कृष्णनामत्वं समानांशत्वाय । ननु भगवान् कथं भगवन्तमाज्ञापयति तत्राह परमेष्ठिनेति । अयं भगवान् ब्रह्माण्डे रक्षार्थं प्रवृत्तः । अतः स्वांशान् सर्वानेव तथा बोधयति । अतः स्वस्य रूपं तथैवेति ॐमिति तदुक्तं स्वीकृत्य । भूमानं भगवन्तमानम्य यदर्थं गतौ तान् बालकानादाय ।।६१।।

व्याख्यार्थ यहां दोनों को कृष्ण नाम देने का भावार्थ यह है कि दोनों समान अंश है, भगवान् भगवान् को कैसे आज्ञा देते हैं ? इसलिए 'परमेष्ठिना' कहा है, यह भगवान् ब्रह्माण्ड में रक्षा के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं, अतः अपने सब अंशों को ही वैसे बोध करते हैं अतः आपका स्वरूप वैसा ही है इसलिए ॐ' कहकर उन्होंने जो कहा वह स्वीकार कर लिया, भूमा भगवान् को प्रणाम कर जिस कार्य के लिए गए थे वह कार्य पूर्ण कर अर्थात् ब्राह्मण के पुत्रों को लेकर लौटे ।।६१।।

श्लोक— **न्यवर्तेतां स्वकं धाम संप्रहृष्टो यथागतम् ।**
विप्राय ददतुः पुत्रान्यथारूपं यथा प्रभू ।।६२।।

श्लोकार्थ—जिस मार्ग से गए थे, उसी ही मार्ग से प्रसन्नतापूर्वक अपने धाम द्वारका को लौट आए और दोनों समर्थों ने ब्राह्मण को वैसी ही अवस्था और रूप आदि वाले सब पुत्र दिए ।।६२।।

सुबोधिनी—स्वकं धाम द्वारकां न्यवर्तेतां व्याघुट्य समागतौ । ततो निःशङ्कौ प्रहृष्टौ गमनमार्गेणैव समागतौ । इयं च लीला अन्यैः समतां हीनतां च बोधयति ततः प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं विप्राय

ददतुः पुत्रान् । एकः प्राथितो रक्षार्थं सर्व एव च दत्ता इति महत्त्वम् । यथारूपम् रूपमनतिक्रम्य । रूपशब्देन वयःस्वभावादिकमपि जन्मकालीनं गृह्यते । यथा यथावद् अन्यूनानतिरिक्तम् । सान्दीपिनिपुत्रवदेषामपि व्यवस्था । ननु कथमेवं प्रतिज्ञाय गतौ तत्राह प्रभू इति । तथा करणे वा हेतुः ॥६२॥

व्याख्यार्थ—जिस कार्य के लिए गए थे वह कार्य कर, अर्थात् ब्राह्मण पुत्रों को लाकर निशङ्क और प्रसन्न हो, अपने धाम द्वारका में जिस मार्ग से गए थे उसी ही मार्ग से लौट आए, यह लीला[1] दूसरों के साथ भगवान् की समता और हीनता दिखलाती है ।

पश्चात् प्रतिज्ञा की सिद्धि करने के लिए ब्राह्मण को सब पुत्र दिए, यद्यपि ब्राह्मण ने एक पुत्र की रक्षा के लिए प्रार्थना की थी, परन्तु सब ही दिए, इससे महत्त्व प्रकट किया, वैसे रूपवाले ही सब पुत्र दिए, रूप शब्द से आयु और स्वभाव आदि भी, जैसे जन्म समय में थे अब भी वैसे ही हैं, न कम और न उनमें किसी प्रकार कुछ भी परिवर्त्तन था, सान्दीपोनि ऋषि के पुत्र समान इनकी भी व्यवस्था थी । इसी प्रकार प्रतिज्ञा कर कैसे गए ? इसका उत्तर देते हैं 'प्रभू' सर्व समर्थ थे अथवा यों करने में यह कारण था ।।६२।।

आभास—एवमुभयोश्चरित्रमुक्त्वा तुल्यत्वमाशङ्क्य परिहरति **निशम्येति** ।

आभासार्थ—ये दोनों के किए हुए चरित्र का वर्णन कर दोनों में समानता होने की शङ्का को 'निशम्य' श्लोक से मिटाते है—

श्लोक—निशम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः ।
यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम् ।।६३ ।

श्लोकार्थ—विष्णु भगवान् का धाम देखकर अर्जुन बहुत आश्चर्ययुक्त हुए और समझ गए कि जो कुछ भी पुरुषों में पुरुषार्थ है, वह श्रीकृष्ण की कृपा से ही है ।।६३।।

सुबोधिनी—अर्जुनस्तु यावद्गत्वा समागतः तावत्किमपि न ज्ञातवान् । पश्चाद्भगवता स्वरूपे निरूपिते पश्चात् तद्वैष्णवं धाम ज्ञातवान् तदाह निशम्येति । परमविस्मयं प्राप्तः । विष्णोरेतादृशं स्थानमिति । स हि जानाति यथेन्द्रादीनां स्थानं तथा विष्णोरपीति । पश्चान्मेरुसर्षपयोरिवान्तरं ज्ञात्वा अत्यन्तं विस्मितः । नन्वेतावता किमर्जुनस्य सम्पन्नमित्याकांक्षायामाह यत्किञ्चित्पौरुषमिति । स्वतः करणेऽहंकारो भवति । अतो यत्किञ्चित्पूर्वं कृतवान् तदन्यत्कृतं च तत्सर्वं कृष्णानुकम्पितमेव मेने । एवं निरोधे नन्दप्रभृति अर्जुनान्ता निरुद्धाः । फाल्गुनान्ताश्चावेशाः ॥

---

[1] जैसे दूसरे देव अंश से अवतरे हैं, वैसे ही भगवान् भी अंश से अवतरे हैं अतः अन्य देवों के साथ समानता दिखाई है, और इस कारण से अनिरुद्ध स्वरूप से होनता प्रकट का है, क्योंकि वहां भगवान् नारायणांश स्वरूप से पधारे थे, इसलिए अंश को अंशी के साथ यों करना चाहिए, यह लीला लोक के शिक्षार्थ की है-लेखकार

व्याख्यार्थ—अर्जुन वहां जाकर लौट आए तब तक उसके स्वरूप का कुछ भी ज्ञान इसको (अर्जुन को) न हुआ, पश्चात् जब भगवान् ने उसको स्वरूप का वर्णन कर सुनाया तब अर्जुन ने जाना, इसलिए 'निशम्य' पद दिया है, जानकर बहुत आश्चर्यान्वित होगए मन में कहा कि अहो विष्णु का ऐसा स्थान है ? वह तो पहले यों जानते थे कि जैसे इन्द्रादिक का स्थान है वैसा विष्णु का भी होगा, सुनने के बाद जान लिया कि इनमें तो मेरु और सर्षप जितना अन्तर है, इससे परम आश्चर्य को प्राप्त हुए, इससे अर्जुन को क्या मिला ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि स्वतः कार्य करने में अहङ्कार हो जाता है, अब अर्जुन ने समझ लिया कि पहले मैंने जो भी किया वह दूसरे (कृष्ण) ने किया है, वह सब कृष्ण की कृपा से हुआ है, इस प्रकार नन्दजी से अर्जुन तक निरोध किया है, फाल्गुन तक आवेश वाले हैं ।।६३।।

आभास—अतस्तस्मिन्निरुद्धे निरोधान्तरस्य वक्तव्यत्वाभावाद् उक्तमात्रपरत्वं दूरीकर्तुं प्रकारमतिदिशति **इतीदृशान्यनेकानीति** ।

आभासार्थ--भगवान् के आवेश वाले अर्जुन का भी निरोध किया, इससे दूसरे निरोध कहने नहीं है, तब तो इतने ही निरोध होंगे, इस संशय को मिटाने के लिए 'इती दृशानि' श्लोक में निरोध के प्रकार बताते हैं —

श्लोक—इतीदृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन् ।
बुभुजे विषयान्ग्राम्यानीजे चात्यूर्जितैर्मखैः ॥६४॥

श्लोकार्थ—इस लोक में ऐसे अनेक पराक्रम दिखाते हुए भगवान् ने ग्राम-संबंधी विषयों को भोगा और अति समृद्धि वाले यज्ञों से यज्ञ-पुरुष का पूजन किया ॥६४॥

सुबोधिनी—ज्ञानरूपाणि निरोधरूपाणि वा। वीर्याण्यलौकिकसामर्थ्यानीह भूमौ माहात्म्यार्थं स्वासक्त्यर्थं च प्रदर्शयन् ग्राम्यान् विषयान् बुभुजे । अन्यथा लोकसमानधर्माभावे नाट्यं न भवेत् विश्वासश्च न भवेत्, सर्वमुक्तिश्च स्यात् । अतो लौकिकं वैदिकं च लोकवत् कृतवान् तदाह ग्राम्यान् विषयान् बुभुजे । अत्यूर्जितैर्मखैश्च ईजे इति । षड्वर्षपर्यन्त सर्वानेव यज्ञान् कृतवानिति प्रसिद्धिः ।।६४।।

व्याख्यार्थ—भगवान् भूमि पर अपने महात्म्य के लिए तथा अपने में आसक्ति करने के वास्ते ज्ञानरूप और निरोधरूप अलौकिक सामर्थ्य वाले वीर्यों को दिखाते हुए ग्राम सम्बन्धी भोगों को भोगने लगे, यदि यों लोक समान धर्मों को धारण न करते तो लीला की पूर्णता न होती और लोगों को विश्वास न होता, जो अलौकिक प्रकार से करते तो दर्शन मात्र से सबकी मुक्ति हो जाती, जो अभीष्ट नहीं थी अतः भगवान् ने लौकिक प्रकार से लौकिक,वैदिक दोनों कार्य किए जैसेकि भोग भी लौकिक रीति से कर दिखाया तथा उत्तम यज्ञों से हरि पूजनकर दिखाया,भगवान् ने ऐसे यज्ञ छ वर्ष तक किए ऐसी प्रसिद्धि है ।।६४।।

आभास—दानमपि यज्ञसदृशमिति तस्यापि लोके उत्कर्षहेतुत्वाद् विशेषेणाह **प्रववर्षाखिलान्कामानिति** ।

आभासार्थ—दान भी यज्ञ के समान लोक में उत्कर्ष कराने वाला है, अतः प्रववर्ष' श्लोक में उसका विशेष रूप से वर्णन करते हैं—

श्लोक – **प्रववर्षाखिलान्कामान्प्रजासु ब्राह्मणादिषु ।**
यथाकालं यथैवेन्द्रो भगवान् श्रैष्ठ्यमास्थितः ॥६५॥

श्लोकार्थ जैसे इन्द्र समय-समय पर वर्षा कर जगत् की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण कर उनको आनन्दित करता है, वैसे ही श्रेष्ठता की निधि भगवान् ने भी ब्राह्मणादि सबकी कामनाओं को उनकी इच्छानुसार पूर्ण कर उनको सन्तुष्ट किया ॥६५॥

सुबोधिनी—प्राणिमात्रस्य कामनां पूरितवान् । विशेषतो ब्राह्मणादिषु । तत्रापि यथाकामम् । यावता तासां कामः पूर्णो भवति । एतत् पूरणाभावे तदानींतना लोकाः सर्वे नष्टा एव भवेयुः इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह यथैवेन्द्र इति । सर्वे प्राणिनः अन्नैरेव जीवन्ति तदन्नं वृष्ट्यधीनं ततः पर्जन्यश्चेत्क्षणमात्रमप्युदासीनः स्यात् तदा प्राणिनो नष्टा एव भवेयुः । तथैव भगवानित्यर्थः । भजनार्थं पर्जन्याद्विशेषमाह भगवान् श्रैष्ठ्यमास्थित इति । सर्वतः श्रैष्ठ्यं ज्ञापयन्नेव अखिलान् कामान् प्रववर्ष येन कृतार्थता भवति ॥६५॥

व्याख्यार्थ—प्राणिमात्र की कामनाएं तो पूर्ण की, बलिक विशेष में ब्राह्मणादि की सर्व प्रकार की कामनाएं उनकी इच्छानुकूल पूर्ण की, जो यों न करते तो, सर्व का नाश हो जाता, यों जताने के लिए दृष्टान्त देते हैं यथैवेन्द्र' सब प्राणी अन्न से ही जीते हैं, उस अन्न की उत्पत्ति वृष्टि के अधीन है, यदि मेघ क्षणमात्र उदासीन हो जाय, अर्थात् वृष्टि न करे तो प्राणी दुष्काल के कारण अन्नाभाव से नष्ट हो जावे, वैसे ही भगवान् क्षण मात्र उदासीन हो जाय तो लोक नष्ट हो जावे, पर्जन्य से भी भगवान् की विशेषता इसलिए दिखाते हैं कि लोक उनका भजन करे, अतः कहा है कि 'भगवान् श्रैष्ठ्यमास्थित' सबसे अपनी श्रेष्ठता जनाते हुए ही अखिल कामनाओं की वर्षा करते है जिससे कृतार्थता प्रकट होती है । ६५॥

आभास एवं प्रजापालनमुक्त्वा विशेषतः स्वावतारकृत्यमुपसंहरन्नाह **हत्वा नृपानधर्मिष्ठानिति ।**

आभासार्थ—इसी तरह प्रजापालन कहकर विशेषता से अपने अवतार कार्य का उपसंहार करने लगे, यह 'हत्वा' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**हत्वा नृपानधर्मिष्ठान्घातयित्वार्जुनादिभिः ।**
अञ्जसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः ॥६६॥

श्लोकार्थ—अर्जुन आदि द्वारा अधर्मी राजाओं का नाश कराकर और युधिष्ठर आदि से सम्पूर्णतया धर्म को प्रवृत्त कराया ॥६६॥

सुबोधिनी—नृपाणां वधो न दोषायेति ज्ञापयितुं विशेषणम् । ते नृपाः कंसादयः । अर्जुनादिभिः भीष्मार्जुनभीमादिभिः । कांश्चिद्घातयित्वा दुर्योधनादीन् ततो निष्कण्टकभूमौ अञ्जसा सामस्त्येन धर्मं प्रवर्तयामास । तत्र हेतवो युधिष्ठिरादयः । भगवतः करणद्वयं दुष्टनिवारणे अर्जुनादिः, धर्मकरणे युधिष्ठिरादिरिति ॥६६॥

व्याख्यार्थ—राजाओं के वध करने में कोई दोष नहीं, क्योंकि वे अधर्मी थे, यों 'अधर्मिष्ठान्' विशेषण से बताया है, वे राजा कंस आदि थे, 'अर्जुनादिभिः' आदि पद से भीष्म, भीम, अर्जुन आदि कहे हैं, किन्हीं को (दुर्योधनादि को) मारने से जब निष्कण्टक भूमि हो गई तब सम्पूर्ण रीति से धर्म प्रवृत्त कराने लगे, धर्म प्रवृत्ति में हेतु थे युधिष्ठर आदि, अर्थात् युधिष्ठिर आदि से धर्म प्रवृत कराया, भगवान् के इस प्रकार लीला करने में दो प्रकार के साधन थे १– दुष्टों के नाश करने में अर्जुन आदि साधन थे और २– धर्म के प्रवृत करने में युधिष्ठिर आदि साधन थे ॥६६।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ८६वें अध्याय (उत्तरार्ध के ४०वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के
गुण-प्रकरण का पञ्चम अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित भगवल्लीला का संक्षिप्त सार

राग बिलावल

हरि सौं ठाकुर और न जन कौं ।
तिहूँ लोक भृगु जाइ आइ कहि, या विधि सब लोगनि सौं ॥
ब्रह्मा राजस गुन अधिकारी, सिव तामस अधिकारी ।
विश्नु सत्य केवल अधिकारी, विप्र लात उर धारी ॥
मुख प्रसन्न सीतल स्वभाव नित, देखत नैन सिराइ ।
यह जिय जानि भजौ सब कोऊ, सूरज प्रभु जदुराई ॥

※

राग बिलावल

हरि हरि हरि हरि सुमिरन करो । हरिचर्नारविंद उर धरो ।।
हरि इक दिन निज सभा मंझार । बैठे हुते सहित परिवार ।।

अर्जुन हू ता ठौर सिधाए । संखचूड़ तब वचन सुनाए ।।
द्वारावती बसत सब सुखी । मैं ही इक हौं अह-निसि दुःखी ।।

मेरे पुत्र होत है जबही । अंतर्धान होत सो तबहीं ।।
अर्जुन कह्यौ द्वारिका माहिँ । ऐसौ कोउ धनुष धर नाहिँ ।।

जो तुव सुत की रक्षा करै । अरु तेरौ यह दुःख परिहरै ।।
मैं तुव सुत की रक्षा करौं अरु तेरौ यह दुःख परिहरौं ।।

यह परतिज्ञा जौ न निबाहौं । तौ तन अपनौ पावक दाहौं ।।
विप्र कह्यौ तुम स्याम कै राम । कै प्रदुम्न अनिरुध अभिराम ।।

अर्जुन कह्यौ मैं इनमैं नाहिँ । पै हौं इनके दासन माहिँ ।।
अर्जुन है मेरौ निज नाम । धनुष गाँडीव मम अभिराम ।।

तू निहिचित बैठि गृह जाइ । समै होइ कहु मोसौं आइ ।
पुत्र प्रसूत समय जब आयौ । बिप्राजुन सौं आइ सुनायो ।।

अर्जुन तब सर पिंजर कियौ । पवन सँचार रहन नहि दियौ ।।
गृह कौ द्वारौ राख्यौ जहाँ । अर्जुन सावधान भयौ तहाँ ।।

ब्राह्मन कह्यौ समै अब भयौ । अजुन धनुष बान तब लयौ ।।
बालक ह्वै भयौ अंतर्धान । अर्जुन ह्वै रह्यो चकित समान ।।

विप्र नारि तब गारी दई । कह्यो प्रतिज्ञा का ह्वै गई ।।
तैं पुरुषारथ कहँ तैं पायौ । मिथ्या ही कहि वाद चढ़ायौ ।।

हरि सौं दुख अब कहिहौं जाइ । अर्जुन कह्यौ तासौं या भाइ ।।
तेरे सुत कौं मै अब ल्याऊँ । तेरो सब संताप नसाऊँ ।।

अर्जुन तिहुँ लोक फिरि आयौ । पै सो बालक कहूँ न पायौ ।।
अर्जुन विप्र स्याम पै आए । हरि अर्जुन सौं वचन सुनाए ।।

तुम बालक काहे नहिं राख्यौ । सो वृत्तांत हमैं तुम भाषो ।।
कह्यौ जु मैं परतिज्ञा करी । सो मोसौं पूरी नहिं परी ।।

बालक होत कौन लै गयौ सो मोकौं कुछ ज्ञान न भयौ ।।
मैं देख्यौं तिहिं त्रिभुवन जाई । पै ताकी कहुँ सुधि नहिं पाई ।।

विप्र काज प्रभु अब तुम करौ । ना-तरु मोकौं जानौ मरौ ।।
हरि रथ पर अर्जुन बैठाई । पहुँचे लोकालोकहि जाइ ।

ह्वाहूँ तैं पुनि आगैं धाए । दारुक हरि सौं बचन सुनाए ।
अंधकार मग नहिं दरसाई । तातैं रथ नहिँ सकत चलाइ ।।

चक्र सुदरसन आगैं कियौ । कोटिक रवि प्रकास तहँ भयों ।।
जब हरि अर्जुन पहुँचे तहाँ । गति नाहीं काहू की जहाँ ।।

तहाँ जाइ देख्यौ इक रूप । ता-सम और न दुतिय स्वरूप ।।
नैननि निरखि चकृत ह्वै गए । मन बानी दोऊ थकि रए ।।

कहिवैं जोग होइ तौ कहे । तहाँ कछू आकार न लहै ।।
सेष नाग फन मुकुट-स्थान । मनि प्रभा मनु कोटिक भान ।।

हरि अर्जुन कियौ निरखि प्रनाम । मनौ तहां इक सब्दऽभिराम ।।
तुम्हरे हित चरित यह कियौ । बोझ पृथ्वी कौ हरुऔ भयौ ।।

आवहु तुम अब अपनैं धाम । पूरन भए सुरनि के काम ।।
दसौ पुत्र ब्राह्मन के दिए । हरि अर्जुन प्रनाम तब किए ।।
तहँ तैं पुनि द्वारावति आए । ब्राह्मन के बालक पहुँचाए ।।
अर्जुन देखि चरित्र अनूप । बिस्मय बहुत भयौ सुनि भूप ।।
नहिँ जान्यौ मैं कहाँ सिधायो । अरु वाँ तैं ह्याँ कैसैं आयौ ।।
हरि अर्जुन कौं निज जन जान । लै गए तहँ न जहाँ ससि भान ।।
निज स्वरूप अपनौ दरसाऔ । जो काहूँ देखन नहिं पायौ ।।
ऐसे हैं त्रिभुवन पति राइ । कहा सकै रसना गुन गाइ ।।
ज्यौं शुक नृप सौं कहि समझायौ । सूरदास ताहि बिधि गायौ ।।

— — — —

एक दिना एक विप्र द्वारिका वसत सुखद निजधाम ।
वेद रूप तप रूप महामुनि, कृष्ण विप्र यह नाम ।।
बालक दशजु भये वाके जब भूमा लिये मंगाय ।
चित्त में यह अनुरक्त बिचारत हरि दरसन की चाय ।।
दस सुत भये जान के ब्राह्मण करि पुकार हरि पास ।
तब हरि कह्यो देव की गति, यह करत काल जग नास ।।
तब अर्जुन यह कह्यो मत्त ह्वै नृप नाहिन भुवभार ।
मैं अर्जुन गाँडिव धनु जाको कालसों लरों छिन मार ।।
जब सुत भयो कह्यो ब्राह्मण ने अर्जुन गये गृह ताइ ।
शरपंजर रोप्यो चहुँ दिसते जहाँ पवन नहिं जाइ ।।
तब सुत गयो देह को लेके दरसन भयो न ताइ ।
अति ही क्रोध भयौ ब्राह्मण को बहुत बक्यो बिलखाय ।।
तब अर्जुन ढूँढन को निकसे तीन लोक फिर आयो ।
कहूँ न पायो सुत ब्राह्मण के तब मन में अकुलायो ।।
कियो बिचार प्रवेस अगिन को हरि आये समुझायो ।
लैं निज संग चले पछिम को लोकालोक सुहायो ।।
कनक भूमि अरु धाम देवके देखे परम सुहाये ।
बहुत निबिडतम देख चक्र धरि धरेव हाथ समुझाये ।।
महाकाल पुर तुरत पधारे, हरि भूमा के पास ।
तुल्य अगिन बर अगिन समानी भूमा तेज प्रकास ।।
कृष्ण तेज को देख सक़ल सुर तन मन भयो हुलास ।
अति ही मन्द तेज भूमा को हरि के तेज प्रकास ।।
अति आनंद परसपर बाढ्यो जब उन बिनती कीनी ।
भली भई भवभार उतारेउ मेरी फिर सुध लीनी ।।
लै दस पुत्र द्वारिका आये दीन्हें विप्र बुलाय ।
किनो दुख दूर अर्जुन को महिमा प्रगट दिखाय ।।
कीनी केलि बहुत बल मोहन भुवको भार उतारेउ ।
प्रगट ब्रह्म राजत द्वारव्रती बेद पुरान बिचारेउ ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ९०वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८७वाँ अध्याय
उत्तरार्ध ४१वाँ अध्याय

गुण-प्रकरण

"*अध्याय—६*"

भगवान् कृष्ण की लीला-विहार का वर्णन

कारिका—एवं सर्वान् समुद्धृत्य क्रीडत्यस्माकमीश्वरः ।
क्रीडायां प्राप्तसंसारः स्त्रीणामपि निवार्यते ॥१॥

कारिकार्थ – इसी[1] तरह सबका उद्धार कर हमारे प्रभु क्रीड़ा करते हैं (यह लीला इस अध्याय में कही है) क्रीड़ा करते हुए जो संसार स्त्रियों में उत्पन्न हो जाता है उसका भी इस लीला से निवारण किया जाता है ॥१॥

---

[1] 'भक्तों को प्रपञ्च का विस्मरण कराकर अपने में उनके मन का प्रवण कराना' इस प्रकार के निरोध का वर्णन पूर्वाध्याय में किया है। अब इस (४१ वें) अध्याय में 'निरोधोऽस्यानुशयनम्' पंक्ति से श्रीकृष्ण अपनी दुर्विभाव्य शक्तियों से जो प्रपञ्च में रमण करते हैं' इस प्रकार के निरोध का वर्णन किया है, इस निरोध के सिद्धयर्थ क्रीड़ा करते हैं-इस क्रीड़ा से उत्पन्न संसार का भी निरोध द्वारा निवारण करते हैं-यौगिक अर्थ वाले निरोध का यह निरोध अंग नहीं है।

कारिका – ज्ञानं निरूप्य वैराग्यं निरूपयितुमुद्यतः ।
अद्भुतत्वाच्चरित्रस्य रागलीला निरूप्यते ।।२।।

कारिकार्थ—ज्ञान का निरूपण कर अब श्री शुकदेवजी वैराग्य का निरूपण करने के लिए उद्यत हुए हैं, चरित्र के अद्भुतपन से राग प्रेम-रति की लीला का वर्णन किया जाता है ।।२।।

कारिका – स्वार्थं रतिः पूर्वमेव भगवत्त्वान्निवारिता ।
स्त्रीणां तु रागसम्प्राप्तिस्ततोऽत्र विनिवार्यते ।।३।।

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण, यह रति लीला अपने लिए करते हैं इसका निवारण पहले ही कर दिया है क्योंकि आप भगवान्[1] हैं, इस लीला से भगवान् कृष्ण आसक्त न भी होवें, किन्तु स्त्रियों की तो रागासक्ति होगी, इसलिए उनकी रागासक्ति इस अध्याय के १३ वें श्लोक में कही हुई चेष्टाओं से भगवान् निवृत्त करते हैं ।।३।।

कारिका—एकचत्वारिंशेऽध्याये भक्तानां सुखसिद्धये ।
परमोत्सवलीलां हि श्रीशुको वर्णयन्मुदा ।।४।।

कारिकार्थ – इस ४१ वें अध्याय में भक्तों की सुख सिद्धि के लिए श्री शुकदेवजी परमोत्सव की लीला का वर्णन आनन्द से करते हैं ।।४।।

आभास—पूर्वाध्याये सर्वलोकार्थं चरित्रमुक्तमुपसंहृतम् । इदानीं भक्तानां भगवति मनःस्थैर्यार्थं परमानन्दलीलां निरूपयति **सुखं स्वपुर्यामिति** ।

आभासार्थ – पूर्व अध्याय में, सर्व लोकों के हितार्थ किए हुए चरित्रों का उपसंहार किया, इस अध्याय में भक्तों का मन भगवान् में स्थिर करने के लिए परमानन्द रूप लीला निरूपण करते हैं, जिसका यह 'सुख स्वपुर्यां' पहला श्लोक श्री शुकदेवजी कहते हैं –

श्लोक—श्रीशुक उवाच–**सुखं स्वपुर्यां निवसन्द्वारकायां श्रियःपतिः ।**
सर्वसम्पत्समृद्धायां जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः ।।१।।

श्लोकार्थ—सर्व प्रकार की सम्पदाओं से समृद्ध श्रेष्ठ यादवों से सेवित अपनी पुरी द्वारका में सुखपूर्वक रहते हुए लक्ष्मी के पति रमण करने लगे ।।१।।

सुबोधिनी – स्वभावतोऽपि सर्वचिन्ताभावः स्वपुर्यां भवति । तत्रापि द्वारकायां,श्रियःपतिरिति विलाससाधनसम्पत्तिरुक्ता । लौकिकीमपि संपत्तिमाह सर्वसम्पत्समृद्धायामिति । कदाचित्साधारणोपद्रवसम्भावनायामपि न स्वप्रयत्नोऽपेक्ष्यते । वृष्णिश्रेष्ठैरेव तन्निवृत्तिसम्भवात् ।।१।।

---

[1] षडैश्वर्य पूर्ण होने से आप्त काम हैं अतः आप अपने लिए रति लीला नहीं करते हैं,

व्याख्यार्थ—यह स्वभाव सिद्ध है कि अपनी पुरी में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती है, फिर साधारण नगरी नहीं है किन्तु 'द्वारका' है जहां लक्ष्मी के पति सदैव विराजते है, यों कहकर यह बताया है कि इस पुरी में विलासों के साधनों की सर्व प्रकार सम्पत्ति है. 'सर्वसंपत्समृद्धायां' पद से सब तरह की लौकिक सम्पतियों से भी यह पुरी भरपूर है, कदाचित् कोई साधारण उपद्रव होवे तो उसको मिटाने के लिए आपको प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वहां श्रेष्ठ योद्धा यादव रहते हैं, वे उनका निवारण कर सकते हैं ॥१॥

आभास—असाधारणानां पूर्वमेव निवृत्तत्वान्मुख्यभोगसाधनानि निर्दिशति स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिरिति ।

आभासार्थ—असाधारणों की पहले ही निवृत्ति होने से अब भोग के मुख्य साधनों को कहते हैं—

श्लोक— **स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिर्नवयौवनकान्तिभिः ।**
कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु क्रीडन्तीभिस्तडिद्द्युभिः ॥२॥

श्लोकार्थ— जिस पुरी के महलों में उत्तम वेष वाली नवीन यौवन की कान्तियों से देदीप्यमान और दामिनी की दमक से दीप्त अङ्गनाएँ गेंद आदि से अनेक प्रकार के खेल खेलती विलास कर रही हैं ॥२॥

सुबोधिनी - पुरुषश्चैतन्यात्मकः काममयः, इन्द्रियाणि तत् दुःखनिवर्तकानि करणानि, प्रवृत्त्यर्थं तेभ्यः सुखदान नान्तरीयकं तत्रात्मकामः स्त्रीभिरेव पूर्यते । तत्र स्त्रीणां षडिन्द्रियसुखदातृत्वाय विशेषणानि उत्तमवेषाभिरित्यादीनि । अलौकिकवेषेण मनोदृष्टिप्रीतिः । नवयौवनकान्तिभिरिति स्पर्शरसयोः । हर्म्येषु कन्दुकादिभिः क्रीडन्तीभिरिति शब्दघ्राणयोः, चित्तचक्षुषोर्वा तदा आद्येन व्यत्यासः। अनेन विभावा अनुभावाश्चोक्ताः । तडिद्द्युभिरिति । इतररागविस्मारणम् । धर्मादिफलरूपत्वं वा तासां निरूपितम् । एवं सर्वपुरुषार्थरूपाः स्त्रियः भगवदर्थं निरूपिताः । साधारणीनां नागरीणां वा वर्णनम् ॥२॥

व्याख्यार्थ - पुरुष चैतन्य स्वरूप एवं काममय[1] है. जब तक उसकी कामपूर्ति नहीं होती है तब तक उसे दुःख भासता है, उस दुःख को निवृति करने के साधन इन्द्रियां है. इन्द्रियां अपने कार्य में प्रवृत्ति करें, इसलिए उनको सुख दिया जाता है, तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों द्वारा ही आत्मा को सुख मिलता है, उनको पृथक् कर नहीं सकते हैं, अतः कहा है कि आत्मा काम स्त्रियों से ही पूर्ण होता है, स्त्रियाँ ही षड् इन्द्रियों को किस प्रकार आनन्द देती है जिसका वर्णन करते हैं, उत्तम दिव्य वस्त्रों का धारण करने से पुरुष के मन और नेत्रों को आनन्द देती है, नव यौवन की दीप्ति से, कोमल स्पर्श और[2] अधररस[3] का सुख देती है, महलों में गेंद की क्रीड़ा करते, शब्द और गन्ध का

---

[1] - काम से पूर्ण काम रूप हैं, [2] - आलिङ्गनादि द्वारा, [3] - चुम्बनादि से

सुख देती है, गेंद खेलते हुए जो गान करती हैं उससे शब्द का सुख देती हैं और गेंद पुष्पों की बनी हुई होती है जिससे सुगन्धो का आनन्द देती हैं, अथवा इस प्रकार चित्त तथा चक्षुओं को आनन्द देती हैं, यों भावार्थ लिया जावे तो पहले दिए हुए विशेषणों से परिवर्तन करना चाहिए, इससे काम शास्त्र में दिखाए हुए विभाव और अनुभाव कहे हैं 'विद्युत् सम कान्तिवाली' विशेषण से यह बताया है कि पुरुष का अन्य पदार्थों में जो प्रेम हो उसको विस्मृत करा देती है।

स्त्रियां धर्म अर्थ, काम और मोक्ष रूप फल[1] भी इन वेषादि से देती हैं, इस प्रकार भगवान् के वास्ते सर्व पुरुषार्थ रूप स्त्रियां हैं, अथवा यह साधारण नागरियों (नगर की स्त्रियों) का वर्णन है ।।२।।

आभास – ततः केवलभोगस्थानत्वे गन्धर्वादिविमानवत् लोकोत्कर्षस्तथा न भविष्यतीति सेनां वर्णयति **नित्यं संकुलमार्गायामिति** ।

आभासार्थ—यदि द्वारका गन्धर्वों के विमानों की तरह केवल भोग स्थान होगी तो उसका लोक में उत्कर्ष न रहेगा, इसलिए 'नित्यं संकुल मार्गायां' श्लोक में सेना भी वहां है ऐसा वर्णन करते हैं—

श्लोक— **नित्यं संकुलमार्गायां मदच्युद्भिर्मतङ्गजैः ।**
स्वलंकृतैर्भटैरश्वै रथैश्च कनकोज्ज्वलैः ।।३।।

श्लोकार्थ—जिस पुरी के मार्ग में सदैव मद झरते हस्तियों, सुन्दर शृङ्गार किए योद्धों व घोड़ों और सुवर्ण मण्डित रथों की भीड़-भाड़ बनी रहती है ।।३।।

सुबोधिनी—आस्रवन्मदैर्गजैः सर्वदैव संकुला मार्गा यस्याः। ततो भटा अपि स्वलंकृता अश्वा रथाश्च । एवं चत्वार्यङ्गानि उत्कृष्टानि निरूपितानि ।।३।।

व्याख्यार्थ—मद झरते हाथियों से सर्वदा ही द्वारका के मार्ग में भीड़भाड़ बनी रहती है, वैसे ही मार्ग में अलङ्कृत योद्धे घोड़े और रथों की भीड़ रहती है इस प्रकार सेना के चारों अङ्ग द्वारका में उत्कृष्ट हैं, यों निरूपण किया ।।३।।

आभास—एवं शौर्यसिद्धयर्थं सेनां निरूप्य भोगसिद्धयर्थमुद्यानानि निरूपयति ।

आभासार्थ—यों शूरवीरता की सिद्धि के लिए सेना का निरूपण कर भोग की सिद्धयर्थं उद्यानों का निरूपण करते हैं—

श्लोक – **उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु ।**
निर्विशद्भृङ्गविहगैर्नादितायां समन्ततः ।।४।।

---

[1] ये केवल चार विशेषण है और ये भी चार है इससे समानता के कारण यों कहा है इससे योग्यता का विचार नहीं।

श्लोकार्थ—फुलवारियाँ और उपवनों से सम्पन्न, फूलों वाले वृक्षों की पंक्तियों में विहार करते हुए भ्रमर और पक्षीगण जिसमें नाद कर रहे हैं। ऐसी द्वारकापुरी में बसते हुए लक्ष्मी के पति रमण करने लगे ।।४।।

सुबोधिनी—उद्यानं पुष्पप्रधानं, उपवनं फलप्रधानम्। तैराढ्या सम्पन्ना। कामकलायां गन्धोत्कर्षमुक्त्वा शब्दोत्कर्षमाह पुष्पितद्रुमराजिषु निर्विशन्तो ये भृङ्गाः विहगाश्च तैर्नादितायाम्। राजिपदेन एकस्यां पंक्तौ एकजातीया एव विहगाः प्रविशन्तीति ज्ञापितम्। अन्यथा विजातीयशब्दसाङ्कर्ये कोलाहलः स्यात्। समन्तत इति पूर्वोक्ताः सर्वत्र ज्ञातव्याः ।।४।।

व्याख्यार्थ—'उद्यान' शब्द से वहाँ फुलवाड़ियों का होना बताया है, और 'उपवन' शब्द से फलों वाले वृक्षों की प्रधानता बताई है, उनसे भरपूर नगरी है, काम कला में गन्ध का उत्कर्ष बताकर अब शब्दों का उत्कर्ष वर्णन करते हैं फूलों वाले पेड़ों की पङ्क्तियों में प्रविष्ट भ्रमर और पक्षीगण जहां कलरव कर रहे हैं, 'राजि' पद से यह सूचित किया है कि एक पंक्ति में एक जाति के ही पक्षी प्रवेश करते हैं, यदि पृथक् पृथक् जाति के पक्षी एक पंक्ति में होते तो विजातीय शब्द की सङ्करता से कोलाहल हो जाता अर्थात् वह आनन्दप्रद मधुर ध्वनि न होती, चारों तरफ कहने से पूर्व कहे हुए उद्यान आदि सर्वत्र हैं, यो जानना चाहिए ।।४।।

श्लोक—रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकवल्लभः।
तावन्ति बिभ्रद्रूपाणि तद्गृहेषु महर्द्धिषु ।।५।।

श्लोकार्थ सोलह सहस्र स्त्रियों का एक ही प्रियतम उतने (१६ सहस्र) ही रूप धारण कर उन (स्त्रियों) के महती समृद्धि वाले घरों में रमण करने लगे ।।५।।

सुबोधिनी—तादृशस्थाने षोडशसहस्रस्त्रीणां एक एव वल्लभो रेमे। सर्वासामेकत्रैव स्नेहः। षोडशविकारेषु प्रतिविकारं मनसः सहस्रधा सुखसिद्ध्यर्थं षोडशसहस्राणि। तावतीनामपि धर्मसाधकत्वमपीत्याह पत्नीनामिति। ननु भगवान् स्वकामनापूर्त्यर्थं न प्रवृत्तः किन्तु स्त्रीणां कामनापूर्त्यर्थं तदेवं प्रकारे सर्वथा कामो न पूर्यते। एकगुणस्यापि कामस्य पूर्त्यर्थं बह्व्योऽपेक्ष्यन्ते। अष्टगुणकामानां तु कथमेकेन पूर्तिः। तत्रापि बह्वीनामेक इति दोषं व्यावर्तयितुमाह तावन्ति बिभ्रद्रूपाणीति। यावत्यः स्त्रियः तावन्ति रूपाणि कृत्वा रेमे। तासां कामनापूर्त्यर्थमेव तानि रूपाणि जातानीति एकस्याः कामः अष्टगुणोऽप्येकेन पूर्यते तदर्थमेव प्राकट्यात्। सर्वासामेकत्र रमणे मात्सर्यकृतः क्लेशो भवेत् तदर्थमाह तद्गृहेषु महर्द्धिष्वति। तासामेव गृहेषु सर्वसमृद्धियुक्तेषु। एकैकं हर्म्यं एकैकस्यै दत्वा तत्र सर्वसमृद्धिं सम्पाद्य स्वयमेकरूपेण तत्र प्रविष्टः सम्यग्यावता सुखस्फूर्तिर्भवति तथा रेम इत्यर्थः। ।५।

व्याख्यार्थ—ऐसे भोग की सामग्री से युक्त स्थान में सोलह हजार स्त्रियों के एक ही प्रियतम रमण करने लगे सब स्त्रियों का स्नेह, एक स्थान (एक ही प्रियतम) पर इकट्ठा हुआ, सोलह विकारों में से प्रत्येक विकार का सम्बन्धी जो मन है, उस प्रत्येक मन को एक सहस्र प्रकार का आनन्द प्राप्त हो तदर्थ स्त्रियां भी १६ हजार थीं, किन्तु ये स्त्रियाँ साधारण स्त्रियां नहीं थीं, क्योंकि साधारण होती